श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २०१

हिन्दी

पातञ्जलयोगदर्शन

(व्यासभाष्य सहित शोधपूर्ण संस्करण)

व्याख्याकारः—

स्वामी श्री ब्रह्मलीन मुनि

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-1

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२०१
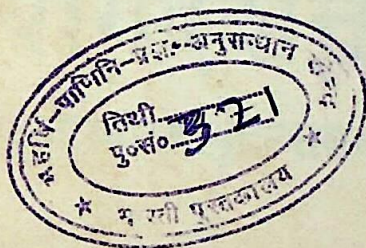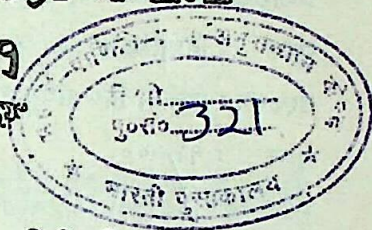
महर्षिश्रीपतञ्जलिमुनिविरचितं

पातञ्जलयोगदर्शनम्

'योगभाष्यविवृति' नामकहिन्दीव्याख्यायुतव्यासभाष्योपेतम्

हिन्दीव्याख्याकारः

स्वामी श्रीब्रह्मलीनमुनिः
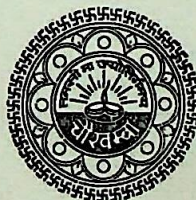
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७०

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
201
*****

PĀTAÑJALAYOGADARŚANA

OF

MAHARṢI PATAÑJALI

with

The Commentary of Vyāsa

and

a Hindi gloss

by

SVĀMĪ ŚRĪ BRAHMALĪNA MUNI

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1970

समर्पणम्

यस्येयं करुणानिधेः सुकृपया पूर्तिं गता मे कृतिः
यस्यार्थोऽतिलघुर्दरा गुरुतरा नाम्नोऽक्षराणां प्रभोः।
तस्यासीमतपोनिधेः यतिवरैः पूज्यस्य सा श्रीमत-
श्छोटेदासगुरोः पदाम्बुजयुगे भक्त्यार्पिता राजताम्॥

जिन करुणासागर श्रीगुरुवर के चरणों की अत्यन्त कृपा से यह मेरी कृति निर्विघ्न परिपूर्ण हुई एवं जिनके नाम के अक्षरों का अर्थ अत्यन्त लघु होने पर भी दर अर्थात् भाव बहुत गुरुतर है, उन यतिवरों से पूजित, असीमतपोनिधि गुरुवर महन्त श्री १०८ स्वामी श्री छोटेदासजी महाराज के चरणकमलों में हार्दिक भक्ति-भाव से समर्पित यह पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यविवृतिरूप कृति सकलजिज्ञासुजनमान-सतमःपटल को निरसन करती हुई चिरकाल पर्यन्त समुज्वल रहे।

भवदीयश्चरणकिङ्करो—

ब्रह्मलीनमुनिः

प्राक्कथन

वर्षों से यह इच्छा हुआ करती थी कि मैं भी कुछ लिखूं। परन्तु क्या लिखूं? किस पर लिखूं? यह समझ नहीं पड़ता था। बहुत विचार करने पर यह निश्चय हुआ कि योगदर्शन पर कुछ लिखूं। क्योंकि, योग मुझे बहुत प्रिय है। साथ ही योगदर्शन के केवल सूत्रों में ही नहीं; किन्तु भाष्य में भी ऐसे साङ्केतिक पदों का प्रयोग सम्भवतः जान बूझ कर किया गया है कि, जिसका अर्थ गुरुद्वारा अध्ययन करने पर भी प्रायः तिरोहित ही रहता है। उदाहरणार्थ निम्न लिखित पदों को ही ले सकते हैं। जैसे, प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान के स्थान पर सत्त्वपुरुषान्यताख्याति; विवेकज्ञान के स्थान पर प्रसंख्यानाग्नि; कालभेदात् के स्थान पर अध्वभेदात्; स्वरूपतः के स्थान पर द्रव्यतः, वर्त्तमान के स्थान पर प्रत्युत्पन्न, अतीत तथा अनागत के स्थान पर सूक्ष्म; ज्ञानशील के स्थान पर प्रख्याशील; काठिन्य के स्थान पर मूर्ति; असत् के स्थान पर निरुपाख्य, समाप्ताधिकार के स्थान पर अवसिताधिकार और असत्त्वेन के स्थान पर द्रव्यत्वेन; इत्यादि। इस प्रकार के सांकेतिक पदों के व्याख्यान की बहुत आवश्यकता थी। छवों दर्शनों में केवल तीन दर्शनों पर ही आर्षभाष्य हैं। वैशेषिक दर्शन पर स्वतंत्र प्रशस्तपादभाष्य, न्यायसूत्रों पर वात्स्यायनभाष्य और योगसूत्रोंपर व्यासभाष्य। उनमें प्रशस्तपादभाष्य और वात्स्यायनभाष्य अनात्मद्रव्यादि पदार्थ के निरूपक होने से एवं तर्कप्रधान होने से उन पर विचार करते समय चित्त विशेष शान्ति को प्राप्त नहीं होता है। एक योगभाष्य ही ऐसा भाष्य है कि जिस पर कुछ विचार करते समय स्वान्त विशेष शान्ति को प्राप्त होता है। अतः इसी पर कुछ लिखने का निश्चय हुआ।

निश्चय तो कर लिया, परन्तु कार्य बहुत कठिन था। क्योंकि, मैं न तो लेखक हूँ और न इतना बड़ा विद्वान् ही। अतः योगदर्शन की सभी व्याख्याओं का पुनः स्वाध्याय करने लगा। अन्य व्याख्याकारों की अपेक्षा स्वामी श्रीबालरामजी की व्याख्याशैली मुझे बहुत पसन्द पड़ी। क्योंकि, उन्होंने जो कुछ लिखा है वह श्रीवाचस्पतिमिश्रकृत 'योगतत्त्ववैशारदी' व्याख्या के अनुसार लिखा है। परन्तु

जैसी योगसूत्र की पदशः व्याख्या उन्होंने की है, वैसी ही यदि भाष्य की भी की होती तो सम्भवतः मुझे इस पर लेखनी उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मैंने उन्हीं की शैली से सूत्र तथा भाष्य के प्रत्येक पदों का व्याख्यान किया है, जो विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी होगा। अतः मैं स्वामी श्रीबालराम उदासीन का सर्वथा ऋणी हूँ।

योगसूत्र पर 'भोजवृत्ति, अनिरुद्धवृत्ति तथा नागेशवृत्ति' आदि बहुतसी वृत्तियां हैं; किन्तु मुझे उनसे विशेष सहायता नहीं मिली है। इसमें कारण यह है कि, वे सब सूत्रार्थमात्र होने से विशेष विवेचन उसमें है ही नहीं। योगभाष्य पर दो व्याख्यायें अति प्रसिद्ध हैं। एक श्रीवाचस्पतिमिश्रकृत 'योगतत्त्ववैशारदी', और दूसरी श्रीविज्ञानभिक्षुकृत 'योगवार्त्तिक'। उनमें योगवार्त्तिक किसी किसी स्थल पर योगशास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध होने से उसकी उपेक्षा कर दी गयी है; अतः उससे भी विशेष सहायता नहीं मिली है। विज्ञानभिक्षु की यह व्याख्या जिस प्रकार योगशास्त्र से विरुद्ध है वह तत्तत् स्थलों पर दिखाया गया है। पाठकों को वहीं देखना चाहियें। सर्वथा योगशास्त्रानुसारी 'योगतत्त्ववैशारदी' ही है; अतः उसीके आधारपर यह व्याख्या लिखी गयी है। अतः मेरी व्याख्या बांचने के पश्चात् 'योगतत्त्ववैशारदी' को बांचने पर (बहुत कठिन होने पर भी) वह भी अक्षरशः लग जायगी। सारांश यह है कि, मैंने प्रत्येक सूत्र का जो भाव लिखा है वह प्रायः 'योगतत्त्ववैशारदी' का ही भाव है। अतः श्रीवाचस्पतिमिश्रजी का जितना भी उपकार माना जाय थोड़ा है।

योगदर्शन पर हिन्दी, गुजराती तथा मराठी आदि प्राकृत भाषाओं में अन्य भी बहुतसी टींकायें हैं; परन्तु वे सब भावानुवाद मात्र हैं; अतः विद्यार्थियों को उनसे कोई विशेष लाभ नहीं। साथ ही यह भी कारण है कि, जिनको योगदर्शन लगता है, उनके पास इतना समय नहीं है और जिनके पास समय है उनको लगता नहीं है एवं जो योगदर्शन पढ़े हैं वे योग करते नहीं हैं और जो योग करते हैं वे पढ़े नहीं हैं। अतः ऐसे लेखकों की लिखी हुई व्याख्यायें विशेष उपादेय नहीं हैं। और यह व्याख्या अक्षरशः अनुवादरूप होने से विद्यार्थियों को सर्वथा उपादेय है।

मैंने इस व्याख्या का नाम 'योगभाष्यविवृति' रखा है। इसको लिखने में मुझे करीब एक वर्ष लगा है। पढ़ाने में तथा कथा-व्याख्यान आदि करने में लगे रहने के कारण दिन में समय नहीं मिलने से रात्रि में इसको लिखा है। "श्रेयसि बहुविघ्नानि" अर्थात् शुभ कार्यों में बहुत विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं, इस लोकोक्ति के अनुसार नौ मास में तीन पाद की व्याख्या पूर्ण होने के पश्चात् मेरा शरीर अस्वस्थ हो गया। चार मास होस्पिटल में रहना पड़ा। प्रभुकृपा से शरीर स्वस्थ होने के बाद तीन मास में चतुर्थपाद की व्याख्या पूर्ण हुई। इस प्रकार एक वर्ष में यह व्याख्या पूरी हुई है।

अखिल भारतवर्षीय कबीरपन्थाचार्य पं. श्री. ११०८ हजूर श्रीप्रकाशमणिनाम साहेब ने इस ग्रन्थ को लिखने के लिये आज्ञा देते हुए जो उत्साह बढ़ाया है एवं पंडित श्रीश्यामसुन्दर झाजी न्यायवेदान्ताचार्य, पण्डित श्रीलक्ष्मीकान्त झाजी ज्योतिषाचार्य तथा पण्डित श्रीसत्यरामदासजी वेदान्ताचार्य आदि विद्वानों ने जो अपना अमूल्य समय प्रदान कर इसकी हस्तलिखित प्रति का संशोधन किया है, इसके लिये मैं उन सबका परम कृतज्ञ हूँ। एवं श्री कबीर प्रेस के अधिपति पण्डित श्रीमोतीदासजी ने जो बहुत ही परिश्रम से प्रूफनिरीक्षणपूर्वक इसके मुद्रण कार्य में सहायता की है, उसके लिये उनको जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है।

जिन गुरुजी से मैंने, योगदर्शन का अध्ययन किया था, उनकी इस ग्रन्थ को मुद्रित रूप में देखने की विशेष इच्छा थी, क्योंकि, उनका वात्सल्य प्रेम मेरे प्रति विशेष था। अत्यन्त खेद के साथ लिखना पड़ता है कि, इसका प्रकाशन देखे बिना ही उनका कैलासवास हो गया। उनका उपकार किन शब्दों से व्यक्त करूं? मेरे पास शब्द नहीं हैं। उनका शुभ नाम दार्शनिकशिरोमणि श्रीलक्ष्मीनाथ झाजी था।

जिस आनन्दकन्द परमेश्वर की असीम कृपा से इस योगदर्शन की व्याख्या तथा उसका प्रकाशन कार्य निर्विघ्न समाप्त हुआ है, उसको सहस्रशः प्रणाम करते हुए विश्रान्ति लेता हूँ।

मेरी, प्रूफदर्शक तथा वर्णयोजकों की असावधानी से वर्णमात्रा आदि की बहुत ही अशुद्धियां रह गयी होंगी अतः पाठक से निवेदन है कि जहां-जहां ऐसी अशुद्धियाँ रह गई हों उन्हें सुधार कर बांच लेवेंगे ऐसी आशा है। क्योंकि,

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

सूरत (गुजरात)
ई० १९५८

भवदीयः—
स्वामी श्री ब्रह्मलीनमुनिः

प्रस्तुतप्रसङ्गः

येन प्राकृतभाषायां समाधिः समुदीरितः ।
तं कबीरमहं वन्दे योगीन्द्रं योगदं गुरुम् ॥ १ ॥

योगजिज्ञासु सज्जनजन ! "पुरुषेणाऽर्थ्यते प्रार्थ्यत इति पुरुषार्थः" । इस व्युत्पत्ति से पुरुष जिसको चाहे वह पुरुषार्थ कहा जाता है । संसार में केवल मनुष्य ही नहीं, किन्तु जितने भी प्राणी हैं सब कोई सुख को ही चाहते हैं । अतः सुख ही पुरुषार्थ है, यह निश्चित हुआ ।

यद्यपि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के भेद से चार प्रकार का पुरुषार्थ कहा गया है । तथापि विचार करने पर चतुर्थ पारमार्थिक मोक्ष सुख ही पुरुषार्थ सिद्ध होता है, पूर्व के अर्थादिक तीन नहीं । क्योंकि, सुख ही पुरुषार्थ कहा गया है और वह अनित्य और नित्य के भेद से दो प्रकार का है । द्रव्यात्मक विषयरूप अर्थजन्य कामसुख अनित्य और पुण्यरूप धर्मजन्य मोक्षसुख नित्य कहा जाता है । इस प्रकार कामरूप पुरुषार्थ का साधन अर्थ होने से अर्थ भी पुरुषार्थ कहा जाता है एवं मोक्ष-रूप पुरुषार्थ का साधन धर्म होने से धर्म भी पुरुषार्थ कहा जाता है । वस्तुतः अर्थ और धर्म मुख्य पुरुषार्थ नहीं, किन्तु गौण पुरुषार्थ हैं ।

यदि यह कहें कि, पुरुष जिसको चाहे वह पुरुषार्थ कहा जाता है और पुरुष तो सुख ही को चाहता है; अर्थ, धर्म को नहीं ? तो अर्थ, धर्म पुरुषार्थ कैसे ? इसका समाधान यह है कि, साधन बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती है । अतः साध्य को सिद्ध करने के लिये पुरुष साधन को भी चाहता ही है; अतः साधन भी पुरुषार्थ कहलाता है परन्तु मुख्य नहीं; किन्तु गौण पुरुषार्थ कहलाता है । मुख्य तो सुख ही पुरुषार्थ है; सुख के साधन नहीं ।

विचारदृष्टि से देखा जाय तो विषय सुखरूप काम भी मुख्य पुरुषार्थ नहीं । क्योंकि, सभी पुरुष नित्य मोक्षसुख को ही चाहते हैं, अनित्य कामसुख को नहीं । ऐसा कोई भी पुरुष नहीं देखा जाता है, जो ऐसा चाहता हो कि, मेरा सुख कुछ काल के बाद नष्ट हो जाय ! अपितु सब कोई यही चाहते हैं कि, मेरा सुख सदा विद्यमान रहे । ऐसा तो केवल मोक्षसुख ही है । अतः मोक्षसुख ही मुख्य परम-पुरुषार्थ है, यह सिद्ध हुआ ।

जिस धर्म से मोक्ष की सिद्धि होती है वह क्रियारूप है और वह क्रिया कर्मक्रिया और ज्ञानक्रिया के भेद से दो प्रकार की है। निष्काम कर्म से अधर्म की निवृत्तिद्वारा चित्तशुद्धि होती है "धर्मेण पापमपनुदति"। अर्थात् धर्म से पाप की निवृत्ति होती है। पाप की निवृत्ति होने पर ही ज्ञान की निष्पत्ति होती है। "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः"। अर्थात् पुरुष को ज्ञान उत्पन्न तभी होता है, जब पापकर्म का नाश हो जाता है। और ज्ञान से पूर्वोक्त परम पुरुषार्थरूप मोक्ष की सिद्धि होती है। "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" अर्थात् ज्ञान से ही कैवल्य प्राप्त होता है। ज्ञान के बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात् ज्ञान विना मुक्ति नहीं होती है।

जिस ज्ञान से मोक्ष होता है, उसका जनक शास्त्र है। यद्यपि "शिष्यते अनुशिष्यतेऽपूर्वोऽर्थो बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रम्"। अर्थात् अपूर्व अर्थ का बोध होता हो जिससे वह शास्त्र कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से ऋगादि वेदों का ही नाम शास्त्र हो सकता है, इतर ग्रन्थों का नहीं। तथापि वेदप्रतिपादित अर्थ के प्रतिपादक जो दर्शन वे भी शास्त्र कहे जाते हैं, क्योंकि "दृश्यते-बोध्यतेऽपूर्वोऽर्थोऽनेनेति दर्शनम्"। अर्थात् अपूर्व अर्थ का ज्ञान होता हो जिससे वह दर्शन कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से शास्त्र शब्द और दर्शन शब्द समानार्थक ही प्रतीत होते हैं।

आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन के भेद से दर्शनशास्त्र दो प्रकार का है। आस्तिक दर्शन के छः भेद हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। क्रमशः इनके कर्ता—गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि और व्यास नामक छः ऋषिगण हैं। वेदानुसारी होने से ये आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। चार्वाकदर्शन, बौद्धदर्शन और जैनदर्शन के भेद से नास्तिक दर्शन भी तीन प्रकार के हैं। ये तीनों वेदविरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक होने से नास्तिकदर्शन कहे जाते हैं। इन दर्शनों में परस्पर प्रत्यक्षादि प्रमाणभेद तथा अन्य अनेक प्रकार के भेद होने से इनका परस्पर भेद है, जिनका यहां निरूपण करनेसे यह भूमिका न रह कर एक प्रकार का विस्तृत ग्रन्थ बन जायगा; अतः पाठकों को अन्यत्र ही देखना चाहिये।

कतिपय जैन पण्डितों का कहना है कि, आस्तिक नास्तिक दर्शनों की परिभाषा आत्मा को मानने और न मानने पर ही है, सो समीचीन नहीं। क्योंकि, तब तो चार्वाक दर्शन को भी आस्तिक दर्शन ही कहना चाहिये ? क्योंकि, वह भी आत्मा को मानता है। यदि कहें कि वह स्थूल शरीर को आत्मा मानता है, चेतन को नहीं; तो जैन दर्शन भी सूक्ष्म शरीर को ही आत्मा मानता है, चेतन को नहीं। क्योंकि—जैन दर्शनाकार आत्मा को मध्यमपरिमाण मानते हुए सङ्कोचविकासशाली मानते हैं, जो विचार करने पर विकारी सूक्ष्म शरीर ही सिद्ध होता है, और आत्मा

निर्विकार है; अत: विकारी सूक्ष्म शरीररूप अनात्मा को आत्मा मानने से जैन दर्शन भी आस्तिक दर्शन नहीं; किन्तु चार्वाक दर्शन के समान नास्तिक दर्शन ही है।

ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) के भेद से दो प्रकार का है। उनमें परोक्ष ज्ञान से मोक्ष नहीं होता है; किन्तु अपरोक्ष ज्ञान से मोक्ष होता है। अपरोक्ष ज्ञान के जनक इन्द्रियां ही हैं; अन्य प्रमाण नहीं, यह सब दार्शनिकों का सिद्धान्त है। इन्द्रियों को करण कहते हैं। वे बाह्य और आन्तर के भेद से दो प्रकार के हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण; ये पांचो बाह्य करण कहे जाते हैं और मन अन्तःकरण कहा जाता है। बाहर रह कर ज्ञान का जो साधन वह बाह्य करण और अन्तर् रह कर ज्ञान का जो साधन वह अन्तःकरण कहलाता है। पाँचो बाह्य करण यथा-सम्भव रूपादि और रूपादिमान् बाह्य पदार्थ को ही विषय करते हैं, अन्तरात्मा को नहीं। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्परां पश्यति नान्तरात्मन्" अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बाहर बना दिया, इसीलिये वे बाह्य पदार्थ को ही देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं। और मन अन्तरिन्द्रिय है; अत: वह अन्तरात्मा को विषय करता है। अर्थात् मन से अन्तरात्मा का साक्षात्कार होता है। यद्यपि "न मनसा मनुते" अर्थात् मन से आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता है, इत्यादि श्रुतियां आत्म-साक्षात्कार के प्रति मन की करणता का निषेध करती हैं, तथापि "मनसैवानुद्रष्ट-व्यम्" अर्थात् मन से ही आत्मा देखने योग्य है, इत्यादि श्रुतियों को देखने से यह प्रतीत होता है कि, असमाहित मन से आत्मा का साक्षात्कार नहीं होना है; किन्तु समाहित मन से आत्मा का साक्षात्कार होता है। अर्थात् योगाभ्यास के द्वारा ऋतु-म्भरा प्रज्ञारूप से परिणत जो मन उससे आत्मसाक्षात्कार होता है। उसके बाद मोक्ष होता है। इस प्रकार योगदर्शन योगतत्त्व के उपदेश द्वारा मोक्षप्राप्ति में उपयोगी होने से सर्वथा उपादेय है, यह बात सिद्ध हुई।

और जो विवरणानुसारी अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि, मन इन्द्रिय न होने से उसकी स्वतन्त्र करणता कहीं प्रसिद्ध नहीं है, सो उनका कहना केवल प्रौढिवाद मात्र है। क्योंकि, "एकादशेन्द्रियाण्याहु:" अर्थात् एकादश इन्द्रियाँ कही गयी हैं। "मनोनेत्रा-दिधीन्द्रियम्'' अर्थात् मन और नेत्रादि पांच ये सब मिल कर छः ज्ञानेन्द्रियां हैं, इत्यादि स्मृतियां स्पष्ट रूप से मन को इन्द्रिय कह रही हैं। स्वाप्न पदार्थ के साक्षात्कार में स्वतन्त्र मन ही करण रूप से प्रसिद्ध है। "गर्भस्थ एव ऋषिर्वामदेव: प्रतिपेदे, अहं मनुरभवं सूर्यश्च'' अर्थात् गर्भ में ही ऋषि वामदेवजी को ज्ञान हुआ कि, मैं मनु हो गया और सूर्य हो गया, इत्यादि। यह जो ऋषि वामदेव को गर्भ में ज्ञान हुआ है, उसमें मन की करणता प्रसिद्ध है। अत: मनोनिष्ठ स्वतन्त्र ज्ञानकरणता का अप्रसिद्धि कथन अनवधानता प्रयुक्त ही प्रतीत होता है। केवल इतना ही नहीं, किन्तु, "त

इन्द्रियाणि तद्वचपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्" । ब्र० अ० २, पा० ४, सू० १७ । इस सूत्र से महर्षि व्यास ने मुख्य प्राण से अतिरिक्त तत्त्वान्तर एकादश इन्द्रियों को प्रतिपादन किया है, जिसमें एक मन भी है । उक्त सूत्र के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने "एकादशेन्द्रियाणीत्युच्यन्ते" इस पंक्ति से मन को इन्द्रिय कहा है । अतः मन को ज्ञानविशेष के प्रति स्वतन्त्र करण मानना युक्तियुक्त ही है ।

और जो स्वप्न के पदार्थ को साक्षिभाष्य मान कर मन की करणता को खण्डन किया है वह भी समुचित नहीं । क्योंकि, स्वतन्त्र साक्षी यदि पदार्थ को प्रकाश करेगा तो विकारी होगा ? अतः वृत्तिद्वारा ही साक्षी स्वाप्न पदार्थ को प्रकाशता है, यही कहना होगा और वही वृत्ति तो मन है । अतः मन ज्ञान का करण होने से वैराग्य तथा योगाभ्यासरूप प्रसंख्यानाऽऽख्याऽवस्थाविशेषविशिष्ट मन ही आत्मसाक्षात्कार का करण है, यह सिद्ध हुआ ।

और जो प्रत्यक्षत्वावच्छिन्न यावत्प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रियाँ करण हैं । इस नियम में व्यभिचाररूप दोष देते हुए यह कहा गया है कि–जैसे, "दशमस्त्वमसि" इत्यादि स्थलों में इन्द्रिय के बिना आगमप्रमाण से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वैसे ही मन के बिना तत्त्वमस्यादि महावाक्यरूप आगमप्रमाण से आत्मसाक्षात्कार हो जायगा तो आत्म-प्रत्यक्ष के प्रति मन की सहायता के लिये योग की क्या आवश्यकता है ? यह कहा गया है, सो भी अविचारित रमणीय है । क्योंकि, "दशमस्त्वमसि" यहां भी चक्षुरि-न्द्रिय से ही प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है । आगमप्रमाण उसका सहायक है । और यदि यह कहें कि-अन्धकार में अथवा अन्ध पुरुष को जहां "दशमस्त्वमसि" इस आगमवाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वहां आलोक के अभाव के कारण अथवा चक्षुरिन्द्रिय के अभाव के कारण केवल आगमप्रमाण से ही जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वैसे ही तत्त्वमस्यादि महावाक्यरूप केवल आगमप्रमाण से आत्मसाक्षात्कार हो जायगा, तो इसके लिये योग सहकृत मन की आवश्यकता क्या ? तो यह भी समुचित नहीं । क्योंकि, ऐसे स्थल में भ्रम होता ही नहीं, तो उसके लिये प्रत्यक्ष की आवश्यकता क्या ? यदि तुष्यन्तु दुर्जनन्याय से थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि-अन्धकार में अथवा अन्ध पुरुष को दशमपुरुषविषयक भ्रम होता है, तो भी आगमसहकृतत्वगिन्द्रिय से ही वहां भी प्रत्यक्ष ज्ञान मान लेने से निर्वाह हो सकता है, तो स्वतन्त्र आगमप्रमाण को प्रत्यक्ष ज्ञान की जनकता में युक्ति क्या ? अर्थात् कोई नहीं । अतः जैसे उक्त स्थल में आगम सहकृत मन से साक्षात्कार होता है, वैसे ही तत्त्वमस्यादि महावाक्य-रूप आगमप्रमाण से तथा योग सहकृत ऋतम्भरा प्रज्ञारूप मन से आत्मसाक्षात्कार होने से योगदर्शन की परमावश्यकता है, यह सिद्ध हुआ ।

और जो "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस श्रुतिसिद्ध निदिध्यासनरूप योग को विपरीतभावना का निवर्त्तक मानते हुए

आत्मप्रत्यक्ष के प्रति मन तथा योग की जनकता का खण्डन किया गया है और आत्मप्रत्यक्ष के प्रति केवल आगम प्रमाण की ही जनकता मानी गई है, वह भी उचित नहीं। क्योंकि, तत्त्वमस्यादि महावाक्यरूप आगमप्रमाण से ही आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होने पर आत्मविषयक विपरीत भावना का अभाव होने से श्रुति-प्रतिपादित निदिध्यासनरूप योग व्यर्थ हो जायगा ? क्योंकि, जिस विषयक अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है, उस विषयक विपरीत भावना का होना असम्भव है ? केवल शास्त्ररूप आगम प्रमाण से मोक्षोपयोगी साक्षात्कारात्मक आत्मज्ञान नहीं होता है, इस बात को स्वयं श्रुतिस्मृति स्पष्ट प्रतिपादन करती हैं—"श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः" अर्थात् श्रुततत्त्वमस्यादि शास्त्र पण्डित भी बहुत ऐसे हैं, जो उस आत्मा को नहीं जानते हैं। "श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्" अर्थात् श्रुति-श्रवण करके भी कोई (जिसने योगाभ्यास नहीं किया है) इस आत्मा को नहीं जानता हैं। थोड़ी देर के लिये यह बात मान भी ली जाय कि, आगम प्रमाण से भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो भी योगाभ्यास के बिना असमाहित मन रहने पर इन्द्रियों से जैसा रूपादि का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है, वैसे ही तत्त्वमस्यादि महावाक्य से भी आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होना असम्भव है। अतः मन को एकाग्र करने के लिये योग की परम आवश्यकता है; अत एव योगतत्त्व के ज्ञान के लिये योगदर्शन का आरम्भ सफल है।

यदि कहें कि—सभी दर्शनकारों ने अपने अपने दर्शन में यत्किञ्चित् योगतत्त्व का निरूपण किया है। अतः वहीं से योगसम्बन्धी सर्वविषयों का ज्ञान हो जायगा, तो उसके लिये योगदर्शन का आरम्भ निष्फल है ? तो यह कहना भी समुचित नहीं। क्योंकि, अन्य दर्शनों में जितना द्रव्यादि पदार्थों का निरूपण विस्तार से किया गया है उतना योगदर्शनप्रतिपाद्य पदार्थों का नहीं और योगदर्शन में योग तथा योगोपयोगी पदार्थों का ही विशेष रूप से निरूपणं किया गया है। अतः अन्य दर्शनों में योगदर्शन गतार्थ नहीं। यदि कहें कि—क्षणिक विज्ञानवाद आदि बाह्य पदार्थों का प्रत्याख्यान योगदर्शन में क्यों किया गया है ? तो यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि, चित्त के क्षणिक होने पर सदा स्वतः स्थिर रहने से उसके लिये (चित्तस्थिर करने के लिये) योग व्यर्थ हो जाता है ? और विवेक ज्ञान की निष्पत्ति के लिये योग की परमावश्यकता है ? अतः योगोपयोगी चित्त को स्थायी सिद्ध करने के लिये क्षणिक विज्ञानवाद का निराकरण किया गया है। अत एव यह (क्षणिक विज्ञानवाद का निराकरण) भी योग के उपयोगी ही है, अनुपयोगी नहीं।

परम पुरुषार्थ मोक्षप्राप्ति के साधनीभूत योग की कर्तव्यता के विषय में प्रायः किसी दर्शनकार की विप्रतिपत्ति नहीं है। जब वेदबाह्य जैन, बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों में भी योग का स्थान है, तो आस्तिक दर्शनों में इसका स्थान हो इसमें कहना

ही क्या है ? । वेदों में तो स्थान स्थान पर योग का ही विषय भरा पड़ा है। जैसे—

"अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।"

अर्थात् अध्यात्मयोग के अधिगम से प्रकाशस्वरूप आत्मा को जान कर धीर पुरुष हर्षशोक को त्याग देता है ।

"नाशान्तो नासमाहितः" ।

अर्थात् अशान्त तथा असमाहित चित्तवाला पुरुष आत्मा को नहीं जान सकता है ।

"दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।"

अर्थात् योग द्वारा प्राप्त ऋतम्भरा प्रज्ञारूप सूक्ष्मबुद्धि द्वारा सूक्ष्मदर्शी पुरुष से ही आत्मा देखा जाता है ।

'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥'

अर्थात् योग द्वारा वाणी को मन में, मन को अहङ्कारोपाधिक ज्ञानात्मा में, ज्ञानात्मा को बुद्ध्युपाधिक महान् आत्मा में, और महान आत्मा को शुद्ध-शान्त आत्मा में मग्न (लीन) करे ।

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥"

अर्थात् जिस अवस्था में मन के सहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियां धारणाध्यानसमाधिरूप संयम द्वारा स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी विशेष चेष्टा नहीं करती है, उस अवस्था को मोक्ष का साधन होने से परम गति कहते हैं ।

यथोक्त श्रुतियों में कहीं योग का स्वरूप, कहीं योग का साधन और कहीं योग का फल स्पष्ट रूप से वर्णित है । अन्यत्र भी वेदों में योग के बहुत से विषय विपुल रूप में उपलब्ध होते हैं । विस्तार के भय से यहां इतना ही पर्याप्त समझा गया है ।

इस पातञ्जलयोगदर्शन में चार पाद हैं । समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद । प्रथमपाद में उत्तम अधिकारी के लिये समाधि का वर्णन, द्वितीयपाद में मन्द अधिकारी के लिये साधनसहित समाधि का वर्णन, तृतीयपाद में योग से मोक्षसिद्धि में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये योग से प्राप्त विभूतियों का वर्णन एवं चतुर्थपाद में कैवल्यप्राप्ति के उपयोगी विषयों का निरूपण करते हुए कैवल्य अर्थात् मोक्ष का वर्णन किया गया है । प्रथमपाद में ५१, द्वितीयपाद में ५५, तृतीयपाद में ५५ और चतुर्थपाद में ३४ सूत्र हैं । प्रत्येक सूत्र का भाव विषयसूची के निरूपण के प्रसङ्ग में दिया जा चुका है । अतः अब विराम लेता हूँ ।

सूरत, (गुजरात)
रामनवमी
वि० सं० २०१५

सुधीजननिधेयः—
स्वामी श्रीब्रह्मलीनमुनिः

सूत्रनिदर्शनपूर्वकविषय-सूचिका

प्रथमपाद

२ पा० भू०

द्वितीयपाद

तृतीयपाद

॥ श्रीः ॥

पातञ्जलयोगदर्शनम्

स्वामिश्रीब्रह्मलीनमुनिकृत 'योगभाष्यविवृति'-हिन्दीव्याख्यायुतव्यासभाष्योपेतम्

तत्र समाधिपादः प्रथमः ।

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णो रहितो गुणैर्गुणगणैर्नित्यं नरानर्दितान्
क्लेशैः कर्मभिराशयैश्च विकलान् ध्यानोद्गतः सान्त्वयन् ।
सद्व्यासोक्तिविचारणोद्यतमनेः सत्त्वप्रसादाय मे
भूयादर्जुनजाड्यनाशनपटुर्योगेश्वरो हृद्गतः ॥ १ ॥

भो भो हिन्दुजनास्तथैव यवनाः सर्वेऽपि यूयं विभोः
एकस्मात् परमात्मनस्तु जनिता मा द्विष्ट चान्योन्यकम् ।
इत्थं शिक्षयितुं श्रुतौ सुविदितं नैर्गुण्यमुद्भासयन्
मूर्त्यर्चां गुणयन् सदा विजयतां श्रीमान् कबीरः प्रभुः ॥ २ ॥

श्रीमच्छेषपयोनिधेर्जनिमगाद् यत्सूत्रचिन्तामणिः
तेने भाष्यममुष्यरश्मिनिचयं व्यासो मुनिः सर्ववित् ।
व्याख्यानात्तदनावृतं द्यति तमो वाचस्पतेर्धीनिधेः
भाषाभावनिबन्धने सुमतये तेषां धिया नौमि तान् ॥ ३ ॥

यया विना नाधिकृतो यमादौ पशुस्वरूपो मनुजोऽत्र लोके ।
तयाऽपुनन् ये खलु दीक्षया मां महागुरूँस्तान् प्रणतोऽस्मि भक्त्या ॥ ४ ॥

यत्कृपाभरवशेन मयाऽपि प्रापि दर्शनचयेषु निवेशः ।
छात्रवृन्दपरिपूजितपादाँस्तान् गुरूनपि मुहुः प्रणमामि ॥ ५ ॥

योगभाष्यविवृतिः प्रकटार्था नागरेण वचसा विशदेन ।
तन्यते गुरुपदाब्जनतेन ब्रह्मलीनमुनिना निजतुष्ट्यै ॥ ६ ॥

भगवान् पतञ्जलि जिज्ञासुओं को प्रवृत्त होने के लिये तथा सुखपूर्वक बोध होने के लिये प्रकृत शास्त्र का संक्षिप्त तात्पर्य निरूपण करते हुए आदि सूत्र से शास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ योगानुशासनम् ।

अथेत्ययमधिकारार्थः । योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् । योगः समाधिः । स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः । क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः । तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते । यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान्कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते । स च वितर्कानुगतो विचारानुगत

सूत्र में अथ शब्द आरम्भ रूप अर्थ का वाचक है, योग शब्द चित्तवृत्तिनिरोध का वाचक है तथा अनुशासन शब्द गुरु शिष्य परम्परागत अनादि योगशास्त्र का वाचक है। अतः, योगानुशासनम्–गुरु शिष्य परम्परा से आगत अनादि योगशास्त्र का, अथ–यहां से प्रारम्भ होता है, इस प्रकार संक्षिप्त सूत्र का अर्थ सम्पन्न हुआ।

इसका विशेष व्याख्यान भाष्यकार करते हैं—**अथेत्ययमधिकारार्थः**। अथ इति अयम्–इस सूत्र में पठित यह अथ शब्द, **अधिकारार्थः**–अधिकार अर्थात् आरम्भ रूप अर्थ का वाचक है। जब यह अथ शब्द अधिकारार्थ है तब इस प्रकार वाक्यार्थ होता है–**योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्**। **योगानुशासनम्**–योग संबन्धी सर्व विषयों का उपदेश करने वाला, **शास्त्रम्**–शास्त्र का यहां से, **अधिकृतम्**–प्रारम्भ होता है ऐसा, **वेदितव्यम्**–समझना चाहिये। शब्द सन्देह प्रयुक्त अर्थ सन्देह का निरास करते हैं—**योगः समाधिः**। **योगः**–योग नाम, **समाधिः**–समाधि का है। **स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः**। **स च**-और वह, **सार्वभौमः**–सर्व भूमियों में होनेवाला, **चित्तस्य**–चित्त का, **धर्मः**–धर्म है।

यहाँ नैयायिक शंका करते हैं—चित्तवृत्ति निरोध का नाम समाधि है और वृत्ति नाम ज्ञान का है, जो आत्मा में रहता है, अतः इन वृत्तियों का निरोध भी आत्मा में ही होना चाहिये। इस शंका का उद्धार करते हैं-**क्षिप्तं मूढमिति**। **क्षिप्तम्**–क्षिप्त, **मूढम्**–मूढ, **विक्षिप्तम्**–विक्षिप्त, **एकाग्रम्**-एकाग्र, तथा, **निरुद्धम्**–निरुद्ध, **इति**–ये पांच, **चित्तस्य**–चित्त की, **भूमयः**–भूमिकायें हैं, आत्मा की नहीं। **तत्रेति–तत्र**–उनमें, **विक्षिप्ते चेतसि**–तृतीय विक्षिप्त भूमिक चित्त में, **विक्षेपोपसर्जनीभूतः**–विक्षेपक द्वारा गौणता को प्राप्त होने के कारण वह, **समाधिः**–समाधि, **योगपक्षे**–योग कोटि में, **न वर्त्तते**–नहीं गिना जाता है। **यस्त्वेकाग्रे**—**यस्तु**–और जो, **एकाग्रे चेतसि**–एकाग्र भूमिक चित्त में समाधि का लाभ होता है वह, **सद्भूतम् अर्थम्**–सद्भूत अर्थात् यथार्थ अर्थ का, **प्रद्योतयति**–विशेष रूप से द्योतन करता है, **क्लेशान्**–अविद्यादि क्लेशों को, **क्षिणोति**–क्षीण करता है, **कर्मबन्धनानि**–कर्म बन्धनों को, **श्लथयति**–शिथिल करता है, **च**–और, **निरोधम्**—निरोध रूप असंप्रज्ञात समाधि को,

आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टान्निवेदयिष्यामः। सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः ॥ १ ॥

अभिमुखम्-अभिमुख, करोति-करता है, स-वह समाधि, संप्रज्ञातो योगः-संप्रज्ञात योग, इति-इस नाम से, आख्यायते- कहा जाता है। स चेति—स च-और वह संप्रज्ञात योग, वितर्कानुगतः-सवितर्क, विचारानुगतः—सविचार, आनन्दानुगतः-सानन्द तथा, अस्मितानुगतः-सास्मित के भेद से चार प्रकार का है, इति-इसको, उपरिष्टात्-आगे इस पाद के १७ वें सूत्र में, निवेदयिष्यामः-निवेदन करेंगे। सर्ववृत्तिरिति-सर्ववृत्तिनिरोधे तु-और जब सर्व वृत्तियों का निरोध होता है तब तो वह निरोध, असंप्रज्ञातः समाधिः-असंप्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

'अथैष ज्योतिः' (ज्योतिर्नामक याग का यहां से प्रारम्भ होता है), इस श्रुति में तथा 'अथ शब्दानुशासनम्' (शब्दशास्त्र का यहां से प्रारम्भ होता है), इस महाभाष्य में जैसे अथ शब्द अधिकार रूप अर्थ का वाचक है, वैसे ही इस प्रकृत सूत्र में भी अथ शब्द अधिकार रूप अर्थ का ही वाचक है।

यद्यपि "समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्" (समाप्ति की कामना वाले पुरुष को मङ्गल करना चाहिये), इस शिष्टाचार अनुमित श्रुति प्रमाण से तथा "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते" (जिन शास्त्रों के आदि, मध्य तथा अन्त में मङ्गल होते हैं, वे प्रख्यात होते हैं) इस महाभाष्य रूप स्मृति प्रमाण से ग्रन्थ के आदि में मङ्गल अवश्य करना चाहिये, ऐसा प्रतीत होता है। और यहां मङ्गलवाचक कोई दूसरा पद है नहीं, अतः अथ शब्द को ही यहाँ मङ्गलवाचक मानना चाहिये। यदि कहें कि, अथ शब्द मंगलवाचक है यह कहां देखा गया है ? तो "मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ" (मंगल अनन्तर आरम्भ, प्रश्न तथा कार्त्स्न्य रूप अर्थ में अथो और अथ ये दोनों शब्द हैं), इस अमरकोष के प्रमाण से तथा—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

(ओङ्कार और अथ शब्द, ये दोनों सृष्टि के आदि काल में ब्रह्मा के कण्ठ से प्रगट हुए हैं; अतः ये दोनों शब्द मङ्गलवाचक हैं), इस शास्त्र प्रमाण से अथ शब्द मङ्गलवाचक है, यह सिद्ध है। अतः प्रकृत सूत्र में अथ शब्द मङ्गलार्थ मानना उचित है, अधिकारार्थ मानना उचित नहीं, तथापि जैसे लोक में भक्षण आदि अन्य प्रयोजन के लिये नीयमान दधि तथा जलपूर्ण कुम्भ आदि मांगल्य पदार्थ स्थलान्तर गमन करनेवाले पुरुष को प्रयाण समय दर्शनमात्र से मङ्गलप्रद होते हैं, एवं जैसे मृदङ्गध्वनि श्रवण मात्र से मंगलप्रद होती है, वैसे ही अथ शब्द के श्रवणमात्र से मंगल हो जाने से इसका अर्थ मंगल मानना निष्फल है। भाव यह है कि, जैसे

उक्त दधि आदि मांगल्य पदार्थ स्वरूपसत् रह कर मंगलप्रद हैं, वैसे ही अथ शब्द को भी, स्वरूपसत् रह कर मंगलप्रद होने से, इसका यहां मंगल अर्थ मानना उचित नहीं।

फिर शंका होती है कि, जैसे "अथातो धर्मजिज्ञासा" (अथ = वेदाध्ययनानन्तरम्, अतः = वेदाध्ययनस्यार्थज्ञानरूपदृष्टफलकत्वेन, धर्मजिज्ञासा = धर्मविचारः कर्तव्यः) तथा "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (अथ = साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरम्, अतः = यज्ञादिकर्मणोऽनित्यफलकत्वेन, ब्रह्मजिज्ञासा = ब्रह्मविचारः कर्तव्यः) इत्यादि सूत्रों में अथ शब्द का अर्थ अनन्तर ही किया गया है। वैसे ही प्रकृत सूत्र में भी अथ शब्द का अर्थ अनन्तर क्यों नहीं माना जाय? इसका उत्तर यह है कि, जैसे वेदाध्ययन अनन्तर धर्मजिज्ञासा की संभावना है, एवं जैसे साधन चतुष्टय संपत्ति अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा की संभावना है; वैसे यहां जिसके अनन्तर योगानुशासन हो, उसकी संभावना नहीं है। यदि कहें कि, 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' इस श्रुति से सिद्ध शम, दम आदि साधन अनन्तर योगानुशासन की संभावना है, तो यह बात ठीक नहीं; क्योंकि शम, दम आदि अनन्तर योगानुशासन की संभावना नहीं; क्योंकि "अनुशिष्यतेऽनेनेत्यनुशासनम्" इस व्युत्पत्ति से अनुशासन नाम शास्त्र का है और शास्त्रप्रवृत्ति द्वारा बोध का जनक है। प्रथम शास्त्र में पुरुष की प्रवृत्ति हो, उसके अनन्तर शास्त्रजन्य बोध हो, उसके अनन्तर योग का अभ्यास हो, उसके अनन्तर मन, इन्द्रियादिनिग्रह रूप शम दम आदि की सिद्धि हो सकती है, शास्त्रप्रवृत्ति से पूर्व नहीं। अतः शास्त्रारम्भ से पूर्व शम, दमादि की संभावना न होने से शम, दमादि अनन्तर योगानुशासन कहना उचित नहीं। अतएव भाष्यकार ने "अथेत्ययमधिकारार्थः" इस वाक्य में अयम् शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् प्रकृत सूत्र में ही पठित अथ शब्द अधिकारार्थ है। अन्य सूत्र में पठित जो अथ शब्द है, वह नहीं।

दूसरी शंका यह भी हो सकती है कि, जैसे "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" (अथ= शिष्यप्रश्नानन्तरम्, अतः = श्रवणादिकुशलानां अनसूयकानाञ्च शिष्याणामुपसन्नेन, धर्मं व्याख्यास्यामः = तेभ्यो ज्ञानजनकं धर्मं निरूपयिष्यामः), इस वैशेषिक सूत्र के उपस्कार नामक व्याख्यान में श्रीशङ्करमिश्र ने शिष्याकांक्षानन्तर अथ शब्द का अर्थ किया है। वैसे ही शिष्याकांक्षानन्तर प्रकृत अथ शब्द का अर्थ यहां भी क्यों नहीं किया जाय? तो इसका समाधान यह है कि, जब शिष्यप्रश्न के बिना भी कारुण्य से योगानुशासन संभव है, तो शिष्य-प्रश्न अन्यथा सिद्ध है। और जब अथ शब्द का अधिकार अर्थ करते हैं तब अधिक्रियमाण एवं प्रस्तूयमान योग का कथन होने से अर्थात् शास्त्र के सकल तात्पर्य व्याख्यात होने से शिष्यवर्ग सुखपूर्वक बोध प्राप्त करके प्रवृत्ति कर सकता है। अधिकार से अतिरिक्त अथ शब्द का अर्थ मानने में आवश्यक शास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा के लिये "आरम्यते" पद का अध्याहार करके "शास्त्र का आरम्भ होता है" ऐसा अर्थ करने पर गौरव भी होगा।

योग शब्द युज् धातु से निष्पन्न हुआ है। धातुपाठ में युज् धातु दो हैं, एक 'युजिर् योगे' और दूसरा "युज् समाधौ" उनमें 'युजिर् योगे' सामान्य संबन्धवाचक होने से उसका यहां ग्रहण नहीं है, किन्तु 'युज समाधौ' से जो योग शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका विशेष अर्थ समाधि होता है, उसका यहाँ ग्रहण है।

योग संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात के भेद से दो प्रकार के हैं, जिसको आगे कहेंगे। उनमें संप्रज्ञात अंग और असंप्रज्ञात अंगी है। "युज्यतेऽनेनेति योगः" इस विग्रह में युज् धातु से "करणाधिकरणयोश्च" इस सूत्र से करण में घञ्प्रत्यय करने से जो योग शब्द निष्पन्न होता है वह संप्रज्ञात समाधि का वाचक है और "योजनं योगः" इस विग्रह में "भावे" सूत्र से भाव अर्थ में घञ्प्रत्यय करने से जो योग शब्द निष्पन्न होता है वह असंप्रज्ञात समाधि का वाचक है; अतः प्रकृत सूत्रगत जो योग शब्द है वह उक्त दोनों समाधियों का वाचक है। यह अग्रिम सूत्र में स्पष्ट होगा।

योगानुशासन शब्द से केवल योग का ही प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का आरम्भ होता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये; किन्तु योग का लक्षण, भेद, साधन तथा फल; इन सबका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र का आरम्भ यहां से होता है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि इस शास्त्र में अंग रूप संप्रज्ञात योग तथा योग के उपयोगी अभ्यास, वैराग्य, यम, नियमादि अन्य साधनों का भी उल्लेख पाया जाता है। यद्यपि सूत्रकार ने केवल योग शब्द का ही उल्लेख इस सूत्र में किया है, तथापि लोक में जैसे "राजाऽसौ गच्छति" (वह राजा जाता है), इस वाक्य में जैसे प्रधान राजा के कथन से सेना आदि परिवार सहित राजा का गमन समझा जाता है, वैसे ही प्रधान रूप योग का आरम्भ कहने से योग के साधन, अभ्यास, वैराग्य, यम, नियमादि सकल परिवार का आरम्भ भी यहाँ होता है, ऐसा समझना चाहिये।

शंका होती है कि– 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।' अर्थात् योग–शास्त्र के प्रथम वक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ हैं, अन्य नहीं। महर्षि याज्ञवल्क्य की इस उक्ति से ज्ञात होता है कि, योगशास्त्र के प्रथम वक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ हैं और श्रुति, स्मृति, इतिहास पुराणादि में भी स्थान स्थान पर योग का उल्लेख पाया जाता है, जिससे योगशास्त्र की अनादिता सिद्ध होती है, तो फिर भगवान् पतञ्जलि को योगशास्त्र का कर्ता कहना समुचित नहीं प्रतीत होता है?

इस शंका को दूर करने के लिये ही स्वयं महर्षि (सूत्रकार) ने अनुशासन शब्द में अनु उपसर्ग का प्रयोग किया है और इससे ध्वनित किया है कि, हम योगशास्त्र के आदि कर्ता नहीं हैं; किन्तु, "अनुशिष्यते इति अनुशासनम्" अर्थात् अनु पश्चात् शासन = शिष्ट का शासन गुरुपरम्परा से प्राप्त योग का फिर से उपदेश का आरम्भ यहाँ से होता है। इससे योगशास्त्र की अनादिता सिद्ध हुई है। इस अनु उपसर्ग के

प्रयोग से सूत्रकार ने गुरुपरम्परामूलक होने से स्वरचित योगदर्शन नामक ग्रन्थ में प्रामाण्य का भी निर्देश किया है।

क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध के भेद से चित्त की पांच भूमि अर्थात् अवस्थायें हैं, यह कहा गया है; उनका संक्षिप्त स्पष्टीकरण निम्नलिखित है-रजोगुण से शब्दादि विषयों में निरन्तर भ्रमण करनेवाला अत्यन्त अस्थिर चित्त 'क्षिप्त' कहलाता है। ऐसा चित्त दैत्यदानवादि तथा द्रव्यमद से विभ्रान्त विषयी पुरुषों का होता है। तमोगुण की अत्यन्त वृद्धि से कर्तव्याकर्तव्य के विचार किये बिना क्रोधादि से शास्त्र-विरुद्ध कर्म करनेवाला एवं निद्रा-तन्द्रादि वृत्तिवाला चित्त 'मूढ' कहलाता है। ऐसा चित्त प्रायः राक्षस-पिशाचादि तथा मादक द्रव्य के सेवन से उन्मत्त पुरुषों का होता है। क्षिप्त की अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ, सत्त्वगुण के आविर्भाव से किसी किसी समय स्थिरता को प्राप्त होनेवाला चित्त 'विक्षिप्त' कहलाता है। ऐसा चित्त देवताओं का तथा प्रथम भूमिका में आरूढ योगजिज्ञासुओं का होता है; क्योंकि वक्ष्यमाण "व्याधिस्त्यान" आदि सूत्रोक्त व्याध्यादि योग-विघ्नों के कारण क्षण क्षण में यह चित्त चञ्चलित हुआ करता है। बहिर्वृत्तियों के निरोधवाला चित्त 'एकाग्र' कहलाता है। ऐसा चित्त प्रथम कक्षा के योगियों का होता है। और जिसमें केवल संस्कार ही शेष रहते हैं, ऐसा सर्व वृत्तियों के निरोधवाला चित्त 'निरुद्ध' कहलाता है। ऐसा चित्त अन्तिम भूमिकावाले सिद्ध योगियों का होता है।

प्रथम क्षिप्त तथा मूढ अवस्थाक चित्त में जो यत्किञ्चित् अर्थात् एक विषय के ग्रहण समय अन्य विषयक वृत्ति के अभाव रूप वृत्ति निरोध होता है, वह योग-कोटि में नहीं गिना जाता है; क्योंकि ये दोनों कैवल्य में सहकारी तो कहां से होंगे, प्रत्युत एकाग्रता के विघातक हैं। तृतीय भूमिक विक्षिप्त चित्त में जो वृत्तियों का निरोध होता है वह भी योग-कोटि में नहीं गिना जाता है; क्योंकि यह कैवल्य में, यद्यपि परम्परा से हेतु है एवं अग्रिम एकाग्रता का सहायक है, तथापि तीव्रवेगयुक्त वायु से चञ्चलित दीपक के समान विषय रूप वायु से चञ्चल हो जाया करता है अर्थात् क्षण क्षण में अनेकाग्रता को प्राप्त होता रहता है। चतुर्थ भूमिक एकाग्र चित्त में जो चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, वह योगकोटि में गिना जाता है। "सम्यक् ज्ञायते-साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन् इति संप्रज्ञातः" इस व्युत्पत्ति से इस योग का नाम संप्रज्ञात समाधि है। यह परमार्थ रूप ध्येय वस्तु का प्रकाश करता है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पांच क्लेशों को क्षीण करता है, कर्मबन्धन को निर्मूलन करता है और सर्ववृत्तिनिरोधरूप असंप्रज्ञात समाधि को समीप लाता है।

भाव यह है कि, इस चतुर्थ भूमिक चित्तवाले योगियों को ध्येय स्वरूप का सम्यक् प्रकार से साक्षात्कार होता है। इस अवस्था में ध्येयाकार वृत्ति का सद्भाव होने से अग्रिम असंप्रज्ञात योग का यह अङ्ग कहलाता है।

पूर्वोक्त भाष्य में निर्दिष्ट इस संप्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत। आगे वितर्कानुगत के सवितर्क, निर्वितर्क ये दो भेद और विचारानुगत के सविचार, निर्विचार ये दो भेद सूत्रकार स्वयं कहेंगे। एवं आनन्दानुगत के सविचार, निर्विचार, अस्मितानुगत के भी सविचार, निर्विचार ऐसे दो दो भेद कहेंगे। इस प्रकार संप्रज्ञात योग आठ प्रकार का है। विज्ञानभिक्षु ने छः प्रकार का संप्रज्ञात समाधि कहा है, यह उनका प्रमाद है।

रजोगुण, तमोगुण युक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणवृत्तियाँ सात्विक होकर संप्रज्ञात समाधिकाल में लीन हो जाती हैं और पञ्चम निरुद्ध भूमिक चित्त की वृत्तियों का जो निरोध होता है वह असंप्रज्ञात नामक मुख्य योग कहा जाता है। इस अवस्था में सर्व चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। अर्थात् संप्रज्ञात योगकाल में जो वृत्तियाँ सात्विक रूप को प्राप्त हुई थीं, वे भी इस असंप्रज्ञात योगकाल में निःशेष रूप से निरुद्ध हो जाती हैं।

जिनको जाने विना ग्रन्थ के पटन पाटन में श्रोता-वक्ता की प्रवृत्ति नहीं होती है, उस प्रवृत्ति के प्रयोजक अधिकारी, विषय, प्रयोजन तथा संबन्ध को "अनुबन्ध" कहते हैं। अर्थात् जबतक यह ज्ञात न हो कि, इस ग्रन्थ का अधिकारी कौन, विषय कौन, प्रयोजन कौन तथा संबन्ध कौन है? तब तक विवेकी पुरुषों की ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतएव शिष्ट पुरुष इनको अनुबन्ध कहते हैं। "अनु पश्चात् बध्नन्ति इति अनुबन्धाः" अर्थात् जो अपने ज्ञान के अनन्तर ज्ञात पुरुषों को शास्त्र में बद्ध कर देते हैं वे अनुबन्ध कहे जाते हैं। और ये चारों अनुबन्ध प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में रहा करते हैं तो इस प्रकृत योगदर्शन में भी अवश्य होंगे; अतः उन अनुबन्धों का परिज्ञान कराना आवश्यक है, अन्यथा इस ग्रन्थ में विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः "योगानुशासन" शब्द का प्रयोग करके सूत्रकार ने कैवल्य तथा अणिमादि ऐश्वर्य के अभिलाषी को अधिकारी; लक्षण, भेद, साधन तथा फल सहित योग का प्रतिपादन करने से योग विषय; सकल अनर्थ निवृत्तिपूर्वक चितिशक्तिपुरुष की स्वरूपावस्थिति रूप कैवल्ल प्राप्ति मुख्य प्रयोजन; अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्ति अवान्तर प्रयोजन और ग्रन्थ तथा योग का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव संबन्ध; योग तथा कैवल्य का साध्य-साधनभाव संबन्ध, कैवल्य तथा अधिकारी का प्राप्यप्रापकभाव सम्बन्ध तात्पर्य रूप से व्यक्त किया है। अर्थात् स्पष्ट नहीं कहा है, तो भी योगानुशासन शब्द का प्रयोग करके ध्वनित किया है।

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

इस श्लोकोक्त सूत्र के प्रत्येक लक्षण घटने से और योग तथा योगसम्बन्धी सर्व विषयों को प्रतिपादन करने से एवं भगवान् पतञ्जलि इनके कर्ता होने से ये सब सूत्र

तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते । चित्तं हि

"पातञ्जलयोगसूत्र" के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

सूत्रस्थपदमादाय वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो जनाः ॥

इस श्लोकोक्त संपूर्ण भाष्य के लक्षण घटने से तथा महर्षि व्यासकृत होने से एवं उक्त योगसूत्र के व्याख्यान रूप होने से इस भाष्य को योगभाष्य तथा व्यासभाष्य भी कहते हैं । यहां पर किसीका कहना है कि,

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥

इस श्लोक में छः प्रकार के सूत्र कहे हैं । उनमें यह प्रथम सूत्र अधिकार सूत्र है । क्योंकि, पूर्व कथन के अनुसार इस सूत्र का अथ पद अधिकारार्थक है, सो अधिकार सूत्र का जो लक्षण है उसको नहीं जान कर कहा है । वस्तुतः उक्त छः प्रकार के सूत्र व्याकरण के हैं, दर्शन के नहीं । क्योंकि व्याकरण में अधिकार सूत्र का, "स्वस्मिन् फलशून्यत्वे सति विधिशास्त्रेण सहोत्तरोत्तरबोधजनकत्वमधिकारत्वम्" यह लक्षण किया है । सो इसमें घटता नहीं है । इसके द्वारा शास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा की गई है, अतः यह प्रतिज्ञा सूत्र कहा जाता है । इति ॥ १ ॥

भाष्यकार द्वितीय सूत्र का अवतरण करते हैं–तस्य लक्षणेति । तस्य–उस प्रथम सूत्रोक्त संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात रूप दो प्रकार के योग का, लक्षणाभिधित्सया–लक्षण प्रतिपादन करने की इच्छा से, इदं सूत्रं–यह सूत्र, प्रववृते–प्रवृत्त होता है–योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । चित्तवृत्तिनिरोधः—चित्त की वक्ष्यमाण प्रमाणादि वृत्तियों का जो निरोध (रुक जाना) वह, योगः–योग कहा जाता है । अर्थात् प्रकृति में सत्त्व, रज, तम रूप तीन गुण रहते हैं । उनमें लाघव तथा प्रकाश स्वभाववाला जो सत्त्वगुण है, उसका परिणामविशेष चित्त कहा जाता है । उस चित्त की असंख्य वृत्तियां होने पर भी वे वक्ष्यमाण प्रमाणादि पाँच रूप से संकलित हैं । वे प्रमाणादि चित्त की वृत्तियां जिस अवस्थाविशेष में निरुद्ध हो जाती हैं, वह अवस्थाविशेष योग कहा जाता है । यह फलित हुआ ।

शंका होती है कि, यह चित्तवृत्ति निरोध रूप योग का सामान्य लक्षण संप्रज्ञात योग में अव्याप्त है; क्योंकि संप्रज्ञात योगकाल में राजस, तामस वृत्तियों का निरोध होने पर भी ध्येयाकार सात्त्विक वृत्ति विद्यमान रहती है ? इस शंका का निरास भाष्यकार करते हैं—सर्वेति । सर्वशब्दाग्रह-

प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्।

प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं

णात्—सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण नहीं होने से, संप्रज्ञातोऽपि—संप्रज्ञात योग भी, योग इत्याख्यायते—योग है ऐसा कहा जाता है। अर्थात् संप्रज्ञात योग में भी इस लक्षण के घट जाने से अव्याप्ति नहीं। भाव यह है कि, यदि सूत्रकार "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इसके स्थान में "योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः" ऐसा कहे होते तब संप्रज्ञात योग में लक्षण की अव्याप्ति होती; क्योंकि, संप्रज्ञात योगकाल में राजस, तामस वृत्तियों के निरोध होने पर भी सात्त्विक ध्येयाकार चित्तवृत्ति विद्यमान है, परन्तु ऐसा तो सूत्रकार ने कहा नहीं है। अतः संप्रज्ञात समाधिकाल में उक्त ध्येयाकार वृत्ति के अतिरिक्त क्लेशकर्मविपाकाशय के विरोधी राजस, तामस आदि सर्व वृत्तियों का निरोध होने से अर्थात् संप्रज्ञात योग में भी लक्षण घट जाने से अव्याप्ति नहीं। शंका होती है कि, एक चित्त का क्षिप्तादि पांच भूमियों के साथ संबन्ध किस कारण से होता है? और इन पांच अवस्थावाले चित्त की वृत्तियों का निरोध किसलिये करना चाहिये? प्रथम अवस्था के संबन्ध में कारण भाष्यकार बताते हैं—चित्तं हीति। हि—क्योंकि एक ही चित्त का क्षिप्तादि पांच भूमियों के साथ संबन्ध इस कारण से होता है कि, चित्तम्—चित्त, प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात्—प्रख्या अर्थात् सात्त्विक, प्रवृत्ति अर्थात् राजस एवं स्थिति अर्थात् तामस स्वभाववाला होने से, त्रिगुणम्—त्रिगुणात्मक है। प्रख्या ग्रहण उपलक्षणार्थ है। इस से केवल प्रख्याशील ही चित्त है, ऐसा नहीं किन्तु अन्य भी सात्त्विक-प्रसाद, लाघव तथा प्रीत्यादि स्वभाववाले चित्त को समझना चाहिये। प्रवृत्ति ग्रहण भी उपलक्षणार्थ है। इससे भी केवल प्रवृत्तिशील ही चित्त है, ऐसा नहीं किन्तु अन्य भी राजस—परिताप तथा शोकादि स्वभाववाला समझना चाहिये। प्रवृत्ति के विरोधी तमोवृत्ति धर्म स्थिति कहलाता है, और यह भी उपलक्षणार्थ है। इस से भी केवल स्थितिशील ही चित्त है, ऐसा नहीं किन्तु अन्य भी तामस—गुरुता, आवरण तथा दैन्य आदि स्वभाववाला समझना चाहिये। भाव यह है कि, यद्यपि चित्त एक है तथापि त्रिगुणनिर्मित होने से गुणों की विषमता से एवं एक दूसरे के विमर्दन की विचित्रता से विचित्र परिणाम को प्राप्त होता हुआ अनेक अवस्थावाला हो जाता है।

यथासंभव अवान्तर अवस्थाभेदवाली क्षिप्तादि चित्तभूमियों को भाष्यकार दिखाते हैं —प्रख्यारूपमिति। हि—कारण कि, यद्यपि, चित्तसत्त्वम्—चित्त, प्रकृति का सात्त्विक परिणाम होने से प्रख्यारूपम्—ज्ञानस्वरूप है तथापि जिस काल में रजस्तमोभ्याम्—सत्त्वगुण की न्यूनता होने से रजोगुण तथा तमोगुण से, संसृष्टम्—संबद्ध हो जाता है, उस काल में, ऐश्वर्यविषयप्रियम्—शब्दादि विषय तथा अणिमादि ऐश्वर्य को ही प्रिय

भवति । तदेव तमसाऽनुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति । तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति ।

तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति । तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः । चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविशया शुद्धा चानन्ता च

जानकर उन्हीं में आसक्त होने से विह्वल, भवति–हो जाता है । अतः इस अवस्थावाले चित्त को 'क्षिप्त' कहते हैं । तदेवेति । तदेव–वही चित्त, क्षिप्त काल में, तमसा –सत्त्वगुण तथा रजोगुण की न्यूनता होने से तमोगुण से, अनुविद्धम्—युक्त हो जाता है, उस काल में, अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगम्–अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य तथा निद्रादि में मग्न, भवति—हो जाता है । अतः इस अवस्थावाले चित्त को, 'मूढ' कहते हैं । तदेवेति । तदेव–और वही चित्त, जिस काल में प्रक्षीणमोहावरणम् –आवरण स्वभाव तमोगुण की प्रक्षीणता होने से एवं सत्त्वगुण के विकास होने से, सर्वतः–सर्व तरफ से प्रद्योतमानम्–प्रकाशमान, रजोमात्रया–रजोगुण के लेशमात्र से, अनुविद्धम्–युक्त हो जाता है, उस काल में, धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगम्–धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य रूप विषयों की तरफ अभिमुख, भवति–हो जाता है । अतः इस अवस्थावाले चित्त को क्षिप्तविशिष्ट होने से 'विक्षिप्त' कहते हैं ।

तदेवेति । तदेव–वही चित्त, जिस काल में, रजोलेशमलापेतम्–रजोगुण रूप मल के लेशमात्र से भी रहित, स्वरूपप्रतिष्ठम्– ज्ञानस्वरूप निजरूप में अवस्थित, सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रम्–प्रकृति–पुरुष के भेदज्ञान (विवेकज्ञान) में मग्न हो जाता है, उस काल में, धर्ममेघध्यानोपगम्– धर्ममेघ नामक संप्रज्ञात समाधिनिष्ठ, भवति–हो जाता है । अतः इस अवस्थावाले चित्त को 'एकाग्र' कहते हैं । तत्परमिति । तत्–उस धर्ममेघ–समाधिनिष्ठ चित्त को ही, ध्यायिनः–ध्याननिष्ठ योगिजन, परं प्रसंख्यानम्–उत्तम प्रसंख्यान योग, इति–ऐसा आचक्षते—कहते हैं । विवेक ख्याति के हान तथा चितिशक्ति के उपादान का हेतु निरोध–समाधि का अवतरण करते हुए भाष्यकार चितिशक्ति को श्रेष्ठ तथा विवेक ख्याति को उसकी अपेक्षा से मन्द कहते हैं—चितिशक्तिरिति । चितिशक्तिः–चितिशक्ति रूप आत्मा, अपरिणामिनी–वक्ष्यमाण धर्म, लक्षण, अवस्था रूप परिणाम त्रय रहित, अप्रतिसंक्रमा–संचार रूप क्रिया रहित, दर्शितविषया–बुद्धि द्वारा दर्शित विषय, शुद्धा च–सुख, दुःख, मोह रूप अशुद्धि रहित तथा, अनन्ता च–अन्त अर्थात् नाश रहित है । अतः चितिशक्ति उपादेय है । च–और, अतः–इस चितिशक्ति से,

सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति। अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि। तदवस्थं संस्कारोपगं भवति। स निर्बीजः समाधिः। न तत्र किञ्चित्संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः। द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ॥ २ ॥

विपरीता—विपरीत अर्थात् परिणामिनी प्रतिसंक्रमा तथा विनाशिनी आदि विपरीत स्वभाववाली, इयम्-यह, सत्त्वगुणात्मिका—ध्येयाकार सात्त्विक बुद्धिवृत्ति रूप, विवेकख्यातिरिति-विवेकख्याति है। अतः ध्येयवृत्ति रूप विवेकख्याति भी हेय है अर्थात् निरोध करने योग्य है। इसी बात को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं-अत इति। अतः-विवेकख्याति चितिशक्ति से विपरीत स्वभाववाली है इसलिये; तस्याम्-विवेकख्याति में, विरक्तम्-विरक्त (रागरहित) हुआ, चित्तम्-चित्त पुरुष को निजरूप में स्थित होने के लिये, तामपि ख्यातिम्-उस विवेक ख्याति को भी, ज्ञानप्रसाद रूप पर वैराग्य के द्वारा योगी, निरुणद्धि-निरोध करता है। निरुद्ध अशेषवृत्तिक चित्त के स्वरूप को बताते हैं-तदवस्थमिति। तदवस्थम्-इस निरोध अवस्थावाला चित्त, संस्कारोपगम्-संस्कारमात्रशेष रूप अवस्था को प्राप्त, भवति-होता है। निरोध के स्वरूप को कहते हैं-स इति। सः-वह निरोध, निर्बीजः-निर्बीज, समाधिः-समाधि कहा जाता है। अर्थात् अविद्यादि क्लेश सहित कर्मवासना-जाति, आयु, भोगरूप संसार का बीज है, उस बीज से रहित यह समाधि है; अतः निर्बीज कहा जाता है। इसी समाधि की, योगिजनप्रसिद्ध अन्वर्थ—संज्ञा दिखाते हैं—न तत्रेति। तत्र-इस अवस्था में, ध्येयाकार वृत्ति का भी अभाव होने से, किञ्चित्-कोई भी वस्तु, न संप्रज्ञायते-सम्यक् प्रकार से नहीं भासती है, इति—अतः, असंप्रज्ञातः-इस निर्बीज समाधि का नाम 'असंप्रज्ञात समाधि' है। उपसंहार करते हैं—द्विविध इति। सः-वह प्रथमसूत्र से प्रतिज्ञात, चित्तवृत्तिनिरोधः-चित्तवृत्तिनिरोध रूप, योगः-योग, द्विविधः-दो प्रकार का है, इति-यह सिद्ध हुआ। अर्थात् यद्यपि चित्त की क्षिप्तादि पांच भूमियाँ हैं, तथापि अन्त की दो भूमि ही चित्तवृत्तिनिरोध पद से सूत्रकार को अभिमत है; प्रथम की तीन भूमि नहीं, यह निष्कर्ष है।

जिस चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है, उस चित्त की उत्पत्ति त्रिगुणात्मक प्रकृति से है, अतः चित्तनिरूपण के प्रसंग में प्रकृति का निरूपण करना आवश्यक है। अतएव संक्षेप से प्रकृति का निरूपण किया जाता है-त्रिगुणसाम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं, अतः प्रकृति त्रिगुणात्मक कही जाती है। जैसे रज्जु में तीन आंटें 'एंठन' होने से वह त्रिगुणात्मक कहलाती है। वैसे ही प्रकृति में भी सत्त्वरजस्तमोरूप तीन आंटें होने से यह भी त्रिगुणात्मक कहलाती है। प्रकृति का दूसरा नाम प्रधान है। जैसे राजा के मुख्य कार्य का संपादक होने से मन्त्री प्रधान कहलाता है; वैसे ही पुरुष

के मुख्य कार्य भोग, मोक्ष के संपादक होने से प्रकृति भी प्रधान कहलाती है। प्रकृति के सत्त्व आदि समान गुण होने पर भी उनमें परस्पर भेद इसलिये है कि, वे प्रत्येक भिन्न स्वभाववाले हैं। सत्त्वगुण प्रकाशशील, रजोगुण क्रियाशील, तथा तमोगुण आवरणशील है। इन सत्त्वादि को गुण इसलिये कहते हैं कि, ये एक दूसरे से दब कर गौणत्व को प्राप्त हो जाया करते हैं।

सांख्य योगमत में कार्य को परिणाम कहते हैं। पूर्व धर्म के परित्यागपूर्वक धर्मान्तर को ग्रहण करना परिणाम कहा जाता है। जैसे दुग्ध अपने विलक्षण मधुरता, अतिद्रवता तथा रेचकता रूप पूर्व धर्म को त्याग कर आम्लता, कठिनता तथा मलावरोधकता आदि धर्मान्तर को प्राप्त होने से दधि कहा जाता है। अत एव दधि दुग्ध का परिणाम कहा जाता है। वैसे ही प्रकृति भी अपने विलक्षण साम्यावस्था रूप पूर्व धर्म को त्याग कर विषम महत्तत्त्व रूप धर्मान्तर को प्राप्त होने से महत्तत्त्व कही जाती है। अत एव महत्तत्त्व प्रकृति का परिणाम कहा जाता है। महत्तत्त्व का ही बुद्धिसत्त्व तथा चित्तसत्त्व आदि नाम हैं और यही प्रकृति का पहला परिणाम है; क्योंकि प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्र, पञ्चतन्मात्र से पञ्चमहाभूत और पञ्चमहाभूत से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। यह सांख्य योगमत की सृष्टि-प्रक्रिया है। प्रकृति के गुणों में विषमता के निमित्त पुरुष के प्रारब्ध हैं।

जैसे बाह्य अगाध नदी का जल पवन की प्रेरणा से चञ्चलित होकर असंख्य तरङ्गाकार में परिणत होता है और वे तरङ्ग बहिर्मुख होकर गमनादि क्रिया करने लगते हैं, तीव्र वेग को धारण कर तीर को त्याग देते हैं, इतस्ततः भ्रमण करने लगते हैं, अपने प्रवाह में न मिलकर गर्तादि में तदाकार परिणाम को धारण करते हैं, मन्द वेग के कारण कभी भीतर ही तरङ्गाकार परिणाम को धारण करते हैं और जब पवन स्पन्द का अभाव हो जाता है तब अपने प्रवाह में ही विलीन हो जाते हैं। वैसे ही चित्त भी एक प्रकार की आन्तर नदी है। इसमें विषय-ज्ञान जनित संस्कार रूप पवन की प्रेरणा से विविध प्रकार की तरङ्गें उठा करती हैं और चक्षुरादि इन्द्रियद्वारा बाह्य घटादि आकार को धारण करती हैं। कभी बहिर्मुखता को त्याग कर स्वकारण चित्त में ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, रागद्वेषादि रूप से परिणत होती रहती हैं। इसी चित्त के तरङ्ग रूप परिणाम को वृत्ति कहते हैं। इन चित्तवृत्तियों के स्वभाव सिद्ध प्रवाह का स्वकारण चित्त में विलीन होकर अटक (रुक) जाना चित्तवृत्ति निरोध कहा जाता है। और अभ्यास तथा वैराग्य के सेवन से इसका अटकना होता है। परापर भेद से दो प्रकार का वैराग्य आगे कहेंगे। उनमें अपर-वैराग्य यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा और वशीकार संज्ञा के भेद से चार प्रकार का है। इन चारों के सेवन से चित्त निर्वात देश में स्थित दीपक के समान एकाग्र होता है। इस अवस्थावाले चित्त में पूर्वोक्त बाह्य घटादि वृत्तियाँ तथा आन्तर

कामादि वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं और एकमात्र ध्येयाकार रूप से स्थिर हो जाती हैं। इसी को संप्रज्ञात योग कहते हैं और जब पर वैराग्य का सतत सेवन किया जाता है तब यह ध्येयाकार वृत्ति भी लीन हो जाती है। उस अवस्था में यह चित्त निरुद्ध अवस्थावाला कहा जाता है। यह सम्पूर्ण वृत्तियों की लयरूप अवस्था है। इस अवस्था में केवल संस्कारमात्र शेष रहते हैं। आगे चल कर संस्कार का भी विलय हो जाता है। इसी को असंप्रज्ञात योग कहते हैं।

प्रथम सूत्र के व्याख्यान में क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध के भेद से पांच प्रकार का चित्त कहा गया है। रजः–प्रधान क्षिप्त, तमःप्रधान मूढ, किञ्चित् रजः-सहित सत्त्वबहुल विक्षिप्त, विशुद्ध सत्त्वप्रधान एकाग्र और संस्कारमात्रशेष निरुद्ध कहा जाता है। वृत्ति का स्वकारण चित्त में लीन होना निरोध कहा जाता है। क्षिप्त अवस्था में तमोगुण तथा सत्त्वगुण का निरोध है। मूढ अवस्था में रजोगुण तथा सत्त्वगुण का निरोध है। विक्षिप्त अवस्था में केवल तमोगुण का निरोध है। एकाग्र अवस्था में केवलचतुर्भुजादि ध्येयाकार वृत्ति को छोड़ कर बाह्य आभ्यन्तर सकल वृत्तियों का निरोध होता है और निरुद्ध अवस्था में उक्त ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। अतः चित्तकी पाचों भूमियों में कुछ न कुछ निरोध अवश्य रहता है। अतएव भाष्यकार ने प्रथम सूत्र में कहा है कि, "योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः" अर्थात् योग नाम समाधि का है और वह सब भूमियों में होनेवाला चित्त का धर्म है। यद्यपि सर्व भूमियों में यत्किञ्चित् निरोध है, परन्तु सभी भूमियों के निरोध को योग नहीं कहते हैं, किन्तु, एकाग्र और निरुद्ध भूमि के निरोध को ही योग कहते हैं। चित्त-वृत्ति निरोध योग का लक्षण है, और एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्था का निरोध लक्ष्य है। इन दोनों में लक्षण जाना चाहिये और क्षिप्त, मूढ तथा विक्षिप्त अवस्था के निरोध में नहीं जाना चाहिये। तभी योग का लक्षण निर्दुष्ट कहा जायगा; क्योंकि लक्षण वही कहा जाता है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव रूप दोष से रहित हो। जैसे गो का लक्षण "सास्नादिमत्त्वं गोत्वम्" अर्थात् सास्नादि आकृतिवाली गो है, सास्ना नाम गो के गला में लटकते चर्मविशेष का है। यह गो का लक्षण निर्दुष्ट है; क्योंकि सभी गोव्यक्तियों में घटता है। अतः अव्याप्ति नहीं और महिष्यादि अन्य व्यक्तियों में नहीं जाता है, अतः अतिव्याप्ति नहीं एवं गोरूप लक्ष्य में लक्षण की सम्भावना है, अतः असम्भव भी नहीं। लक्ष्य के एक देश में लक्षण न जाय तो अव्याप्ति कही जाती है। जैसे "कपिलत्वं गोत्वम्" अर्थात् कपिल रंग के पशु का नाम गो है। यह लक्षण यद्यपि कपिल रंगवाली गो व्यक्ति में जाता है तथापि श्वेत रंगवाली गो व्यक्ति में न जाने से अव्याप्ति ग्रस्त है। लक्ष्य में घट कर अलक्ष्य में लक्षण चला जाय, यह अतिव्याप्ति कही जाती है। जैसे "शृङ्गित्वं गोत्वम्" अर्थात् शृङ्गवाले पशु का नाम गो है। यह लक्षण यद्यपि यावत् गोव्यक्ति में जाता है तथापि अलक्ष्य महिष्यादि में भी

चले जाने से अतिव्याप्तिग्रस्त है। और लक्ष्यमात्र में लक्षण न घटे तो असम्भव कहा जाता है। जैसे "एकशफवत्त्वं गोत्वम्" अर्थात् जो एक खुरवाली हो वह गो है। यह कहने से गोमात्र में लक्षण नहीं जानेसे असम्भवग्रस्त है, क्योंकि गो के दो खुर जुटे होते हैं। एक खुरवाली कोई भी गो नहीं होती है। अतः ये तीनों लक्षण क्रम से अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष से दुष्ट होने से लक्षण नहीं कहे जाते हैं।

प्रकृत में योग का लक्षण चित्तवृत्ति निरोध है। यह सम्प्रज्ञातयोग में न जाने से अव्याप्तिग्रस्त है, क्योंकि, यद्यपि सम्प्रज्ञात योगकाल में बाह्य तथा आन्तर सब वृत्तियां का निरोध है. तो भी ध्येयाकार चित्तवृत्ति विद्यमान है। यदि कहें कि, सूत्रकार ने "योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः" ऐसा नहीं कहा है किन्तु "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इतना ही कहा है अर्थात् सभी चित्तवृत्तियों का निरोध योग है ऐसा नहीं कहा है किन्तु चित्त-वृत्तिनिरोध योग है,इतना ही कहा है तो सम्प्रज्ञात समाधिकाल में बाह्य आन्तर वृत्ति-यों का निरोध होने से लक्षण जाता है। अतः अव्याप्ति नहीं है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि, यत्किञ्चित् चित्तवृत्तियों का निरोध भी योग कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में अव्याप्ति दोष का परिहार होने पर भी अतिव्याप्ति दोष गले पतित है; क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से क्षिप्तादि भूमियों में भी यत्किञ्चित् चित्तवृत्ति का निरोध है। अतः अलक्ष्य में लक्षण जाने से अतिव्याप्तिग्रस्त है। ऐसी शङ्का होने पर भाष्यकार ने "सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते" इस पंक्ति से अव्याप्ति दोष का निरास किया है। "चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमो-भ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति" इस पंक्ति से क्षिप्त अवस्था के निरोध में अतिव्याप्ति का परिहार किया है और "तदेव तमसा अनुविद्धं अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति" इस पंक्ति से मूढ़ अवस्था के निरोध में अतिव्याप्ति को दूर किया है। एवं "तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानं अनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति' इस पंक्ति से विक्षिप्त अवस्था के निरोध में अतिव्याप्ति का निरास किया है। और आगे की दो पंक्तियां एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्था के निरोध में लक्षण–समन्वय किया है। इसी प्रकार प्रथम सूत्र में भाष्यकार ने सम्प्रज्ञात समाधि के निरूपण के प्रसंग में "क्षिणोति च क्लेशान्" इत्यादि लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि, जो निरोध क्लेश, कर्म तथा आशय के नाश का हेतु हो वह चित्तवृत्तिनिरोध योग है। ऐसा कहने से क्षिप्तादि अवस्था के जो निरोध हैं वे क्लेशादि निवृत्ति के हेतु न होने से अतिव्याप्ति नहीं। और एकाग्र अवस्था का जो निरोध है वह क्लेशादिकों का नाशक होने से अव्याप्ति नहीं। एवञ्च निष्कर्ष यह हुआ कि–क्लेश, कर्म, आशय का नाशक जो चित्तवृत्तिनिरोध वह योग कहा जाता है।

"क्षिणोति च क्लेशान्" इत्यादि भाष्य के आधार से "योगवैशारदीकार' श्रीवा-चस्पति मिश्रने जो निरोध क्लेशादि नाश का हेतु हो वह योग कहा जाता है,ऐसा अर्थ

करके क्षिप्तादि अवस्था के निरोध में अतिव्याप्ति और एकाग्र अवस्था के निरोध अर्थात् संप्रज्ञात में अव्याप्ति का उद्धार किया है।

इससे असन्तुष्ट होते हुए योगवार्त्तिककार श्रीविज्ञानभिक्षु ने "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस सूत्र को अग्रिम "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इस सूत्र के साथ एकवाक्यता करके ऐसा अर्थ किया है कि–जो निरोध द्रष्टा पुरुष के स्वरूपावस्थिति का हेतु हो वह योग कहा जाता है। क्षिप्तादि अवस्था के जो निरोध हैं वे द्रष्टा पुरुष की स्वरूपावस्थिति के हेतु नहीं; अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं और एकाग्र अवस्था का निरोध–जो सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है–वह यद्यपि साक्षात् चितिशक्ति रूप पुरुष की स्वरूपावस्थिति का हेतु नहीं, क्योंकि उस अवस्था में ध्येयाकार वृत्ति विद्यमान है, तथापि तज्जन्य निरुद्ध अवस्था के असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा स्वरूपावस्थिति का हेतु है, अतः उसमें भी लक्षण का समन्वय होने से अव्याप्ति नहीं।

इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षु ने प्रकारान्तर से अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति का परिहार किया है। सो भी सारग्राही दृष्टि से एक प्रकार से ठीक ही है, क्योंकि योग के दो फल हैं–एक क्लेशादि का नाश और दूसरा चितिशक्ति की स्वरूपावस्थिति। उनमें श्रीवाचस्पति मिश्र ने भाष्य के आधार से प्रथम फल का हेतु और श्रीविज्ञानभिक्षु ने अग्रिम सूत्र के आधार से दूसरे फल का हेतु योग को मान कर उक्त दोषों का परिहार किया है।

वस्तुतस्तु विज्ञानभिक्षु का प्रयास भाष्यविरुद्ध होने से उपेक्षणीय है। और एकवाक्यता का प्रयोजक परस्पर अन्वय की योग्यता का अभाव होने से अग्रिम सूत्र के साथ एकवाक्यता असंभव है। साथ ही ऐसा यत्न करने पर भी संप्रज्ञात योग में अव्याप्ति दुर्वार है, क्योंकि संप्रज्ञात समाधि स्वरूपावस्थिति का हेतु नहीं। यदि कहें कि, असंप्रज्ञातयोग द्वारा संप्रज्ञातयोग भी स्वरूपावस्थिति का हेतु है, अतः अव्याप्ति नहीं तो यह कथन भी "पिण्डमुत्सृज्य करं लेढि" इस न्याय के समान उपहासजनक ही है, क्योंकि जैसे श्वान ग्रासरूप पिण्ड को छोड़कर हाथ चाटने लगता है। वैसे ही विज्ञानभिक्षु ने भी भाष्यानुसारी वाचस्पति के सरल मार्ग को छोड़ कर उक्त युक्ति विरहित क्लिष्ट कल्पना की है।

शंका होती है कि, महर्षि याज्ञवल्क्य ने–"संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।" इस वाक्य से जीवात्मा और परमात्मा के समान रूपत्वात्मक संयोग को योग कहा है और महर्षि पतञ्जलि चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहते हैं। अतः दोनों महर्षियों के कथन में विरोध प्रतीत होता है?

इस शंका का समाधान यह है कि– जबतक चित्तवृत्ति का निरोध न हो तबतक जीवात्मा का परमात्मसमानरूपत्व होना असंभव है। अतः जीवात्मा परमात्मा का संयोग योग का लक्षण नहीं है, किन्तु फल है। "आयुर्वै घृतम्" (घृत आयु नहीं किन्तु

आयुवृद्धि का कारण है) के समान कार्यकारण में अभेद विवक्षा से योग शब्द का प्रयोग किया गया है। लक्षण तो चित्तवृत्तिनिरोध ही है,अतः विरोध नहीं। योगमत में जीवात्मा और परमात्मा में भेद केवल इतना ही है कि–जीवात्मा क्लेशादियुक्त है और परमात्मा क्लेशादि विनिर्मुक्त है। जब योगद्वारा जीवात्मा भी क्लेशादि से विनिर्मुक्त होकर स्वरूप में स्थित हो जाता है, तब परमात्मसमानरूपत्व को प्राप्त हो जाता है। यही महर्षि याज्ञवल्क्य का भी अभिप्राय है, अतएव उत्तर सूत्र में पुरुष को क्लेशादि से विनिर्मुक्त होकर स्वरूपास्थिति रूप योग का फल कहा है।

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान् ने कहा है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ ६-२३ ॥

(हे अर्जुन! जिसमें स्थित हुआ पुरुष भारी दुःख से भी डिगता नहीं है, उसको संसाररूप दुःखसंबन्ध से रहित योग नामक पदार्थ जानना चाहिये, और वह योग खेद-रहित चित्त से निश्चयपूर्वक अनुष्ठान करने लायक है।) इस श्लोक में भी "दुःखसंयोग-वियोग" इतना अंश कार्यकारण की अभेद-विवक्षा से योग का फल समझना चाहिये, लक्षण नहीं, क्योंकि उक्त योग विना दुःख का अभाव होना असंभव है। इसी प्रकार लिङ्गपुराण में भगवान् व्यास ने ही "सर्वार्थविषयप्राप्तिरात्मनो योग उच्यते।" (आत्मा को निखिल विषय की प्राप्ति होना योग कहा जाता है) इस श्लोक द्वारा सर्व विषय पदार्थ की प्राप्तिरूप योग का लक्षण कहा है। इसको भी उक्त न्याय से (कार्यकारण की अभेद विवक्षा से) योग का फल कथन ही समझना चाहिये, क्योंकि योगसिद्धि विना इस प्रकार की समीहित सर्व विषय प्राप्ति रूप आप्तकामना की प्राप्ति होना असंभव है। अन्य स्थल में भी इस प्रकार का वचन प्राप्त होवे तो इसी प्रकार की तर्कना कर लेनी चाहिये।

यद्यपि यहां ऐसी शंका हो सकती है कि–सूत्रकार ने "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस सूत्र से चित्तवृत्तिनिरोध रूप असंप्रज्ञात को योग कहा है, समाधि नहीं। और द्वितीय पाद के "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि" ।२।२९॥ इस सूत्र से संप्रज्ञात को समाधि कहा है, योग नहीं। इस प्रकार भिन्न भिन्न नाम से समाधि को अङ्ग और योग को अङ्गी कहा है, अतः योग और समाधि ये दोनों शब्द भिन्न भिन्न अर्थ के वाचक प्रतीत होते हैं अर्थात् योग अङ्गी और समाधि अङ्ग है, ऐसा स्पष्ट भासता है, तो फिर दोनों शब्दों का एक अर्थ में प्रयोग करना समुचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि अङ्गी को अङ्ग और अङ्ग को अङ्गी कहना विरोध है।

इस शंका का समाधान यह है कि–समाधि अर्थक युज् धातु "योजनम् योगः" इस विग्रह में "भावे"सूत्र से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होने से जो योग शब्द निष्पन्न होता है, वह अङ्गी अर्थात् फलरूप असंप्रज्ञात समाधि का वाचक है और उसी युज् धातु से "युज्यते चित्तमनेनेति योगः" इस विग्रह में "करणाधिकरणयोश्च" इस सूत्र से

करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होने से जो योग शब्द निष्पन्न होता है, वह अङ्ग अर्थात् साधन रूप संप्रज्ञात समाधि का वाचक है। एवं सम् आङ् पूर्वक धा धातु से "समाधानम् समाधिः" इस विग्रह में "उपसर्गे घोः किः" इस सूत्र से भाव अर्थ में 'कि' प्रत्यय होने से जो समाधि शब्द निष्पन्न होता है वह अङ्गी अर्थात् फलरूप असंप्रज्ञात समाधि का वाचक है और उसी सम् आङ् पूर्वक धा धातु से "समाधीयते चित्तमनेनेति समाधिः" इस विग्रह में उक्त सूत्र से ही करण अर्थ में 'कि' प्रत्यय होने से जो समाधि शब्द निष्पन्न होता है, वह अंग अर्थात् साधन रूप संप्रज्ञात समाधि का वाचक है। इस कथन से ये दोनों योग और समाधि शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं, यह सिद्ध हुआ। अर्थात् योग और समाधि ये दोनों शब्द संप्रज्ञात अंग और असंप्रज्ञात अंगी दोनों अर्थ के वाचक हैं। प्रसंगवश इनका प्रयोग होता है। प्रकृत सूत्र में अंगी के अभिप्राय से योग शब्द का प्रयोग किया गया है और द्वितीय पाद के "यमनियमादि" सूत्र में अंग के अभिप्राय से समाधि शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः विरोध नहीं। अत एव भाष्यकार ने "योगः समाधि" इस वाक्य से योग शब्द का अर्थ समाधि किया है। अत एव सूत्रकार ने भी "ता एव सबीजः समाधिः" १।४६। इस सूत्र से संप्रज्ञात को सबीज समाधि और "तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः" १।५१। इस सूत्र से असंप्रज्ञात को निर्बीज समाधि कहा है अर्थात् दोनों योगों का समाधि शब्द से व्यवहार किया है। यदि सूत्रकार संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात को योग इस प्रकार भिन्न भिन्न संज्ञा मानते होते तो दोनों का समाधि शब्द से क्यों व्यवहार करते ?

समाधि तथा योग इन दोनों शब्दों को पर्याय शब्द होने से ही स्कन्दपुराण में एक ही अर्थ में इन दोनों शब्दों का प्रयोग देखा जाता है—

> "यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
> स नष्टसर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते॥
> परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परन्तप।
> स एव तु परो योगः ससासात्कथितस्तव"॥

(यहां जीवात्मा और परमात्मा दोनों का जो समान रूपत्व है, वह सर्व संकल्प रहित समाधि कहा जाता है अर्थात् समाधि का फल कहा जाता हैं। हे शत्रुतापन ! परमात्मा और जीवात्मा की जो यह अविभाग रूप समान रूपता है वही परम योग कहा जाता है। यह संक्षेप से आपको कहा गया है।)

इस प्रकार सूत्र, भाष्य तथा पुराणवाक्यों से यह सिद्ध हुआ कि योग तथा समाधि ये दोनों शब्द एकार्थ वाचक हैं। अतः उक्त विरोध नहीं। इति ॥ २ ॥

तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किंस्वभाव इति ।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये ।

तृतीय सूत्र के अवतरण के लिये शङ्का उठाते हैं—तदवस्थे चेतसीति । तदवस्थे चेतसि—निरुद्ध अवस्थावाले चित्त में, विषयाभावात्—विषय के अभाव होने से, बुद्धिबोधात्मा पुरुषः—बुद्धि का बोधरूप पुरुष अर्थात् बुद्धि के समान आकारवाला पुरुष, किंस्वभावः—कैसा स्वभाववाला होता है ? भाव यह है कि, असम्प्रज्ञात समाधिकाल में विषयों का तो सर्वथा अभाव ही रहता है,ध्येयाकार वृत्ति भी स्वकारण चित्त में विलीन हो जाती है, और पुरुष का यह स्वभाव है कि, जिस जिस आकार को चित्त(बुद्धि) धारण करता है, उसी उसी आकार को धारण करता रहता है, और असम्प्रज्ञात समाधिकाल में चित्त में तो कोई आकार है नहीं । फिर उस समय पुरुष का स्वभाव अर्थात् आकार कैसा रहता है ? अर्थात् आत्मा का स्वस्वरूप कैसा है ? इस आशङ्का का उत्तर सूत्र से देते हैं— तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । तदा—सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधिकाल में, द्रष्टुः—चितिशक्ति रूप पुरुष की, स्वरूपे—आरोपित शान्त, घोर तथा मूढ रहित निर्विषय चैतन्य मात्र प्रकाश स्वरूप में, अवस्थानम्—अवस्थिति होती है । अर्थात् जैसे जपाकुसुम के हट जाने से स्फटिक अपने स्वच्छ शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होता है, वैसे ही वृत्ति के हट जाने से (लीन हो जाने से) वृत्ति के प्रतिबिम्ब से रहित पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है । और मैं शान्त अर्थात् सुखी हूँ, मैं घोर अर्थात् दुःखी हूँ एवं मैं मूढ अर्थात् अज्ञानी हूँ; ऐसा नहीं मानता है ।

चित्त अर्थात् बुद्धि त्रिगुणात्मक होने से शान्त, घोर तथा मूढ रूप है । उसके साथ पुरुष को तादात्म्य अभिमान होने से पुरुष में भी औपाधिक शान्त, घोरादि धर्म भासने लगते हैं, और जब शान्तादि वृत्ति सहित बुद्धि अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाती है, तब पुरुष में जो औपाधिक शान्तादि धर्म भासते थे सो नहीं भासते हैं । उस अवस्था में पुरुष स्वरूप में अवस्थित हो जाता है । अर्थात् उस समय भी पुरुष का सद्भाव रहता ही है, अभाव नहीं हो जाता है, क्योंकि उपाधि के अभाव से उपहित का भी अभाव मानने से रक्तता सहित जपाकुसुम के अभाव काल में स्फटिक का भी अभाव मानना पड़ेगा । इस प्रकार का अतिप्रसंग होगा । इसी बात को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—स्वरूपप्रतिष्ठेति । यथा—जैसे, कैवल्ये—कैवल्यदशा में अर्थात् मोक्षदशा में, चितिशक्तिः—चितिशक्ति रूप पुरुष, स्वरूपप्रतिष्ठा—स्वस्वरूप में स्थित रहता है, वैसे ही, तदानीम्—निरोधावस्था में भी रहता है, ऐसा समझना चाहिये ।

व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा ॥ ३ ॥

कथं तर्हि

(दर्शितविषयत्वात्) वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

शंका होती है कि व्युत्थान अवस्था में स्वरूप-अप्रतिष्ठा और निरुद्ध अवस्था में स्वरूप-प्रतिष्ठारूप परिणाम होने से चितिशक्तिरूप पुरुष परिणामी होगा और यदि व्युत्थान अवस्था में भी स्वरूप प्रतिष्ठा ही मानेंगे तो व्युत्थान अवस्था में और निरुद्ध अवस्था में भेद नहीं रहेगा ? इस आशंका को भाष्यकार दूर करते हैं—व्युत्थानचित्त इति। व्युत्थानचित्ते तु चञ्चल चित्तदशा में तो, तथापि भवन्ती—चितिशक्तिरूप पुरुष पूर्ववत् रहता हुआ भी, न तथा-वैसा प्रतीत नहीं होता हैं। अतः व्युत्थान दशा, असम्प्रज्ञात समाधि दशा तथा कैवल्य दशा के समान नहीं है। इतना ही व्युत्थान और असम्प्रज्ञात दशा में भेद है।

भाव यह है कि, चितिशक्तिरूप पुरुष कूटस्थ नित्य होने से अपने स्वरूप से कदापि प्रच्युत नहीं होता है। इसलिये जैसा निरोध काल में पुरुष का स्वभाव है, वैसा ही व्युत्थान काल में भी है; परन्तु अविवेक के कारण व्युत्थान काल में वैसा प्रतीत नहीं होता है। जैसे शुक्ति में रजत-भ्रान्ति के समय शुक्ति का अभाव और रजत की उत्पत्ति नहीं होती है। एवं भ्रान्तिनाश के समय भी शुक्ति की उत्पत्ति और रजत का अभाव नहीं होता है: केवल भ्रान्ति से ही अस्ति, नास्ति आदि का व्यवहार होता है। वैसे ही चितिशक्ति रूप पुरुष भी सदा अखण्ड एक रस है, पर व्युत्थान काल में अविवेक के कारण विपरीत रूप से भासता है, और निरोध काल में स्वस्वरूप शान्त रूप से भासता है। इतना ही दोनों अवस्थाओं में भेद है। सम्प्रज्ञात काल में ध्येयाकार वृत्ति के रहने से पुरुष की स्थिति स्वरूप में जैसी चाहिये वैसी न होने से असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि भी व्युत्थान रूप ही समझना चाहिये। सांख्ययोग मत में प्रतिबिम्ब ग्रहणाग्रहण ही बन्धमोक्ष है। इति ॥ ३ ॥

भाष्यकार प्रश्न द्वारा चतुर्थ सूत्र की अवतरणिका रचते हैं-कथमिति। अर्थात् यदि व्युत्थान काल में चितिशक्ति रूप पुरुष नित्य कूटस्थ रूप होता हुआ भी नित्य कूटस्थ आदि निजरूप से नहीं भासता है, तो अन्य किस रूप से भासता है ? इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार—"दर्शितविषयत्वात्" इतना हेतुबोधक पञ्चम्यन्त पद का अध्याहार करके अर्थात् अपनी तरफ से सूत्र के साथ सम्मिलित करके इस सूत्र से देते हैं-दर्शितविषयत्वाद्-"वृत्तिसारूप्यमितरत्र"। इतरत्र-व्युत्थान काल में, दर्शितविषयत्वात्-बुद्धिद्वारा समर्पित विषय होने से-वृत्तिसारूप्यम्-वृत्ति के स्वरूप के

व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः ।

तथा च सूत्रम्—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' इति । चित्तमय-

---

समान स्वरूपवाला होकर चितिशक्तिरूप पुरुष भासता है । अर्थात् व्युत्थान काल में चेतन निजरूप से न भास कर बुद्धि के दिये हुए शान्तादि वृत्तिवाला होकर भासता है । इसी अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं-व्युत्थान इति । व्युत्थाने-असमाधिकाल में, याश्चित्तवृत्तयः-जो शान्त, घोर तथा मूढरूप चित्त की वृत्तियां हैं, तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः-उनसे अभिन्न वृत्तिवाला होकर पुरुष भासता है, अर्थात् पुरुष का धर्म वृत्तियां नहीं हैं किन्तु वह स्वतः ज्ञानस्वरूप है ।

भाव यह है कि-जैसे जपाकुसुम और स्फटिक के सन्निधान होने पर जपाकुसुम और स्फटिक में ऐक्य—भ्रान्ति होने से जपाकुसुम की अरुणिमा स्फटिक में भासती है । वैसे ही बुद्धि और पुरुष के सन्निधान होने पर बुद्धि और पुरुष में ऐक्य—भ्रान्ति होने से बुद्धिगत शान्त, घोर, मूढादि वृत्तियां पुरुष में भासती हैं । उस समय पुरुष अपने में आरोपित शान्तादि वृत्तियों के कारण मैं शान्त हूँ, मैं घोर हूँ, मैं मूढ़ हूँ अर्थात् क्रमशः मै सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ; इस प्रकार का व्यवहार करने लगता है । एवं जैसे लोक में मलिन दर्पणगत प्रतिबिम्बित मुख में मलिनता का आरोप करके अविवेकी पुरुष "मैं मलिन हूँ" ऐसा जान कर शोक करता है । वैसे ही शान्त, घोर, मूढादि वृत्तिद्वारा मलिन बुद्धिरूप दर्पण में प्रतिबिम्बित चेतन अपने स्वरुप में शान्तादि अनुकूल तथा प्रतिकूल निखिल विषय वृत्तिरूप मलिनता का आरोप करके "मैं शान्त हूँ," "मैं घोर हूँ," "मैं मूढ़ हूँ," ऐसा समझ कर दुःखी, सुखी हुआ करता है । परन्तु स्वरूप से पुरुष नित्य ज्ञानस्वरूप ही है । उक्त अर्थ में प्रमाण देते हैं—तथाच सूत्रम्—अर्थात् इसी बात को षष्टितन्त्र में महर्षि पञ्चशिखाचार्यजी ने कहा है-"एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्" इति । एकमेव दर्शनम्— बुद्धिवृत्तिरूप एक ही ज्ञान है । ख्यातिरेव दर्शनम्—शब्दादि ज्ञान तथा प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान; ये सब ख्यातिरेव अर्थात् बुद्धि की ही वृत्ति है । भाव यह है कि, बुद्धिवृत्ति और पुरुषवृत्ति के भेद से दो ज्ञान नहीं, किन्तु बुद्धिवृत्तिरूप एक ही ज्ञान है । पुरुष तो ज्ञानस्वरूप ही है । इस कथन से भाष्यकार कहते हैं कि, पुरुष ज्ञान स्वरूप है । यह सिर्फ मैं ही नहीं कहता हूँ, किन्तु पञ्चशिखाचार्य भी कहते हैं ।

'व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः' इस कथन से यद्यपि यह बात सिद्ध हुई कि, वृत्तियां पुरुष में नहीं हैं किन्तु बुद्धि में हैं परन्तु पुरुष के योग के लिये पुरुष तथा बुद्धि का उपकार्य—उपकारक भाव अर्थात् स्वस्वामिभाव सम्बन्ध माना जाता है; पर सम्बन्ध द्विष्ठ अर्थात् दो में रहनेवाला होने से जैसे बुद्धि में है, वैसे ही

स्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वयं भवति पुरुषस्य-स्वामिनः ।

तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः सम्बन्धो हेतुः ॥ ४ ॥

पुरुष में भी मानना पड़ेगा । अतः अपरिणामी पुरुष में सम्बन्ध तथा उपकारभागित्व आदि विकार मानने से पुरुष विकारी अर्थात् परिणामी होगा ? इस शङ्का का उत्तर भाष्यकार नीचे की पंक्ति से देते हैं—चित्तमिति । चित्तम्—बुद्धि,-अयस्कान्तमणिकल्पम्-लोहचुम्बक के समान, सन्निमात्रोपकारि-पास में रहने वालेका स्वक्रिया के बिना उपकार करनेवाली होती हुई, दृश्यत्वेन-दृश्य रूप से, पुरुषस्य स्वामिनः स्वं भवति-पुरुष रूप स्वामी की स्व हो जाती है । अर्थात् बुद्धि स्व और पुरुष स्वामी होने से दोनों का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध हो जाता है ।

भाव यह है कि, जैसे लोक में लोहचुम्बक लोहशलाका को अपनी ओर खींचता हुआ सन्निधि मात्र से विनोदी पुरुष का विनोद रूप भोग का हेतु होने से पुरुष का स्व कहलाता है और पुरुष कुछ किये बिना ही उसका स्वामी कहलाता है । वैसे ही चित्त भी लोहशलाका के सदृश विषयों को अपनी ओर खींचता हुआ सन्निधिमात्र से उपकार करने वाला होने से पुरुष का "स्व" कहलाता है और पुरुष कुछ क्रिया किये बिना ही (स्वरूप सत् रह कर) उसका स्वामी कहलाता है । अर्थात् स्वरूप सत् पुरुष बुद्धि का स्वामी होने से उसमें परिणामित्व आदि दोष प्राप्त नहीं होते हैं । पुरुष को असङ्ग होने से पुरुष संयुक्त चित्त नहीं, किन्तु पुरुष सन्निहित है । पुरुष की सन्निधि भी देशकृत अथवा कालकृत नहीं, किन्तु योग्यता रूप है । पुरुष में भोक्तृत्व शक्ति तथा द्रष्टृत्व शक्ति है और चित्त में भोगत्व शक्ति तथा दृश्यत्व शक्ति है । इसी प्रकार की पुरुष में और चित्त में परस्पर योग्यता है । इसी योग्यता रूप सन्निधि से चित्त सुख, दुःख, मोहाकार रूप परिणाम से भोग्य तथा दृश्य होते हुए पुरुष का स्व कहा जाता है, और पुरुष भोक्ता तथा द्रष्टा होते हुए स्वामी कहा जाता है । एवं पुरुष के भोग का कारण जो स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है; सो भी चित्त से पृथक् अपने स्वरूप के अविवेक अर्थात् अविद्याजन्य वृत्तिसारूप्य से ही है । अतः चित्त के साथ पुरुष का संयोग न होने से चित्तजन्य उपकार का भागी होते हुए भी पुरुष अपरिणामी ही है । यह बात सिद्ध हुई ।

यहाँ शङ्का होती है कि, पुरुष के भोग का हेतु चित्त का और पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध और सम्बन्ध का हेतु पूर्वोक्त अविद्या है, परन्तु अविद्या का हेतु कौन ? इस शङ्का का उद्धार भाष्यकार उपसंहार के बहाने से करते हैं—तस्मादिति । तस्मात् चित्तवृत्तिबोधे-इसलिये शान्त, घोर, मूढाकार चित्तवृत्ति के भोग में, पुरुषस्य—पुरुष का, अनादिः-अनादि काल का, सम्बन्धो हेतुः-सम्बन्ध हेतु है । अर्थात् अविद्या और भोगवासना की धारा बीजवृक्ष की धारा के समान अनादि हैं ।

ता: पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य—

वृत्तय: पञ्चतय्य: क्लिष्टाऽक्लिष्टा: ॥ ५ ॥

उपरिनिर्दिष्ट 'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' यह सूत्र 'षष्टितन्त्र' का है, जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है कि– षष्टितन्त्र' सांख्यशास्त्र का एक ग्रंथ था, जिसके कर्ता महर्षि पञ्चशिखाचार्य थे। उसमें साठ प्रकार के पदार्थों का वर्णन था। दुर्भाग्यवश वह ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है। श्रीवाचस्पति मिश्र ने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में उन साठ पदार्थों का संक्षेप से निरूपण किया है। पाठकों को वहीं देखना चाहिये। पञ्चशिखाचार्य के प्रति व्यास भगवान् की पूज्य भावना होने से इस ग्रन्थ में उनके वचनों का प्रमाण स्थान स्थान पर देते रहेंगे। इति ॥ ४ ॥

प्रथम सूत्र से योगशास्त्र के आरम्भ की प्रतिज्ञा की गई है। और द्वितीय सूत्र से चित्तवृत्ति निरोध रूप योग का लक्षण कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि, प्रकृत शास्त्र चित्तवृत्ति निरोध रूप योग का उपदेश करता है; परन्तु जो वस्तु पुरुष-प्रयत्न-साध्य हो, उसीका उपदेश करना सार्थक होता है और जो पुरुष-प्रयत्न-साध्य नहीं, उसका उपदेश व्यर्थ होता है। जैसे हिमालय का उठाना पुरुष-प्रयत्न-साध्य नहीं, अतः उसको उठाने के लिये कोई किसी को उपदेश नहीं करता है। इसी प्रकार चित्तवृत्तियों का निरोध भी पुरुष-प्रयत्न-साध्य नहीं ; क्योंकि, चित्त-वृत्तियां लज्जा, तृष्णा आदि भेद से असंख्य हैं, और जीव अल्पज्ञ है। सभी वृत्तियों का ज्ञान जीव को है नहीं, और ज्ञान विना वृत्तियों का निरोध कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अतः चित्तवृत्ति निरोध पुरुष-प्रयत्न-साध्य नहीं होने से उसके उपदेशक शास्त्र का आरम्भ निष्फल है ? ऐसी शंका होने पर वृत्तियों का पांच प्रकार से संक्षेप करनेवाले सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं–ता: पुनरिति। चित्तस्य बहुत्वे सति–लज्जा, तृष्णा आदि वृत्तिरूप से चित्त बहुभाव को प्राप्त हुआ है तो भी, ता: पुनर्निरोद्धव्या:–निरोध करने में अपेक्षित जो उसकी वृत्तियां वे निरोध करने में साध्य हैं। भाव यह है कि, उन सब वृत्तियों का पांच प्रकार से संक्षेप होने पर उनका निरोध पुरुष-प्रयत्न-साध्य है। इसी बात को सूत्र से सिद्ध करते हैं-वृत्तय: पञ्चतय्य: क्लिष्टाऽक्लिष्टा:। वृत्तय:–सभी वृत्तियां, पञ्चतय्य:–पांच अवयववाली अर्थात् पांच प्रकार की हैं। (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति के भेद से वृत्तियों के पांच भेद आगे के सूत्र में दिखाये जायंगे।) और वे प्रत्येक, क्लिष्टाऽक्लिष्टा:–क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट रूप से दो दो प्रकार की हैं। राजस तामस प्रवृत्ति, परिताप, क्रोध, लोभादि क्लिष्ट वृत्तियां कहलाती हैं और सात्विक प्रख्या-प्रसाद अक्लिष्ट कहलाती हैं। चित्त के परिणाम को वृत्ति कहते हैं। जैसे ब्राह्मण के जीवननिर्वाह का साधन यजमान

क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः।

क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः। क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा

कर्म है, अतः यजमान कर्म वृत्ति कहलाता है। वैसे ही वृत्ति के अधीन चित्त की स्थिति अर्थात् निर्वाह का साधन होने से प्रमाण आदि परिणाम चित्त की वृत्ति कहलाते हैं। अवतरणिका भाष्य में बहुवचन के स्थान में "चित्तस्य" यह एकवचन का प्रयोग जाति अभिप्राय से समझना चाहिए और सूत्र में "वृत्तयः" यह बहुवचन प्रयोग चैत्र, मैत्र आदि पुरुषों की असंख्य वृत्तियों के अभिप्राय से समझना चाहिये। सारांश यह कि, यद्यपि वृत्तियां असंख्य हैं तथापि उन सबका उक्त प्रमाणादि पांच वृत्तियों के अन्दर समावेश हो जाने से उनका निरोध शक्य होने से शास्त्रारम्भ सफल है। निरोध रूप अनुष्ठान के उपयोगी होने से पांचों वृत्तियों के जो क्लिष्ट, अक्लिष्ट दो दो रूप हैं उनका वर्णन भाष्यकार करते हैं—क्लेशहेतुका इति। कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः—जो वृत्तियां धर्म, अधर्म तथा वासना समूह की उत्पत्ति करनेवाली एवं क्लेशहेतुकाः—अविद्या आदि क्लेशमूलक हैं वे, क्लिष्टाः—क्लिष्ट कहलाती हैं। अक्लिष्ट वृत्तियों का स्वरूप बतलाते हैं—ख्यातिविषया इति। ख्यतिविषयाः—जो वृत्तियां प्रकृति-पुरुष के विवेक को विषय करती हैं और गुणाधिकारविरोधिन्यः—गुणाधिकार की विरोधिनी हैं वे, अक्लिष्टाः—अक्लिष्ट कहलाती हैं। भाव यह है कि, धर्म, अधर्म की उत्पत्ति द्वारा आगामी जन्मादि का आरम्भ करना गुणों का अधिकार कहा जाता है और राजस-तामस वृत्तियों से रहित बुद्धिसत्त्व का जो प्रशान्तवाही प्रज्ञाप्रसाद वह ख्याति कहा जाता है। वह ख्याति बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष के भेद को विषय करती है। अतः उसको विवेकख्याति एवं सत्त्व पुरुषान्यता ख्याति भी कहते हैं। और भाष्य में 'ख्यातिविषया' इस शब्द में विषय शब्द के ग्रहण से विवेक ज्ञान के साधन का भी ग्रहण होता है। अतः निष्कर्ष यह हुआ कि, जो वृत्तियां उक्त गुणाधिकार की विरोधिनी हों तथा बुद्धिसत्त्व और पुरुष के विवेक एवं विवेक के साधन को विषय करती हों, वे अक्लिष्ट कहलाती हैं।

यहां शंका होती है कि—प्राणिमात्र के जन्म देखे जाते हैं और जन्मप्रद क्लिष्ट वृत्तियां ही हैं। ऐसी स्थिति में क्लिष्ट वृत्तियों की विरोधिनी अक्लिष्ट वृत्तियां उत्पन्न कैसे होंगी? और कदाचित् उत्पन्न भी हों तो उनको प्रबल तथा अनन्त क्लिष्ट वृत्तियां नाश न कर डालेंगी? और नाश नहीं तो अपने समान क्लिष्ट तो बना ही डालेंगी?

इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं—क्लिष्टप्रवाहेति। क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह के बीच में अक्लिष्ट वृत्तियां उत्पन्न होती हैं और उनके प्रवाह में पड़ी हुई भी अक्लिष्ट ही कही जाती हैं तथा क्लिष्ट वृत्तियों के छिद्र में भी अक्लिष्ट वृत्तियां अक्लिष्ट शब्द

भवन्ति। अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति।

तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च

से ही कही जाती हैं। इसी प्रकार अक्लिष्ट वृत्तियों के छिद्र में यदि क्लिष्ट वृत्ति भी उत्पन्न हो तो वह भी क्लिष्ट ही कही जाती है।

भाव यह है कि, अरण्य में किरातों के गांव में सैकड़ों किरातों से घिरा हुआ भी ब्राह्मण उत्पन्न होकर किरात नहीं हो जाता है। किन्तु ब्राह्मण ही रहता है। वैसे ही सैकड़ों क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह के बीच में अथवा छिद्र में भी अक्लिष्ट वृत्तियां उत्पन्न होती हैं और अक्लिष्टरूप से ही रहती हैं। बीच में रहने वाली वृत्ति प्रवाह-पतित तथा राजस-तामस मिश्रित वृत्ति छिद्रस्थ कहलाती हैं। इतना भेद है। सारांश यह है कि, यदि क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में वा छिद्र में अक्लिष्ट वृत्तियों की उत्पत्ति तथा स्थिति न मानी जाय तो सैकड़ों श्रुति-स्मृति आदि प्रमाणों से सिद्ध जीवनमुक्ति अवस्था का उच्छेद हो जायगा।

अभ्यास-वैराग्य के न्यूनाधिक्य से क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट वृत्तियों का प्रवाह भी न्यूनाधिक होता रहता है। अर्थात् जब अभ्यास तथा वैराग्य की न्यूनता होती है तब क्लिष्ट प्रवाह का आधिक्य होता है। और जब अभ्यास तथा वैराग्य का प्राबल्य होता है, तब अक्लिष्ट प्रवाह का आधिक्य होता है, और जब दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर सत्कार-पूर्वक सेवन से अभ्यास तथा वैराग्य दृढ हो जाता है, तब उसी क्षण अक्लिष्ट वृत्तियां क्लिष्ट वृत्तियों का अभिभव (नाश) कर निन्तर प्रवाहशील होती रहती हैं। उस समय अक्लिष्ट संस्कार अक्लिष्ट वृत्तियों को ही उत्पन्न करता रहता है। इस प्रकार अन्तिम निर्बीज समाधि पर्यन्त यह वृत्ति संस्कारचक्र निरन्तर भ्रमण करता रहता है इसी बात को भाष्यकार अत्यन्त संक्षेप से वर्णन करते हैं-तथेति। तथा जातीयकाः-अक्लिष्ट जातीयक, संस्काराः—संस्कार, वृत्तिभिरेव—अक्लिष्ट वृत्तियों द्वारा ही, क्रियन्ते—उत्पन्न किये जाते हैं। संस्कारैश्च—और अक्लिष्ट संस्कार द्वारा, वृत्तयः-वृत्तियां उत्पन्न की जाती हैं। एवं-इस प्रकार, वृत्तिसंस्कारचक्रम्—वृत्ति तथा संस्कार का चक्र, अनिशम्-रात्रिंदिन निरन्तर, आवर्त्तते-भ्रमण करता रहता है।

निर्बीज समाधि की सिद्धि के लिये अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध करना आवश्यक है; क्योंकि निर्बीज समाधि ही इस वृत्तिसंस्कार रूप चक्र का अवधि है। अतः उक्त साधन के प्राबल्य से जब सत्त्वपुरुषान्यता—ख्याति का अर्थात्-विवेक ख्याति का प्रादुर्भाव होता है, तब चित्त भी अपने कर्तव्य से निवृत्त हो जाता है, और परवैराग्य द्वारा अक्लिष्ट वृत्तियां भी निरुद्ध हो जाती हैं। इस अवस्था में चित्त आत्मस्वरूप से अभिन्न होकर स्थित होता है अथवा अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है। यही भाष्यकार

वृत्तय इति । एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते । तदेवंभूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति ।

ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः ॥ ५ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

कहते हैं-तदेवंभूतमिति । तदेवंभूतं चित्तम्—इस प्रकार का वृत्ति-संस्कार-चक्रवाला चित्त, अवसिताधिकारम्-कृतकार्य होते हुए, आत्मकल्पेन व्यवतिष्ठते—आत्मा के स्वरूप से अभिन्न होकर स्थित होता है । प्रलयं वा गच्छति—अथवा अपने कारण प्रकृति में सदा के लिये लिये लीन हो जाता है । 'गच्छति' के आगे इति शब्द सूत्रार्थ-पूर्णता का सूचक है । अर्थात् जीवन्मुक्त दशा में चित्त आत्मस्वरूप से स्थित रहता है और विदेह मुक्त दशा में प्रलय को प्राप्त हो जाता है । यह चित्त की प्रलय अवस्था ही योग की परम अवधि है । पूर्व उक्त सकल अर्थों का पिण्डीकरण करके भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—ता इति । पञ्चधा वृत्तयः—इस प्रकार प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति के भेद से पांच प्रकार की चित्तवृत्तियां कही गईं, ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च—और वे पांचों वृत्तियां क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से प्रत्येक दो दो प्रकार की भी कही गईं ।

सूत्रकार के "क्लिष्टाक्लिष्टाः" इस क्रम निर्देश से यह प्रतीत होता है कि, प्रथम विवेकख्याति रूप अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध होता है। उसके बाद परवैराग्य द्वारा विवेकख्याति रूप अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध होता है। सूत्र में तयप्प्रत्ययान्त पञ्चतयी शब्द का पांच अवयववाली अर्थ है और भाष्यकार ने जो प्रकारार्थक धाप्रत्ययान्त पञ्चधा शब्द से उसका विवरण किया है सो भावार्थ है, ऐसा समझना चाहिये । अतः मैंने भी "पांच अवयव" न लिख कर "पांच प्रकार की वृत्तियां हैं" ऐसा लिखा है । यह भी भावार्थ ही समझना चाहिये । वाचस्पति मिश्र के मत का खण्डन करते हुए विज्ञान भिक्षु ने 'योगवार्तिक' में "ताः पञ्चधा वृत्तयः" इस भाष्य के आधार से तयप्प्रत्यय की प्रकार अर्थ में लक्षणा की है और कहा है कि, वृत्तियां असंख्य व्यक्ति हैं, अतः उनका अवयव अर्थ अनुपपन्न है । इति ॥ ५ ॥

पञ्चम सूत्र से जिन वृत्तियों का सामान्य रूप से निरूपण हुआ है, उन्हीं वृत्तियों का इस सूत्र से भिन्न भिन्न नाम के द्वारा निरूपण करते हैं—प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः । प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति के भेद से पांच प्रकार की चित्त-वृत्तियां हैं । । सूत्रार्थ स्पष्ट होने से इस पर भाष्य नहीं है ।

जैसे "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" अर्थात् "अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुःख में सुख तथा अनात्मा में आत्मबुद्धि अविद्या कही जाती है । इस सूत्र से भ्रान्ति के चार नाम लेने पर भी दिङ्मोह तथा आलातचक्र

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

आदि भ्रान्तियों में अविद्यात्व की निवृत्ति नहीं हो जाती है किन्तु वे भी अविद्या ही कहे जाते हैं। वैसे ही प्रमाणादि पांच वृत्तियों का नाम लेने पर भी पञ्च शब्द का प्रयोग न होने से अधिक की आशङ्का हो सकती है। अतः उस आशङ्का के निरास के लिये पीछे के पञ्चम सूत्र से "पञ्चतय्यः" इस पद की अनुवृत्ति कर के प्रमाणादि के भेद से पांच ही चित्त-वृत्तियां हैं, अधिक नहीं, ऐसा अर्थ करना चाहिये। इति ॥ ६ ॥

प्रमाणवृत्ति, विपर्ययवृत्ति, विकल्पवृत्ति निद्रावृत्ति तथा स्मृतिवृत्ति के भेद से पांच प्रकार की वृत्तियां कही गई हैं। यथाक्रम उन पाचों के लक्षण करने की इच्छा करते हुए सबसे प्रथम प्रमाण वृत्ति का सामान्य-लक्षण कथनपूर्वक विशेष-लक्षण तथा विभाग सूत्रकार करते हैं—प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ उक्त पांच वृत्तियों में से जो प्रथम प्रमाणवृत्ति है वह प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम के भेद से तीन प्रकार की है। प्रमाणों के विभाग के कथन मात्र से अधिक प्रमाणों की शङ्का का निरास हो जाता है। अथवा त्रीणि पद का अध्याहार करके "तीन ही प्रमाण हैं, अधिक नहीं", ऐसा अर्थ करने से अधिक शङ्का का उद्धार हो जाता है।

शङ्का होती है कि—दार्शनिकों का यह सिद्धान्त है कि-जिस पदार्थ का विभाग किया जाय उसके सामान्य तथा विशेष लक्षण का निर्देश प्रथम करके पश्चात् विभाग करना चाहिये। इस सूत्र में प्रमाणों का विशेष लक्षण तथा विभाग किया गया है। परन्तु प्रमाणों का सामान्य लक्षण नहीं किया गया है। अतः सूत्रकार की यहां न्यूनता प्रतीत होती है ?

इस आशङ्का का उत्तर यह है कि—योगी लोग पदों में तन्त्र मानते हैं। एक बार उच्चरित पद से अनेक अर्थ को बोधन करने का नाम तन्त्र है। इस सूत्र में "प्रमाणानि" यह पद एक बार उच्चरित होने पर भी तन्त्र से दो बार समझना चाहिए। और "प्रमीयतेऽनेन तत्प्रमाणम्" अर्थात् प्रमा ज्ञान हो जिससे वह प्रमाण कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से एक प्रमाण पद से ज्ञान का साधन प्रमाण कहा जाता है। इस प्रकार प्रमाण का सामान्य लक्षण करके दूसरे प्रमाण पद से प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम के भेद से तीन प्रकार के प्रमाण हैं। इस प्रकार प्रमाणों का विभाग होने से उक्त न्यूनता की पूर्ति सूत्र से ही हो जाती है, ऐसा समझना चाहिये। परन्तु पद में तन्त्र योगी लोग समझ सकते हैं, अन्य नहीं। अतः "प्रमाणानि" इस पद में "स्वरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इस सूत्र से दो प्रमाण पद का एकशेष समझना चाहिये और एक को सामान्य लक्षण तथा दूसरे को विशेष लक्षण समझना चाहिये।

परन्तु यह एकशेष भी वैयाकरण पण्डित लोग ही समझ सकते हैं, नागरीभाषाभाषी नहीं; अतः उन भाषाभाषियों को एक "प्रमाणानि" पद को दो बार आवृत्ति करके उक्त न्यूनता की पूर्ति समझनी चाहिये। "प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्" इस कथन से प्रमा का जो करण वह प्रमाण कहा जाता है, यह अर्थ सिद्ध हुआ। प्रमा किसका नाम है? ऐसी शङ्का होने पर "अनधिगत अबाधित अर्थविषयक जो ज्ञान वह प्रमा कहा जता है। अनधिगत नहीं कहें तो स्मृति ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि, स्मृति ज्ञान प्रमा नहीं, तो भी अबाधित अर्थविषयक ज्ञान है। अनधिगत कहने से स्मृति ज्ञान का विषय अनधिगत नहीं किन्तु अधिगत है, अतः अतिव्याप्ति नहीं। पूर्व में किसी प्रमाण से ज्ञात हो वह अधिगत कहा जाता है। स्मृति ज्ञान प्रथम प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात जो पदार्थ उसको विषय करने से अनधिगत अर्थविषयक नहीं। इसी प्रकार अबाधित नहीं कहें तो शुक्ति में "इदं रजतम्" इस ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि, शुक्ति में "इदं रजतम्" यह ज्ञान भी प्रमा नहीं किन्तु भ्रम है, तो भी अनधिगत अर्थविषयक है और जब अबाधित कहते हैं तब शुक्ति में "इदं रजतम्" यह ज्ञान अबाधित अर्थविषयक नहीं किन्तु उत्तरकाल में "नेदं रजतम्" इस ज्ञान से इसका विषय रजत बाधित है। अतः अतिव्याप्ति नहीं। अतिव्याप्ति आदि दोष का विचार समाधि पाद के दूसरे सूत्र के व्याख्यान में किया गया है, वहीं देखना चाहिये। प्रकृत में अनधिगत अबाधित अर्थविषयक ज्ञान पौरुषेय बोध अर्थात् पुरुषनिष्ठ ज्ञान है, अतः उसीको प्रमा या यथार्थ अनुभव कहते हैं। यह पौरुषेय बोध इन्द्रिय से, लिङ्ग ज्ञान से तथा आप्तवाक्य-श्रवण से जो चित्तवृत्ति रूप प्रमाण उत्पन्न होता है, उससे जन्य है, अतः प्रमा कहलाता है। और चित्तवृत्ति उक्त पौरुषेय बोधरूप प्रमा का करण होने से प्रमाण कहलाती है।

भाव यह है कि, नैयायिक जिसको (अयं घटः इत्यादि ज्ञान को) व्यवसाय ज्ञान कहते हैं, उसको यहां बुद्धिबोध प्रमाण कहते हैं। और नैयायिक जिसको (घटमहं जानामि इत्यादि ज्ञान को) अनुव्यवसाय ज्ञान कहते हैं उसको यहां यथार्थ अनुभव प्रमा पौरुषेय बोध कहते है। अर्थात् सांख्ययोग मत में इस जगह जो दो ज्ञान हैं, उनमें एक बुद्धि-निष्ठ और दूसरा पुरुष-निष्ठ है। जो बुद्धिनिष्ठ है वह प्रमाण (साधन) और जो पुरुष-निष्ठ है वह प्रमा (फल) कहा जाता है।

नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमिति तथा शाब्दी प्रमा का करण क्रमशः इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान तथा पदज्ञान मानते हैं परन्तु सांख्ययोग मत में इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान तथा पदज्ञान-जन्य जो बुद्धिवृत्ति उसको प्रमा का करण प्रमाण मानते हैं। और इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान तथा पदज्ञान में प्रमा-करणता परम्परा से अर्थात् बुद्धिवृत्ति के द्वारा मानते हैं। साक्षात् नहीं। पौरुषेय बोध प्रमा, उसको उत्पन्न करनेवाली बुद्धिवृत्ति प्रमाण,

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्य-

---

और बुद्धिवृत्ति को उत्पन्न करनेवाले इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान तथा पदज्ञान हैं, अतः इन तीनों में करणता परम्परा से है।

भाव यह है कि, इन्द्रिय द्वारा जहां बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है वहां प्रत्यक्ष प्रमाण और लिङ्गज्ञान द्वारा जहां बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है वहां अनुमान प्रमाण एवं पदज्ञान द्वारा जहां बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है वहा शब्द प्रमाण माना जाता है। इन तीनों वृत्ति रूप प्रमाणों से जो पुरुष को ज्ञान होता है वह फलरूप प्रमा ज्ञान कहा जाता है। अत-एव यह प्रमा भी उक्त चित्तवृत्तिरूप प्रमाणों के तीन भेद होने से क्रमशः प्रत्यक्ष प्रमा, अनुमिति प्रमा, तथा शाब्दी प्रमा के भेद से तीन प्रकार की है। सारांश यह कि, घट-त्वादि जाति, घटादि व्यक्ति तथा "अयं घटः" इत्यादि आकारवाली जो बुद्धिवृत्ति वह प्रत्यक्ष प्रमाण कही जाती है और उसके बाद जो उक्त जाति – व्यक्ति सहित बुद्धिवृत्ति विषयक "अहं घटं जानामि" इस प्रकार का पुरुष में बोध होता है वह फलरूप प्रमा-ज्ञान कहा जाता है। यहां इतना विशेष और भी जान लेना चाहिये कि —सांख्ययोग मत में ज्ञान-प्रक्रिया स्थल में पांच पदार्थ माने जाते हैं—प्रमाण, प्रमाप्रमाण, प्रमा, प्रमाता, तथा साक्षी। बुद्धिवृत्ति रूप प्रमा का कारण होने से इन्द्रियाँ प्रमाण कही जाती हैं। पौरुषेय बोधरूप प्रमा का करण होने से "अयं घटः" इत्यादि बुद्धिवृत्ति प्रमा—प्रमाण कही जाती है। पौरुषेय बोध प्रमा कहा जाता है, क्योंकि, यह फलरूप होने से किसीका करण नहीं। बुद्धिप्रतिबिम्बित चेतन प्रमा का आश्रय होनेसे प्रमाता कहा जाता है, और बुद्धिवृत्ति उपहित शुद्ध चेतन साक्षी कहा जाता है। यहां पर और भी शास्त्रार्थ बहुत है। परन्तु ग्रन्थ बढने के भय से छोड़ दिया जाता है।

प्रमा का जो करण वह प्रमाण कहा जाता है। यह प्रमाण का सामान्य लक्षण है, जो प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण तथा आगम प्रमाण इन तीनों में घटता है। और जो लक्षण केवल प्रत्यक्ष प्रमाण में ही घटे, अनुमान प्रमाण तथा आगम प्रमाण में नहीं; अनुमान प्रमाण में ही घटे और प्रत्यक्ष प्रमाण तथा आगम प्रमाण में नहीं, एवं आगम प्रमाण में ही घटे और प्रायक्ष प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण में नहीं; वह प्रमाण का विशेष लक्षण कहा जाता है। इन्हीं तीनों प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विशेष लक्षण को भाष्यकार दिखाते हैं। पर्वतादि पक्ष में धूमादि-लिङ्ग के प्रत्यक्ष हुए बिना अग्निविषयक बौद्धवृत्ति रूप अनुमान प्रमाण की एवं आप्तवाक्यरूप शब्द के श्रावण प्रत्यक्ष वाक्यार्थविषयक बौद्धवृत्ति रूप आगम प्रमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः अनुमान तथा आगम प्रमाण का प्रत्यक्ष प्रमाण हेतु होने से प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हैं—इन्द्रियप्रणालिकयेति। इन्द्रियप्रणालिकया—इन्द्रियों के द्वारा, चित्तस्य—चित्त का, बाह्यवस्तूपरागात्—बाह्य विषयों से सम्बन्ध होने से, तद्विषया—

विशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः। प्रतिसंवेदी पुरुष इत्यु॰

उनको अपना विषय बनानेवाली, सामान्यविशेषात्मनः अर्थस्य–सामान्य तथा विशेषरूप विषय पदार्थ के, विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः–विशेष अंश को प्रधान रूप से निश्चय करनेवाली वृत्ति, प्रत्यक्षं प्रमाणम्–प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है। अर्थात् इन्द्रियद्वारा घटाद्याकार जो चित्तवृत्ति वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

चित्त भीतर है और विषय बाहर, तो चित्त का विषय के साथ सम्बन्ध कैसे? इस शङ्का का समाधान भाष्य में "इन्द्रियप्रणालिकया" पद से दिया गया है। भाव यह है कि, यद्यपि चित्त का बाह्य विषय के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं तो भी इन्द्रिय द्वारा चित्त का विषय के साथ सम्बन्ध होता है। क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध बाह्य विषय को नहीं मानते हैं। और कहते हैं कि, क्षणिक विज्ञान–स्वरूप बुद्धि ही बाह्याकार से भासती है। इस मत को खण्डन करने के लिये "तद्विषया" पद का निवेश किया गया है। भाव यह है कि, चित्त का बाह्य वस्तु के साथ सम्बन्ध देखे जाने से बाह्य विषय मानना चाहिये। इसी सम्बन्ध को "बाह्यवस्तूपरागात्" पद से दिखाया गया है। शुक्ति-रजतादि आरोपित पदार्थ में लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये "अर्थस्य" पद का उपादान किया गया है।

कोई कहते हैं कि, सामान्य ही पदार्थ है। कोई कहते हैं कि, विशेष ही पदार्थ है और कोई कहते हैं कि, सामान्य-विशेषवाला पदार्थ है। इन सबके मत को खण्डन करते हुए "सामान्यविशेषात्मनः" पद का निवेश किया गया है और कहा गया है कि, सामान्यरूप भी नहीं, विशेष रूप भी नहीं, और सामान्यविशेषवाला भी पदार्थ नहीं, किन्तु सामान्य विशेष रूप पदार्थ है।

अनुमान तथा तथा आगम प्रमाणों में अतिव्याप्ति को हटाने के लिये "विशेषावधारणप्रधाना" पद दिया गया है और कहा गया है कि, अनुमान तथा आगम प्रमाण विशेष वस्तु के निश्चय करनेवाली वृत्ति नहीं किन्तु सत्तामात्र सामान्य-वस्तु को निश्चय करानेवाली वृत्ति होने से अतिव्याप्ति नहीं। यद्यपि प्रत्यक्ष वृत्ति में सामान्य अंश भी भासता है तथापि वह (सामान्य) विशेष के प्रति गौण रूप होकर भासता है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण से विवेक ख्याति भी लक्षित होती है अर्थात् विवेक ख्याति भी साक्षात्कार रूप प्रत्यक्ष प्रमाण ही है।

प्रमाण के फल के विषय में विरोध को दूर करते हैं—फलमिति। अविशिष्टः—बुद्धिस्वरूप, पौरुषेयः–पुरुषनिष्ठ, चित्तवृत्तिबोधः–चित्तवृत्ति को विषय करनेवाला ज्ञान, फलम्–प्रमाण का फल है। चित्त का वृत्तिरूप व्यापार चित्त में होता है और चित्त के वृत्तिरूप व्यापार का पौरुषेय बोधरूप फल पुरुष में होता है। यह भिन्न

परिष्टादुपपादयिष्यामः ।

अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् । यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तेरगतिः ।

अधिकरण में व्यापार और फल कैसे ? क्योंकि खदिर के वृक्ष में कुल्हाडी मारने पर पलास के वृक्ष में छेदन रूप फल नहीं देखा गया है किन्तु जहां कुल्हाडी मारी जाती है वहीं छेदन-रूप फल देखा गया है। इस आशङ्का को दूर करने के लिये ही पौरुषेय बोध का विशेषण 'अविशिष्ट' पद दिया गया है। भाव यह है कि, पुरुष में बोध उत्पन्न नहीं होता है किन्तु बुद्धि में ही बोध उत्पन्न होता है। परन्तु उसके साथ पुरुष का तादात्म्य होने से पुरुष में प्रतीत होता है। अतः वृत्तिरूप प्रमाण का और बोध रूप प्रमा का वस्तुतः एक ही बुद्धि आश्रय होने से शङ्का निर्मूलक है। इसी बात को ४-२२ सूत्र में कहेंगे। इसको भाष्यकार कहते हैं—प्रतिसंवेदीति। प्रतिसंवेदी पुरुषः-बुद्धि के साथ तादात्म्यवाला पुरुष है अर्थात् चित्तगत बोध का अनुभव करने वाला चेतन है, इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः-यह बात आगे युक्तिद्वारा उपपादन करेंगे।

प्रत्यक्ष-प्रमाण के निरूपण के पश्चात् तथा आगम-प्रमाण अनुमानजन्य होने से आगम-प्रमाण निरूपण से पूर्व अनुमान प्रमाण का निरूपण करते हैं—अनुमेयस्येति। अनुमेयस्य-अनुमान के विषय अग्नि आदि साध्य का, तुल्यजातीयेषु-अग्न्यादि साध्यवत्त्वेन पर्वतादि पक्ष सदृश महानसादि में, अनुवृत्तः—रहनेवाला, तथा, भिन्नजातीयेभ्यः-अग्न्यानि साध्याभाववत्त्वेन पर्वतादि पक्ष से भिन्न जलहृदादि में, व्यावृत्तः-नहीं रहनेवाला, यः सम्बन्धः-जो धूमादि हेतु तथा अग्न्यादि साध्य का अविनाभावरूप सम्बन्ध (व्याप्ति), तद्विषया-तद्विषयक, सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिः-सामान्य अंश को प्रधानरूप से निश्चय कनने वाली वृत्ति वह, अनुमानम्-अनुमान प्रमाण कही जाती है। अनुमान का आकार दिखाते हैं—यथेति। अन्वय-चन्द्रतारकम्, गतिमत्, देशान्तरप्राप्तेः, चैत्रवत्, यन्नैवं तन्नैवं यथा विन्ध्यः। अर्थात् चन्द्र तारागण, गतिवाले हैं, एक देश से दूसरे देश में जाने से, चैत्र के समान, जो देशान्तर प्राप्तिमान नहीं होता है वह गतिवाला भी होता है। जैसे विन्ध्याचल पर्वत। भाव यह है कि, जैसे चैत्र एक देश से दूसरे देश में जाने से गमनशील है। वैसे ही चन्द्र तारागण भी एक देश से दूसरे देश में जाने से गमनशील हैं और जैसे विन्ध्याचल पर्वत एक देश से दूसरे देश में नहीं जाने से गमनशील नहीं है।

आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते। शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते। मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥ ७ ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण के जैसा ही यहां भी नैयायिक जिसको (पर्वतो वह्निमान इत्यादि को) व्यवसाय रूप अनुमिति प्रमा कहते हैं, उसको सांख्ययोगमत में बुद्धिवृत्ति रूप अनुमान-प्रमाण कहते हैं और नैयायिक जिसको (अहं वह्निं अनुमिनोमि इत्यादि को) अनुमिति ज्ञान के विषय करनेवाला अनुव्यवसाय ज्ञान कहते हैं, उसको यहां पौरुषेय बोधरूप अनुमिति प्रमा कहते हैं।

क्रम-प्राप्त-आगम-प्रमाण रूप चित्तवृत्ति का लक्षण करते हैं—आप्तेनेति। आप्तेन आप्त पुरुष से, दृष्टोऽनुमितो वार्थः-प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से अपने ज्ञात विषय को, परत्र स्वबोधसंक्रान्तये-दूसरे में तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न कराने के लिये, शब्देनोपदिश्यते-शब्द के द्वारा उपदेश किया जाता है, और वहां, शब्दात्तदर्थविषया-शब्द से जो उस अर्थ को विषय करनेवाली, श्रोतुः वृत्तिः—श्रोता की वृत्ति होती है वह, आगमः-आगम प्रमाण कहलाती है। नैयायिक जिसको व्यवसाय रूप शाब्दी प्रमा कहते हैं, उसको यहां शब्द-प्रमाण समझना चाहिये और जिसको शाब्दी प्रमा को विषय करनेवाला अनुव्यवसाय कहते हैं, उसको पौरुषेय बोध रूप शाब्दी प्रमा समझना चाहिये।

शंका होती है कि, जब वाक्य से अर्थविषयक चित्तवृत्ति को आगम-प्रमाण कहते हैं तो विप्रलम्भक (वंचक, मिथ्यावादी) के वाक्य से जो अर्थविषयक चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, उस (मिथ्या वाक्य) को भी आगम प्रमाण कहना चाहिये ? अर्थात् प्रामाणिक मानना चाहिये ? इसका उत्तर देते हैं—यस्येति। यस्य वक्ता-जिस वाक्य रूप आगम का वक्ता, अश्रद्धेयार्थः-श्रद्धास्पद नहीं; क्योंकि, न दृष्टानुमितार्थः-जिस अर्थ को वह कहता है उसका प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से निश्चय नहीं किया है, अतः स आगमः प्लवते-वह आगम (वाक्य) बाधित होता है। अर्थात् अप्रमाण है। ऐसा वाक्य वेद-बाह्य चार्वाक, बौद्ध तथा जैन आदि अनाप्त का "चैत्यं वन्देत स्वर्गकामः" इत्यादि समझना चाहिये। प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक वाक्यों की परीक्षा करने के लिये भाष्यकार कहते हैं कि—मूलवक्तरीति। मूलवक्तरि तु—जिसके वाक्य का मूलवक्ता ईश्वर है तथा, दृष्टानुमितार्थे-जिसका अर्थ प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणोंसे निश्चित है वह, निर्विप्लवः स्यात्-अबाधित होता है अर्थात् वह वाक्य प्रामाणिक है। इससे इतर अप्रामाणिक है।

सारांश यह है कि, जो तत्त्वज्ञान कारुण्यादि युक्त तथा जो यथादृष्ट, यथाश्रुत पदार्थवादी पुरुष हैं वे आप्त कहे जाते हैं। उनके ही वाक्य प्रामाणिक माने जाते हैं और जो भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा तथा करणापाटव आदि पुरुषदोष युक्त हैं वे अनाप्त कहे जाते हैं। अतः उनके उपदेश अप्रामाणिक हैं; क्योंकि, वे वक्तव्य पदार्थविषयक विपरीत बोध युक्त होने से भ्रान्त हैं। चित्त चञ्चल होने से वक्तव्य पदार्थविषयक निश्चय करने में प्रमादी हैं, अन्य प्रकार से जाने हुए पदार्थ का अन्य प्रकार से प्रतिपादन करने से विप्रलिप्सा अर्थात् प्रतारणायुक्त हैं एवं इन्द्रियों में वैकल्य (दोष) के कारण अन्य वर्ण के स्थान में अन्य वर्ण का उच्चारण करने से करणापाटव रूप दोषयुक्त हैं। इसलिये इनसे उच्चरित शब्दों से जो अर्थ बोध होता है वह केवल बोध मात्र ही है, प्रामाणिक नहीं। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि, भ्रम, प्रमादादि सकल पुरुषदोष से रहित ईश्वर उच्चरित वेद ही 'आगम' प्रमाण माने जाते हैं, तो जैसे चार्वाक तथा शाक्य-स्मृति आदि पूर्वोक्त ईश्वर–उच्चरित न होने से अप्रमाण हैं, वैसे ही मनुस्मृति आदि धर्म-वचन भी अप्रमाण ही होना चाहिये? इस शङ्का का समाधान यह है कि, मनुस्मृति आदि धर्म-शास्त्र यद्यपि ईश्वर-उच्चरित नहीं तथापि ईश्वर-उच्चरित वेद-मूलक होने से सर्वथा प्रमाण हैं और शाक्य स्मृति आदि वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण हैं। मनुस्मृति आदि धर्म-ग्रन्थ वेदप्रतिपादित अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। इस बात को महर्षि भृगुमुनि ने निम्नलिखित श्लोक द्वारा कहा है—

यः कश्चित्कस्यचित्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

अर्थात् जो वर्णाश्रम धर्म का मनु भगवान् ने प्रतिपादन किया है वे सब वेद में प्रतिपादित हैं; क्योंकि मनु भगवान् सम्पूर्ण वेद के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ हैं।

'अपूर्व अर्थ का बाधक वाक्य ही प्रमाण है,' ऐसा मीमांसकों का कहना है। मन्वादि स्मृतियाँ आपके कथनानुसार वेदप्रतिपादित अर्थ का ही प्रतिपादन करने से अपूर्व अर्थ का बोधक नहीं; अतः अनुवादक तथा पुरुषदोष युक्त होने से अप्रमाण हैं? इस शङ्का का समाधान यह है कि, वेद में अनेक शाखायें हैं। उनमें किसी शाखा में अष्टका आदि कर्म, किसी शाखा में देवता एवं किसी शाखा में मन्त्र तथा उसका विनियोग प्रतिपादित है। इन प्रकीर्ण धर्मों को ठीक-ठीक समझकर एक कर्म में उपयोग करना बहुत ही कठिन है। अतः उन सबको मनु भगवान् ने लोकोपकारार्थ एकत्र किया है, जिससे सुखपूर्वक उन सबका ज्ञान हो जाता है। इससे यह सिद्ध है कि, विभिन्न स्थलों में प्रकीर्ण पदार्थों को एकत्र करके प्रतिपादन करना अपूर्व अर्थ का ही प्रतिपादन करना है। अतः अपूर्व अर्थ की बोधक होने से मन्वादि स्मृतियाँ प्रमाण हैं। प्रसंगवश इन विषयों का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है;

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

स कस्मान्न प्रमाणम् । यतः प्रमाणेन बाध्यते । भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणस्य ।

क्योंकि यह ग्रन्थ योगशास्त्र के प्रमेय अर्थ का ही प्रतिपादक होने से इन विषयों को विस्तार से लिखना यहाँ उचित नहीं । इति ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्रमाणवृत्ति का लक्षण करने के पश्चात् क्रमप्राप्त विपर्यय वृत्ति का लक्षण करते हैं—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । सूत्र में "विपर्ययः" यह लक्ष्य है, "मिथ्याज्ञानम्" यह लक्षण है और "अतद्रूपप्रतिष्ठम्" यह "मिथ्याज्ञानम्" इसका विशेषण है । फलितार्थ अतद्रूपप्रतिष्ठम्-जो पदार्थ यथार्थ (निज) रूप में स्थित न हो ऐसा, मिथ्याज्ञानम्-शुक्ति में रजत ज्ञान के समान मिथ्या ज्ञान वह, विपर्ययः-विपर्यय कहलाता है । अर्थात् निज रूप में स्थित न रहनेवाला जो मिथ्याज्ञान वह विपर्यय कहलाता है । जैसे अश्राद्धभोजी कहने पर श्राद्ध में भोजन नहीं करनेवाला पुरुष समझा जाता है । वैसे ही "अतद्रूपप्रतिष्ठम्" कहने से जो ज्ञान तद्रूप-प्रतिष्ठ नहीं अर्थात् जैसा वर्तमान काल में भासता है वैसा उत्तर काल में भासने वाला न हो वह मिथ्या ज्ञान विपर्यय है । उदाहरणार्थ, शुक्तिरूप्य ज्ञान को ही लिया जाय तो वह वर्तमान काल में जैसा रजत रूप से भासता है वैसा उत्तर काल में शुक्तितत्त्व साक्षात्कार होने पर नहीं भासता है किन्तु शुक्तिरूप से भासता है । अतः शुक्तिरूप्य ज्ञान अतद्रूपप्रतिष्ठ होने से मिथ्याज्ञान रूप विपर्यय कहा जाता है । अत एव यह विपर्ययवृत्तिरूप मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं । इस पर भाष्यकार शङ्का उठाते हैं—स कस्मान्न प्रमाणमिति । सः-वह विपर्यय ज्ञान, कस्मात्-क्यों, न-नहीं, प्रमाणम्-प्रमाण है ? । उत्तर देते हैं—यत इति । यतः-जिससे, प्रमाणेन—उत्तरकालिक प्रमाण रूप यथार्थ ज्ञान से, बाध्यते-बाधा जाता है । अभिप्राय यह है कि शुक्ति में "इदं रजतम्" यह ज्ञान इसलिये प्रमाण नहीं है कि, उत्तरकालिक-"नेदं रजतम्, किन्तु शुक्तिरियम्" इस ज्ञान से बाधा जाता है । इसमें हेतु देते हैं—भूतार्थेति । प्रमाणस्य भूतार्थविषयत्वात्-सिद्ध (विद्यमान) अर्थ को विषय करने वाला जो ज्ञान वह प्रमाण कहा जाता है । अतः शुक्तिरजतादि ज्ञान असिद्ध अर्थ को विषय करनेवाला होने से प्रमाण नहीं । भाव यह है कि, वही ज्ञान प्रमाण माना जाता है जो विद्यमान विषय को प्रकाश करनेवाला हो । शुक्तिरजतादि ज्ञान शुक्ति में अविद्यमान रजत का प्रकाशक होने से प्रमाण नहीं । मैंने विषय स्फुट करने के लिए प्रसिद्ध होने से शुक्तिरजत ज्ञान को विपर्यय ज्ञान का उदाहरण दिया है । भाष्यकार स्वयं विपर्यय ज्ञान का उदाहरण देते हैं—

तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम् । तद्यथा द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति ।

सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति । एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति । एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते ॥ ८ ॥

तत्रेति । तत्र–वहां, प्रमाणेन–प्रमाण ज्ञान से, अप्रमाणस्य–अप्रमाण ज्ञान का, बाधनम्–बाध, दृष्टम्–देखा गया है । तद् यथा–और वह जैसे, द्विचन्द्रदर्शनम्–एक चन्द्र में दो चन्द्र रूप मिथ्या ज्ञान, सद्विषयेण एकचन्द्रदर्शनेन–सद्वस्तु (यथार्थ) विषयक एक चन्द्र दर्शन से, बाध्यते–बाधा जाता है । भाव यह है कि, असद्विषयक एवं अपने रूप में अप्रतिष्ठ होने से दुर्बल द्विचन्द्र दर्शन, सद्विषयक एवं अपने रूप में प्रतिष्ठ होने से प्रबल एक चन्द्र दर्शन से बाधा जाता है ।

यहां की प्रक्रिया इस प्रकार की है—चित्त एक प्रकार का ताम्रादि धातु समान द्रव्य पदार्थ है । जैसे अग्नि के संयोग से पिघले हुए ताम्रादि धातु सांचा में ढालने से सांचा के समान आकार को प्राप्त (परिणत) होता है । वैसे ही चित्त भी इन्द्रियादि द्वारा बाह्यविषय पदार्थ रूप सांचा के साथ सम्बन्ध होने पर विषय के समान आकार को प्राप्त (परिणत) होता है । इसी प्रकार के चित्त–परिणाम को वृत्ति कहते हैं, जिसको दूसरे शब्द में प्रमाण ज्ञान कहते हैं । और जैसे सांचा तो जैसा चाहिये वैसा ही हो, पर किसी दोष से अग्नि के संयोग से द्रवीभूत ताम्रादि धातु सांचा के समान आकार को न प्राप्त (परिणत) होकर किसी और ही प्रकार के आकारवाला होता हुआ स्वरूप में अप्रतिष्ठ होने से दुष्ट कहा जाता हैं । वैसे ही विषय तो यथावत् हो, पर किसी चाकचिक्यादि दोष से जहां चित्त इन्द्रियादि द्वारा बाह्य विषय के साथ सम्बन्ध होने पर भी विषय के समान आकार को प्राप्त (परिणत) न होता हुआ स्वरूप–अप्रतिष्ठ होने से दुष्ट अर्थात् मिथ्या भ्रान्ति ज्ञान कहा जाता है । जैसे रज्जु में सर्पज्ञान, शुक्ति में रजतज्ञान तथा एक चन्द्र में द्विचन्द्र ज्ञान आदि । इसी चित्त के विषय से विलक्षण आकार को विपर्यय ज्ञानकहते हैं ।

यह विपर्यय वृत्ति संसार का बीज होने से अत्यन्त हेय है । इस बात को स्पष्ट करते हैं—सेयमिति । सा इयं अविद्या–वह संसार या बीजभूत मिथ्याज्ञान विपर्यय वृत्ति अविद्या कही जाती है, और वह, पञ्चपर्वा—पांच गांठ अर्थात् प्रकारवाली है । उसीको दिखाते हैं । अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश के भेद से पांच प्रकार की है, और क्लेशाः–यही क्लेश के हेतु होने से पञ्च क्लेश कही जाती है । एत एव—ये ही पञ्च क्लेश, स्वसंज्ञाभिस्त-

मोसोहमहामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति–अपने अनुरूप तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्ध तामिस्र नामान्तर से व्यवहृत होते हैं। अर्थात् तमरूप अविद्या, मोहरूप अस्मिता, महामोह रूप राग, तामिस्ररूप द्वेष तथा अन्धतामिस्र रूप अभिनिवेश है। ये पांचों विपर्ययवृत्ति के ही भेद होने से अविद्या रूप ही हैं। एते–ये अविद्या आदि पञ्च क्लेश, चित्तमलप्रसङ्गेन—चित्तमल निरूपण के प्रसङ्ग में द्वितीय पाद के पञ्चम सूत्र पर, अभिधास्यन्ते–विस्तार से कहे जायँगे।

अविद्या आदि पांच क्लेशों के तम आदि पांच पर्याय विष्णुपुराण में इस प्रकार वर्णित हैं—

> तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः।
> अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥

अर्थात् तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्ध तामिस्र के भेद से पञ्चपर्वा अविद्या कल्याणमार्ग में विघ्न करने के लिये योगियों के पास प्रकट हुई है। और इन पांचों क्लेशों के क्रम से जो तम आदि दूसरे पांच नाम हैं वे अवान्तर भेद से बासठ प्रकार के ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' में प्रतिपादन किये हैं—

> भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
> तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः॥ ४८॥

अर्थात् अव्यक्त (प्रकृति), महत्तत्व (बुद्धि), अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध); ये आठ प्रकृतिविकृति (कारणकार्य) रूप हैं। अनात्म पदार्थों में जो आत्मबुद्धि रूप अविद्या वह तम कही जाती है। अतः यह आठ प्रकार की है। गौण फलरूप अणिमादि ऐश्वर्यों में जो परम पुरुषार्थ बुद्धि रूप अस्मिता होती है वह मोह कही जाती है, और वह भी अणिमादि जो आठ ऐश्वर्य तन्निमित्तक होने से आठ प्रकार की है। आठ प्रकार के ऐश्वर्य को सम्पादन कर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूप दिव्यादिव्य (ऐहिक–पारलौकिक) दश प्रकार के विषयों में प्रीति रूप राग को महामोह कहते हैं। यह पांच दिव्य (पारलौकिक) तथा पांच अदिव्य (ऐहिक) ऐसे दश विषयों को विषय करनेवाले होने से दश प्रकार के हैं। अणिमादि आठ ऐश्वर्य तथा दिव्यादिव्य दस प्रकार के शब्दादि विषयों को भोगने के लिए प्रवृत्त होने पर किसी प्रतिबन्धक से उन ऐश्वर्य तथा विषयों का भोग प्राप्त न होने से प्रतिबन्धक (विघ्न करने वाले) पर जो क्रोध रूप द्वेष होता है वह तामिस्र कहा जाता है। यह आठ ऐश्वर्य सहित उक्त दश प्रकार के विषयजन्य भोग की अप्राप्ति निमित्तक होने से अठारह प्रकार का है। एवं उक्त आठ प्रकार के ऐश्वर्य तथा दश प्रकार के विषयों के भोग प्राप्त होने

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

स न प्रमाणोपारोही। न विपर्ययोपारोही। वस्तुशून्यत्वेपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा चैतन्यं

पर भी "ये सब कल्प के अन्त में नष्ट हो जायंगे" इस प्रकार का जो भय रूप अभिनिवेश होता है वह अन्ध तामिस्र कहा जाता है। और यह भी आठ प्रकार के ऐश्वर्य सहित दश प्रकार के विषय निमित्तक होने से अठारह प्रकार का है।

इस प्रकार आठ तम, आठ मोह, दश महामोह, अठारह तामिस्र तथा अठारह अन्ध तामिस्र के भेद से बासठ प्रकार की तम आदि वृत्तियां हैं, यह सिद्ध हुआ। और ये सब अज्ञानमूलक तथा दुःख-हेतुक होने से अज्ञान, अविद्या, विपर्यय, भ्रान्ति-ज्ञान तथा क्लेश आदि नामों से शास्त्र में व्यवहृत हैं। इस कथन से "अविद्या" आदि पांच क्लेशरूप तथा तम आदि पांच अज्ञानरूप अन्य वृत्तियों के अधिक होने से प्रमाण आदि पांच ही वृत्तियां हैं, ऐसा क्यों कहते हैं? इस शङ्का का भी परिहार हो जाता है; क्योंकि उक्त प्रकार से तम आदि पांच वृत्तियां तो अविद्या आदि पांच वृत्तियों के नामान्तर मात्र हैं। और अविद्या आदि विपर्यय के ही भेद हैं। अतः पांच ही प्रकार की वृत्तियां हैं, यह सिद्ध हुआ। संशय का विपर्यय में अन्तर्भाव होने से पृथक् निर्देश नहीं किया गया है। इति ॥ ८ ॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृतिभेद से पांच प्रकार की उक्त वृत्तियों में प्रमाण तथा विपर्यय इन दो का लक्षण करके अब क्रमप्राप्त विकल्प वृत्ति का लक्षण करते हैं—शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। वस्तुशून्यः-जो वृत्तिज्ञान वस्तु से शून्य अलीक पदार्थविषयक तथा, शब्दज्ञानानुपाती-शब्दजन्य ज्ञान के माहात्म्य (प्रभाव) से ही अलीक पदार्थाकार से अनुपाती (अनुपतनशील) हो वह, विकल्पः-विकल्प कहा जाता है। अर्थात् "वन्ध्यापुत्र आगच्छति" वन्ध्यापुत्र आता है, इस शब्दजन्य ज्ञान से जो अलीक (शून्य) वन्ध्यापुत्राकार चित्त के परिणामरूप वृत्ति-विशेष वह विकल्प कहा जाता है। शब्दज्ञानानुपाती होने से आगम प्रमाण में तथा वस्तुविषयक न होने से विपर्यय अन्तर्भाव होने से विकल्प को अलग वृत्तिभेद क्यों मानते हैं? इस आशङ्का को भाष्यकार दूर करते हैं—स नेति। सः-वह विकल्प, न प्रमाणोपारोही-न प्रमाण के अन्तर्भूत है, च-और, न विपर्ययोपारोही-न विपर्यय के अन्तर्भूत है; क्योंकि, वस्तुशून्यत्वेऽपि-वस्तुशून्य होने पर भी अर्थात् अलीक पदार्थविषयक होने पर भी, शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनः-शब्दजन्य ज्ञान के प्रभाव से, व्यवहारो दृश्यते-व्यवहार देखा जाता है। तद्यथा-और वह जैसे, चैतन्यं

पुरुषस्य स्वरूपमिति । यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते । भवति च व्यपदेशे वृत्तिः । यथा चैत्रस्य गौरिति ।

पुरुषस्य स्वरूपम्–चैतन्य पुरुष का स्वरूप है, इति–इस प्रकार का, यदा–जब, चितिरेव पुरुषः–चैतन्य ही पुरुष है, तदा–तब, किमत्र केन व्यपदिश्यते–यहाँ किस विशेष्य विशेषण से कहा जाय ? भवति च व्यपदेशे वृत्तिः–और कहने पर "चैतन्य पुरुष का स्वरूप है" इस आकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न तो होती है, यथा–जैसे, चत्रस्य गौरिति–चैत्र की गौ है, इस प्रकार की ।

भाव यह है कि, विकल्प ज्ञान कहीं (राहोः शिरः इत्यादि स्थल में) अभेद में भेद तथा कहीं, (अयः पिण्डो दहति इत्यादि स्थल में) भेद में अभेद का आरोप करके व्यवहार का हेतु होता है । अतः आरोपित ज्ञान होने से प्रमाण के अन्दर इसका अन्तर्भाव नहीं होता है । एवं वन्ध्यापुत्र आदि शब्द से सभी को बोध होने से तथा उत्तरकालिक ज्ञान से बाध नहीं होने से इसका विपर्यय के अन्दर भी अन्तर्भाव नहीं होता है; किन्तु स्वतन्त्र वृत्तिविशेष विकल्प ज्ञान है । "द्वौ चन्द्रौ" अर्थात् "दो चन्द्र हैं" इस विपर्यय ज्ञान में विशेषण विशेष्यभाव नहीं प्रतीत होता है और "वन्ध्यायाः पुत्रः" अर्थात् "वन्ध्या का पुत्र है" इस ज्ञान में वन्ध्या और पुत्र का परस्पर भेद होने से वन्ध्या विशेषण तथा पुत्र विशेष्य रूप विशेषण-विशेष्य भाव प्रतीत होता है । इससे भी विपर्यय के अन्दर विकल्पवृत्ति की गणना नहीं हो सकती है किन्तु स्वतन्त्र इसको मानना उचित है । निष्कर्ष यह है कि, विपर्यय ज्ञान सबको नहीं होता है किन्तु जिसको दोष होता है उसीको होता है और विकल्प ज्ञान सबको होता है । इतना विपर्यय तथा विकल्प में भेद है ।

जैसे "चैत्रस्य गौः" "चैत्र की गाय है" यह कहने से चैत्र तथा गौ का परस्पर वास्तविक भेद होने से विशेषण-विशेष्य भाव भी वास्तविक प्रतीत होता है । वैसे ही "राहोः शिरः" राहु का शिर है, यह कहने से राहु और शिर का परस्पर भेद प्रतीत होने से विशेषण-विशेष्यभाव प्रतीत होता है । अतः प्रमाणवृत्ति के अन्दर ही इस (विकल्पवृत्ति) की भी गणना की सम्भावना हो सकती है तथापि राहु और शिर का जो भेद प्रतीत होता है वह बोध के बाद विचार करने पर वास्तविक नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि जो राहु है वही शिर है । अतः वस्तुशून्य भेद को विषय करनेवाला होने से 'राहोः शिरः' यह ज्ञान विकल्पवृत्ति रूप है, प्रमाणवृत्ति रूप नहीं । द्विचन्द्र-दर्शन आदि विपर्यय बोध आरोपित भेद को भी विषय नहीं करने से विकल्प बोध से सर्वथा दूर है । "राहोः शिरः" वह ज्ञान विकल्पवृत्ति का अलौकिक उदाहरण है और शास्त्रप्रसिद्ध उदाहरण भाष्य में "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" अर्थात् "चैतन्य पुरुष

तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः, तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इति। गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते। तथानुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः। तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति ॥ ९ ॥

का स्वरूप है" इस प्रकार दिया गया है। यहां भी "राहोः शिरः" के समान भेद प्रयुक्त विशेषण विशेष्य भाव प्रतीत तो होता है परन्तु प्रतीत होने के बाद विचार करने पर वास्तविक भेद नहीं, क्योंकि जो पुरुष है वही चैतन्य है। अतः वस्तुशून्य भेद को विषय करनेवाला होने से "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" यह ज्ञान भी विकल्पवृत्ति रूप ही है। "अयःपिण्डो दहति" "लोहा का गोला जलाता है" इस कथन से अयःपिण्ड में दाहकता प्रतीत होती है और अयःपिण्ड में दाहकता शक्ति है नहीं किन्तु अग्नि में दाहकता शक्ति है। फिर भी अग्नि के साथ भेद में अभेद का आरोप करके "अयःपिण्डो दहति" ऐसा कहा जाता है। अतः यह 'अयःपिण्डो दहति' ज्ञान भी भेद में अभेद रूप वस्तुशून्य को विषय करनेवाला होने से विकल्पवृत्ति रूप ही है। विकल्पवृत्ति के अन्य तीन उदाहरण भाष्यकार देते हैं—

तथेति। तथा-'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' इस ज्ञान के समान, प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा–सर्व पदार्थों में रहनेवाले जो धर्म उन सब धर्मों से रहित, तथा, निष्क्रियः–क्रियारहित, पुरुषः–पुरुष है। तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इति–बाण स्थित है, बाण स्थित होगा, बाण स्थित था। तथा–वैसे ही, अनुत्पत्तिधर्मा–उत्पत्तिरूप धर्म के अभाववाला, पुरुषः–पुरुष है, इति–इस प्रकार के, उत्पत्तिधर्मस्य–उत्पत्तिरूप धर्म के, अभावमात्रमवगम्यते—अभाव का केवल आभास मात्र प्रतीत होता है, न पुरुषान्वयी धर्मः–पुरुष में रहनेवाला अभावरूप धर्म पुरुष से अलग पदार्थ नहीं है, फिर भी भासता है, तस्माद्–इसलिये, विकल्पितः–विकल्पात्मक ही, स धर्मः–वह अभावरूप धर्म है, तेन च–और उससे, अस्ति व्यवहार इति–इस प्रकार का व्यवहार होता है।

भाव यह है कि, तार्किक लोग अभाव को द्रव्यादि छः पदार्थों से अतिरिक्त सप्तम पदार्थ मानते हैं, और कहते हैं कि–'भूतले घटो नास्ति' अर्थात् 'पृथिवी पर घड़ा नहीं है' इस कथन से भूतल में और घटाभाव में आधाराधेयभाव प्रतीत होता है। यदि घटाभाव को भूतलरूप अधिकरण से अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना जाय तो उक्त आधाराधेयभाव की प्रतीति नहीं होनी चाहिये और प्रतीति तो होती है; अतः भूतल से अतिरिक्त अभावरूप पदार्थ घटाभाव को मानना चाहिये। इसी प्रकार तत्तत् अधिकरणों में प्रतीयमान अन्य तत्तत् अभावों को भी तत्तत् अधिकरणों से अतिरिक्त स्वतन्त्र सप्तम पदार्थ ही मानना चाहिये।

परन्तु सांख्ययोगमत में अभाव अधिकरण से अतिरिक्त पदार्थ नहीं किन्तु अधिकरण स्वरूप ही अभाव है। भूतल परिणामी पदार्थ है। किसी समय (घटकाल में) घटरूप से परिणत होता है और किसी समय (घटाभावकाल में) स्वरूप से परिणत होता है। घटकाल में घटरूप से भासमान जो भूतल वही घटाभावकाल में भूतलरूप से भासता है। अतः भूतल से अतिरिक्त घटाभाव नहीं, किन्तु अधिकरण भूतल स्वरूप ही घटाभाव है। इसी प्रकार अन्य जितने अभाव हैं, वे सब अपने-अपने अधिकरण स्वरूप ही हैं। अधिकरण से भिन्न होकर जो अभाव की प्रतीति होती है, वह पूर्वोक्त प्रकार से अभेद में भेद का आरोप करके प्रतीति होती है। अतः सब जगह अधिकरण से भिन्न होकर जो अभाव की प्रतीति होती है, सो सब विकल्पवृत्ति रूप है। 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रतीति में जो भूतल और घटाभाव के आधाराधेयभाव की प्रतीति होती है, यह 'वने वृक्षाः सन्ति' अर्थात् 'वन में वृक्ष हैं' इसके समान अभेद में भेद की कल्पना करके प्रतीति होती है; क्योंकि, जो वन है वही वृक्ष हैं, वन से वृक्ष भिन्न नहीं; फिर भी वन में आधारत्व और वृक्ष में आधेयत्व की कल्पना करके जैसे आधाराधेयभाव व्यवहार होता है। उसी प्रकार जो भूतल है वही घटाभाव है, भूतल से घटाभाव भिन्न नहीं, फिर भी भूतल में आधारत्व और घटाभाव में आधेयत्व की कल्पना करके आधाराधेयभाव का व्यवहार होता है। अतः भावस्वरूप अधिकरण की अभावात्मना प्रतीति विकल्पवृत्ति रूप ही है। और भूतलादि अधिकरणात्मना प्रतीति प्रमाणवृत्ति रूप है। प्रकृत "प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः" इस कथन में भी सकल धर्म तथा क्रिया का अभाव जो पुरुष में प्रतीत होता है, वह भी पुरुष रूप अधिकरणस्वरूप होने से पुरुष से भिन्न नहीं; तो भी उक्त प्रकार से अभेद में भेद की कल्पना करके जो धर्म तथा क्रिया के अभाव की पुरुष में प्रतीति होती है, वह विकल्पवृत्ति रूप ही है।

इस प्रकार विकल्पवृत्ति का शास्त्रीय उदाहरण देकर अब लौकिक उदाहरण देते हैं—'तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इति'। इस प्रकार का व्यवहार भी विकल्प रूप ही है। क्योंकि, 'तिष्ठति' इत्यादि से गतिनिवृत्ति रूप धात्वर्थमात्र प्रतीत होता है, और गतिनिवृत्ति अभाव रूप है अभाव निःस्वरूप है होने से उसका बाण में रहना बाधित है। अतः गतिनिवृत्ति को बाण में सम्भवित करने के लिये उसमें भावरूप की कल्पना और जैसे पचति, भिनत्ति क्रिया में पूर्वापरीभाव है, वैसे ही उसमें भी पूर्वापरीभाव की कल्पना एवं जड़ स्वरूप बाण में गतिनिवृत्ति के अनुकूल चेतनधर्म यत्न की कल्पना करनी पड़ती है। इत्यादि आश्चर्यजनक कल्पनापरम्परा के सद्भाव मे 'तिष्ठति बाणः' (बाण स्थित है) इत्यादि व्यवहार विकल्प रूप ही है।

अन्य दर्शनकार प्रमाण आदि वृत्तियों से अतिरिक्त विकल्पात्मक वृत्ति नहीं मानते हैं। उनके भ्रम को उन्मूलन करने के लिये इतने उदाहरण देने पर भी एक और

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ १० ॥

उदाहरण भाष्यकार देते हैं—'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः'। इस कथन से 'उत्पत्ति रूप धर्म के अभाववाला पुरुष है'। इस प्रकार की जो चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, वह भी विकल्परूप ही है, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि, पूर्वोक्त युक्ति से अभाव अधिकरण स्वरूप होने से पुरुष से अतिरिक्त उत्पत्ति रूप धर्म का अभाव यहां सम्भव नहीं। अतः शब्दजन्य ज्ञान के प्रभाव से 'उत्पत्ति रूप धर्म के अभाववाला पुरुष है' इत्याकारक वृत्ति वस्तुशून्य होने से विकल्प रूप ही है। एवं 'अहमस्मि' अर्थात् 'मैं हूँ' यह वृत्ति भी विकल्परूप ही है। क्योंकि, अहङ्कार और आत्मा एक दूसरे से भिन्न पदार्थ होने पर भी दोनों का अभेद प्रतीत होता है। अतः भेद में अभेद रूप वस्तुशून्य विषयक होने से 'अहमस्मि' यह वृत्ति भी विकल्पात्मक है। इसी प्रकार अन्य स्थल में भी वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा विना केवल शब्दज्ञान के माहात्म्य से जो चित्तवृत्तियां शशशृङ्ग, आकाशकुसुमादि अलीक पदार्थविषयक उदय होती हैं उन सबको भी विकल्परूप ही समझना चाहिये। इति ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त प्रमाण आदि पांच वृत्तियों में से प्रमाण, विपर्यय तथा विकल्प वृत्तियों के लक्षण करके प्रसंगप्राप्त निद्रावृत्ति का लक्षण करते हैं—अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प तथा स्मृति को वृत्ति मानने में किसी का विरोध न होने से विशेष विधान के लिये अधिकार रूप से प्राप्त वृत्ति पद इन चारों में सर्व-अभिमत वृत्तित्व का अनुवाद करता है। और निद्रा को वृत्ति मानने में कतिपय दार्शनिकों का विरोध है, अर्थात् कितने ही निद्रा को वृत्ति नहीं मानते हैं। अतः निद्रा में वृत्तित्व विधान करना चाहिये। परन्तु अधिकारप्राप्त वृत्तिपद अनुवादक होने से विधायक नहीं हो सकता है। इसके लिये सूत्र में फिर से वृत्तिपद का उपादान करना पड़ा है। तथाच अधिकार रूप से प्राप्त वृत्तिपद से उक्त चारों में वृत्तित्व को अनुवाद करके सूत्रपठित वृत्तिपद से निद्रा में वृत्तित्व विधान करते हैं।

इस सूत्र में अभाव पद से जाग्रत, स्वप्न पदार्थ विषयक वृत्तियों का अभाव लेना है। प्रत्यय पद से उक्त अभाव का कारण सत्त्वगुण तथा रजोगुण का आवरक तमोद्रव्य रूप अज्ञान लेना है। आलम्बन पद से विषय लेना है। वृत्तिपद से प्रकरणप्राप्त चित्तवृत्ति लेना है। और निद्रा पद से सुषुप्ति अवस्था की चित्तवृत्ति लेना है। तथाच 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिः'—जाग्रत्-स्वप्न पदार्थविषयक वृत्तियों के कारण जो सत्त्वगुण तथा रजोगुण के आवरण तमोद्रव्य रूप अज्ञान, उस अज्ञानविषयक जो वृत्ति; वह, निद्रा-निद्रावृत्ति कहलाती है। इसी चित्तवृत्ति का दूसरा नाम सुषुप्ति है और इसी निद्रावृत्तिविशिष्ट पुरुष को श्रुतियों में सुषुप्त तथा अन्तःप्रज्ञ कहा गया है।

सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेषः । कथम् । सुखमहमस्वाप्सम् । प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति । दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम् ।

गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम् । गुरूणि मे गात्राणि । क्लान्तं मे

भाव यह है कि, बुद्धिसत्त्व त्रिगुणात्मक है । उसके तीनों गुण परस्पर एक दूसरे को अभिभव करते रहते हैं । अतः जिस समय सत्त्वगुण तथा रजोगुण को अभिभव कर इन्द्रियादि समस्त ज्ञानकरणों को आवरण करनेवाला तमोगुण आविर्भूत होता है, उस समय चित्तवृत्ति के विषयाकार होने में द्वारीभूत इन्द्रियों के अभाव होने से बुद्धिसत्त्व विषयाकाररूप से परिणत न हो सकने के कारण अज्ञान रूप से परिणत तमोगुण को विषय करने के लिये तमोगुण प्रधान चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है । वही (चित्तवृत्ति) निद्रा कही जाती है और वही निद्रावृत्ति सुषुप्तिकालिक स्वरूप–आनन्द तथा अज्ञान आदि को विषय करती है ।

जैसे निरुद्ध तथा कैवल्य अवस्था में वृत्ति का सर्वथा अभाव होता है । वैसे ही सुषुप्ति अवस्था में भी सर्वथा वृत्ति का अभाव ही क्यों नहीं माना जाय ? इस शङ्का का समाधान भाष्यकार करते हैं—सा चेति । सा च-वह निद्रा, सम्प्रबोधे–सुषुप्ति से जगने पर, प्रत्यवमर्शात्–स्मृति होने से, प्रत्ययविशेःष–वृत्तिविशेष है, ऐसा प्रतीत होता है। कथम्–वह कैसी स्मृति है ? जिस समय सत्त्वगुण सहित तमोगुण का आविर्भाव होता है, उस समय सात्त्विक निद्रा से उठे हुए पुरुष को जो स्मृति होती है उसका आकार दिखाते हैं—सुखमहमस्वाप्सम्–मैं सुखपूर्वक सोया था, प्रसन्नं मे मनः । प्रज्ञां मे विशारदीकरोति–क्योंकि, इस समय मेरा मन प्रसन्न है और उत्पन्न यथार्थ वृत्ति को स्वच्छ कर रहा है ।

जिस समय रजोगुण सहित तमोगुण का आविर्भाव होता है, उस समय राजसी निद्रा से जाग्रत पुरुष को जो स्मृति होती है, उसका आकार दिखाते हैं—दुःखमहमस्वाप्सम्—मैं दुःखपूर्वक सोया था, स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्–क्योंकि, इस समय मेरा मन अकर्मण्य तथा चञ्चलित होकर भ्रमण कर रहा है । और जिस समय तमोगुण सहित तमोगुण का ही आविर्भाव होता है, उस समय की तामसी निद्रा से उठे हुए पुरुष को जो स्मृति होती है, उसका आकार दिखाते हैं —गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्-गाढ निद्रा में मूढ होकर मैं सोया था; क्योंकि, इस समय, गुरूणि मे गात्राणि—मेरे शरीर के अवयव भारी प्रतीत होते हैं, क्लान्तं में चित्तम्—मेरा मन थका हुआ सा विदित

चित्तम् । अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति । स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे । तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा ।

सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

होता है, अलसं मे मुषितमिव तिष्ठति--बद्ध चौर के समान स्तब्ध हो रहा है, इति--इस प्रकार की स्मृतियां हैं । असति प्रत्ययानुभवे-यदि सुषुप्ति अवस्था में स्वरूपसुख तथा अज्ञान का अनुभव रूप वृत्ति न माना जाय तो, स खल्व प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यात्--जाग्रत पुरुष को उक्त प्रकार की स्मृतियां अनुपपन्न हो जायंगी । भाव यह है कि, उक्त तीन प्रकार का ज्ञान इन्द्रियों के अभाव होने से प्रत्यक्ष रूप तो है नहीं किन्तु स्मृति रूप ही कहना पड़ेगा, तो, तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः-और तदाश्रिताः—सुषुप्ति के अनुभवजन्य संस्कार से जो, तद्विषयाः—सुखविषयक तथा अज्ञान आदि विषयक, स्मृतयः—स्मृतियां होती हैं सो भी, न स्युः—अनुपपन्न हो जायंगी । तस्मात्—इस कारण से, प्रत्ययविशेषः—वृत्तिविशेष ही, निद्रा—निद्रा कही जाती है, यह सिद्ध हुआ ।

पूर्वोक्त स्मृति तथा युक्तियों से यह सिद्ध हुआ कि, सुषुप्ति निद्रारूप वृत्तिविशेष है । परन्तु उसका निरोधनीय प्रमाण आदि व्युत्थान वृत्तियों में संग्रह करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि, निरोध उन्हीं वृत्तियों का करना आवश्यक है जो समाधि की विरोधिनी हैं । निद्रावृत्ति तो एकाग्र वृत्ति के समान होने से समाधि की विरोधिनी नहीं । इस आशङ्का का समाधान भाष्यकार करते हैं— सा चेति । सा च—वह निद्रा वृत्ति भी, समाधौ-समाधि में, इतरप्रत्ययवत्-प्रमाण आदि अन्य व्युत्थान वृत्तियों के समान, निरोद्धव्या-निरोध करने योग्य है । भाव यह है कि, यद्यपि निद्रावृत्ति एकाग्रवृत्ति के समान है तथापि वह तामसी होने से सबीज तथा निर्बीज दोनों समाधियों की विरोधिनी होने से इसका भी निरोध करना परम आवश्यक है । अतएव सूत्रकार ने 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' इस सूत्र में निरोध करने के लिये निद्रावृत्ति का भी संग्रह किया है । भाष्य में इति शब्द सूत्रव्याख्यान की समाप्ति का सूचक है ।

नैयायिकों का यह कहना है कि, निद्रा ज्ञानरूप वृत्तिविशेष नहीं किन्तु ज्ञानाभाव रूप है । क्योंकि, सुषुप्ति में ज्ञान के साधन बाह्य-आभ्यन्तर इन्द्रियों के अभाव होने से ज्ञान की उत्पत्ति असिद्ध है । परन्तु पूर्वोक्त स्मृतियों की अनुपपत्ति से सुषुप्ति में ज्ञान के सद्भाव सिद्ध होने से नैयायिकों का इस विषय में भ्रम ही समझना चाहिये ।

वेदान्तियों का यह कहना है कि, सुषुप्ति में चित्त का अपने उपादानकारण अविद्या में लय होने से चित्त का वृत्तिविशेष निद्रा नहीं, किन्तु अविद्या का वृत्तिविशेष निद्रा है। उस अविद्या की वृत्ति द्वारा साक्षी चेतन उक्त स्वरूप सुख तथा अज्ञान को प्रकाशता है। इनका कहना सत्य है; क्योंकि, "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" छा० अ. ६–खं. ८-मं. १। "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" बृ०।–"सुषुप्तकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति"। कै० मं १३। इत्यादि श्रुतियों से चित्त का अपने कारण प्रकृति में लय सिद्ध होता है। और प्रकृति को ही वेदान्ती अविद्या कहते हैं। परन्तु सूत्रकार तथा भाष्यकार ने जो सुषुप्तिरूप निद्रा को चित्त की वृत्ति कहा है वह कारणावस्थापन्न सूक्ष्म (कारण में लीन) चित्तवृत्ति समझना चाहिये। अन्यथा उक्त श्रुतियों से विरोध होने पर योगमत हेय हो जायगा। वेदान्तियों ने जो सुषुप्ति-रूप निद्रा को अविद्या की वृति कहा है, वह भी वृत्ति-उपहित अज्ञान की वृत्ति समझना चाहिये। सार यह है कि, कारणावस्थाक चित्तवृत्ति में और अविद्यावृत्ति में किञ्चित् भी भेद नहीं। अतः वृत्ति–उपहित अविद्या–उपाधिक साक्षिचेतन उक्त स्वरूप सुख तथा अज्ञान को प्रकाशता है। एवं योगी भी वृत्ति को जड होने से पुरुषप्रतिबिम्बित बुद्धि-बोधरूप वृत्ति विषय को प्रकाशती है, ऐसा मानते हैं। इस कथन से दोनों के मत में सुषुप्ति अवस्था का स्वरूप सुख तथा अज्ञान साक्षिभास्य सिद्ध हुआ।

इस प्रकार के वेदान्त तथा योगमत के समन्वय को न समझने से विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में भगवान् श्रीशङ्कराचार्य को नवीन वेदान्ती कहते हुए सुषुप्ति में चित्त-वृत्ति सिद्ध करने के लिये अविद्यावृत्ति का खण्डन किया है। और कहा है कि, सुषुप्ति का अज्ञान साक्षिभास्य मानने से सुषुप्ति से जागने पर जो अज्ञान की स्मृति होती है, सो नहीं होनी चाहिये? क्योंकि, अपरिणामी साक्षी में संस्कार के अभाव होने से स्मृति असम्भव है। और सुषुप्ति को अविद्यावृत्ति मानेंगे तो जाग्रत्स्वप्न की वृत्तियों को भी अविद्यावृत्ति ही मानने से निर्वाह हो जाने से चित्तवृत्ति मानना व्यर्थ है। एवं किसी जगह चित्तत्वेन तथा किसी जगह अविद्यात्वेन वृत्ति सामान्य में हेतुता मानने में गौरव होने से दोनों जगह चित्तत्वेन हेतुता मानने में लाघव है, इत्यादि। सो अविचारित रमणीय है; क्योंकि, सुषुप्ति में चित्त का व्यापार यदि विद्यमान होता तो अज्ञान आदि का प्रकाशक चित्त कहा जा सकता था। परन्तु सुषुप्ति में चित्त का स्व-कारण प्रकृति में लय होने से निर्व्यापार चित्त अज्ञान आदि का प्रकाश कैसे कर सकता है? सुषुप्ति में चित्त का प्रकृति में विलय होता है, यह बात विज्ञानभिक्षु ने स्वयं "समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता" सां० अ. ५—सूत्र ११६। इस सूत्र के सांख्यप्रवचनभाष्य में "बुद्धिवृत्तिविलयः" इत्यादि शब्दों से कही है। अतः उक्त श्रुतियों के साथ तथा उनकी स्व–उक्ति के साथ विरोध होने से एवं वेदान्त तथा योगमत का उक्त युक्ति से

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरत्याहोस्विद्विषयस्येति । ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तज्जातीयकं संस्कारमाभरते । स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः । ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः ।

समन्वय होने से विज्ञानभिक्षु का पूर्वोक्त वाक्-प्रहार केवल अज्ञानमूलक ही प्रतीत होता है ।

इस प्रासङ्गिक विचार से यह सिद्ध हुआ कि, सुषुप्ति के स्वरूपसुख तथा अज्ञान को विषय करने वाली जो प्रकृत्यवस्थापन्न सूक्ष्म चित्त की वृत्ति वही निद्रा कही जाती है । इति ॥ १० ॥

प्रमाणादि चार वृत्तियों का लक्षण करके क्रमप्राप्त अन्तिम स्मृतिवृत्ति का लक्षण करते हैं—अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः । इस सूत्र में अनुभूत पद से पौरुषेय बोध-रूपज्ञान से ज्ञात विषय, विषय पद से घटादि विषय तथा तद्विषयक बुद्धिबोधरूप चित्त-वृत्ति, असंप्रमोष पद से जितने अर्थ अनुभव से ज्ञात हो चुके हों उतने ही मात्र को विषय करनेवाला ज्ञान तथा स्मृति पद से चित्त का वृत्तिविशेष लिया गया है । तथा च—अनुभूतविषयासंप्रमोषः—अनुभव किये हुए विषयों का फिर से चित्त में आरोह-पूर्वक जो अनुभवमात्रविषयक चित्तवृत्तिविशेष वह, स्मृतिः—स्मृति कहलाती है ।

स्मृति के विषय को स्फुट करने के लिये भाष्यकार शङ्का उठाते हैं—किमिति । चित्त घटादि के ज्ञान को स्मरण करता है अथवा घटादि विषय को ? । इति शब्द शङ्का का समाप्ति सूचक है । उत्तर—ग्राह्योपरक्तः इति । ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययः—विषय समानाकार अनुव्यवसाय ज्ञान, ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासः—विषय तथा विषम के ज्ञानाकार होने से इन दोनों को प्रकाशता हुआ, तज्जातीयकं संस्कारमारभते—उसी प्रकार के विषय तथा ज्ञानाकारवाले ही संस्कार को उत्पन्न करता है, स संस्कारः—और वह (ग्राह्य-ग्रहणरूप उभयाकार) संस्कार, स्वव्यञ्जकाञ्जनः—अपने उद्बोधक से उद्बुद्ध होकर (जाग्रत् होकर),तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकाम्—अपने समान आकार-वाली विषय और ज्ञान उभय विषयक, स्मृतिं जनयति—स्मृति को उत्पन्न करता है । अतः चित्त, विषय तथा विषय के ज्ञान इन दोनों को स्मरण करता है । यह शङ्का का उत्तर हुआ ।

भाव यह है कि, बुद्धिबोधरूप व्यवसाय-ज्ञान-जन्य संस्कार से यदि स्मृति होती तो ज्ञान तथा तज्जन्य संस्कार ग्राह्यरूप विषय मात्र का विषय करनेवाला होने से तज्जन्य स्मृति भी ग्राह्यरूप विषयमात्र को ही विषय करनेवाली उत्पन्न होती

सा च द्वयी भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च ।
स्वप्ने भावितस्मर्तव्या । जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति ।
सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्

परन्तु व्यवसाय-ज्ञान-जन्य संस्कार से तो स्मृति होती नहीं है किन्तु अनुव्यवसाय ज्ञान-जन्य संस्कार से स्मृति होती है। क्योंकि, योगमत में बुद्धिबोध (व्यवसाय ज्ञान) फल नहीं किन्तु साधन है। और फल रूप ज्ञानजन्य संस्कार से स्मृति होती है, ऐसा नियम है।

यहां शङ्का होती है कि, यदि अनुभव के समान विषयक ही स्मृति हो तो अनुभव और स्मृति में भेद क्या ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—तत्रेति । तत्र—कारणरूप अनुभव और कार्यरूप स्मृति में, ग्रहणाकारपूर्वा—ज्ञानाकार-प्रधान अर्थात् अज्ञात विषयक ज्ञान, बुद्धिः—अनुभव कहाता है, और, ग्राह्याकारपूर्वा—विषयपदार्थाकार-प्रधान अर्थात् ज्ञात विषय का ज्ञान, स्मृतिः—असंप्रमोषरूप स्मृति कहाता है। इतना ही अनुभव और स्मृति में भेद है।

उक्त स्मृति का यथार्थ तथा अयथार्थ भेद से दो विभाग करते हैं—सा चेति । सा च—और वह स्मृति, द्वयी—दो प्रकार की है, भावितस्मर्तव्या च—एक, भावित अर्थात् कल्पित मिथ्या पदार्थ का स्मरण करनेवाली अयथार्थ स्मृति और दूसरी, अभावितस्मर्तव्या च—अकल्पित अर्थात् यथार्थ पदार्थ का स्मरण करनेवाली यथार्थ स्मृति है। दोनों स्मृतियों के भिन्न भिन्न लक्ष्य बताते हैं—स्वप्न इति । स्वप्ने—स्वप्न अवस्था में जो पदार्थ का ज्ञान है वह, भावितस्मर्तव्या—भावित स्मर्तव्य नामक अयथार्थ स्मृति है और, जाग्रत्समये—जाग्रत् अवस्था में जो सत्य पदार्थ का स्मरण-रूप ज्ञान वह, तु—तो, अभावितस्मर्तव्या—अभावित स्मर्तव्य नामक यथार्थ स्मृति है। भाव यह है कि, जैसे रज्जुसर्पादि मिथ्या पदार्थ का अनुभव अनुभव नहीं किन्तु अनुभवाभास है। वैसे ही स्वप्न में जो भावित स्मर्तव्यरूप स्मृति है, वह स्मृति नहीं किन्तु स्मृत्याभास है। अर्थात् संस्कारजन्य होने से स्मृति जैसी भासती है।

प्रमाणादि पांच वृत्तियों में स्मृतिवृत्ति का सबके अन्त में उल्लेख करने का कारण बताते हैं—सर्वा इति । सर्वाः स्मृतयः—सब स्मृतियां, प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति के अनुभव के पश्चात्, प्रभवन्ति—होती हैं। भाव यह है कि, प्रमाणादि अनुभवजन्य संस्कार से स्मृति होती है। अतः प्रमाणादि का कार्य होने से स्मृतिवृत्ति का निरूपण प्रमाणादि वृत्ति के निरूपण के पश्चात् ही करना योग्य है।

शङ्का होती है कि, चित्तवृत्ति निरोध को योग कहा गया है सो समीचीन नहीं;

प्रभवन्ति। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः। सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः। सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी द्वेषः। मोहः पुनरविद्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां

क्योंकि, जो पुरुष को क्लेश (दुःख) देता हो उसीका निरोध करना योग्य है। जैसे वक्ष्यमाण २ रे पाद के ३ रे सूत्र में प्रतिपादित अविद्यादि। उक्त प्रमाणादि वृत्तियां तो क्लेश देनेवाली हैं नहीं, फिर उनका निरोध करने की क्या आवश्यकता है? इस शङ्का का उत्तर भाष्यकार देते हैं—सर्वाश्चैता इति। सर्वाश्चैता वृत्तयः—पूर्वोक्त प्रमाणादि सभी वृत्तियां, सुखदुःखमोहात्मिकाः—सुख, दुःख तथा मोहरूप हैं। सुखदुःखमोहाश्च-और सुख, दुःख तथा मोह, क्लेशेषु—वक्ष्यमाण पांच क्लेशों के व्याख्यानरूप २ रे पाद के ३ रे सूत्र में, व्याख्येयाः—व्याख्यान करने योग्य हैं। जैसे—सुखानुशयी—सुख को विषय करनेवाला, रागः—राग कहा जाता है। दुःखानुशयी—दुःख को विषय करनेवाला, द्वेषः—द्वेष कहा जाता है। मोहः पुनः—और फिर मोह, अविद्या—अविद्या कहा जाता है। इति शब्द उक्त शङ्का के समाधान की समाप्ति का सूचक है। सुख तथा दुःख क्रम से राग तथा द्वेष से होते हैं; अतः कार्यकारण में अभेद मान कर यहां सुखदुःख को रागद्वेषरूप क्लेश कहा गया है। और मोह तो अविद्या का पर्याय ही है, ऐसा कह आये हैं। इसलिये—एता इति। एताः सर्वाः—ये प्रमाणादि सभी, वृत्तयः—वृत्तियां, निरोद्धव्याः——(क्लेश-रूप विक्षेप द्वारा समाधि की विरोधिनी होने से.) निरोध करने योग्य हैं। वृत्ति निरूपण के प्रकरण का उपसंहार करते हैं—आसामिति। आसां निरोधे—इन वृत्तियों के निरोध होने पर, संप्रज्ञातो-वा समाधिर्भवति—संप्रज्ञात समाधि और उस (संप्रज्ञात समाधि) के द्वारा असंप्रज्ञातो वा—असंप्रज्ञात समाधि का लाभ योगियों को होता है। यहाँ पर इति शब्द सूत्र के व्याख्यान का समाप्ति-सूचक है।

स्मृति की प्रक्रिया इस प्रकार है कि, कोई ज्ञान उत्पन्न होकर सदा के लिये विद्यमान नहीं रहता है किन्तु तृतीय क्षण-ध्वंसप्रतियोगी होने से तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। अर्थात् प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में रहता है और तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। क्योंकि, जो उत्पन्न हुआ ज्ञान सदा के लिये विद्यमान ही रहे तो ज्ञान प्रयुक्त अन्य व्यवहार का लोप हो जाय। अतएव उत्पन्न हुए ज्ञान का तृतीय क्षण में नाश माना जाता है। और वह ज्ञान नष्ट तो हो जाता है। परन्तु उसका संस्कार चित्त में विद्यमान रहता है। एवं वह संस्कार भी यदि सदा जाग्रत रहे तो अपना कार्य करते रहने से फिर भी अन्य व्यवहार के लोप का प्रसंग हो जायगा। अतः वह अनुद्बुद्ध (सुप्त) होकर चित्त में रहता है। ऐसे जन्म जन्मान्तर

के असंख्य संस्कार चित्त में पड़े हैं। जब कभी उनमें से किसी का उद्बोधक (जाग्रत् करनेवाला), चित्त की एकाग्रता, अभ्यास तथा सहचार-दर्शन आदि में से कोई एक साधन भी प्राप्त हो जाय तब वह उद्‌बुद्ध होकर (जाग्रत होकर) 'सा मे माता' अर्थात् 'वह मेरी मा' 'मे माता' अर्थात् 'मेरी मा' इत्यादि अप्रमुष्ट-तत्ताक अथवा प्रमुष्ट-तत्ताक दोनों प्रकार की स्मृति को उत्पन्न करता है। जिस स्मृति के आकार में तत् शब्द न हो वह अप्रमुष्ट-तत्ताक और जिसके आकार में तत् शब्द न हो वह प्रमुष्ट-तत्ताक स्मृति कही जाती है। जैसे 'सा मे माता' वह अप्रमुष्ट-तत्ताक और 'मे माता' यह प्रमुष्ट-तत्ताक स्मृति है।

माता पिता आदि स्नेही जन के स्मरण में राग, शत्रु के स्मरण में द्वेष, पठित विद्या के स्मरण में अभ्यास तथा साथ देखे हुए दो व्यक्तियों में से किसी एक के ज्ञान से दूसरे के स्मरण में सहचार-दर्शन संस्कार का उद्बोधक है। जैसे किसी ने चैत्र तथा मैत्र नामक दो व्यक्तियों को एक साथ देखा हो और कालान्तर में केवल चैत्र ही देखने में आया हो, तो वहां चैत्र का ज्ञान मैत्र विषयक संस्कार को जाग्रत करता हुआ मैत्र की स्मृति करा देता है। ऐसे स्थल में एक सम्बन्धी का ज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारकरूप सहचार-दर्शन संस्कार का उद्बोधक माना गया है। इसी प्रकार अन्य स्थल में भी यथायोग्य संस्कार के उद्बोधक की कल्पना करनी चाहिये।

विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक में प्रमुष्ट-तत्ताक स्मृति का खण्डन किया है और कहा है कि, "यदि प्रमुष्ट-तत्ताक स्मृति होगी तो वह अनुभव ही कही जायगी? सो ठीक नहीं। क्योंकि 'मे माता' इत्यादि स्मृतियों को प्रमुष्ट-तत्ताक होने पर भी किसी दार्शनिक ने अनुभव नहीं माना है। अतः विज्ञानभिक्षु का उक्त कथन उनमें दार्शनिकता का अभाव सूचक है।

अनुभव की अपेक्षा स्मृति में केवल इतनी ही विशेषता है कि, अनुभव अज्ञात वस्तुविषयक होता है, और स्मृति ज्ञात वस्तुविषयक। क्योंकि, स्मृति नाम उसी का है, जो अनुभव से जितने विषय ज्ञात हों उतने ही को विषय करे, अधिक को नहीं। क्योंकि, यदि स्मृति अधिक अर्थ को भी विषय करे तो यह अज्ञात जो अधिक अर्थ उसको विषय करने से अनुभव ही हो जायगी ऐसा तो नहीं करती है। अतः स्मृति अनुभव से भिन्न है। उदाहरण—जैसे अनुभव के दो विषय हैं; पदार्थ और पदार्थ का ज्ञान। और अनुभव ही का तो संस्कार है; अतः संस्कार के भी ये ही दो विषय हैं तथा संस्कार से जन्य स्मृति होने से स्मति के भी ये ही दो विषय हैं। अत एव नैयायिकों ने "संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" अर्थात् जो ज्ञान केवल संस्कार से ही जन्य हो वह स्मृति कहाता है। इस प्रकार का स्मृति का लक्षण किया है। इस लक्षण में मात्र पद का जो फल है वही प्रकृत सूत्र में प्रायः असंप्रमोष पद का फल है।

निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसंप्रज्ञातो वेति ॥ ११ ॥

अथाऽऽसां निरोधे क उपाय इति—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

तात्पर्य यह है कि, सम्-प्र-पूर्वक "मुष स्तेये" धातु से संप्रमोष शब्द बना है, जिसका अर्थ चोरी करना होता है और इसके साथ नञ्समास होने से असंप्रमोष शब्द बनता है, जिसका अर्थ चोरी नहीं करना होता है। जैसे लोक में पैत्रिक संपत्ति जो न हो, किन्तु किसी अन्य की हो, उसको ग्रहण करने से 'संप्रमोष' अर्थात् चोरी कही जाती है। परन्तु अपनी पैत्रिक संपत्ति को ही ग्रहण करने से चोरी नहीं कही जाती है। इसी प्रकार स्मृति भी यदि स्व-जनक (पिता) अनुभव के विषय से अधिक अन्य के विषय को ग्रहण (प्रकाश) करे तो यह भी संप्रमोष अर्थात् चोरी कही जा सकती है परन्तु अधिक विषय को ग्रहण नहीं करती है, अतः स्मृति अनुभूत विषयासंप्रमोष कही जाती है। किसी जगह अनुभव के विषय दो हों और स्मृति उनमें से एक की ही हुई हो, वहां न्यून विषयक स्मृति होने पर भी अनुभव के विषय से अधिक विषय को नहीं प्रकाश करने से अनुभूतविषयासंप्रमोष ही है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—एक अभिज्ञा प्रत्यक्ष और दूसरा प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष। 'यह देवदत्त है' इत्यादि अभिज्ञा प्रत्यक्ष कहाता है और "वही यह देवदत्त है जो मथुरा में देखा गया था" इत्यादि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष कहाता है। उनमें अभिज्ञा प्रत्यक्ष केवल इन्द्रियजन्य है और प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष पूर्वदृष्ट संस्कार और इन्द्रिय इन दोनों से जन्य है। अतः अनुभव रूप प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष भी संस्कारजन्य होने से उसमें स्मृति के लक्षण की अतिव्याप्ति की आशङ्का हो सकती है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष असंप्रमोष नहीं किन्तु ससंप्रमोष है। क्योंकि, अनुभव के विषय से अधिक वर्तमानकाल तथा पुरोवर्ति देश को भी विषय करनेवाला है; अतः अतिव्याप्ति नहीं। एवं स्वप्नज्ञान भी जाग्रत्-ज्ञानजन्य संस्कार से जन्य होने से उसमें भी अतिव्याप्ति की आशङ्का हो सकती है। किन्तु वह भी अनुभवरूप जाग्रत्ज्ञान के विषय से अधिक स्वप्नकाल तथा कल्पित देश को भी विषय करने से असंप्रमोष नहीं, किन्तु ससंप्रमोष ही है। अतः उसमें भी अतिव्याप्ति नहीं। इति ॥ ११ ॥

इस प्रकार निरोधनीय चित्तवृत्तियों का निरूपण किया गया। अब उनके निरोध के उपाय प्रतिपादक सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं—अथेति। अथ-वृत्तियों के निरूपण के बाद जिज्ञासा होती है कि, आसाम्-इन वृत्तियों के, निरोधे-निरोध करने में, क उपायः-कौन उपाय (साधन) है? इति शब्द जिज्ञासा के आकार का निर्देशक है।

उत्तर—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। अभ्यासवैराग्याभ्याम्-अग्रिम सूत्रों से प्रतिपादित तत्त्वविवेक के लिये योगाभ्यास तथा विषय-विषयक वैराग्य से,

चित्तनदी नामोभयतो वाहिनो। वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा।

तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्धाटय इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ १२॥

तन्निरोधः—पूर्वोक्त चित्तवृत्तियों का निरोध (कारण में लय) होता है। अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध करने में दो उपाय हैं, एक–अभ्यास और दूसरा वैराग्य। उनमें विषयों में दोषदृष्टिजन्य वैराग्य से चित्त का नैसर्गिक अनादि बहिर्मुख प्रवाह रोका जाता है और विवेक ज्ञान के अभ्यास से अन्तरात्माभिमुख प्रवाह चालू किया जाता है। यद्यपि सूत्र में प्रथम अभ्यास पद का उपादान है, तथापि बहिर्मुख चित्तवृत्ति का निरोध किये बिना अभ्यास असम्भव है। अतः योग्यतानुसार प्रथम वैराग्य से चित्त के बहिःप्रवाह को रोककर उसके बाद अभ्यास से अन्तःप्रवाह चालू किया जाता है। ऐसा समझना चाहिये। अतएव भाष्यकार ने प्रथम वैराग्य का, तत्पश्चात् अभ्यास का फल बताया है। इस सूत्र का भाव भाष्यकार व्यक्त करते हैं—चित्तनदीति। चित्तनदी नाम–चित्तरूप नदी, उभयतो वाहिनी–भीतर तथा बाहर दोनों तरफ बहने वाली है, वहति कल्याणाय–आत्मकल्याण के लिये भीतर बहती है, वहति पापाय च—और जन्म मरण आदि दुःख के लिये बाहर विषयों की तरफ भी बहती है। इन दोनों प्रवाहों को आगे दिखाते हैं–या त्विति या तु–जो चित्तनदी कैवल्यप्राग्भारा–मोक्षाभिमुख होकर, विवेकविषयनिम्ना–विवेक विषय रूप निम्न मार्ग की तरफ ढलती हुई मोक्ष पर्यन्त बहा करती है, सा-वह, कल्याणवहा–कल्याण के हेतु होने से कल्याणवहा कही जाती है। और जो, संसारप्राग्भारा–संसाराभिमुख होकर, अविवेकविषयनिम्ना—अज्ञान विषय रूप निम्न मार्ग की तरफ ढलती हुई भोग पर्यन्त बहा करती है, वह, पापवहा–दुःखजनक होने से पापवहा कही जाती है। इन दोनों प्रवाहों में एक को चालू करने में और दूसरे को रोकने में क्रमशः उक्त अभ्यास तथा वैराग्य को भाष्यकार हेतु बताते हैं–तत्रेति। तत्र-उन दोनों प्रवाहों में जो पापवह प्रवाह है, उसका विषयस्रोत–विषय तरफ के प्रवाह को, वैराग्येण–वैराग्यद्वारा, खिलीक्रियते–स्वल्प किया जाता है अर्थात् रोका जाता है, और विवेकदर्शनाभ्यासेन–सत्त्वपुरुषान्यता-ख्यातिरूप विवेक ज्ञान के अभ्यास के द्वारा, विवेकस्रोतः–ज्ञान की तरफ अन्तःप्रवाह, उद्घाट्यते–खोल दिया जाता है, इति–इस प्रकार, उभयाधीनः–उक्त अभ्यास तथा वैराग्य उन दोनों के अधीन, चित्तवृत्तिनिरोधः–चित्तवृत्ति का निरोध है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः । तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥ १३ ॥

सारांश यह है कि, जैसे गङ्गा, यमुना आदि नदियों का तीव्र प्रवाह प्रथम सेतुबन्ध के द्वारा रोका जाता है, तत्पश्चात् नहर आदि कुल्या द्वारा तिर्यक् (तिर्छा) रूप से क्षेत्र (खेत) के उन्मुख किया जाता है, वैसे ही चित्तनदी का तीव्र विषय-प्रवाह भी प्रथम वैराग्य द्वारा रोका जाता है, तत्पश्चात् अभ्यासद्वारा प्रकृति पुरुष के विवेकोन्मुख किया जाता है। इस प्रकार समाधि उत्पादन में अभ्यास तथा वैराग्य दोनों समुच्चित होकर हेतु हैं, विकल्पित होकर नहीं। अतः अभ्यास अथवा वैराग्य में से किसी एक से चित्तवृत्ति का निरोध होता है, ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिये। अतएव प्रकृत सूत्र में 'अभ्यासवैराग्याभ्याम्' इस प्रकार का इतरेतरयोग द्वन्द्व समास करके ये दोनों पढे गये हैं। क्योंकि, 'चार्थे द्वन्द्वः' यह सूत्र विकल्प अर्थ में द्वन्द्व समास नहीं करता है। इसी अभिप्राय से श्रीमद्भगवद्गीता के—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ६-३५ ॥

इस श्लोक में श्रीभगवान् ने अभ्यास तथा वैराग्य के समुच्चय अर्थक चकार का उपादान किया है। यद्यपि केवल वैराग्य से भी चित्त अन्तर्मुख होता है, तथापि वह अन्तर्मुख हुआ चित्त अभ्यास के बिना स्थिरता को प्राप्त नहीं होता है। अतः अभ्यास की परम आवश्यकता है; क्योंकि, स्थिरता के बिना चित्त समाहित नहीं हो सकता है। इति ॥ १२ ॥

अभ्यास और वैराग्य चित्तवृत्ति निरोध में उपाय कहे गये हैं। उनमें प्रथम निर्दिष्ट अभ्यास के स्वरूप तथा प्रयोजन कथन के द्वारा लक्षण करते हैं–तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। तत्र-पूर्वोक्त चित्तवृत्ति के निरोध में, स्थितौ–चित्त की स्थिरता के निमित्त जो, यत्नः–मानसिक उत्साहपूर्वक यम, नियमादि योगाङ्गों का अनुष्ठान वह, अभ्यासः–अभ्यास कहा जाता है।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—चित्तस्येति-अवृत्तिकस्य-राजस, तामस आदि विषय वृत्ति रहित, चित्तस्य–चित्त की जो, प्रशान्तवाहिता स्थितिः–हर्ष, शोकादि रहित सात्त्विक निर्मल तथा एकाग्र वृत्ति प्रवाह रूप स्थिति, तदर्थः–उस (स्थिति) को सम्पादन करने के लिये जो, उत्साहः–मानसिक उत्साह तथा, वीर्यम्–दृढतापूर्वक प्रयत्नः–यम, नियमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान, तत्सम्पिपादयिषया–उस (अनुष्ठान) का सम्पादन करने की इच्छा से जो, तत्साधनानुष्ठानम्–श्रद्धा वीर्यादि वक्ष्यमाण

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥

दीर्घकालासेवितो निरन्तरासेवितः सत्कारासेवितः । तपसा

उसके साधनों के अनुष्ठान में तत्परता रूप यत्न वह, अभ्यासः-अभ्यास कहा जाता है। प्रकृत सूत्र से उक्त यत्न पद से अभ्यास का स्वरूप, उक्त स्थिति पद से अभ्यास का प्रयोजन, तथा सभी पद मिलकर अभ्यास का लक्षण समझना चाहिये।

यहां पर ऐसी शंका हो सकती है कि, वैराग्यद्वारा अन्तर्मुखता को प्राप्त भी चित्तवृत्तियां अपनी जन्मजन्मांतर की अनादि एवं स्वभावसिद्ध चञ्चलता को त्याग कर कैसे निरुद्ध हो सकती हैं? क्योंकि, जो धर्म आगन्तुक अर्थात् किसी निमित्त से प्राप्त हुआ हो वह उपाय से दूर हो सकता है। नैसर्गिक चाञ्चल्यवाली चित्तवृत्तियां अभ्यास से कैसे निरुद्ध हो सकती हैं।

इसका समाधान यह है कि, अभ्यास में एक ऐसी अद्भुत शक्ति है कि, वह अति दुःसाध्य को भी सुसाध्य बना देती है। जैसे विष (संखिया-सोमल आदि), अहिफेन (अफीम) तथा तम्बाकू आदि मारक एवं मादक पदार्थ होने पर भी धीरे धीरे स्वल्प प्रमाण में उसको खाने के अभ्यास करने से एक दिन वह व्यसन ही नहीं बन जाता है किन्तु उसके बिना रहना कठिन हो जाता है, वैसे ही योग जिज्ञासु यदि चित्तस्थिरता के लिये नित्य निरन्तर विवेक ज्ञान का अभ्यास करता रहे तो वह (स्थिरता) दुःसाध्य भी एक दिन सुसाध्य हो जाती है। क्योंकि दुःसाध्य को सुसाध्य बनाना अभ्यास के लिए कोई दुष्कर नहीं है। सारांश यह है कि, चित्त की चंचलता भोगजन्य होने से आगन्तुक है, नैसर्गिक नहीं और चित्त की स्थिरता नैसर्गिक है और आगन्तुक की अपेक्षा नैसर्गिक बलवान होता है एवं 'बलवता दुर्बलो बाध्यते' अर्थात् बलवान् से दुर्बल बाधा जाता है, यह न्याय है। अतः अभ्यास से चंचलता की निवृत्तिरूप स्थिरता का सम्पादन होता है। इति ॥ १३ ॥

अनन्त जन्म के भोगवासना से सम्पादित व्युत्थान-संस्कार बलवान् एवं विरोधी होने से एक जन्म का स्वल्प काल साध्य दुर्बल अभ्यास किस प्रकार वृत्तिनिरोधरूप चित्तस्थिरता को सम्पादन कर सकता है? इस आशङ्का का उत्तर सूत्रकार देते हैं—स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। स तु—वह पूर्वोक्त अभ्यास, दीर्घ-काल-बहुत काल तक—नैरन्तर्य-अन्तरायरहित (सतत), सत्कारासेवितः—तप, ब्रह्मचर्य, प्रणव आदि भगवन्नाम के जपरूपविद्या तथा श्रद्धाभक्ति पूर्वक अनुष्ठित हुआ, दृढभूमिः-दृढ अवस्थावाला होता है। अर्थात् व्युत्थान संस्कार को दाँबने के लिए प्रबल बनता है। इसी अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—दीर्घकालेति। दीर्घकाल—आसेवितः—बहुत काल पर्यन्त अनुष्ठान किया हुआ, निरंतर—आसेवितः—व्यवधान रहित (तैल-

ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च संपादितः सत्कारवान्दृढभूमिर्भवति। व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः ॥ १४ ॥

धारावत् निरवच्छिन्न) अनुष्ठित, तथा तपसा–शीतोष्णादि सहन, ब्रह्मचर्येण–इन्द्रियनिग्रह, विद्यया–प्रणव आदि भगवन्नाम के जपरूप विद्या, श्रद्धया च—और गुरुशास्त्र बचन में श्रद्धाभक्ति द्वारा, सम्पादितः–सम्पादन किया हुआ अभ्यास, सत्कारवान्–आदरवाला होता हुआ, दृढभूमिः भवति–दृढ अवस्था को प्राप्त होता है। और फिर कभी वही अभ्यास, व्युत्थानसंस्कारेण—व्युत्थान संस्कार के द्वारा, द्रागित्येव–जल्दी से, अनभिभूतविषयः—अपराभूत (स्थितरूप) विषयवाला होता है। अर्थात् व्युत्थान संस्कार से बाधित नहीं होता है। प्रत्युत यह अभ्यास ही व्युत्थान संस्कार को दबाने में समर्थ एवं तत्पर होता जाता है। भाव यह है कि यद्यपि अनादि काल के व्युत्थान संस्कार चित्त का स्वभावभूत धर्म बन गया है, तथापि बहुकाल पर्यन्त निरन्तर एवं आदरपूर्वक यम, नियमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान का अभ्यास उससे भी प्रबल होने से व्युत्थान संस्कार को बाधने में प्रबल हो जाता है।

यदि इस प्रकार का अभ्यास करके आगे कष्टसाध्य जानकर उपराम हो जाय तो व्युत्थान संस्कार से अभ्यास दबाया जा सकता है। अतः इस अवस्था में भी उपराम न होकर सावधानी के साथ अभ्यास चालू रखना चाहिये। इस बात को भाष्यकार ने "द्राक् इत्येव" इस पद से सूचित किया है।

भाव यह है कि, अनादि काल से यह चित्त विषयभोगवासनाजन्य व्युत्थान संस्कार के बल से चाञ्चल्य का ही अभ्यास करता चला आ रहा है। अतः चाञ्चल्य एक प्रकार का इसका स्वाभाविक सा धर्म हो गया है। इसलिये यह चाञ्चल्य आगन्तुक एवं स्वल्पकाल साध्य किसी अन्य उपाय से निवृत्त होना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अत एव जिस उपाय से इस चित्त के चाञ्चल्य का नाश हो तथा स्थिरता इस (चित्त) का स्वाभाविक धर्म बने वही उपाय योगजिज्ञासु को करना चाहिये। परन्तु अभ्यास की दृढता के अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य उपाय देखने में आता नहीं है। अतः पूर्वोक्त दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास का अनुष्ठान करते रहना ही व्युत्थान संस्कार की निवृत्तिपूर्वक स्थिरता सम्पादन का एकमात्र प्रधान उपाय है।

आसेवित पद में आङ् उपसर्ग के निवेश से तथा आसेवित पद का दीर्घकाल नैरन्तर्य तथा सत्कार इन तीनों के साथ अन्वय करने से यह दिखाया गया है कि, एक दिन के अथवा एक दिन में भी घड़ी दो घड़ी के एवं अनादर पूर्वक यमादि अनुष्ठान के अभ्यास से चित्त की स्थिति नहीं हो सकती है, किन्तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवित अभ्यास दृढभूमि को प्राप्त होकर चित्तस्थिति को सम्पादन करता है। श्रीभगवान् ने भी श्रीमद्भगवद्गीता के—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ ६–२३ ।

इस श्लोक के 'अनिर्विण्णचेतसा' इस पद के उपादान से खेद रहित चित्त से अभ्यास की कर्तव्यता प्रतिपादन की है। स्वामिश्री गौडपादाचार्य ने भी माण्डूक्य उपनिषद्कारिका के अद्वैत प्रकरण के—

उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः ॥ अ० ४१ ॥

इस श्लोक में टिट्टिभ के दृष्टान्त से खेदाभावपूर्वक मननिग्रह करने को कहा है। अर्थात् जैसे टिट्टिम नामक पक्षी ने कुश के अग्र के समान अपनी चोंच के एक एक बिन्दु द्वारा समुद्र सुखाने का प्रण किया था, वैसे ही खेदरहित अभ्यास के द्वारा मन का निग्रह होता है। टिट्टिभ का आख्यान किसी पुराण में है, जिसका विस्तार स्वामि श्रीशङ्करानन्दजी ने आत्मपुराण में किया है। पाठकों को वहीं देखना चाहिये। उसका संक्षिप्त वृत्तान्त यह है कि–समुद्र के तरङ्ग द्वारा अपने अण्डों के समुद्र में बह जाने से टिट्टिभ नामक पक्षी ने प्रण किया कि, निरपराधी मेरे बच्चोंको समुद्र ले गया है अतः मैं भी इसको सुखाये बिना नहीं रहूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करने के बाद चोंच द्वारा एक एक बून्द समुद्र के जल को बाहर फेंकने लगा। जब दूसरे पक्षी यह कहते कि, इस प्रकार से कहीं समुद्र का शोषण हो सकता है ? तब वह उत्तर देता कि, 'आज नहीं तो कुछ वर्षों के बाद, इस जन्म में नहीं तो अग्रिम करोड़ों जन्मों के बाद भी इसको सुखाये बिना नहीं रहूँगा। यही मेरा प्रण है'। इस प्रकार के प्रण को देख कर पृथिवी भर के सभी पक्षिगण चारा चुगना छोड़कर उसकी सहायता करने लगे। इस कौतुक को देखकर नारद मुनि वैकुण्ठ गये और गरुडजी से कहा। गरुडजी भी अपने स्वजाति—बन्धुओं की सहायता करने के लिये आये और उन्होंने समुद्र में अपने परों से जो थाप मारी कि, समुद्र खलबला उठा और कर जोड़ कर क्षमा मांगते हुए अण्डों को ला दिया, इत्यादि। इति ॥ १४ ॥

अभ्यास तथा वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध होता है, यह कहा गया है। उनमें वैराग्य से चित्त की बाह्यप्रवृत्तियों का निरोध होता है और अभ्यास से आन्तर का। सूत्रक्रम से जिज्ञास्यमान अभ्यास का लक्षण करके अब वैराग्य का लक्षण करते हैं। वैराग्य पर, अपर भेद से दो प्रकार का है। उनमें अपर वैराग्य पर वैराग्य का हेतु होने से प्रथम अपर वैराग्य का लक्षण करते हैं—दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ इस सूत्र

स्त्रियोऽन्नं पानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये विरक्तस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृति-लयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेय-शून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

में 'विषयवितृष्णस्य' इस पद का दृष्ट तथा आनुश्रविक इन दोनों पदों के साथ सम्बन्ध है। तथा च-दृष्टविषयवितृष्णस्य-इस लोक में दृष्टिगोचर-जड़चेतनात्मक स्रक्, चन्दन, वनिता, अन्न-पान आदि विषयों में तृष्णा रहित, और, आनुश्रविकविषय-वितृष्णस्य-वेदबोधित पारलौकिक स्वर्गादि के अमृतपान, अप्सरा, आदि संभोगजन्य विषय के तथा विदेहभाव एवं प्रकृति लयभाव कालिक विलक्षण आनन्दरूप विषय में तृष्णा रहित मुमुक्षु के चित्त में, वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्-वशीकारसंज्ञा नामक अपर वैराग्य प्राप्त होता है। अर्थात् गुणदोष के विचार करने पर ऐहिक तथा पारलौकिक विषय नीरस, नश्वर एवं दुखःरूप प्रतीत होने से उनके प्रति दोषदृष्टिवाले मुमुक्षु पुरुष के चित्त की जो उपेक्षा रूप हेयोपादेयशून्य स्थिति, उसका नाम वशीकारसंज्ञा वैराग्य है। अतः चित्त की एक प्रकार की अवस्था - विशेष ही वैराग्य कहा जाता है, यह बात सिद्ध हुई। इसी प्रकार के सूत्रार्थ को भाष्यकार व्यक्त करते हैं—स्त्रिय इति। स्त्रियः-स्त्री, अन्नम्-अन्न, रोटी आदि, पानम्-पान, पेय दुग्धादि, ऐश्वर्यम्-ऐश्वर्य, स्वामिता, इति दृष्टविषये-इन दृष्ट विषयों में, वितृष्णस्य-तृष्णा रहित तथा, स्वर्गवैदेह्यप्रकृति-लयत्वप्राप्तौ-स्वर्ग की, विदेहभाव की और प्रकृति-लयभाव की प्राप्ति होने पर, आनु-श्रविकविषये-वेद-प्रतिपादित परलोक के अदृष्ट विषयों में, वितृष्णस्य-तृष्णा रहित, दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि-दिव्य - स्वर्गादि, पारलौकिक तथा अदिव्य - ऐहिक विषयों के संप्रयोग (प्राप्ति) होने पर भी, विषयदोषदर्शिनः चित्तस्य-विषयों में वैरस्य, नश्वरत्व एवं दुःखरूपत्वादि दोषदर्शी चित्त की जो, प्रसंख्यानबलात्-दोष-विषयक ज्ञान के बल से, अनाभोगात्मिका-भोग के अभाव रूप, हेयोपादेयशून्या-रागद्वेष (त्यागग्रहण) शून्य स्थिति वह, वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्-वशीकारसंज्ञा नामक वैराग्य कहा जाता है।

पर, अपर भेद से वैराग्य दो प्रकार के हैं। उनमें अपर वैराग्य यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा तथा वशीकारसंज्ञा के भेद से चार प्रकार के हैं, ऐसा आगम शास्त्र के जाननेवाले कहते हैं। इन चारों में से प्रत्येक का स्वरूप इस प्रकार का है —"चित्त में जो रागादि कषाय हैं वे चित्तमल कहे जाते हैं। वे ही इन्द्रियों को स्व - स्व विषय में प्रवृत्त कराते रहते हैं। अब आगे प्रवृत्त न करावे।" इस प्रकार की इच्छा से इन रागादि की निवृत्ति (पक) करने के लिये जो इसी पाद के तैंतीसवें

सूत्र से प्रतिपादित मैत्र्यादि भावनानुष्ठान के यत्न का आरम्भ वह यतमानसंज्ञा नामक प्रथम वैराग्य कहा जाता है। उक्त मैत्र्यादि भावनानुष्ठान का यत्न करते करते चिकित्सक के समान "इतने चित्तमल पक्व (निवृत्त) हो चुके हैं, इतने हो रहे हैं, और इतने बाकी हैं।" इस प्रकार का जो निवृत्त तथा विद्यमान चित्तमलों का शेष रहे की निवृत्ति करने के लिये पृथक् पृथक रूप से व्यतिरेक निश्चय वह व्यतिरेकसंज्ञा नामक द्वितीय वैराग्य कहा जाता है। जिस अवस्था में परिपक्व चित्तमल इन्द्रियों को स्व - स्व विषयों की तरफ प्रवृत्त कराने में नितान्त असमर्थ होते हुए कभी-कभी प्रवृत्त कराने के लिये सूक्ष्म रूप से उत्सुक अर्थात् उत्कण्ठित होते रहते हैं उनको मन रूप एक इन्द्रिय में जो व्यवस्थापन वह तृतीय एकेन्द्रियसंज्ञा नामक वैराग्य कहा जाता है। और जिस भूमिका में विवेक ज्ञान के बल से दिव्यादिव्य विषयों में उक्त उत्कण्ठा की भी निवृत्ति होने से तथा रागसहित इन्द्रियां वश में होने से जो उपेक्षा बुद्धि वह वशीकारसंज्ञा नामक वैराग्य कहा जाता है। इसी वशीकारसंज्ञा नामक वैराग्यका उल्लेख प्रकृत सूत्र में किया गया है। इसी में उक्त यतमानसंज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा तथा एकेन्द्रियसंज्ञा नामक तीनों वैराग्य का अन्तर्भाव होने से उनका पृथक् पृथक् उपन्यास (कथन) सूत्रकार ने नहीं किया है। अतएव इनके पृथक् कथन के अभाव से सूत्रकार में न्यूनतादोष नहीं आ सकता है।

चित्त की बाह्य प्रवृत्ति रोकने के लिये एकमात्र वैराग्य ही प्रधान साधन है। अभ्यास के समान वैराग्य में भी एक प्रकार की अद्भुत शक्ति है, जिसके प्रभाव से दुःसाध्य भी इन्द्रिय निग्रह सुसाध्य हो जाता है। मनुष्य चाहता नहीं है, नहीं तो राग की अपेक्षा वैराग्य तो चित्त का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। लोक में भी पुरुष को स्त्री आदि किसी विषय के प्रति दोष-दृष्टि-जन्य वैराग्य होने पर स्वप्न में भी उसकी तरफ फिरके दृष्टि नहीं करता है, तो सकल विषयों में दोष-दृष्टि आदि अति कठिन साधन से प्राप्त वैराग्यवाले विरक्त महात्माओं का चित्त विषय-भोग के लिये कैसे चलायमान हो सकता है? विषय भोग के लिये चित्त चञ्चल न होना ही तो बाह्य प्रवृत्ति का रुकना है। अतः यह सिद्ध हुआ कि, वैराग्य द्वारा चित्त की बाह्य प्रवृत्ति का रुकना सम्भव है, असम्भव नहीं।

परन्तु विषयों में दोष-दृष्टि के बिना वैराग्य प्राप्त होना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अतः विवेक द्वारा विषयों में दोष-दृष्टि प्राप्त करना मुमुक्षु का प्रथम कर्तव्य है। दोष-दृष्टि का प्रकार यह है कि, धन उपार्जन बिना वनिता-विलास आदि ऐहिक भोग प्राप्त होना असम्भव है और धन का उपार्जन, रक्षण तथा वृद्धि आदि करने में महान् दुःख है। इसी प्रकार स्वर्ग भी बहु साधन साध्य होने से, अपने से अधिक ऐश्वर्यवाले के साथ स्पर्द्धा होने से, तथा पुण्य क्षय होने के बाद अधोमुख होकर मर्त्यलोक में पतन होने से-दुःखरूप ही है। इत्यादि दोष-दृष्टि का प्रकार समझना चाहिये। इति ॥ १५ ॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धि-प्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्द्वयं

अपर और पर के भेद से वैराग्य दो प्रकार का है। एवं सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात के भेद से समाधि भी दो प्रकार की है। उनमें क्रमशः अपर-वैराग्य संप्रज्ञात समाधि का और पर वैराग्य, असम्प्रज्ञात समाधि का हेतु है। यह एक प्रकार का सामान्य कार्यकारण-भाव है। परन्तु विशेष रूप से कार्यकारणभाव का विचार किया जाय तो इस प्रकार है—अपर–वैराग्य के दो फल हैं, एक सम्प्रज्ञात समाधि और दूसरा पर-वैराग्य। उनमें सम्प्रज्ञात समाधि अपर-वैराग्य का साक्षात् फल है और पर-वैराग्य सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा, साक्षात् नहीं। एवं सम्प्रज्ञात समाधि के भी दो फल हैं, एक पर वैराग्य और दूसरा असम्प्रज्ञात समाधि। उनमें पर-वैराग्य तो साक्षात् फल है और असम्प्रज्ञात समाधि पर-वैराग्य के द्वारा, साक्षात् नहीं। इस प्रकार एक दूसरे के कार्यकारणभाव का विवेक कर लेना चाहिये। उनमें सम्प्रज्ञात समाधि का हेतु अपर-वैराग्य का लक्षण करके अब क्रम-प्राप्त सम्प्रज्ञात समाधि का फलरूप और असम्प्रज्ञात समाधि का हेतु पर-वैराग्य का लक्षण करते हैं—तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। सूत्र में तत् पद है, और यत् तत् का नित्य सम्बन्ध होने से तत् पद क सम्बन्धी यत् पद का अध्याहार तथा पूर्व सूत्र से वैराग्य पद की अनुवृत्ति करके अन्वयार्थ ऐसा होता है कि—पुरुषख्यातेः–प्रकृति तथा पुरुष-विषयक भेद ज्ञान के उदय होने से, यत्–जो, गुणवैतृष्ण्यम्–सत्त्व गुण के कार्य विवेक ज्ञान में भी तृष्णा का अभाव, तत्–वह, परं वैराग्यम्–पर-वैराग्य कहा जाता है।

इसी प्रकार पूर्व सूत्र में उक्त-अपर-वैराग्य से पर-वैराग्य के भेद को भाष्यकार निर्देश करते हैं—दृष्टेति। दृष्टानुश्रविक विषयदोषदर्शी–ऐहिक, दृष्ट विषयों में तथा पारलौकिक, अदृष्ट विषयों में दोषदृष्टिवाला, विरक्तः–रागरहित एक प्रकार के अपरवैराग्यवाले विरक्त पुरुष होते हैं और, पुरुषदर्शनाभ्यासात्–पुरुषदर्शन अर्थात् विवेकज्ञान के अभ्यास से, तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिः–त्रिगुणात्मक प्रकृति से पृथक् शुद्ध अपरिणामित्वादि ज्ञानरूप पुरुष के विवेक द्वारा आप्यायित अर्थात् पुरुषार्थ समाप्त होने से तृप्ति का अनुभव करने वाला, गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यः-स्थूल, सूक्ष्मकार्यरूप धर्मवाले सत्त्वादि गुणों से, विरक्तः—रागरहित दूसरे प्रकार, के पर-वैराग्यवाले विरक्त पुरुष होते हैं। उन दोनों प्रकार के पुरुषों में इस प्रकार, तद्–वह, द्वयं वैराग्यम्–दो प्रकारका परस्पर भिन्न वैराग्य है। अपर वैराग्य का

वैराग्यम् । तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम् । यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेव मन्यते-प्राप्तं प्रापणीयं,क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति । ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥

स्वरूप बताते हैं—तत्रेति । तत्र–उक्त दोनों वैराग्यों में, यदुत्तरम्–जो उत्तर अर्थात् दूसरा परवैराग्य है, तद्–वह (पर-वैराग्य) रजोलेशरूप मल के निवृत्त होने से, ज्ञानप्रसादमात्रम्–निर्विषय ज्ञान प्रसादरूप है । यस्योदये–जिसके उदय होने पर, प्रत्युदितख्यातिः–निष्पन्न आत्मज्ञानवाले योगी धर्ममेघसमाधिनिष्ठ होने से, एवं मन्यते–अपने मन में ऐसा मानते हैं कि—प्राप्तं प्रापणीयम्–जो कैवल्य मुझे प्राप्त करना था सो प्राप्त हुआ, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः–जो क्षय करने के योग्य अविद्यादि-क्लेश थे वे वासना सहित क्षीण हो गए, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः–एक दूसरे के साथ सम्बद्ध संसारचक्र भी मेरा छिन्न अर्थात् नष्ट हो गया, यस्याविच्छेदात्–जिसके कारण धर्माधर्म समूह के नाश न होने से, जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति–घटीयन्त्र के समान जन्मोत्तर मरण तथा मरणोत्तर जन्मरूप दुःख को प्राणी प्राप्त होते रहते हैं ।

शंका होती है कि–सूत्रकार ने तो गुणवैतृष्ण्य को पर-वैराग्य कहा है और आप (भाष्यकार) ज्ञान-प्रसाद को पर-वैराग्य कह रहे हैं ? अतः सूत्रकार और आपके मत में विरोध प्रतीत होता है ? इस आशङ्का की सम्भावना करके उत्तर भाष्यकार करते हैं ज्ञानस्येति । ज्ञानस्यैव–ज्ञान की ही, पराकाष्ठा–अवधि अर्थात् अन्तिम अवस्था-विशेष, वैराग्यम्–पर-वैराग्य कहा जाता है । हि—क्योंकि, एतस्यैव–इसी पर-वैराग्य का, नान्तरीयकम्–अविनाभावी अर्थात् नियम से होनेवाला, कैवल्यम्–मोक्षरूप फल है । भाव यह है कि, गुणवैतृष्ण्यरूप पर-वैराग्य ही पूर्णावस्था में ज्ञान रूप से परिणत हो जाता है । अतः सूत्र तथा भाष्य में विरोध नहीं है ।

सारांश यह है कि, चित्तवृत्ति का निरोध योग कहा जाता है, जिसका साधन वैराग्य और अभ्यास है । विषयों में दोष-दर्शन से वैराग्य प्राप्त होता है, जिसका स्वरूप रागाभाव है । विवेक ज्ञान के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वह अभ्यास कहा जाता है । वैराग्य से बहिर्मुख वृत्तियाँ अन्तर्मुख होती हैं । और अभ्यास से अन्तर्मुख वृत्तियां स्थितिपद अर्थात् निरोध को प्राप्त होती हैं । इस प्रकार वैराग्य अभ्यास का सहायक है । जैसे जैसे वैराग्य और अभ्यास की अवस्थायें बढ़ती जाती हैं वैसे वैसे योग की भी अवस्थायें बढ़ती जाती हैं, । निखिल अनात्म-वस्तुओं के प्रति जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त होता है, तब अभ्यास भी चित्त को निर्वृत्तिक बना देता है । इसी चित्त के अवस्थाविशेष

अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते संप्रज्ञातः समाधिरिति—

वितर्कविचारानन्दाऽस्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः॥१७॥

को सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इस अवस्था में आगम, अनुमान तथा आचार्य उपदेश के अभ्यास से पुरुष-दर्शनरूप आत्मज्ञान तथा समाधि के अवान्तर फल अणिमादि ऐश्वर्य योगी को प्राप्त होते हैं। इतने ही से वैराग्य और अभ्यास का कार्य समाप्त नहीं हो जाता है, किन्तु जब तक चरम (अन्तिम) ज्ञान प्राप्त न हो जाय तब तक इनका पुरुषार्थ चालू रहता है। यद्यपि इस अवस्था में सभी भोगविषयक वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तथापि उक्त पुरुषख्याति अर्थात् पुरुष दर्शनरूप आत्मज्ञान, जो एक प्रकार का चित्त की सात्त्विक वृत्तिरूप होने से इसका भी निरोध करना कैवल्यार्थी योगी का मुख्य कर्तव्य है। इसलिये इसमें भी दोषदृष्टि करके गुण-वैतृष्ण्य रूप पर वैराग्य प्राप्त किया जाता है। उधर अभ्यास भी चित्त की पूर्ण स्थितिरूप असम्प्रज्ञात योग जिसको प्रसंख्यान योग, निरोध समाधि, निर्बीज समाधि, तथा धर्ममेघ समाधि कहते हैं, उसका सम्पादन कर देता है। यहां आकर वैराग्य और अभ्यास का कर्तव्य समाप्त हो जाता है। क्योंकि, इस अवस्था में पुरुष-दर्शन रूप आत्मज्ञान की अपरोक्ष, तत्त्व-साक्षात्कार रूप से शुद्धि होती है, जिसका स्वरूप इस प्रकार का है कि—पुरुष शुद्ध, अनन्त तथा अपरिणामी है, और उससे विपरीत स्वभाववाली प्रकृति है। इसी परिशुद्ध ज्ञान का व्यवहार योगी जन सत्त्वपुरुषान्यताख्याति, विवेकख्याति तथा प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान इत्यादि शब्दों से करते हैं। इस अवस्था में पर-वैराग्य, असम्प्रज्ञात समाधि तथा उक्त साक्षात्काररूप चरम ज्ञान ये तीनों एक रूप हो जाते हैं। इस अवस्था में योगी कृतकृत्य हो जाता है। यद्यपि चित्त सत्त्व-प्रसाद (ज्ञान) स्वभाव है, तथापि रजोगुण तथा तमोगुण के सम्पर्क से मलिन हो गया है। जब वैराग्य तथा अभ्यासरूप वारिधारा से धुल कर निर्मल हो जाता है तब वह अतिप्रसन्न ज्ञानप्रसादमात्र परिशेष रहता है। रागाभावरूप पर-वैराग्य अपना अधिकरण ज्ञानप्रसाद चित्तस्वरूप होने से ज्ञानप्रसादरूप कहा गया है। इति॥ १६॥

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्यरूप उपाय-द्वय सहित योग का स्वरूप सामान्य रूप से निरूपण करके विशेष रूप से उसका स्वरूप तथा भेद निरूपण करनेवाले सूत्र का अवतरण जिज्ञासारूप से भाष्यकार करते हैं—अथोपायद्वयेनेति। अथ—योग के उपाय अभ्यास-वैराग्य निरूपण के अनन्तर, उपायद्वयेन—उन अभ्यास वैराग्यरूप दोनों उपायों से, निरुद्धचित्तवृत्तेः—जिसकी चित्त की वृत्तियां निरुद्ध हो चुकी हैं उस योगी को, सम्प्रज्ञातः समाधिः—जो सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होता है वह, कथम्—किस प्रकार, उच्यते—शास्त्र में कहा गया है।

वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः । सूक्ष्मो विचारः । आनन्दो ह्लादः । एकात्मिका संविदस्मिता । तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः

उक्त जिज्ञासा की निवृत्ति करते हुए असम्प्रज्ञात समाधि, सम्प्रज्ञात पूर्वक होने से प्रथम सम्प्रज्ञात समाधि के लक्षण तथा भेद का निरूपण सूत्रकार करते हैं--वितर्कविचारानन्दाऽस्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः--वितर्कविचारानन्दाऽस्मितारूपानुगमात्-वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता के स्वरूप के सम्बन्ध से जो चित्तवृत्ति का निरोध होता है वह ध्येयाकार चिन्तन-रूप भावनाविशेष, सम्प्रज्ञातः—सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। क्योंकि, "सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रकर्षेण ज्ञायते ध्येयस्य स्वरूपं येन स सम्प्रज्ञातः" अर्थात् जिसके द्वारा ध्येय का स्वरूप संशय तथा विपर्यय रहित यथार्थ रूप से ज्ञात होता है वह सम्प्रज्ञात कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से ध्येय का चिन्तन रूप भावना-विशेष ही सम्प्रज्ञात योग यद्यपि सामान्य रूप से एक है, तथापि पूर्वोक्त वितर्कादि चारों के सम्बन्ध से वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत अर्थात् सवितर्क, सविचार, सानन्द तथा सास्मित के भेद से चार प्रकार का है। इस सम्प्रज्ञात योग को सविकल्प समाधि भी कहते हैं।

इन चारों का विवरण भाष्यकार पृथक् पृथक् रूप से करते हैं— वितर्क इति। चित्तस्य—चित्त का, आलम्बने-आलम्बनरूप, स्थूल आभोगः—स्थूल पञ्चमहाभूत रूप ग्राह्य विषयक अथवा पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि भगवत्प्रतिमा रूप ग्राह्य-विषयक जो आभोग अर्थात् प्रज्ञारूप भावनाविशेष वह, वितर्कः—वितर्कानुगत समापत्ति अर्थात् सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। सूक्ष्मो विचारः—स्थूल पञ्च महाभूत के कारण सूक्ष्म पञ्चमहाभूत पञ्चतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) रूप ग्राह्य-विषयक भावनाविशेष वह विचारानुगत समापत्ति अर्थात् सविचार सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। आनन्दो ह्लादः—प्रकाशशील सत्त्वप्रधान अहङ्कार के कार्य एकादश इन्द्रियरूप ग्रहण-विषयक जो आभोग (भावनाविशेष) वह सत्त्वस्वरूप आनन्द-विषयक होने से आनन्दानुगत समापत्ति अर्थात् सानन्द सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। एकात्मिका संविदस्मिता—इन्द्रियों के कारण अहङ्कार तथा बुद्धि प्रकृति एवं पुरुष रूप ग्रहीतृ विषयक जो आभोग (भावनाविशेष) वह अस्मिता रूप अहङ्कारादि चतुष्टय (चार) विषयक होने से अस्मितानुगत समापत्ति अर्थात् सास्मित सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। क्योंकि, अस्मितारूप अहंकार से उत्पन्न इन्द्रियों का भी अस्मिता सूक्ष्म रूप है, और वह अस्मिता ग्रहीतृरूप आत्मा के साथ एकात्मिका बुद्धि संविद्रूप है एवं उसमें ग्रहीता आत्मा का अन्तर्भाव होने से ग्रहीतृविषयक सम्प्रज्ञात कहा जाता है। इन चारों सम्प्रज्ञात समाधियों में परस्पर

समाधिः सवितर्कः । द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः । तृतीयो विचार-विकलः सानन्दः ।

चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति । सर्व एते सालम्बनाः समाधयः ॥ १७ ॥

विलक्षणता दिखाते हैं—तत्रेति। तत्र–इन चारों सम्प्रज्ञात समाधियो में, प्रथमः सवितर्कः समाधिः–प्रथम जो सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि है वह, चतुष्टयानुगतः—वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता इन चारों से युक्त है। द्वितीयः सविचारः—द्वितीय जो सविचार सम्प्रज्ञात समाधि है वह, वितर्कविकलः वितर्क रहित अर्थात् विचार, आनन्द तथा अस्मिता इन तीनों से युक्त है। तृतीयः सानन्दः—तृतीय जो आनन्द सम्प्रज्ञात समाधि है वह, विचारविकलः–वितर्क तथा विचार इन दोनों से रहित अर्थात् आनन्द तथा अस्मिता इन दोनों से युक्त है। और चतुर्थः—चतुर्थ जो सास्मित (अस्मितानुगत) सम्प्रज्ञात समाधि है वह, तद्विकलः–वितर्क, विचार तथा आनन्द इन तीनों से रहित, अस्मितामात्रः—केवल अस्मिता से ही युक्त है। अग्रिम असम्प्रज्ञात समाधि से प्रकृत सम्प्रज्ञात समाधि में भेद (अन्तर) दिखाते हैं सर्व एत इति। सर्वे एते समाधयः—ये सब चारो सम्प्रज्ञात समाधियां, सालम्बनाः—सालम्बन तथा सबीज हैं। क्योंकि, इन चारों सम्प्रज्ञात समाधियों में किसी न किसी ध्येय का आलम्बन तथा बीजभूत अज्ञान विद्यमान रहता है। और अग्रिम असंप्रज्ञात समाधि में इन दोनों का अभाव होने से वह निरालम्बन तथा निर्बीज कहा जाता है। इन दोनों समाधियों में यही (सालम्बन, निरालम्बन, सबीज, निर्बीज) भेद हैं।

भाव यह है कि, विषयान्तर परिहारपूर्वक किसी ध्येय पदार्थ में वारंवार चित्त के निवेश को भावना कहते हैं। इस भावना के विषय को भाव्य कहते हैं। योगमत में प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय, पञ्चमहाभूत, पुरुष और ईश्वर; ये छब्बीस तत्त्व माने जाते हैं। ये छब्बीसों तत्व ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीतृ रूप से तीन विभागों में विभक्त हैं। ग्राह्य भी स्थूल, सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का है। भूत भौतिक पदार्थों को स्थूल विषय होने से स्थूल ग्राह्य कहते हैं। सूक्ष्म भूततन्मात्रा को सूक्ष्म विषय होने से सूक्ष्म ग्राह्य कहते हैं। एकादश इन्द्रियों को इनके द्वारा विषय ग्रहण होने से ग्रहण कहते हैं, और अहंकार महत्तत्त्वरूप बुद्धि, प्रकृति तथा पुरुष को विषयों को ग्रहण करनेवाला होने से ग्रहीतृ कहते हैं। जैसे धनुर्विद्या का अभ्यासी क्षत्रिय कुमार प्रथम स्थूल लक्ष्य को वेधन करने का अभ्यास करके पश्चात् सूक्ष्म लक्ष्य को वेधन करने का अभ्यास में प्रवृत्त होता है। वैसे ही

योगाभ्यासी मुमुक्षु पुरुष भी प्रथम स्थूल विषय की भावना का अभ्यास करके पश्चात् सूक्ष्म विषय की भावना में प्रवृत्त होता है। एवं च उक्त स्थूल ग्राह्य पदार्थ वितर्करूप ज्ञान विशेष के विषय होने से वितर्क कहे जाते हैं। एतद् विषयक भावना-वितर्कानुगत ग्राह्य-समापत्तिरूप सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। सूक्ष्म-ग्राह्य-पदार्थ विचाररूप ज्ञान विशेष के विषय होने से विचार कहे जाते हैं। एतद्-विषयक भावना-विचारानुगत ग्राह्य-समापत्तिरूप संप्रज्ञात समाधि कही जाती है। उक्तग्रहण पदार्थ-विषयक भावना-विचारानुगत ग्राह्य-समापत्तिरूप संप्रज्ञात समाधि कही जाती है। उक्त ग्रहण पदार्थ-विषयक भावना-सत्त्व-स्वरूप आनन्द-विषयक होने से आनन्द कही जाती है। एत-द्विषयक भावना आनन्दानुगत ग्रहण-समापत्तिरूप संप्रज्ञात समाधि कही जाती है। और उक्त ग्रहीतृ पदार्थ अहमस्मि इत्याकारक अस्मितारूप ज्ञान विशेष के विषय होने से अस्मिता कहे जाते हैं। एतद्विषयक भावना अस्मितानुगत ग्रहीतृ समापत्तिरूप संप्रज्ञात समाधि कही जाती है। इस प्रकार धीरे धीरे अभ्यासक्रम बढ़ाने से अन्त में प्रकृति-पुरुष भेद ज्ञानरूप विवेकख्याति द्वारा कैवल्य पद प्राप्त होता है।

यहां पर इतना विशेष और भी समझ लेना चाहिये कि, जिस भावना में पञ्चभूतों का क्रम तथा धर्म का पूर्वापरीभाव अर्थात् किस भूत के पश्चात् कौन भूत उत्पन्न हुआ है और किस भूत में कौन कौन धर्म रहते हैं, इत्यादि का अनुसन्धान विशेष रूप से भासता हो वह (भावना) सवितर्क समापत्ति कही जाती है। और जिसमें उक्त अनुसन्धान बिना केवल वस्तुमात्र भासता हो वह निर्वितर्क समापत्ति कही जाती है। चाहे जो हो पर ये दोनों समापत्तियां वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञात ही कही जाती हैं। इसी प्रकार सविचार समापत्ति तथा निर्विचार समापत्ति भी दो प्रकार समझनी चाहिये और ये दोनों भी विचारानुगत सम्प्रज्ञात ही कही जाती हैं। इन सबका विचार विस्तार से इसी पाद के ४२-४३-४४ इन सूत्रों पर किया जायगा।

यद्यपि सम्प्रज्ञात समाधि-काल में चित्तवृत्तियों के निरोध होने से बाह्य साधन से पूर्वोक्त स्थूलादि पदार्थ-विषयक लौकिक ज्ञान असम्भव है, तथापि समाधि-जन्य अलौकिक सन्निकर्ष से अर्थात् योगज लक्षणाप्रत्यासत्ति से स्थूल सूक्ष्म सर्व पदार्थ-विषयक साक्षात्कार रूप ज्ञान योगियों को होता है। अतः इस अवस्था में योगी सर्वज्ञ कहे जाते हैं। पूर्वोक्त चारों समापत्तियों की संज्ञा के साथ अनुगत शब्द में अनु उपसर्ग के महिमा से उक्त अर्थ प्रतीत होता है। अर्थात् पूर्वोक्त वितर्क रूप ज्ञान विशेष के साथ जन्य-जनक भाव सम्बन्ध से सम्बद्ध जो समाधि वह वितर्कानुगत अर्थात् सवितर्क कहा जाता है। इसी प्रकार विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भी समझना चाहिये। पूर्वोक्त भाष्य में सवितर्क समाधि को चतुष्टयानुगत, सविचार को त्रितयानुगत, सानन्द को द्वितयानुगत तथा सास्मित को एकानुगत अर्थात् अस्मितामात्र कहा है।

इसका भाव यह है कि; जैसे घटादि कार्य में मृत्तिका अनुगत है, वैसे ही निखिल कार्यों में कारण अनुगत रहता है, यह नियम है। स्थूल पञ्चभूत वितर्क, सूक्ष्म पञ्चभूत विचार, इन्द्रियां आनन्द, और अहंकार आदि (अहंकार, बुद्धि तथा पुरुष इनका समुदाय) अस्मिता कही जाती है। प्रकृति का कार्य बुद्धि-बुद्धि का कार्य अहंकार, अहंकार का कार्य इन्द्रियां तथा सूक्ष्म पञ्चभूत, और सूक्ष्म पञ्चभूत के कार्य स्थूल पञ्चभूत हैं। यह सृष्टि-प्रक्रिया है। अतः अपना कार्य इन्द्रियों तथा सूक्ष्म पञ्चभूतों के द्वारा अहंकार से और साक्षात् सूक्ष्म पञ्चभूतों से अनुगत होने से स्थूल पञ्चभूत वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों शब्दों से व्यवहृत होते हैं। इसी लिये स्थूल पञ्चभूतों की भावना (ध्यान) करने से फलतः चारों की भावना प्राप्त हो जाती है। अत एव भाष्य में स्थूल पञ्चभूत विषयक भावना चतुष्टयानुगत कही गई है। एवं सविचार रूप सूक्ष्म पञ्चभूत विषयक भावना त्रितयानुगत है। क्योंकि, कारण में कार्य अनुगत न होने से इस भावना में स्थूल पञ्चभूतों का भान नहीं होता है। अतः यह वितर्क से रहित है। सानन्द रूप इन्द्रिय विषयक भावना द्वितयानुगत है। क्योंकि, इस भावना में स्थूल-सूक्ष्म पञ्चभूतों का भान नहीं होता है। अतः यह वितर्क तथा विचार से रहित है। और सास्मित रूप अहंकार, बुद्धि, प्रकृति तथा पुरुष विषयक भावना अस्मितामात्र एकानुगत है। क्योंकि, इस भावना में स्थूल सूक्ष्म पञ्चभूत तथा इन्द्रियों का भान नहीं होता है। अतः यह वितर्क, विचार तथा आनन्द से रहित है।

पूर्वोक्त चारों समाधियां सालम्ब तथा सबीज हैं, यह पहले कहा गया है। क्योंकि, इनमें किसी न किसी आलम्ब की आवश्यकता रहती है, एवं इस अवस्था में सकल अनर्थ का बीजभूत अज्ञान भी विद्यमान रहता है। अतएव वायुपुराण में इनका फल मुक्ति से भिन्न अनित्य संसार ही कहा गया है—

दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वभिमानिकाः॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः।
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते॥

अर्थात् मनुष्य की वर्षगणना के अनुसार ४२२०००० वर्ष की एक चतुर्युगी होती है। और २५५६५ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है। जो इन्द्रिय चिन्तक हैं (इन्द्रियों को ही आत्मा मान कर ध्यान धरनेवाले हैं), वे शरीर छूटने के बाद दश मन्वन्तर तक अपने चिन्त्य इन्द्रियों में ही लीन रह कर फिर संसार में जन्ममरणादि दुःख को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार शत मन्वन्तर भूतचिन्तक, सहस्र मन्वन्तर अहंकार-चिन्तक, दश सहस्र मन्वन्तर बुद्धि-चिन्तक, और लक्ष मन्वन्तर तक प्रकृति-चिन्तक

अथासंप्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किं स्वभाव इति—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

अपने अपने ध्येय में लीन रह कर फिर संसार में आते हैं। क्योंकि, इनकी इतने ही काल पर्यन्त लीन रहने की अवधि है। अतः पूर्वोक्त वितर्कादि चारों समाधियां अनात्म-इन्द्रियादि में आत्म-भावना रूप अज्ञानमूलक होने से समाधि नहीं किन्तु समाध्याभास हैं। इसलिये उक्त इन्द्रियादि विषयक भावना न कर, आत्मविषयक भावना में मुमुक्षु को तत्पर होना चाहिये। क्योंकि, जो असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा निर्गुण पुरुष की भावना करता है, उसके लिये कालसंख्या नहीं है, किन्तु वह स्वस्वरूप पुरुष को प्राप्त होकर जन्ममरण से रहित हो जाता है।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः ॥ १ ॥ ४१ ॥ इस सूत्र में गृहीतृ, ग्रहण, ग्राह्य रूप से समाधि के तीन भेद कहे हैं। उनमें तीसरी जो ग्राह्य समापत्ति है, उसका ही स्थूल तथा सूक्ष्म दो भेद करके प्रकृत सूत्र में वितर्कादि चार भेद कथन किये हैं। इसलिये सम्प्रज्ञात समापत्ति चार ही प्रकार की है, सात प्रकार की नहीं। अतएव मैंने भी इन दोनों सूत्रों का भाव लेकर समापत्ति आदि शब्दों से सम्प्रज्ञात समाधि का निरूपण किया है। इति ॥ २७ ॥

क्रमप्राप्त असम्प्रज्ञात समाधि का अवतरण करने के लिये भाष्यकार प्रश्न उपस्थित करते हैं-अथासप्रज्ञात इति। अर्थात् अथ संप्रज्ञात समाधि के निरूपण के पश्चात्, असंप्रज्ञातः समाधिः—असंप्रज्ञात समाधि, किमुपायः—कौन उपाय(साधन) वाला तथा किंस्वभावः—किस स्वभाव (स्वरूप) वाला है? अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि के साधन कौन हैं? और उसका स्वरूप किस प्रकार का है? इस प्रश्न का उत्तर सूत्र से देते हैं—विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। इस सूत्र में 'विराम' शब्द से संप्रज्ञात-कालिक भावना रूप वृत्तियों का अभाव, 'प्रत्यय' शब्द से उन वृत्तियों के अभाव का कारण पर-वैराग्य, 'अभ्यास' शब्द से पर वैराग्य का जनक वारंवार प्रयत्नविशेष रूप अभ्यास और 'संस्कारशेष' शब्द से निखिल वृत्तियों का निरोध लिया गया है। एवञ्च 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः' इस पद से असंप्रज्ञात समाधि का उपाय तथा "संस्कारशेषोऽन्यः" इन दोनों पदों से स्वरूप कथन किया गया है। तथाच विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः—पूर्वोक्त वितर्कादि भावनारूप वृत्ति के विराम अर्थात् अभाव के प्रत्यय अर्थात् कारणरूप जो परवैराग्य का अभ्यास तत्पूर्वक जो, संस्कारशेषः—निर्वृत्तिक अर्थात् वृत्तिहीन संस्कार स्वरूप से चित्त का अवस्थान अर्थात् स्थितिविशेष वह, अन्यः—संप्रज्ञात से भिन्न असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है। अर्थात् जैसे भर्जित बीजअङ्कुर उत्पन्न करने में असमर्थ होता हुआ केवल

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः। तस्य परं वैराग्यमुपायः। सालम्बनोऽभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते। स चार्थशून्यः। तदभ्यासपूर्वकं हि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवती-

---

स्वरूपमात्रशेष कहा जाता है, वैसे ही निरुद्ध चित्त भी वृत्तिरूप अङ्कुर उत्पन्न करने में असमर्थ होता हुआ केवल स्वरूपमात्रशेष अर्थात् संस्कारशेष कहा जाता है। चित्त की यह संस्कारशेष अवस्था प्राप्त होना सहज नहीं है, किन्तु पूर्वोक्त पर-वैराग्य के सतत अभ्यास से प्राप्त होती है। अतः पूर्वोक्त पर-वैराग्य के निरन्तर अभ्यास से जो संस्कारशेषरूप निःशेष वृत्तियों का निरोध वह संप्रज्ञात योग से भिन्न असंप्रज्ञात योग कहा जाता है, यह निष्कर्ष हुआ।

सूत्रगत संस्कारशेषरूप मध्यम पद का विवरण भाष्यकार करते हैं- सर्वेति। सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये-सर्व वृत्तियों के अस्त (निरुद्ध) हो जाने पर जो, संस्कारशेषः-वृत्तिरहित, निरोधश्चित्तस्य-चित्त की स्थित रूप निरोध वह, समाधिरसम्प्रज्ञातः असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है। साधनबोधक "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः" इस प्रथम पद का व्याख्यान करते हैं—तस्येति। तस्य-उस असंप्रज्ञात समाधि का, परं वैराग्यम्-पूर्वोक्त गुणवैतृष्ण्यरूप पर-वैराग्य, उपायः-उपाय अर्थात् साधन है, अपर वैराग्य नहीं। क्योंकि सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते। हि-इस कारण से कि, सालम्बनोऽभ्यासः—ध्येयरूप आलम्बन अर्थात् आश्रय सहित जो अपर-वैराग्य का अभ्यास वह, तत्साधनाय-असंप्रज्ञातरूप निरोध समाधि के साधन होने में, न कल्पते-समर्थ नहीं हो सकता है, इति--अतः, विरामप्रत्ययः-वितर्कादि भावना के अभाव का हेतु पर-वैराग्य जो, निर्वस्तुकः-निरालम्ब है वह, आलम्बनीक्रियते-आलम्बन (आश्रय) किया जाता है। अर्थात् निर्वस्तुक जो पर-वैराग्य वही असंप्रज्ञात समाधि का साधन बनाया जाता है। शङ्का होती है कि, पर-वैराग्य निर्वस्तुक होने से असंप्रज्ञात समाधि के आश्रय में हेतु कैसे हो सकता है? इसका समाधान करते हैं—स चार्थशून्यः। स च-असंप्रज्ञात समाधि भी, अर्थशून्यः—ध्येयरूप अर्थ शून्य है, निर्वस्तुक ही है। अतः निर्वस्तुक होते हुए भी पर-वैराग्य असंप्रज्ञात समाधि भी निर्वस्तुक होने से उसका हेतु हो सकता है। सूत्रार्थ का उपसंहार करते हैं-तदभ्यासपूर्वकमिति। हि-क्योंकि, तदभ्यासपूर्वकम्-पर-वैराग्य के अभ्यासपूर्वक, चित्तम्-चित्त, निरालम्बनम्-निराश्रय होता हुआ; अभावप्राप्तमिव भवति-वृत्तिरूप कार्यको न कर सकने के कारण अभाव को प्राप्त के समान अर्थात् मृतक के सदृश हो-जाता है, इत्येषः—इस

त्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः ॥ १८ ॥

स खल्वयं द्विविधः, उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च । तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति ।

प्रकार का यह, निर्बीजः—अविद्यात्मक क्लेशरूप बीज रहित, समाधिरसंप्रज्ञातः—असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है । यह सूत्र का फलितार्थ हुआ ।

भाव यह है कि, पूर्वोक्त अपर-वैराग्य के अभ्यास, बहिर्मुख विषय वृत्ति के निरोध पूर्वक ध्येयाकार अन्तर्मुख वृत्ति की स्थिति रूप संप्रज्ञात समाधि का हेतु है । अतः वितर्क आदि ध्येयाकार वृत्ति रूप संप्रज्ञात समाधि का अपर-वैराग्य साधक है, बाधक नहीं । इसी लिये उक्त ध्येयाकार वृत्ति के निरोध में अपर वैराग्य कारणभूत नहीं बन सकता है, और उक्त संप्रज्ञात कालिक ध्येयाकार वृत्ति का निरोध ही तो असंप्रज्ञात समाधि है । अत एव अपर वैराग्य का अभ्यास असंप्रज्ञात समाधि का हेतु नहीं कहा गया है । और दूसरा यह भी कारण है कि, सवस्तुक अपर वैराग्य, सालम्ब-सम्प्रज्ञात समाधि के सदृश होने से उसका हेतु हो सकता है; परन्तु असंप्रज्ञात-समाधि निरालम्ब होने से सवस्तुक अपर-वैराग्य उसका सदृश नहीं, अतः उसका हेतु नहीं हो सकता है और पर-वैराग्य निर्वस्तुक है, अतः निरालम्ब अर्थशून्य, असंप्रज्ञात समाधि के सदृश होने से इसी का अभ्यास असंप्रज्ञात समाधि का हेतु कहा गया है । इसी पर वैराग्य के अभ्यास से चित्त निरालम्ब होता हुआ अभाव प्राप्त के समान हो जाता है । यही निर्बीज समाधि कही जाती है। क्योंकि इस अवस्था में जन्म-मरण का बीजभूत अविद्या का सर्वथा अभाव हो जाता है । इसी समाधि को धर्ममेघ समाधि भी कहते हैं । क्योंकि, जैसे मेघ जल की वर्षा कर सबको शान्त करता है, वैसे ही यह समाधि भी ब्रह्मानन्द अमृतरूप जल की वर्षा करके योगी को शान्त करता है । इस अवस्था में योगी का चित्त अत्यन्त निर्वृत्तिक हो जाता है । इस अवस्था के योगी का ज्ञान तुर्यगा नामकी सप्तमभूमिकावाला कहा जाता है । इस भूमिका में ज्ञानप्रसाद रूप पर-वैराग्य, असंप्रज्ञात समाधि तथा आत्मा एक रूप हो जाते हैं और ऐसा ज्ञानवाला योगी ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है । और यही अवस्था योगी की कर्तव्य समाप्ति रूप कृतकृत्यता कही जाती है । ऐसे ही महापुरुष के दर्शन से इतर जीवों का भी कल्याण होता है । इति ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त संस्कारशेष रूप निरोध-समाधि वक्ष्यमाण भेद से दो प्रकार की हैं । उनमें से एक तो मुमुक्षु को उपादेय है और दूसरी हेय । उनमें हेय रूप निरोध-समाधि का लक्षण सुलभ जान कर "सूचीकटाहन्याय" से सूत्रकार ने प्रथम किया है । उस सूत्र का व्याख्यान भाष्यकार कुछ वाक्यों को सूत्र के साथ

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९॥

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः ।

ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाके तथाजातीयकमतिवाहयन्ति । तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥ १९ ॥

जोडते हुए इस प्रकार करते हैं–स खल्विति । स खल्वयम्-वह निरोध समाधि, द्विविधः–दो प्रकार का है–उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च–एक उपाय-प्रत्यय अर्थात् पूर्वोक्त पर वैराग्य तथा अग्रिम वक्ष्यमाण श्रद्धादि साधन जन्य, और दूसरा भवप्रत्यय अर्थात् संसार का कारण अविद्या-जन्य है, तत्र–उन दोनों में, योगिनां भवति–योगियों को जो वृत्तिनिरोध प्राप्त होता है वह, उपायप्रत्ययः–उक्त उपायजन्य निरोध-समाधि कही जाती है और. विदेहप्रकृतिलयानाम्-विदेह नामक उपासकों को तथा प्रकृति-लय नामक उपासकों को जो वृत्तिनिरोध प्राप्त होता है वह, भवप्रत्ययः–अविद्याजन्य निरोध समाधि कही जाती है ।

सूत्रार्थ भाष्यकार स्वयं करते हैं–विदेहानामिति । विदेहानां देवानाम्–षाट्-कौषिक शरीर रहित देवभाव प्राप्त विदेह नामक उपासकों का जो वृत्तिनिरोध वह, भवप्रत्ययः–अविद्या-जन्य भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है । हि—क्योंकि, ते—पूर्वोक्त विदेह नामक उपासक, स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन–अपना संस्कार मात्र शेष चित्त के द्वारा, कैवल्यपदमिव–मोक्षपद के समान पद को. अनुभ-वन्तः–अनुभव करते हुए अर्थात् प्राप्त करते हुए, स्वसंस्कारविपाके–तदनुसार नियत अवधि के पश्चात् उक्त संस्कार के विपाक होने पर, तथाजातीयकम्–उस प्रकार के संस्कार को, अतिवाहयन्ति–अतिक्रमण कर जाते हैं, अर्थात् फिर संसार में ही प्रवेश करते हैं । तथा–इसी प्रकार, प्रकृतिलयाः–पूर्वोक्त प्रकृतिलय नामक उपासक, साधिकारे चेतसि–कार्यारम्भ रूप अधिकार सहित चित्त के, प्रकृतिलीने–अपने कारण प्रकृति में लीन होने पर, कैवल्यपदमिव–मोक्ष पद के समान पद को, अनुभ-वन्ति–अनुभव करते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं । वे कैवल्य पद के समान पद को प्राप्त तभी तक रहते हैं–यावत् चित्तम्–जबतक उनका चित्त, अधिकारवशात्–कार्यारम्भ रूप अधिकार के बल से, न पुनरावर्त्तते–प्रकृति से पृथक् होकर फिर संसार में नहीं आता है ।

भाव यह है कि—"भवन्ति जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या" "प्रतीयन्ते उत्पद्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति प्रत्ययः कारणम्" "भवोऽविद्या प्रत्ययः कारणं यस्य वृत्तिनिरोधस्य स भवप्रत्ययः"। इस व्युत्पत्ति से जो अविद्याजन्य वृत्तिनिरोध वह भवप्रत्यय कहा जाता है। क्योंकि, देवभाव को प्राप्त विदेह नामक उपासकों का तथा प्रकृतिलय नामक उपासकों का जो वृत्तिनिरोध उसका कारण अविद्या है। कारण कि पञ्चभूत तथा एकादश-इन्द्रिय रूप अनात्मपदार्थों में से किसी एक में आत्मबुद्धि करके जो उपासना करते हैं, वे विदेह कहे जाते हैं और प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा रूप अनात्म-पदार्थों में से किसी एक में आत्म-बुद्धि करके जो भावना करते हैं, वे प्रकृतिलय कहे जाते हैं और अनात्म में आत्म-बुद्धि ही तो अविद्या कही जाती है। अत एव विदेह उपासकों का तथा प्रकृतिलय-उपासकों का जो संस्कारशेष-रूप वृत्तिनिरोध वह भवप्रत्यय अर्थात् अविद्याजन्य ही है, यह सिद्ध हुआ।

अथवा "भूयते उत्पद्यते इति भवः संसारः, भवस्य संसारस्य प्रत्ययः कारणमिति भवप्रत्ययः" इस विग्रह से संसार का कारण जो वृत्तिनिरोध वह भवप्रत्यय कहा जाता है। ऐसा वृत्तिनिरोध पूर्वोक्त विदेह तथा प्रकृतिलय नामक उपासकों का है। क्योंकि, उनका वृत्तिनिरोध सावधिक होने से अमुक काल तक ही रहता है। काल व्यतीत होने पर उनका चित्त साधिकार होने से वे फिर जन्ममरणप्रवाहरूप संसार में आते हैं अर्थात् मुक्त नहीं होने पाते हैं। अतः उनका संस्कारशेषरूप वृत्तिनिरोध भवप्रत्यय अर्थात् जन्ममरणप्रवाहरूप संसार का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं। अतएव यह भवप्रत्ययरूप वृत्तिनिरोध मुमुक्षु के लिये उपादेय नहीं। किन्तु सर्वथा हेय है।

जो विवेकज्ञानयुक्त चित्त प्रकृति में लीन होता है, वह निरधिकार होने से फिर संसार में नहीं आता है, और जो सुषुप्ति प्रलयादि में विवेक ज्ञान रहित चित्त प्रकृति में लीन होता है, वह साधिकार होने से फिर संसार में आता है, यह नियम है। उपायप्रत्यय नामक योगवाले योगियों का चित्त विवेकज्ञानयुक्त एवं निरधिकार होकर प्रकृति में लीन होता है। अतः वह चित्त फिर संसार में नहीं आता है, और अविवेकी पुरुषों का चित्त विवेकज्ञान रहित एवं साधिकार होकर प्रकृति में लीन होता है। अतः वह चित्त फिर संसार में आता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त भवप्रत्यय नामक योगवाले योगियों का चित्त भी विवेकज्ञान रहित एवं साधिकार होकर प्रकृति में लीन होता है। अतः वह भी फिर संसार में आता है। जैसे, वर्षाऋतु में उत्पन्न मण्डूक का देह वर्षाऋतु के बीतने पर मृत्तिकाभाव को प्राप्त होता है और वर्षाऋतु के फिर आने पर मृत्तिकाभाव से विमुक्त होकर फिर मण्डूकभाव को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही विदेह तथा प्रकृतिलय योगियों का चित्त भी देह छूटने के बाद प्रकृति में लयभाव को प्राप्त होने पर भी पूर्व

वायुपुराणके श्लोक में उक्त अवधि के समाप्त होने पर प्रकृतिभाव से विमुक्त होकर फिर संसार में आ जाता है। अतएव वह योगजिज्ञासुओं को हेय कहा गया है।

विदेहों तथा प्रकृतिलयों के शरीरपात के अनन्तर जो कैवल्यपद के समान पद-वाली अवस्था प्राप्त होती है उसको अवृत्तिक होने से कैवल्य के साथ साम्य और सा-धिकार संस्कारशेषरूप होनेसे वैषम्य समझना चाहिये। और उपायप्रत्यय तथा भव प्रत्यय रूप दोनों असंप्रज्ञात समाधियों में संस्कारशेषत्व साम्य और क्रमशः जन्माभाव तथा पुनर्जन्मरूप वैषम्य समझना चाहिये। अतएव एक उपादेय और दूसरा हेय कहा गया है।

विज्ञानभिक्षु ने प्रकृत सूत्र के योगवार्तिक में यह कहा है कि—सूत्र में भवपद जन्मार्थक है, विदेहप्रकृतिलयों को योग के उपाय के अनुष्ठान विना ही जन्ममात्र से असंप्रज्ञात समाधि का लाभ हो जाता है, और अधिकार समाप्त होने के पश्चात् वे (विदेह और प्रकृतिलय) मुक्त हो जाते हैं, इत्यादि। सो भाष्यविरुद्ध होने से सर्वथा उपेक्षणीय है। क्योंकि, इसी सूत्र की अवतरणिका में भाष्यकार ने यह कहा है कि, "उपायप्रत्ययो योगिनां भवति" अर्थात् योगियों का वृत्तिनिरोध परवैराग्य आदि उपायजन्य है। इस विशेष कथन से स्पष्ट है कि, इनसे अन्य जो भवप्रत्यय नामक वृत्तिनिरोध है, वह योगियों को उपादेय नहीं किन्तु हेय है। इस उपाय प्रत्यय की उपादेयता तथा भवप्रत्यय की हेयता मोक्षजनकत्व और मोक्षाजनकत्व प्रयुक्त ही हो सकती है। यदि विज्ञानभिक्षु के "विदेहाः प्रकृतिलया अपि मुच्यन्ते" इस कथना-नुसार दोनों में ही मोक्षजनकता हो तो भाष्यकार का एक की उपादेयता और दूसरे की हेयता का कथन असंगत हो जायगा।

श्रीवाचस्पति मिश्र ने इन दोनों का विभाग इस प्रकार किया है कि—योगियों का जो पर वैराग्य आदि उपायजन्य उपायप्रत्यय रूप निरोध है वह मोक्षजनक होने से उपादेय है और विदेह प्रकृतिलयों का जो प्रकृति आदि अनात्म-पदार्थ में आत्मभावना रूप अज्ञानजन्य भवप्रत्ययरूप निरोध है वह मोक्षजनक नहीं होने से हेय है। विचार दृष्टि से देखने पर श्रीवाचस्पतिमिश्र का मत भाष्यानुसारी होने से रम्य प्रतीत होता है।

"कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम्" अर्थात् जब तक अधिकार के सामर्थ्य से चित्त की पुनरावृत्ति नहीं होती तभी तक वे कैवल्य पद के समान पद को अनुभव करते हैं। इस भाष्य से यह स्पष्ट है कि, विदेह तथा प्रकृतिलयों को कैवल्य प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु अधिकार समाप्त होने पर पुनरावृत्ति ही होती है। अतः "विदेह प्रकृतिलय अधिकार समाप्ति के बाद मुक्त होते हैं" यह विज्ञानभिक्षु का कथन अपेशल (अयुक्त) ही प्रतीत होता है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति ।

इसी पाद के "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" इस सूत्र पर भाष्यकार ने कहा है कि, "अथवा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य" अर्थात् जैसे प्रकृतिलय को उत्तर बन्ध-कोटि की सम्भावना है वैसे ईश्वर को नहीं। इससे भी प्रकृतिलय की पुनरावृत्ति प्रयुक्त उत्तर जन्म-मरण रूप बन्धकोटि विदित होती है। इससे भी विज्ञानभिक्षु का उक्त कथन भ्रान्तिमूलक ही प्रतीत होता है।

'भव नाम अविद्या का है' इस वाचस्पति मिश्र की उक्ति को असंगत बताते हुए विज्ञानभिक्षु ने हेतु दिया है कि, 'अज्ञानी को पर-वैराग्य होना असम्भव है।' वाचस्पति मिश्र पर इस प्रकार का उनका आक्षेप भी बुद्धिमन्दता का द्योतक है। क्योंकि, भाष्यकार ने पर वैराग्य रूप उपायजन्य समाधि के दो भेद नहीं कहे हैं, किन्तु संस्कारशेष रूप निरोध समाधि के दो भेद कहे हैं।

सांख्यप्रवचन भाष्य में स्वयं विज्ञानभिक्षु ने विदेहप्रकृतिलयों को पुनः संसारापत्ति प्रतिपादन किया है। अतः विज्ञानभिक्षु की स्व-उक्ति तथा पूर्वोक्त भाष्य के साथ विरोध होने से श्रीवाचस्पति मिश्र पर विज्ञानभिक्षु का उक्त पर्यनुयोग (आक्षेप) अकारण द्वेषमूलक ही ज्ञात होता है। अलम्।

इतना और भी विशेष समझना चाहिये कि, पूर्वोक्त ग्राह्य-ग्रहण विषयक समापत्तिवाले योगियों को विदेह कहते हैं और ग्रहीतृविषयक समापत्तिवाले योगियों को प्रकृतिलय कहते हैं। इति ॥ १९ ॥

इस प्रकार संस्कारशेष रूप निरोध समाधि का दो प्रकार से निर्देश किया गया। भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय; उनमें भव प्रत्यय का निरूपण करके योगियों को उपादेय जो उपायप्रत्यय उसका निरूपण उपायक्रम से करते हैं—श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। सूत्र में श्रद्धा शब्द का उत्कटेच्छा (अभिरुचि), वीर्य शब्द का योगविषयक उत्साह (प्रयत्न), स्मृति शब्द का एकतानतारूप ध्यान, समाधि शब्द का संप्रज्ञात योग, प्रज्ञा शब्द का ज्ञानाधिक्य और इतर शब्द का पूर्वोक्त विदेह तथा प्रकृतिलय उपासकों से भिन्न योगियों का ग्रहण है। तथाच विदेहप्रकृतिलयों से भिन्न योगियों को जो संस्कार शेष रूप निरोध समाधि प्राप्त होती है वह, श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः-श्रद्धापूर्वक, वीर्यपूर्वक, स्मृतिपूर्वक, समाधिपूर्वक और प्रज्ञापूर्वक होता है, अर्थात् श्रद्धादि उपायजन्य होता है। इसी अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—उपायेति। योगियों को संस्कारशेषरूप निरोध समाधि

श्रद्धा चेतसः संप्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते।

स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य

प्राप्त होती है वह उपायप्रत्यय नामक निरोध समाधि कही जाती है। भाष्यकार ने इस पंक्ति को पूर्व सूत्र की अवतरणिका के रूप में लिखी है—फिर भी प्रकृत सूत्र के अर्थ के साथ सम्बन्ध करने के लिये दूसरी बार यहां लिखी है।

शङ्का होती है कि, पूर्वोक्त इन्द्रियादि चिन्तक विदेहप्रकृतिलय नामक उपासक भी तो श्रद्धायुक्त होते हैं, तो उनका वृत्तिनिरोध श्रद्धादि उपायजन्य क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—श्रद्धेति। श्रद्धा नाम चित्त के संप्रसाद (योगविषयक चित्त की प्रसन्नता) का है, जो आगम, अनुमान तथा आचार्य - उपदेश से ज्ञात यथार्थ वस्तु-विषयक इच्छा - विशेष है, जिसको अभिरुचि, रति तथा उत्कटेच्छा कहते हैं। वह इन्द्रियादि अनात्म - पदार्थ में आत्माभिमानियों को सम्भव नहीं; क्योंकि, उनकी अभिरुचि व्यामोहमूलक होने से असंप्रसादरूप है, संप्रसादरूप नहीं। यदि कहें कि, योगियों की अभिरुचि ही श्रद्धा क्यों कही जाती है ? तो इसका उत्तर देते हैं—सेति। अर्थात् सा—वह श्रद्धा, कल्याणी--कल्याण करने में समर्थ, जननी इव--माता के समान, योगिनम्—योगीजन को जन्मादि अनर्थ से, पाति--रक्षा करती है। अतः मोक्षहेतुक होनेसे योगियों की अभिरुचि का ही नाम श्रद्धा है न कि विदेहप्रकृतिलयों की; क्योंकि, अधिकार समाप्ति के पश्चात् पुनरावृत्ति होने से उनकी श्रद्धा कल्याण का हेतु नहीं। वह पूर्वोक्त इच्छाविशेष अपने दृश्यमान प्रयत्न को उत्पन्न करता है, जिसको उत्साह और वीर्य भी कहते हैं। इस बात को कहते हैं—तस्येति। हि- क्योंकि, तस्य--उस, श्रद्दधानस्य—श्रद्धालु, विवेकार्थिनः--विवेकाभिलाषी योगी को, वीर्यम्--प्रयत्नात्मक उत्साह, उपजायते--उत्पन्न होता है। प्रयत्न भी सविषयक पदार्थ होने से वह भी अपना विषय स्मृति को उत्पन्न करता है। इसको कहते हैं–समुपजातवीर्यस्येति। समुपजातवीर्यस्य–उक्त प्राप्त वीर्य योगी को, स्मृतिः—एकतानता रूप ध्यान, उपतिष्ठते—प्राप्त होता है। ध्यान के पश्चात् उसका (ध्यान का) फल चित्तस्थिरता प्राप्त होती है। इसको कहते हैं-स्मृत्युपस्थाने चेति। च—और, स्मृत्युपस्थाने—उक्त ध्यान प्राप्त होने पर, चित्तम्-योगी का चित्त, अनाकुलम्—विक्षेप रहित होता हुआ, समाधीयते—समाहित हो जाता है। अर्थात् उस अवस्था में योगी का चित्त मुख्य योग असंप्रज्ञात के अङ्ग संप्रज्ञात समाधि से युक्त होता है। साधन पाद के २९ वें सूत्र में प्रतिपादित यम-नियमादि के

प्रज्ञाविवेक उपावर्तते। येन यथार्थं वस्तु जानाति। तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति।

ते खलु नव योगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति। तद्यथा मृदूपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपाय इति।

बिना संप्रज्ञात योग की प्राप्ति असंभव होने से वह भी संप्रज्ञात से उपलक्षित समझना चाहिये। अर्थात् इस अवस्था में योगी यम, नियमादि अखिल योगाङ्ग सपन्न संप्रज्ञात समाधि से युक्त होता है। इसका निर्देश करते हैं—समाहितेति। समाहितचित्तस्य—उक्त समाधिनिष्ठ योगी को, प्रज्ञाविवेकः—प्रज्ञाविवेक अर्थात् बुद्धिप्रकर्ष (ज्ञान का आधिक्य), उपावर्त्तते—प्राप्त होता है, येन—जिस प्रज्ञाविवेक रूप ज्ञान के आधिक्य से, यथार्थं वस्तु जानाति-पदार्थ को यथार्थ रूप से योगी जानता है। अर्थात् इस अवस्था में योगी स्थूल, सूक्ष्मात्मक निखिल वस्तु का योगज लक्षणाप्रत्यासत्ति से साक्षात्कार करता है। संप्रज्ञात समाधिपूर्वक असंप्रज्ञात समाधि की निष्पत्ति होती है। इस बात को बताते हैं तदभ्यासादिति। अर्थात् तदभ्यासात्—विवेक ज्ञान के अभ्यास से, च—और, तद्विषयाद् वैराग्यात्-विवेक ज्ञान विषयक ज्ञानप्रसाद रूप पर वैराग्य के उदय होने से, असंप्रज्ञातः समाधिर्भवति—योगी को असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। सारांश यह है कि, इतने साधन प्राप्त होने पर असंप्रज्ञात समाधि का लाभ होता है। इस प्रकार श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, संप्रज्ञात समाधि तथा प्रज्ञा, इन उपायों से जो संस्कार शेष रूप निरोध समाधि योगियों को प्राप्त होती है, वह उपाय प्रत्यय नामक असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है। और वह कैवल्य का हेतु है। क्योंकि, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप विवेक ज्ञान पूर्वक निरोध अखिल कार्य-करण से चरितार्थ चित्त को उसके अधिकार से अलग कर देता है। इति।

शङ्का होती है कि, यदि श्रद्धा आदि योग के उपाय हैं तो उन उपायों से समाधि तथा समाधि का फल कैवल्य प्राप्ति अविशेष रूप से सबको होनी चाहिये, परंतु ऐसा देखा नहीं जाता है; क्योंकि, उक्त उपायों को करते हुए भी किसी को सिद्धि प्राप्त होती है, किसी को नहीं, किसी को शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है, किसीको विलम्ब से, इसका क्या कारण है?

इस शङ्का का उत्तर भाष्यकार देते हैं—ते खल्विति। ते खलु— वे पूर्वोक्त, मृदुमध्याधिमात्रोपायाः—मृदूपाय, मध्योपाय तथा अधिमात्रोपाय के भेद से, नव योगिनो भवन्ति—नव प्रकार के योगी होते हैं। तद् यथा—और वे जैसे, मृदूपायः—जो मृदु(मन्द-कोमल शिथिल अल्प)उपायवाले होते हैं वे मृदूपाय, मध्योपायः—जो मध्य अर्थात् न तीव्र न मन्द किन्तु सामान्य उपायवाले होते हैं वे मध्योपाय,

तत्र मृदूपायस्त्रिविधः—मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति। तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति ॥ २० ॥

तत्राधिमात्रोपायानां—

अधिमात्रोपायः—और जो अधिमात्र अर्थात् तीव्र उपायवाले होते हैं वे अधिमात्रोपाय कहे जाते हैं। अर्थात् जिन योगियों के पूर्वोक्त श्रद्धा आदि साधन मन्द होते हैं वे मृदूपाय, सामान्य होते हैं वे मध्योपाय, और तीव्र होते हैं वे अधिमात्रोपाय कहे जाते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद बताते हैं—तत्रेति। तत्र—उक्त तीन प्रकार के योगियों में, मृदूपायः—जो मृदु उपायवाले योगी हैं वे, त्रिविधः—तीन प्रकार के हैं, मृदुसंवेगः—जो मृदूपाय मृदुसंवेग अर्थात् मन्द-वैराग्यवाले हैं वे मृदूपाय मृदुसंवेग, मध्यसंवेगः—जो मृदूपाय मध्य-संवेग-वाले अर्थात् न मन्द, न तीव्र वैराग्यवाले हैं वे मृदूपाय मध्य-संवेग, तीव्रसंवेगः—और जो मृदूपाय तीव्रसंवेगवाले हैं वे मृदूपाय-तीव्रसंवेग कहे जाते हैं। तथा—वैसे ही, मध्योपायः—मध्योपाय नामक योगी भी मध्योपाय-मंद-संवेग, मध्योपाय-मध्यसंवेग, तथा मध्योपाय तीव्र संवेग, के भेद से तीन प्रकार का समझना चाहिये। तथा—वैसे ही, अधिमात्रोपाय इति—अधिमात्रोपाय नामक योगी भी अधिमात्रोपाय-मन्दसंवेग, अधिमात्रोपाय-मध्यसंवेग तथा अधिमात्रोपाय-तीव्र संवेग के भेद से तीन प्रकार का समझना चाहिये।

उक्त श्रद्धा आदि साधना मृदुता, मध्यता तथा अधिमात्रता (शीघ्रता) आदि योगिकृत पूर्व के संस्कार तथा अदृष्ट के बल से प्राप्त होती है। एवं वैराग्य में मन्दता मध्यता तथा तीव्रता भी पूर्वकृत वासना तथा अदृष्ट के बल से ही समझना चाहिये। अर्थात् संस्कार तथा अदृष्ट के मन्द होने पर श्रद्धा आदि मन्द, मध्य होने पर मध्य तथा तीव्र होने पर तीव्र समझना चाहिये।

उक्त नव प्रकार के योगियों के नव नाम पृथक् पृथक् इस प्रकार हैं—

१ मृदूपाय-मृदुसंवेग, २ मृदूपाय-मध्यसंवेग, ३ मृदूपायतीव्रसंवेग, ४ मध्योपाय-मृदुसंवेग, ५ मध्योपाय-मध्यसंवेग, ६ मध्योपाय-तीव्रसंवेग, ७ अधिमात्रोपाय मृदुसंवेग, ८ अधिमात्रोपाय-मध्यसंवेग, ९ अधिमात्रोपाय-तीव्रसंवेग।

पूर्वोक्त नव प्रकार के योगियों में जो नवम अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेगवाले योगी हैं उनको आठ योगियों की अपेक्षा शीघ्र समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त होते और अन्य आठों योगियों को उक्त श्रद्धा आदि उपाय के अनुसार समाधिलाभ तथा समाधि-फल प्राप्त होने में कुछ विलम्ब होता है। इसी बात को भाष्यकार प्रकृत सूत्र के साथ अध्याहृत "तत्राधिमात्रोपायानाम्" इस पद का सम्बन्ध करते हुए दिखाते हैं—तत्रेति।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २१ ॥

तत्र—पूर्वोक्त नव प्रकार के योगियों में, अधिमात्रोपायानाम्-तीव्रसंवेगानाम्-जो अधिमात्रोपाय-तीव्रसंवेगवाले योगी हैं उनको, आसन्नः-शीघ्र, समाधिलाभः-समाधिलाभ, च-और, समाधिफलम्-समाधिफल प्राप्त होते हैं और अन्य को विलम्ब से।

भाव यह है कि, असंप्रज्ञात-समाधि के पूर्वोक्त श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं संप्रज्ञात समाधि, ये सब उपाय और कैवल्य फल कहे गये हैं। ये दोनों समाधि और कैवल्यरूप सिद्धियां अपने साधन की अपेक्षा करती हैं। जबतक उक्त साधनों में मृदुता तथा मध्यता रहती है तबतक इन दोनों सिद्धियों में विलम्ब रहता है, और जब इनमें अधिमात्रता तथा शीघ्रता प्राप्त होती है, तब उक्त सिद्धियाँ अत्यन्त निकट आ जाती हैं। असंप्रज्ञात समाधि का परवैराग्य हेतु है, यह बात पूर्व कही गई है। इस (परवैराग्य) का यहां संवेग शब्द से निर्देश किया गया है। वह संवेग (परवैराग्य) भी मृदु, मध्य तथा तीव्र के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। अधिमात्र-उपायकाल में भी जब तक संवेग में मृदुता तथा मध्यता रहती है तब तक उक्त दोनों सिद्धियाँ अप्राप्त ही रहती हैं और जब संवेग में तीव्रता प्राप्त होती है तब तत्काल ही उक्त दोनो सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अतः "तीव्रसंवेगानामासन्नः" इस सूत्र से अधिमात्रोपाय-तीव्रसंवेगवाले योगियों को शीघ्र समाधि लाभ और समाधिफल प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा गया है। अर्थात् पूर्वोक्त साधनों में शीघ्रता और परवैराग्य में तीव्रता जब प्राप्त होती है तब योगी को उक्त दोनों सिद्धियां अति शीघ्र प्राप्त होती हैं।

विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में "संवेगश्चोपायानुष्ठाने शैघ्रयम्" इस पंक्ति से संवेग शब्द का अर्थ शीघ्रता किया है, सो समीचीन नहीं, क्योंकि, अधिमात्र शब्द से शीघ्रता का लाभ होने से तदर्थक संवेग शब्द का प्रयोग पुनरुक्ति दोष युक्त हो जाता है। और "योगिनो नवधात्वानुपपत्तेः" इस पंक्ति से यह कहा है कि, संवेग शब्द का परवैराग्य अर्थ माना जाय तो पूर्वोक्त योगियों के नव भेद अनुपपन्न हो जायंगे, इत्यादि। यह कथन भी उनका असंगत ही है, क्योंकि, पूर्वोक्त अङ्ग सहित नव प्रकार को देखते हुए कोई भी चक्षुष्मान् ऐसा नहीं कह सकता है। एवं "संवेगशब्दस्य वैराग्यवाचकत्वाभावाच्च" इस पंक्तिसे संवेग शब्द वैराग्य वाचक न होने से वाचस्पति मिश्र का "संवेगो वैराग्यम्" यह कथन ठीक नहीं है। यह श्री वाचस्पति मिश्र पर विज्ञान भिक्षु का वाक्-प्रहार दर्शनशास्त्र के संकेत की अनभिज्ञता का परिचायक ही है, क्योंकि, जैसे अधिमात्र आदि शब्द प्रकृत शास्त्र की सांकेतिक संज्ञा है वैसे ही

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति । ततोऽपि विशेषः । तद्विशेषादप्यासन्नतरस्तीव्राधिमात्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्य समाधिलाभः समाधिफलं चेति ॥ २२ ॥

संवेग शब्द भी वैराग्य की सांकेतिक संज्ञा है और यह वैराग्य में तीव्रता का द्योतक है । इति ॥ २१ ॥

पूर्व सूत्र में श्रद्धादि पांच उपायों के तथा वैराग्य के मृदुत्वादि भेद से नव प्रकार के योगी कहे गये हैं, उनमें नवम जो तीव्रसंवेगयुक्त अर्थात् तीव्र वैराग्ययुक्त-अधिमात्रोपाय नामक योगी हैं वे तीव्रसंयुक्त होने से औरों की अपेक्षा शीघ्र समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त करते हैं । जिस तीव्रसंवेग से उनको शीघ्र समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त होते हैं, उसमें (तीव्रसंवेग में) मृदुत्वादि तीन भेद मान कर अन्य पूर्व की अपेक्षा उन योगियों में विशेष कथन करते हैं—मृदु–मध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः । मृदुमध्याधिमात्रत्वात्–मृदु, मध्य तथा अधिमात्र (तीव्र) के भेद से तीन प्रकार के तीव्रसंवेग होने से, ततोऽपि–पूर्वोक्त तीव्रत्वादि विशेष से भी, विशेषः–तीव्रसंवेगयुक्त अधिमात्रोपाय संज्ञक योगियों के समाधिलाभ तथा समाधिफल में विशेष है ।

इसी विशेष को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—मृदुतीव्रेति । मृदुतीव्रसंवेग (मृदुतीव्रवैराग्य), मध्यतीव्रसंवेग तथा अधिमात्र तीव्रसंवेग के भेद से तीव्र वैराग्य तीन प्रकार के हैं । ततोऽपि विशेषः । पूर्वोक्त तीव्रत्वादि विशेष की अपेक्षा से भी तीव्रवैराग्ययुक्त अधिमात्रोपाय नामक योगियों के समाधिलाभ तथा समाधिफल में विशेष है । तद्विशेषादिति । तद्विशेषादपि–मध्यसंवेगयुक्त अधिमात्रोपाय योगियों के विशेष से भी, मृदुतीव्रसंवेगस्य–मृदुतीव्रसंवेगयुक्त अधिमात्रोपाय योगियों को, आसन्नः–शीघ्र समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त होते हैं । तत इति–ततः–मृदुतीव्रसंवेगयुक्त, अधिमात्रोपाय योगियों के विशेष की अपेक्षा से, मध्यतीव्रसंवेगस्य—मध्यतीव्रवैराग्युक्त अधिमात्रोपाय योगियों को, आसन्नतरः— शीघ्रतर(अतिशीघ्र) समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त होते हैं । तस्मादिति । तस्मात्—मध्यतीव्रवैराग्ययुक्त, अधिमात्रोपाय योगियों के विशेष की अपेक्षा से, अधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्यापि—अधिमात्रतीव्रवैराग्य युक्त अधिमात्रोपाय योगियों को भी, आसन्नतमः—शीघ्रतम (अत्यन्तशीघ्र), समाधिलाभः समाधिफलञ्चेति–समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त होते हैं । अतः जबतक चरम (अन्तिम) समाधिलाभ न हो तबतक उसका साधन अधिमात्रोपाय, अधिमात्र तीव्रवैराग्य प्राप्ति के लिये मुमुक्षु को सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये । यह सिद्ध हुआ । इति ॥ २२ ॥

किमेतस्मादेवासन्नतरः समाधिर्भवति ? अथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण ।

तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतरः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २३ ॥

अन्य सूत्र का अवतरण करने के लिये विमर्श (विचार) करते हैं— किमिति । किमेतस्मादेव— क्या इन्हीं पूर्वोक्त उपायों से, ही आसन्नतरः—अत्यन्त शीघ्र,समाधिर्भवति—समाधि का लाभ होता है ? अथ—अथवा, अस्य लाभे—इस समाधि के लाभ में,अन्योऽपि दूसरा भी, कश्चित्—कोई सुलभ, उपायः—उपायान्तर, भवति— है ?

इस भाष्य के अन्त में इति शब्द उक्त जिज्ञासा के आकार का निर्देशक है । "न वा" शब्द संशय-निवर्तक है, ऐसा श्रीवाचस्पति मिश्र ने कहा है । विज्ञानभिक्षु ने "नवा" शब्द को विकल्पार्थक माना है सो समीचीन नहीं, क्योंकि अथ शव्द जब विकल्पार्थक है तो 'न वा' शब्द को विकल्पार्थक मानना युक्ति विरुद्ध है ।

उक्त प्रश्न का उत्तर सूत्र द्वारा करते हैं — ईश्वरप्रणिधानाद्वा । इस सूत्र में पूर्व सूत्र से "विशेषः" इस पद को अनुवृत्ति आती है, तथाच वा-अथवा, ईश्वरप्रणिधानात्—ईश्वरकी भक्तिसे भी, विशेषः—अत्यन्त शीघ्र समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त होते हैं ।

सूत्र का व्याख्यान भाष्यकार करते हैं—प्रणिधानादिति । प्रणिधानात् भक्तिविशेषात्—प्रणिधानरूप भक्तिविशेष से, आवर्जितः—प्रसन्नतापूर्वक अभिमुख हुए, ईश्वरः—परमात्मा, अभिध्यानमात्रेण-अन्य व्यापार किये विना केवल-मेरे भक्त का अभीष्ट सिद्ध हो इस प्रकार के संकल्प मात्र से, तम्—अपने भक्त योगी पर, अनुगृह्णाति-अनुग्रह (दया) करते हैं-तदभिध्यानमात्रादपि—इस प्रकार के अभिध्यान अर्थात् संकल्परूप ईश्वर के अनुग्रह से भी, योगिनः—योगियों को, आसन्नतरः—अत्यन्त शीघ्र, समाधिलाभः समाधिफलञ्च—समाधि का लाभ तथा समाधि का फल कैवल्य प्राप्त होता है ।

भाव यह है कि, कायिक, वाचिक तथा मानसिक जितने भी कर्म होते हैं सब ईश्वर के अधीन होते हैं । परमात्मा की इच्छा विना एक तृण भी हिल नहीं सकता है, ऐसा समझना । निषिद्ध कर्मों को त्याग कर शुभ कर्मों का ही अनुष्ठान करना । किये हुए

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

कर्मों के फल की तरफ दृष्टि न देकर एवं शारीरिक सुख का अनुसन्धान न कर सर्व कर्मों के फल को—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ९-२७ ॥

इस भगवद्गीता के आज्ञानुसार भगवान् को अर्पण करना और उनके ध्यान में ही मग्न होकर एकतानता से उन्हीं का चिन्तन तथा नामोच्चारण सदा करते रहना ईश्वर-प्रणिधान कहा जाता है। और इसीको भक्ति कहते हैं। इससे भी अत्यन्त शीघ्र समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त होता है। और इसी ईश्वर-प्रणिधान को भगवद्गीता के—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ९-२२ ॥

इस श्लोक में भगवान् ने योगक्षेम का निर्वाहक कहा है। अतः ईश्वरशरण ग्रहण कर पूर्वोक्त ईश्वर-प्रणिधानरूप भक्ति करना मनुष्यमात्र का परम कर्तव्य है। इति ॥२३॥

ईश्वर के प्रणिधान से शीघ्र समाधिलाभ होता है यह कहा, सो प्रधान तथा पुरुष से अतिरिक्त ईश्वर के सद्भाव में प्रमाण न होने से समीचीन नहीं; क्योंकि यह निखिल विश्व जड चेतनरूप दोनों ही से व्याप्त है। ईश्वर को जड मानने से कार्य - कारणात्मक सम्पूर्ण जगत् जड - प्रकृति स्वरूप होने से भक्तों पर अनुग्रह करना असम्भव है, और चेतन मानने से चिति शक्ति असङ्ग तथा उदासीन होने से भक्तों पर अनुग्रह करना सुतरां असङ्गत है। इस आशय से निरीश्वर सांख्यवादी आशङ्का करते हैं—अथेति। अथ-ईश्वर के प्रणिधान से शीघ्र समाधिलाभ होता है, इस कथन के बाद ऐसी शङ्का होती है कि, प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः--प्रकृति तथा जीवात्मा से भिन्न, कः--कौन, अयम्--यह आपका अभिमत, ईश्वरो नामेति--ईश्वर है ?

इस आशङ्का का निरास करने के लिये सूत्रकार ईश्वर का लक्षण करते हैं— क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश, ये पांच क्लेश कहे जाते हैं। राग - द्वेषादि क्लेश से उत्पन्न शुभाशुभ - कर्मजन्य होने से पुण्य - पाप कर्म कहे जाते हैं। पुण्य पाप के फल (जाति, आयु, भोगरूप) सुखदुःख विपाक, कहे जाते हैं। सुखदुःखात्मक भोग से जन्य नाना प्रकार की वासना 'आशय' कही जाती हैं। तथाच—क्लेशकर्मविपाकाशयैः--उक्त क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय, इन चारों पदार्थों से, अपरामृष्टः--असम्बद्ध जो, पुरुष-

अविद्यादयः क्लेशाः। कुशलाकुशलानि कर्माणि। तत्फलं विपाकः। तदनुगुणा वासना आशयाः।

ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते। स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदि-

---

विशेषः--जीवरूप अन्य पुरुषों से विशेष (उत्कृष्ट) चेतन वह, ईश्वरः--ईश्वर है, यह सिद्ध हुआ।

इसी अर्थ को भाष्यकार विशद करते हैं—अविद्यादयः क्लेशाः—पूर्वोक्त अविद्या आदि क्लेश कहे जाते हैं, कुशलाकुशलानि कर्माणि--शुभाशुभ कर्मजन्य होने से कुशलाकुशलरूप पुण्यपाप कर्म कहे जाते हैं। तत्फलं विपाकः--पुण्यपाप के फल (जाति, आयु तथा भोग) सुखदुःख विपाक कहे जाते हैं। तदनुगुणा वासना आशयाः--सुखदुःख के भोग से जन्य जो वासना वह आशय कही जाती है। केवल "पुरुष ईश्वरः" इतना ही लक्षण किया जाय तो जीव चेतन भी सामान्य पुरुष होने से उसमें अतिव्याप्ति होगी, अतः विशेष पद का उपादान किया गया है और पुरुषविशेष कहते हैं तब जीव-चेतन पुरुष होने पर भी पुरुषविशेष नहीं, अतः अतिव्याप्ति नहीं और जो "पुरुषविशेष ईश्वरः" इतना ही लक्षण करें तो यत्किञ्चित् विशेष धर्मयुक्त जीव रूप पुरुष-व्यक्ति को ग्रहण कर उसमें अतिव्याप्ति की संभावना हो सकती है। अतः "क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः" इतना विशेषण और भी दिया गया है, और जब क्लेशादि से अपरामृष्ट कहते हैं तो कोई भी जीव चेतन क्लेशादि से अपरामृष्ट नहीं, किन्तु सभी जीव क्लेशादि से परामृष्ट (युक्त) ही हैं। अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं।

शंका होती है कि, सांख्य-योग मत में उक्त क्लेशादि चित्त के धर्म होने से जीव-चेतन में, अतिव्याप्ति की शंका ही नहीं है तो फिर "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट." इतने बडे पद का लक्षण में निवेश करने की क्या आवश्यकता है? यदि कहें कि, क्लेशादि के ग्रहण न करने पर चित्त में ही अतिव्याप्ति होगी। अतः उसके निरास के लिये क्लेशादि का उपादान किया गया है? सो भी ठीक नहीं, क्योंकि, पुरुष पद के उपादान से ही चित्त में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है, तो फिर क्लेशादि का उपादान व्यर्थ प्रतीत होता है, इस आशङ्का का समाधान भाष्यकार करते हैं—ते चेति। ते च--वे पूर्वोक्त क्लेशादि, मनसि वर्तमानाः--यद्यपि चित्त में विद्यमान हैं, तथापि, पुरुषे--जीवात्मा रूप पुरुष में, व्यपदिश्यन्ते--आरोपित व्यवहार किये जाते हैं। हि--क्योंकि, सः--वह पुरुष, तत्फलस्य--अविवेक से बुद्धि को अपना स्वरूप मानने से बुद्धिगत सुखदुःख फल का. भोक्ता—भोक्ता है। यथा--जैसे लोक में- जयः पराजयो वा—जय अथवा पराजय- योद्धृषु वर्त्तमानः--सैनिकों में विद्यमान हैं, तथापि स्वा-

श्यते । यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः ।

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि च्छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न

मिनि--उसके स्वामी राजा में- व्यपदिश्यते--व्यपदेश (आरोपित व्यवहार) किया जाता है । योहि--और जो, अनेन भोगेन--बुद्धिगत इस प्रकार के काल्पनिक सुखदुःख भोग से, अपरामृष्टः--असम्बद्ध है, सः--वह पुरुषविशेषः- पुरुषविशेष; ईश्वरः--ईश्वर कहा जाता है ।

भाव यह है कि, यद्यपि पुरुष और ईश्वर दोनों स्वाभाविक क्लेशादि के संपर्क से रहित हैं, तथापि अविवेक से पुरुष चित्त को अपने से अभिन्न मान कर औपाधिक क्लेशादिक युक्त हो गया है । जैसे लोक में सेना तथा राजा का परस्पर स्वस्वामिभाव सम्बन्ध होने से सेना की जीत होने पर राजा की जीत हुई और सेना की हार होने पर राजा की हार हुई, ऐसा काल्पनिक व्यवहार होता है, क्योंकि राजा सेनाकर्तृक जय-पराजयजन्य सुखःदुख फल का भोक्ता है, वैसे ही चित्त तथा पुरुष का परस्पर स्वस्वामिभाव सम्बन्ध होने से चित्तगत क्लेशादि पुरुष में हैं ऐसा आरोप (काल्पनिक व्यवहार) होता है, क्योंकि पुरुष चित्तगत सुखदुःख फल का भोक्ता है । और ईश्वर में वास्तविक तो क्या, काल्पनिक भी क्लेशादि का सम्बन्ध न होने से क्लेशादि से अपरामष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है । अतः चित्त में वास्तविक तथा पुरुष में काल्पनिक क्लेशादि होने से अतिव्याप्ति नहीं, यह बात सिद्ध हुई ।

आशङ्का—लक्षण में "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः" इतना अंश विशेषण है और "पुरुषविशेषः" इतना अंश विशेष्य है । उनमें "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः" इतना अंश रहने से चित्त में तथा पुरुष में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है, फिर "पुरुषविशेषः" इतना विशेष्य अंश देने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—क्लेशादि विशेषणांश मात्र के कथन से चित्त में तथा पुरुष में अतिव्याप्ति का वारण होने पर भी मुक्त तथा प्रकृतिलीन पुरुष में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि, वे भी क्लेशादि से रहित हैं और जब "पुरुषविशेषः" इतना विशेष्यांश का भी निवेश करते हैं तो वे (मुक्त तथा प्रकृतिलीन) पुरुषविशेष नहीं, किन्तु पुरुषमात्र हैं । अतः अतिव्याप्ति नहीं । इसी बात को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—कैवल्यमिति । तर्हि—विशेष्य अंश का उपादान नहीं करेंगे तो, कैवल्यं प्राप्ताः—मोक्ष को प्राप्त हुए, बहवः केवलिनश्च— बहुत मुक्त पुरुष भी, सन्ति—हैं । अतः उनमें अतिव्याप्ति होगी, यह भाव है । हि--क्योंकि, ते—वे, त्रीणि बन्धनानि—प्राकृतिक, वैकारिक तथा दक्षिणादि तीनो बन्धनों को छेदन करके, कैवल्यं प्राप्ताः—मोक्ष को प्राप्त हुए हैं । प्रकृति-

भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य।

स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति। तस्य शास्त्रं निमित्तम्।

उपासकों को प्राकृतिक बन्ध है, इन्द्रिय-उपासकों को वैकारिक बन्ध है और दक्षिणायन मार्ग वाले देवादिकों को दक्षिणादि बन्ध है। जो मुक्त पुरुष है, वे इन तीनों बन्धनों को छेदन करके कैवल्यभाव को प्राप्त हुए हैं, और क्लेशादि से रहित हैं। अतः विशेष्य अंश के अनुपादान से उनमें अतिव्याप्ति होगी, यह भाव है। च–और, ईश्वरस्य—ईश्वर को, तत्सम्बन्धः--क्लेशादि रूप उन तीनो बन्धनों का सम्बन्ध, न भूतो न भावी--न भूतकाल में था और न भविष्य ही काल में होगा, यथा-जैसे-मुक्तस्य--मुक्त पुरुष को, पूर्वा–प्रथम संसारबन्धकाल में, बन्धकोटिः प्रज्ञायते-बन्धकोटि प्रतीत होती है, एवं ईश्वरस्य न–इस प्रकार ईश्वर को नहीं, वा--अथवा, यथा-- जैसे प्रकृतिलीनस्य–प्रकृतिलीन उपासक को, उत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते--अधिकार समाप्ति के पश्चात् भविष्य में पुनरावृत्ति रूप उत्तर बन्धकोटि संभव है, एवं न ईश्वरस्य–इस प्रकार ईश्वर को नहीं, तु–किन्तु, सः–वह ईश्वर, सदैव–भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों काल में, मुक्तः--मुक्त है, सदैवेश्वर इति--अतः ज्ञान, क्रिया, शक्ति, सम्पदारूप ऐश्वर्ययुक्त होने से तीनों काल में ईश्वर ही है, कभी भी अनीश्वर नहीं। यह बात सिद्ध हुई। भाव यह है कि, जो तीनो काल में मुक्त है वही पुरुष विशेष ईश्वर है। मुक्तात्मा तथा प्रकृतिलीन नहीं, क्योंकि, मुक्तात्मा को भूतकाल में बन्ध था और प्रकृतिलीन को भविष्यत् में होगा।

यहां पर भाष्यकार ने प्रकृतिलयों को उत्तरा बन्धकोटि कही है और विज्ञानभिक्षु ने अधिकार समाप्ति के बाद उनको मोक्ष कहा है, सो भाष्यविरुद्ध होने से उपेक्षणीय है। यह बात पूर्व कह आये हैं।

भाष्यकार शङ्का उठाते हैं–योऽसौ प्रकृष्टेति। योऽसौ–जो यह, प्रकृष्टसत्त्वोपादानात्–श्रुतिप्रतिपादित माया नामक विशुद्ध सत्त्वात्मक चित्तरूप उपाधि को धारण करने से, ईश्वरस्य–ईश्वर का, शाश्वतिकः–नित्य, उत्कर्षः–सर्वज्ञत्वादि ऐश्वर्यरूप उत्कर्ष है, सः–वह उत्कर्ष, किम्–क्या, सनिमित्तः–सप्रमाण है? आहोस्वित्–अथवा, निर्निमित्त इति–निष्प्रमाण है? भाव यह है कि, ईश्वर में जो सर्वज्ञत्वादि ऐश्वर्य हैं उनमें कोई प्रमाण है या नहीं? उत्तर देते हैं—तस्य शास्त्रं निमित्तमिति।

शास्त्रं पुनः किं निमित्तम्। प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्।

एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः संबन्धः।

एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्या-

---

तस्य-ईश्वर के उक्त नित्य उत्कर्ष में, शास्त्रं निमित्तम्-श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुरण आदि शास्त्र प्रमाण हैं।

पुनः शङ्का करते हैं शास्त्रं पुनः किं निमित्तमिति। पुनः-फिर, शास्त्रम्-उक्त श्रुति, स्मृति आदि शास्त्र की प्रमाणता में किं निमित्तम्-क्या प्रमाण है? भाव यह है कि, शास्त्र की स्वतः प्रमाणता में क्या प्रमाण है? उत्तर देते हैं-प्रकृष्टेति। प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्-विशुद्ध-सत्त्व-स्वरूप चित्तरूप ईश्वर की उपाधि ही शास्त्र की स्वतः प्रमाणता में प्रमाण अर्थात् हेतु है।

शङ्का होती है कि—"परस्परसापेक्षत्वमन्योन्याश्रयत्वम्" अर्थात् जो आपस में एक दूसरे के अधीन हों वे दोनों अन्योऽन्याश्रय कहे जाते हैं और जहां अन्योऽन्याश्रय होता है वहां एक का भी कार्य न हो सकने के कारण दोष कहा जाता है। प्रकृत में, ईश्वर के उत्कर्ष में वेद आदि शास्त्र प्रमाण हैं, अतः उस (शास्त्र) की अपेक्षा है और वेद आदि शास्त्र ईश्वर के सर्वज्ञत्वादि ऐश्वर्यरूप उत्कर्ष से रचित होने से उसके प्रामाण्य में उस (उत्कर्ष) की अपेक्षा है। अतः यहां परस्पर सापेक्ष होने से अन्योऽन्याश्रय दोष लागू पड़ता है।

दोष का परिहार भाष्यकार करते हैं—एतयोरिति। ईश्वरसत्त्वे-ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त में, वर्त्तमानयोः-विद्यमान, एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोः-इन शास्त्र और उक्त उत्कर्ष के कार्यकारणभाव में, अनादिः सम्बन्धः—अनादि काल का सम्बन्ध है। भाव यह है कि, बीज-वृक्ष के समान जहां अनादि-काल की परस्परापेक्षा होती है वहां अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं कहा जाता है। वही शब्द अप्रमाण माना जाता है जो भ्रम, प्रमाद आदि दोषयुक्त पुरुष उच्चरित हो। ईश्वर भ्रम प्रमाद आदि सकल पुरुषदोष से रहित होने से तदुच्चरित वेदादि शास्त्र की प्रमाणता में सन्देह नहीं हो सकता है। उपसंहार करते हैं—एतस्मादिति। एतस्मात्—पूर्वोक्त उत्कर्ष से ही, एतद्भवति—यह सिद्ध है कि, सदैवेश्वरः—वह ईश्वर सदा ही ऐश्वर्यशाली है और, सदैव मुक्त इति—सदा ही मुक्त हैं। इस प्रकार मुक्त पुरुषों से विलक्षण ईश्वर को सिद्ध कर अणिमादि ऐश्वर्यशाली योगियों की अपेक्षा भी विलक्षण ईश्वर हैं, यह सिद्ध करते हैं— तच्चेति। तच्च और वह, तस्य-ईश्वर का, ऐश्वर्यम्-ऐश्वर्य, साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्—सामान्य (तुल्यता) और अतिशय से रहित हैं। भाव यह है कि, अणिमादि ऐश्वर्ययुक्त योगियों के

तिशयविनिर्मुक्तम्। न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्।

तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन्युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्।

द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति। अर्थस्य विरुद्धत्वात्।

ऐश्वर्य अन्य योगियों के समान अथवा न्यून हैं। अतः साम्य तथा अतिशययुक्त हैं और ईश्वर के ऐश्वर्य अन्य किसी के ऐश्वर्य के समान तथा न्यून न होने से साम्य तथा अतिशय से विनिर्मुक्त अर्थात् रहित हैं। इसी को स्पष्ट करते हैं—न तावदिति। तत् ईश्वर के ऐश्वर्य, ऐश्वर्यान्तरेण–अन्य के ऐश्वर्य से, न तावदतिशय्यते–सातिशय अर्थात् न्यून नहीं हैं। क्योंकि यदेवेति। यदेव–जो ऐश्वर्य, अतिशयि स्यात्–सर्व ऐश्वर्यों की अपेक्षा अतिशय अर्थात् अधिक हैं, तदेव–वही ऐश्वर्य, तत्स्यात्—निरतिशय ऐश्वर्य कहा जाता है। "ईश्वर के ऐश्वर्य सर्वातिशय से विनिर्मुक्त हैं" इसको कहते हैं— तस्मादिति। तस्मात्–अतः, यत्र–जहाँ, ऐश्वर्यस्य—ऐश्वर्य की, काष्ठाप्राप्तिः–अवधि (हद) है सः–वही, ईश्वरः–ईश्वर हैं। ईश्वर का ऐश्वर्य अन्य किसी के ऐश्वर्य के समान नहीं है, इसको कहते हैं न चेति। तत्समानम्–ईश्वर के ऐश्वर्य के समान, अन्य किसी का ऐश्वर्य, न च अस्ति–नहीं है। शङ्का करते हैं— कस्मात्? । ईश्वर का ऐश्वर्य अन्य के ऐश्वर्य के समान क्यों नहीं है? उत्तर देते हैं—द्वयोरिति। अर्थात् यदि ईश्वर का सत्यसंकल्पादि ऐश्वर्य रूप उत्कर्ष अन्य के ऐश्वर्य क समान माना जायगा तो जिसके समान माना जायगा उसको भी ईश्वर मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में, द्वयोस्तुल्ययोः–समान ऐश्वर्यवाले दोनों ईश्वरों में से, एकस्मिन् कामितेऽर्थे—अभिलषित किसी एक वस्तु विषयक, युगपत्–एक ही काल में, नवमिदमस्तु—"यह नूतन हो" पुराणमिदमस्तु–"यह पुराना हो" इस प्रकार का जब एक के विरुद्ध दूसरे का संकल्प होगा तब, एकस्य सिद्धौ–एक का संकल्प सिद्ध होने पर, इतरस्य प्राकाम्यव्याघातात्–दूसरे के प्राकाम्य (अविहतेच्छा) का व्याघात होने से, ऊनत्वं प्रसक्तम्–न्यूनता की प्रसक्ति होगी अर्थात् वह ईश्वर नहीं होगा।

यदि कहें "कि दोनों संकल्प होने से नूतन तथा पुराण दोनों ही अर्थ की सिद्धि हो जाय" तो इस पर कहते हैं—द्वयोश्चेति। द्वयोश्च तुल्ययोः—दोनों के तुल्य संकल्प होने पर, युगपत् एक ही समय, कामितार्थप्राप्तिः–दोनों की अभिलषित अर्थ-प्राप्ति, नास्ति–नहीं होती है। क्योंकि, अर्थस्य विरुद्धत्वात्–नया और पुराना आदि

तस्माद्यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः। स च पुरुषविशेष इति ॥ २४ ॥

अर्थ के परस्पर विरोधी होने से। उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—तस्मादिति। तस्मात्–ईश्वर के ऐश्वर्य के समान अथवा उससे अधिक किसी अन्य के ऐश्वर्य मानने पर उक्त व्यवस्था का अभाव होने से, यस्य–जिसका, साम्यातिशयैः–साम्य तथा अतिशयों से, विनिर्मुक्तम्-रहित, ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य है, स एव-वही, ईश्वरः–ईश्वर है। स च–और वह ईश्वर, पुरुषविशेषः–बद्ध, मुक्त, अणिमादि ऐश्वर्ययुक्त, तथा प्रकृतिलीन आदि सर्व जीवरूप पुरुष की अपेक्षा पुरुषविशेष है। इति यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि, सेश्वर तथा निरीश्वर के भेद से दो प्रकार के सांख्य शास्त्र हैं। प्रकृत सेश्वर सांख्य भगवान् पतञ्जलि मुनिकृत है और निरीश्वर सांख्य भगवान् कपिल मुनिकृत है। सेश्वर सांख्य अर्थात् योगदर्शन में प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय, पञ्चमहाभूत, पुरुष और ईश्वर के भेद से छब्बीस पदार्थ माने गए हैं। निरीश्वर सांख्य में ईश्वर का स्वीकार नहीं; अतः उनके मत में पचीस ही पदार्थ हैं। दोनों के मत में पुरुष अर्थात् जीवात्मा भोक्ता है, कर्त्ता नहीं और प्रकृति कर्त्री है, भोक्त्री नहीं। यद्यपि सुखःदुःख साक्षात्काररूप भोग महत्तत्त्वरूप बुद्धि में है, अपरिणामी पुरुष में नहीं; तथापि पुरुष अविवेक से बुद्धि को अपना स्वरूप मानता है। अतः जैसे जपाकुसुमगत रक्तिमा स्फटिक में भासती है, वैसे ही बुद्धिगत क्लेशादि तथा सुख-दुःख-भोग पुरुष में कल्पना से प्रतीत होते हैं, वास्तविक नहीं। अतएव पुरुष भोक्ता माना जाता है, स्वरूप से नहीं। जैसे जय और पराजय भटगत है परन्तु उसके स्वामी राजा में उसका व्यवहार होता है; क्योंकि, राजा उसके फल का भोक्ता है, वैसे ही क्लेशादि तथा सुखदुःखादि भोग बुद्धिगत हैं परन्तु उसके स्वामी पुरुष में उसका व्यवहार होता है; क्योंकि, पुरुष उसके फल का भोक्ता है। इस कथन में—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

यह कठ श्रुति प्रमाण है अर्थात् ज्ञानी जन कहते हैं कि, शरीर, बुद्धि, मन तथा इन्द्रिय आदि के समूह सहित ही आत्मा भोक्ता है, शुद्ध नहीं।

बुद्धि प्रकृति का कार्य होने से प्रकृति कही जाती है और वही पुरुष के भोग मोक्ष-रूप सभी कार्य को संपादन करती रहती है। जो कुछ भी करती है पुरुष के लिये ही करती है। अतः परार्थ है, स्वार्थ नहीं। बुद्धि भी अकेली कार्य नहीं करती है, किन्तु शरीर आदि संघात-विशिष्ट होकर ही करती है। जैसे, लोक में राजपुरुष एक दूसरे के साथ मिलकर (संघात होकर) राजा के लिये कार्य करते हैं, अपने लिये नहीं, अतः परार्थ हैं, स्वार्थ नहीं, वैसे ही शरीरादि संघात-विशिष्ट बुद्धि पुरुष-रूप राजा के

लिये भोग तथा मोक्ष को संपादन करती है, अपने लिये नहीं; अतः परार्थ है, स्वार्थ नहीं। जब तक पुरुष को अविवेक रहता है तब तक प्रकृति पुरुष के लिये भोग संपादन करती रहती है और जब विवेक से अविवेक का बाध हो जाता है तब प्रकृति का पुरुष से अलग हो जाना ही उसका पुरुष के लिये मोक्ष संपादन करना है। कृतार्थ (मुक्त) के प्रति विनष्ट हुई भी प्रकृति अन्य अविवेकी पुरुष के लिये भोग संपादन करती ही रहती है। इसीलिये प्रकृति नित्य मानी गई है।

कपिल-सांख्य मतावलम्बी लोग ईश्वर को नहीं मानते हैं और कहते हैं कि, "स सर्वज्ञः सर्ववित्" "स हि सर्ववित् सर्वस्य कर्ता" इत्यादि श्रुतियों में जो सर्वज्ञ तथा सर्वकर्ता प्रतिपादित है वह मुक्त पुरुष की प्रशंसामात्र है अथवा योगाभ्यासरूप उपासनासिद्ध योगियों की स्तुतिमात्र है। अतः उक्त श्रुतियाँ अर्थवाद होने से ईश्वर के सद्भाव में प्रमाण नहीं। अतएव सांख्य मत में पच्चीस ही पदार्थ माने गए हैं। योगमत के समान छब्बीस पदार्थ नहीं।

विचारदृष्टि से देखने पर ईश्वर के खण्डन में सांख्य का तात्पर्य नहीं प्रतीत होता है, किन्तु जैसे मीमांसक लोग यदि ईश्वर मानें तो बुद्ध को ईश्वर का अवतार भी मानना पड़े और उनके द्वारा की हुई वेद तथा यज्ञादि की निन्दा को भी प्रमाणभूत मानना पड़े। अतः ईश्वर को अस्वीकार करने से यह सब मानना नहीं पड़ता है, वैसे ही यदि सांख्यमत में भी ईश्वर माना जाय तो तत्प्रदत्त भोग में राग होने से वैराग्य की सिद्धि नहीं होगी। वैराग्य सिद्ध न होने से तत्प्रयुक्त समाधि सिद्ध न होगी। समाधि सिद्ध न होने से सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेक ज्ञान न होगा और विवेक ज्ञान न होने से योगी को कैवल्य-प्राप्ति रूप मोक्ष नहीं होगा। इसी अभिप्राय (भय) से सांख्यमत में ईश्वर का स्वीकार नहीं। वस्तुतस्तु न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त; ये षड्दर्शन ईश्वर को मानने से ही आस्तिक दर्शन कहे जा सकते हैं, अन्यथा जैन, बौद्ध-दर्शन के समान सांख्य-दर्शन को भी वेदबाह्य ही मानना पड़ेगा। आत्मा के अस्तित्व को प्रतिपादन मात्र से यदि आस्तिक दर्शन कहेंगे तो जैन-दर्शन भी आत्मा के अस्तित्व को प्रतिपादन करने से उसको भी आस्तिक दर्शन कहना पड़ेगा। इसी प्रकार केवल वेद को मानने से यदि आस्तिक दर्शन कहेंगे तो ईश्वर-उच्चरित वेद होने से ईश्वर ही में जब प्रामाण्य की शंका है तो तदुच्चरित वेद में प्रामाण्य सिद्ध करना कठिन हो जायगा।

जैसे, लोक में चेतनरूप सारथि की प्रेरणा विना जड रूप रथ की गति असंभव है, वैसे ही चेतन-रूप ईश्वर की प्रेरणा विना जड रूप प्रकृति की संसाररचना भी असंभव है। पुरुष (जीव) असंग तथा निष्क्रिय होने से प्रकृति का प्रेरक नहीं हो सकता है। अतः प्रकृति के प्रेरक सृष्टि के प्रति निमित्त कारणता का प्रयोजक ज्ञान तथा प्रकृति की प्रेरणा रूप क्रियायुक्त ईश्वर चेतन अवश्य स्वीकार करने योग्य है।

यद्यपि चेतन-रूप ईश्वर में भी ज्ञान तथा प्रेरणादि क्रिया रूप परिणाम का होना असंभव है, क्योंकि, उक्त ज्ञान क्रिया रजोगुण तथा तमोगुण रहित विशुद्ध चित्त का धर्म है। चित्त तथा नित्य मुक्त ईश्वर का स्वस्वामिभाव संबन्ध भी असंभव है, क्योंकि, संबन्ध अविद्या-प्रयुक्त होता है। ईश्वर में अविद्या है नहीं, अतः प्रकृति को प्रेरणा करने के लिये ईश्वर का स्वीकार करना समीचीन नहीं। तथापि जैसे, पुरुष (जीव) का चित्त के साथ स्वस्वामिभाव संबन्ध अविद्या से है, वैसे ईश्वर का चित्त के साथ स्वस्वामिभाव संबन्ध अविद्या से नहीं, किन्तु चित्त के स्वभाव को जानता हुआ ज्ञान-धर्मोपदेशद्वारा तापत्रय-पीडित प्राणी के उद्धार करने के लिये और प्रकृति-प्रेरणा द्वारा संसार की रचना करने के लिये ईश्वर विशुद्ध सत्त्व रूप चित्त को धारण करता है। अतः ईश्वर में उक्त परिणामित्व दोष तथा ज्ञान-क्रिया की असंभावना भी नहीं, क्योंकि, परिणामित्व का प्रयोजक अज्ञान-पूर्वक चित्त संबन्ध है। ईश्वर तथा चित्त का संबन्ध आहार्य-रूप ज्ञान-पूर्वक है। अतएव) ज्ञानपूर्वक चित्त को धारण करने से ही) ईश्वर में ज्ञान तथा प्रेरणा रूप क्रिया की असंभावना एवं भ्रान्तत्व दोष भी नहीं। क्योंकि, जो अविद्या के स्वभाव को न जान कर अविद्या का सेवन करता है, वही भ्रान्त कहा जाता है। जैसे नट अपने में ज्ञान-पूर्वक रामकृष्णादि भाव का आरोप कर अनेक प्रकार की लीला करता है, फिर भी भ्रान्त नहीं कहा जाता है, वैसे ही ईश्वर भी ज्ञानपूर्वक चित्त द्वारा अनेक प्रकार की लीला करने पर भी भ्रान्त नहीं, किन्तु तात्त्विक ज्ञानवाला ही है।

यद्यपि "जीवों का उद्धार करने की इच्छा हो, तो ईश्वर चित्तरूप उपाधि को धारण करे, और चित्त-रूप उपाधि को धारण करे,तो जीवों का उद्धार करने की इच्छा हो इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय की संभावना है, तथापि बीजाङ्कुर के समान सृष्टिप्रवाह अनादि होने से उक्त दोष नहीं। जैसे लोक में कोई पुरुष ऐसी इच्छा करके शयन करे कि, "मैं प्रातःकाल शीघ्र उठकर अमुक कार्य करूंगा" तो वह उठता है और उस कार्य को करता भी है। वैसे ही ईश्वर भी उत्पत्ति, प्रलय के अनादि होने से किसी सृष्टि की समाप्ति-काल में जब संहार करने की इच्छा होती है तब अपने चित्त में 'जब प्रलय की अवधि समाप्त होगी तब मैं फिर विशुद्ध चित्त को धारण करूंगा" ऐसी इच्छा करके स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है। और उसका विशुद्ध चित्त प्रकृति में लीन हो जाता है, एवं जब प्रलय की अवधि समाप्त होती है तब पूर्वोक्त संस्कार से फिर विशुद्ध चित्त को धारण करता है। जैसे पूर्व-पूर्व के बीज उत्तर-उत्तर के अङ्कुर का और पूर्व-पूर्व के अङ्कुर उत्तर-उत्तर के बीज का हेतु होने पर भी व्यक्ति-रूप से परस्पर कार्यकारणभाव न होने से अन्योऽन्याश्रय नहीं, वैसे ही पूर्व-पूर्व की ईश्वरेच्छा उत्तर-उत्तर के विशुद्ध चित्त धारण करना व्यक्तिरूप से परस्पर कार्यकारणभाव न होने से अन्योऽन्याश्रय नहीं।

इसी प्रकार ईश्वर के सद्भाव में वेद प्रमाण और वेद के प्रामाण्य में ईश्वर हेतु होने से अन्योऽन्याश्रय की आशङ्का करके अनादित्वेन उसका परिहार भाष्यकार ने किया है, उसका भाव यह है कि, शुद्धचेतन मायासंज्ञक विशुद्ध सत्त्व-स्वरूप चित्तरूप उपाधि को धारण करने से ईश्वर कहा जाता है और वही संसार तथा वेद का निर्माण करता है। अतः सर्वज्ञ तथा यथार्थ वक्ता ईश्वर-निर्मित वेद होने से सत्य अर्थ का बोधक वेद सर्वथा प्रमाण माना जाता है। आयुर्वेद ईश्वररचित है, उसमें रोग, उसका निदान उसकी निवृत्ति के उपाय और औषधि आदि का निरूपण है। उन औषधियों के सेवन से रोग निवृत्ति- प्रत्यक्षदृष्ट होने से उसके प्रामाण्य में किसीको सन्देह नहीं। केवल अलौकिक एवं दिव्य पदार्थ बोधक वेद-भाग में ही प्रामाण्य सन्देह हो सकता है और यह सन्देह भी तभी तक रह सकता है, जबतक उसके वक्ता में भ्रम, प्रमाद आदि पुरुषदोष रहितत्व तथा सर्वज्ञत्व आदि का निश्चय न हो। जब आयुर्वेद-भाग को देखने से यह निश्चय हो चुका कि, इसका निर्माता यथार्थवक्ता एवं सर्वज्ञ है। अतएव आयुर्वेद प्रमाण है, तो उसके निर्मित अन्य भाग में भी स्थालीपुलाक न्याय से प्रामाण्य-निश्चय होने से तद्विषयक सन्देह निवृत्त हो जाता है। अतः ईश्वर के सद्भाव में वेद प्रमाण हो सकता है, यह सिद्ध हुआ। महाप्रलय में भी अन्योऽन्याश्रय का परिहार उक्त युक्ति से कर लेना चाहिये।

कतिपय निरीश्वरवादी महाप्रलय को नहीं मानते हैं। क्योंकि, महाप्रलय मानने पर महाप्रलय के बाद पुनः सृष्टि करने के लिये ईश्वर को स्वीकार करना पड़े। सो समीचीन नहीं, क्योंकि चेतन सिवाय प्रत्येक पदार्थ परिणामी है। परिणाम, सदृश तथा विसदृश के भेद से दो प्रकार के हैं। दुग्ध तथा इक्षु जबतक दधि तथा गुडरूप से परिणत नहीं होता है, तबतक उसमें सदृश परिणाम होता है और दधि तथा गुडरूप उसका विसदृश परिणाम है। अतः यह सिद्ध हुआ कि, जिसका सदृश परिणाम होता है उसका विसदृश परिणाम और जिसका विसदृश परिणाम होता है उसका सदृश परिणाम भी अवश्य होता है। प्रकृति का महदादि विसदृश परिणाम हैं, अतः सदृश परिणाम भी अवश्य होना चाहिये। और जो प्रकृति का सदृश परिणाम हैं वही महाप्रलय है, यह सिद्ध हुआ। और जब उक्त युक्ति से महाप्रलय सिद्ध हुआ तब महाप्रलय के बाद पुनः सृष्टि करने के लिये ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक है। और वह ईश्वर क्लेश-कर्म विपाकाशय से रहित तथा साम्य, अतिशय, ऐश्वर्य से विनिर्मुक्त, अनादि, अनन्त, नित्य, पुरुषविशेषरूप है, जिसके प्रणिधान से शीघ्र समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त होता है। इति ॥ २४॥

जीवात्मा रूप अन्य पुरुषों की अपेक्षा ईश्वर में निरतिशय सर्वज्ञत्व रूप अन्य विशेष को प्रतिपादन करते हुए सूत्र की अवतरणिका भाष्यकार रचते हैं—किञ्चेति।

किं च—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः।

अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति।

किञ्च—अन्य प्रकार की उत्कृष्टता भी ईश्वर में है। इस प्रकार ईश्वर तथा ईश्वर की ज्ञान-क्रिया शक्ति के उत्कर्ष में श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि शास्त्र रूप आगम प्रमाण तथा महात्माओं के प्रत्यक्ष रूप अनुभव प्रमाण होने पर भी निरीश्वरवादी की भ्रान्ति को निवारण करने के लिये सूत्रकार अनुमान प्रमाण का भी उपन्यास करते हैं—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।—तत्र—पूर्वोक्त ईश्वर तथा उसकी ज्ञानक्रिया-शक्ति के उत्कर्ष में, सर्वज्ञबीजम्—सर्वज्ञत्व के कारण ज्ञान, निरतिशयम्—अतिशय रहित है। अर्थात् अन्तिम उन्नति के रूप से विद्यमान रहता है। भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—यदिदमिति। यत्—जो, इदम्—यह, अतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येक-समुच्चयातीन्द्रियग्रहणम्—किसीका केवल वर्तमान विषयक, किसीका भूत, भविष्यत्, वर्तमान रूप त्रैकालिक पदार्थ विषयक, किसी का एक विषयक, किसीका अनेक विषयक, किसीका स्थूल विषयक, तथा किसीका अतीन्द्रिय (सूक्ष्म) विषयक ग्रहण (ज्ञान) है और वह, अल्पं बह्विति—सत्वगुण के न्यूनाधिक होने से स्वल्प तथा अधिक सातिशय रूप, सर्वज्ञबीजम्—सर्वज्ञता का कारणभूत है, एतत्—यह ज्ञान, विवर्धमानम्—वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, यत्र—जहां जाकर, निरतिशयम्—निर-तिशय रूप काष्ठा को प्राप्त होता है, सः—वह, सर्वज्ञः—सर्वज्ञ ईश्वर है। इस कथन से प्रमेयमात्र दिखा कर अनुमान प्रमाण दिखाते हैं-अस्तीति। सर्वज्ञबीजस्य—सर्व-ज्ञता के कारण ज्ञान की, काष्ठाप्राप्तिः—निरतिशय रूप काष्ठाप्राप्ति, अस्ति—है, साति-शयत्वात्—सातिशय होने से, जो सातिशय होता है वह निरतिशय रूप काष्ठा को अवश्यक प्राप्त होता है, परिमाणवत्—जैसे परिमाण। इस अनुमान में ज्ञानपक्ष, निरतिशयत्व साध्य, सातिशयत्व हेतु, और परिमाण दृष्टान्त है।

भाव यह है कि, जो पदार्थ न्यूनाधिक्य धर्मवाला होने से सातिशय होता है, वह अवश्य कहीं न कहीं काष्ठा (सीमा) को प्राप्त होता हुआ निरतिशय हो जाता है। जैसे अणुपरिमाण परमाणु में तथा महत्परिमाण आकाश में काष्ठा को प्राप्त होता हुआ निरतिशय हो जाता है, वैसे ही सर्वज्ञता का हेतुभूत ज्ञान भी न्यूनाधिक्य रूप धर्म-वाला होने से सातिशय है, अतः यह भी कहीं न कहीं अवश्य काष्ठा को प्राप्त होता हुआ निरतिशय होना उचित है। जहां जाकर काष्ठा को प्राप्त होता हुआ निरतिशय होता

यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। स च पुरुषविशेष इति। सामान्य-मात्रोपसंहारे च कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति।

तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या।

है, उसको दिखाते हैं—यत्रेति। यत्र—जहां जाकर, ज्ञानस्य—ज्ञान की, काष्ठा-प्राप्तिः—काष्ठा प्राप्ति (विश्रान्ति) होती है, सः—वह, सर्वज्ञ—सर्वज्ञ ईश्वर है, च—और, सः—वह, पुरुष विशेष इति—आत्मा रूप पुरुष की अपेक्षा परमात्मा रूप पुरुष विशेष है, इति—यह सिद्ध हुआ। अर्थात् जैसे वटधाना, सर्षप, चणक, आमलक, बिल्व तथा कटहर आदि में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर में महत्परिमाण और उत्तर-उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व में अणुपरिमाण है और वे दोनों परिमाण एक की अपेक्षा दूसरे में अधिक होने से सातिशय है। अतः महत्परिमाण की काष्ठा आकाश में और अणुपरिमाण की काष्ठा परमाणु में है, क्योंकि, आकाश से बड़ा और परमाणु से छोटा दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। अत एव महत्परिमाण आकाश में और अणुपरिमाण पर-माणु में निरतिशयता को प्राप्त होता है। वैसे ही कीट, पतंग, पशु, पक्षी, देव, दानव, मनुष्य, मुनि, तथा ज्ञानी, योगी आदि में जो ज्ञान विद्यमान है वह भी एक की अपेक्षा दूसरे में अधिक होने से सातिशय है। अतः उस ज्ञान की अतिशयता की काष्ठा कहीं न कहीं अवश्य है और जहाँ अतिशयता की काष्ठा है वही उस ज्ञान की निरतिशयता भी मानना उचित है। अत एव जहाँ उस ज्ञान की निरतिशयता सदा विद्यमान रहती है वही परमेश्वर है, यह फलित हुआ।

आशङ्का—पूर्वोक्त अनुमान से जो सर्वज्ञ है, वह ईश्वर है, इस प्रकार ईश्वर का अस्तित्व सामान्य रूप से सिद्ध हुआ, और बुद्ध तथा अर्हत् को उनके अनुयायी लोग सर्वज्ञ मानते हैं। अतः उनमें से कोई एक पुरुषविशेष ईश्वर क्यों नहीं माना जाय? इस प्रकार की आशङ्का को भाष्यकार निरास करते हैं—सामान्येति। सामान्यमा-त्रोपसंहारे च—ईश्वर के अस्तित्व रूप सामान्य अर्थ बोधन करके, कृतोपक्षयम्—चरितार्थ हुआ, अनुमानम्—उक्त अनुमान प्रमाण, न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थम्—विशेष रूप अर्थ-बोधन करने में समर्थ नहीं है, अतः "बुद्ध अर्हत् आदि कोई व्यक्ति-विशेष ईश्वर है," ऐसा अनुमान से नहीं समझा जा सकता है। क्योंकि, अनुमान में सामान्य अर्थ बोधन करने की ही सामर्थ्य रहती है, विशेष की नहीं।

आशङ्का—जब अनुमान में विशेष अर्थ बोधन करने की शक्ति नहीं है तो शिव, विष्णु आदि ईश्वर के नाम हैं, इसमें प्रमाण क्या? इस आशङ्का का समाधान करते हैं-तस्येति। तस्य—जिसका उक्त अनुमान से सामान्य अस्तित्व प्रतीत हुआ है उस ईश्वर की, संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिः—शिव, विष्णु, आदि संज्ञा तथा आदि पद से वक्ष्यमाण वायुपुराण में प्रतिपादित षड्-अङ्ग एवं दश अव्यय का

तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्।

बोध आगमतः–श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराण रूप आगम-प्रमाण से, पर्यन्वेष्या–अन्वेषण (खोज) कर लेना चाहिये। यद्यपि बौद्ध, जैन आगम भी "ईश्वर के नाम बुद्ध, अर्हत् आदि हैं" ऐसा बोधन करते हैं, तथापि उनके वक्ता सकल प्रमाण बाधित क्षणिक तथा निरात्मवाद के उपदेशक दोष होने से भ्रमप्रमादादि युक्त हुए हैं अतः उनके रचित आगम आगम नहीं, किन्तु आगमाभास हैं; अत एव प्रमाण नहीं। जैसे ज्ञानकाष्ठा का आधार ईश्वर सिद्ध हुआ, वैसे ही धर्म, वैराग्य ऐश्वर्य आदि सम्पत्तिकाष्ठा का भी आधार ईश्वर को ही समझना चाहिये, पूर्वोक्त छः अङ्ग तथा दश-अव्यय निम्न लिखित हैं—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्यशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥
वायुपु० १२–३१

तथा,

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ॥ वायुपु० १०–६०

सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि ज्ञान, स्वतन्त्रता, अलुप्त चेतनता तथा अनन्त शक्ति; ये छः अङ्ग और ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व, आत्मसंबोध तथा अधिष्ठातृत्व, ये दश अव्यय (नाश के अभाव) सदा ईश्वर में विद्यमान रहते हैं।

निरीश्वर सांख्यवादी शङ्का करते हैं कि–यदि आपका अभिमत ईश्वर इस प्रकार का नित्य तृप्त तथा वैराग्यातिशय सम्पन्न है तो उसकी संसार-रचना में प्रवृत्ति कहना निर्मूल है, क्योंकि, प्रवृत्ति के निमित्त स्वार्थ होता है। नित्यतृप्त ईश्वर को स्वार्थी कहना समीचीन नहीं। यदि कहें कि प्राणियों पर अनुग्रह भी प्रवृत्ति का प्रयोजक होता है, अतः ईश्वर को कोई स्वार्थ न होने पर भी भूतानुग्रह ही उनको प्रवृत्त कराता है, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि, सर्ग के आदि में प्राणियों का अभाव होने से कोई अनुग्रह का विषय नहीं प्रतीत होता है। थोडी देर के लिये मान भी लिया जाय कि, भूतानुग्रह ही ईश्वर को संसार–रचना में प्रवृत्त कराता है, तो भी समदृष्टि ईश्वर में वैषम्यरूप पक्षपात तथा नैर्घृण्यरूप निर्दयता कहना भी समुचित नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि, किसीको सुखी, किसीको दुःखी, किसीको धनी, किसीको निर्धन करना अनुग्रह नहीं कहा जा सकता है। कृपालु पुरुष की प्रवृत्ति तो सुख के ही लिये होती है, दुःख के लिये नहीं।

इस आशङ्का को भाष्यकार दूर करते हैं—तस्येति। तस्य–उस नित्य तृप्त ईश्वर को, आत्मानुग्रहाभावेऽपि–आत्मानुग्रह अर्थात् अपना स्वार्थ न होने पर भी,

ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति ।

तथा चोक्तम्—आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति ॥ २५ ॥

भूतानुग्रहः-प्राणियों पर कृपा ही, प्रयोजनम्-संसाररचना करने में प्रयोजन है, अर्थात् कृपापरवश होकर ही ईश्वर प्रवृत्ति करता है ।

विवेकख्याति के उपाय बताते हैं—ज्ञानधर्मोपदेशेनेति । ज्ञानधर्मोपदेशेन-ज्ञान तथा धर्म के उपदेश द्वारा, कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु-कल्पप्रलय तथामहाप्रलय में लीन, संसारिणः पुरुषान्-संसारी पुरुषों का, उद्धरिष्यामि-उद्धार करूंगा, इति-इस प्रकार का प्राणी- उद्धार विषयक ईश्वर का संकल्प है ।

भाव यह है कि, "नित्यो नित्यानाम्" "न जायते म्रियते वा" इत्यादि श्रुतियों से जीवात्मा रूप पुरुष की नित्यता सिद्ध होने से सृष्टि के आदि काल में उनका अभाव कहना अप्रमाणिक है। अतः सृष्टि के आदि काल में जीवों के सद्भाव होने से वे ही ईश्वर-अनुग्रह के विषय हैं और संसार के अनादि होने से पूर्व सर्ग में किये हुए कर्मों के फल देने के लिये तथा ज्ञानधर्मोपदेश द्वारा जीवों को संसारसागर से उद्धार करने के लिये नित्यतृप्त होते हुए भी करुणापूर्ण ईश्वर संसारसागर में प्रवृत्त होता है। अतः उन्मत्तवत् निष्प्रयोजन ईश्वर की प्रवृत्ति कहना शोभास्पद नहीं। और जैसे राजा अपने राजकर्मचारियों को कर्मानुसार न्यू नाधिक वेतन देने से तथा अपराधियों को दण्ड देने से पक्षपाती तथा निर्दय नहीं कहा जाता है, वैसे ही ईश्वर भी प्राणियों को कर्मानुसार न्यूनाधिक सुख दुःख फल देने से पक्षपाती तथा निर्दय नहीं कहा जा सकता है। जीवों के कर्मानुसार अवश्य फल देना उन पर ईश्वर का अनुग्रह करना है, केवल सुख देना नहीं। यदि कहें कि, सबसे प्रथम सर्ग में जीवों के कर्मों का अभाव होने से कर्मानुसार ईश्वर की प्रवृत्ति कैसे ? तो संसार अनादि होने से कोई भी पूर्व सर्ग नहीं, किन्तु पूर्व की अपेक्षा सभी उत्तर ही हैं। अतः यह भी दोष नहीं। अपना स्वार्थ न होने पर भी करुणा से ईश्वर प्रवृत्त होता है। इस बात को सांख्याचार्य पञ्चशिख मुनि भी मानते हैं। इसको भाष्यकार दिखाते हैं—तथा चोक्तमिति। तथा च- इसी प्रकार, उक्तम्-पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—आदिविद्वान् भगवान् परमर्षिः-आदिविद्वान् भगवान् परमर्षिकपिल मुनि ने, निर्माणचित्तम्-योगबलनिर्मित विशुद्ध चित्त को, अधिष्ठाय-आश्रय कर, कारुण्यात्—दया से, जिज्ञासमानाय-जिज्ञासु, आसुरये आसुरि नामक शिष्य को, तन्त्रम्-पञ्चविंशति (पच्चीस) तत्त्वप्रतिपादक सांख्य शास्त्र, प्रोवाचेति-कहा अर्थात् उपदेश दिया।

स एषः—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते ।

यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः ।

सारांश यह है कि, कपिलमुनि ईश्वर के अवतार हैं, यह बात पुराण में प्रसिद्ध है और उनने करुणा से सांख्य का उपदेश दिया। इससे नित्यतृप्त होने पर ईश्वर करुणा से प्रवृत्ति करता है, यह बात सिद्ध हुई। इति ॥ २५ ॥

शङ्का–पूर्व सूत्र प्रदर्शित अनुमान-प्रमाण से ईश्वर का अस्तित्वमात्र सिद्ध हुआ है। तद्विषयक विशेष जिज्ञासा होने पर ब्रह्मादि देवों में से अथवा अङ्गिरादि ऋषियों में से कोई एक ईश्वर रूप से क्यों नहीं स्वीकार किया जाय? । ऐसी आशङ्का होने पर सूत्रकार ईश्वर को ब्रह्मादि से भी विशिष्ट रूप से प्रतिपादन करते हैं—'स एषः' पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। 'स एषः' इतना अंश सूत्र की पातनिका (अवतरणिका) भाष्य है। अर्थात् भाष्यकार ने सूत्र के साथ जोड़ कर सूत्र का अर्थ किया है। और "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" इतना अंश सूत्र का है। कतिपय व्याख्याकारों ने "स एषः" इस अंश को भी सूत्र का ही अवयव माना है। अस्तु।

स एषः—सो वह परमेश्वर, पूर्वेषाम्—पूर्व (सृष्टि के आदि काल में) उत्पन्न ब्रह्मा आदि देवों का तथा अङ्गिरादि ऋषियों का, अपि–भी, गुरुः–पिता तथा उपदेष्टा गुरु है। क्योंकि, कालेनानवच्छेदात्–काल करके अवच्छिन्न न होने से जो पदार्थ एक काल में होवे और दूसरे काल में न होवे वह काल से अवच्छिन्न कहा जाता है। ईश्वर सदा विद्यमान है, अतः—यह काल से अवच्छिन्न नहीं, किन्तु अनवच्छिन्न (अपरिमित) है। इस कथन से सृष्टि के आदि काल में ईश्वर था ही नहीं तो पूर्व उत्पन्न ब्रह्मादि के गुरु कैसे? इस शंका की निवृत्ति हो जाती है।

सूत्र का व्याख्यान भाष्यकार करते हैं—पूर्वे हीति। हि–जिस कारण से, पूर्वे–सृष्टि के आदि काल के, गुरवः-ब्रह्मा तथा अङ्गिरादि गुरुजन, उत्पत्ति-विनाशशील होने से अर्थात् सृष्टि से पूर्व तथा महाप्रलय के पश्चात् न रहने से, कालेन—कालद्वारा, अवच्छिद्यन्ते–अवच्छिन्न होते हैं। अर्थात् काल से उनका अवच्छेद (नाप) होता है। अतः वे परमेश्वर नहीं कहे जा सकते हैं। और, यत्र—जहां, अवच्छेदार्थेन—अवच्छेद रूप प्रयोजन से, कालः—काल, नोपावर्त्तते—संबन्ध नहीं करता है अर्थात् काल जिसका अवच्छेद नहीं करता है, स एषः—वह यह परमेश्वर, पूर्वेषाम्–प्रथम

यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ २६ ॥

उत्पन्न ब्रह्मा आदि महात्माओं के, अपि—भी, गुरुः– गुरु है। वर्तमान सर्ग में सिद्ध-अर्थ का भूत सर्ग में भी अतिदेश करते हैं—यथास्येति। यथा—जैसे, अस्य सर्गस्य—वर्तमान सर्ग के, आदौ–आदिकाल में, प्रकर्षगत्या–पूर्वोक्त ज्ञान के उत्कर्ष की प्राप्ति से, निरतिशय ज्ञानादि का आधार परमेश्वर ही, सिद्धः—सिद्ध हुआ, तथा–वैसे ही, अतिक्रान्तसर्गेषु—पूर्व (भूत) सर्गों के आदि में, अपि—भी, प्रत्येतव्यः–निरतिशय ज्ञानादि का आधार परमेश्वर ही है, ऐसा समझना चाहिये। ब्रह्मा तथा अङ्गिरादि ऋषिगण नहीं।

अभिप्राय यह है कि, जैसे ब्रह्मादि देवता तथा अङ्गिरादि ऋषि सृष्टि तथा प्रलय से उत्पत्ति-नाश वाले होने से कालपरिच्छिन्न हैं, वैसे परमेश्वर नहीं, क्योंकि, वह सदा विद्यमान रहने से कालपरिच्छेद से रहित हैं। अतः ब्रह्मादि देवों को तथा अङ्गिरादि ऋषियों को उत्पन्न करके उनको उपदेश देने से अर्थात् उनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश करने से परमेश्वर उन सबका गुरु है।

पूर्वोक्त युक्ति से जैसे वर्तमान सर्ग के आदि में निरतिशय धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य का आश्रय परमेश्वर ही सिद्ध हुआ। वैसे ही असंख्य पूर्व सर्ग के आदि में परमेश्वर के विद्यमान रहने से उक्त निरतिशय धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य का आश्रय उसी (परमेश्वर) को समझना चाहिये, ब्रह्मा आदि को नहीं, यह बात सिद्ध हुई। परमेश्वर ने सर्ग के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न करके उनको वेदों का उपदेश दिया। यह बात,

> यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
> तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
>
> श्वे० अ. ६–१८

इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है।

जो परमात्मा सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, और जो परमात्मा उनको (ब्रह्मा को) वेदों का उपदेश देता है। अर्थात् उनके हृदय में वेद के अर्थज्ञान को प्रकाश करता है। उस आत्म-बुद्धि के प्रकाशक देव की शरण को मैं मुमुक्षु प्राप्त होता हूँ। यह उक्त मन्त्र का अर्थ है। इति ॥ २६ ॥

पूर्वोक्त " ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इस सूत्र से ईश्वर के प्रणिधान (चिन्तन) से भी शीघ्र समाधिलाभ होता है, यह कहा। इसमें ईश्वर विषयक जिज्ञासा होने पर प्रसंगोपात्त उक्त तीन सूत्रों से ईश्वर का निरूपण किया। अब प्रकृत ईश्वर-प्रणिधान का कथन

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति ।

करने के लिये ईश्वर के वाचक नाम का निर्देश सूत्रकार करते हैं—तस्य वाचकः प्रणवः । तस्य—उस पूर्वोक्त ईश्वर का, वाचकः—अभिधायक (बोधक) शब्द, प्रणवः—ओङ्कार है । अर्थात् ईश्वर का नाम ओम् । "प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति प्रणवः" इस व्युत्पत्ति से ओम् शब्द का नाम प्रणव है; क्योंकि, ओम् शब्द के द्वारा परमेश्वर की विशेष स्तुति की जाती है । इसी प्रकार "अवति इति ओम्" इस विग्रह से जो रक्षा करे उसका नाम ओम् है और परमेश्वर ही प्राणिमात्र की रक्षा करता है । अतः परमेश्वर का नाम ओम् है, यह सिद्ध हुआ ।

सूत्र का विवरण भाष्यकार करते हैं—वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । प्रणवस्य-प्रणव (ओङ्कार) का, वाच्यः—अर्थ, ईश्वरः—परमेश्वर है । जैसे लोक में शृङ्ग, पुच्छ, सास्ना आदि आकृतिवाले पशुविशेष का वाचक गो शब्द है, वैसे ही सर्वज्ञत्व आदि धर्मवाले परमेश्वरूप पुरुषविशेष का वाचक प्रणव है । अतः परमेश्वर प्रणव का वाच्य है । इस प्रकार ईश्वर तथा ओङ्कार का वाच्यवाचकभाव (प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव) संबन्ध दिखाया गया ।

दूसरे दार्शनिकों के मत के विमर्श द्वारा भाष्यकार उपन्यास करते हैं—किमस्येति । किम्—क्या, अस्य—उस ईश्वर तथा प्रणव का, वाच्यवाचकत्वम्—वाच्य वाचकभाव संबन्ध, सङ्केतकृतम्-सङ्केतजन्य है, अथ—अथवा, प्रदीपप्रकाशवत्-दीपक के प्रकाश के समान, अवस्थितमिति—प्रथम से विद्यमान का ही सङ्केतद्योत्य है ? भाव यह है कि, अमुक पद से अमुक ही अर्थ का बोध हो, इस प्रकार की सर्ग के आदिमें जो ईश्वर की इच्छा वह सङ्केत कहा जाता है। जैसे घट पद से पृथुबुध्नोदराकार कम्बुग्रीवादिवाले पदार्थ का ही बोध हो, ऐसा सर्ग के आदि में ईश्वर ने सङ्केत किया है । अतः घट पद से घडा रूप अर्थ ही समझा जाता है, अन्य नहीं । अतएव घट पद तथा घडा रूप अर्थ इन दोनों का जो वाच्य-वाचकभाव संबन्ध है, वह ईश्वर के उक्त सङ्केत से जन्य है, ऐसा ईश्वरवादी नैयायिक मानते हैं। और मीमांसक लोग ईश्वर को नहीं मानते हैं, और कहते हैं, कि, संसार का खण्ड प्रलय होता है, महाप्रलय नहीं । अतः सर्ग भी नहीं, किन्तु संसार अनादि है । पद, पदार्थ और पद-पदार्थ का वाच्य-वाचकभाव संबन्ध, ये तीनों पदार्थ नित्य हैं । अतः सदा विद्यमान रहते हैं । जैसे प्रथम से ही स्थित रूपादि पदार्थ को प्रदीपप्रकाश द्योतनमात्र करता है, उत्पन्न नहीं, वैसे ही प्रथम से स्थित पद-पदार्थ के वाच्यवाचकभाव संबन्ध को आधुनिक पुरुष का सङ्केत

स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह संबन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति।

यथाऽवस्थितः पितापुत्रयोः संबन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति।

द्योतनमात्र करता है, उत्पन्न नहीं। अतः पद-पदार्थका वाच्यवाचकभाव संवन्ध सङ्केत-द्योत्य है, सङ्केतजन्य नहीं। अतः शंकावादी यह पूछना चाहते हैं कि, इन दोनों मतों में से आप किस मत को मानते हैं? अर्थात् प्रणव और ईश्वर का जो वाच्यवाचक-भाव संबन्ध है, वह संकेतजन्य है अथवा सकेतद्योत्य है?

इस प्रकार विमर्श करके उत्तर रूप अपना अभिमत निश्चय को दिखाते हैं—स्थितोऽस्येति। अस्य वाच्यस्य–इस ईश्वर रूप वाच्य का, वाचकेन सह—प्रणव-रूप वाचक के साथ, संवन्धः—वाच्यवाचकभाव संबन्ध, स्थितः—प्रथम से ही स्थित (विद्यमान) है, ईश्वरस्य—ईश्वर का, सङ्केतः—सङ्केत, तु–तो, स्थितमेवार्थम्—प्रथम से स्थित संबन्ध रूप अर्थ को, अभिनयति—अभिनय करके दिखाता है। अर्थात् जैसे नट प्रथम से स्थित नल आदि का स्वाङ्ग द्वारा अभिनय करके दिखाता है, पर नल आदि को उत्पन्न नहीं करता है, वैसे ही ईश्वर और प्रणव का वाच्यवाचक-भाव संबन्ध प्रथम से स्थित है। उसीको ईश्वर का सङ्केत अभिनय करके दिखाता है। भाष्यकार दूसरा उदाहरण देते हैं यथा—जैसे, अवस्थितः—प्रथम से ही विद्यमान, पितापुत्रयोः—पितापुत्र का, संबन्धः—जन्य-जनकभाव संबन्ध है, उसको, सङ्केतेन – सङ्केत के द्वारा, अवद्योत्यते–प्रकाश किया जाता है, अयम्–यह, अस्य–इसका, पिता–पिता है, अयम्–यह, अस्य–इसका, पुत्रः–पुत्र है, इति-इस प्रकार।

भाव यह हैं कि, उक्त नैयायिक मत में अरुचि दिखाते हुए भाष्यकार ने मीमांसकों के जैसा शब्दार्थ संबन्ध को नित्य होने से संकेतद्योत्य माना है। इसमें हेतु यह है कि, प्रकृत सूत्रकार भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य में "सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे" इस वार्तिक के व्याख्यान में "अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः। नित्यपर्यायवाची सिद्ध-शब्दः। कथं ज्ञायते। यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्त्तते। तद्यथा-सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति"। इत्यादि पंक्तियों से शब्दार्थ संबन्ध को नित्य माना है, और जो पदार्थ नित्य होता है वह सङ्केतजन्य नहीं कहा जा सकता है। अतः भाष्य-कार ने पूर्वोक्त प्रबल दृष्टांतों से सूत्रकार के अभिप्राय को यथार्थ ही व्यक्त किया है।

शङ्का होती है कि, महाप्रलय में वाच्य तथा वाचक का नाश होने से उनका वाच्यवाचकभाव संबन्ध भी नष्ट हो जाता है और जब फिर से सृष्टि होती है तब वाच्य और वाचक फिर उत्पन्न होते हैं। उस समय जब ईश्वर उक्त संकेत करता है

सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते । संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते ॥ २७ ॥

तब वाच्यवाचकभाव संबन्ध संकेत से उत्पन्न होता है। अतः उक्त संबन्ध संकेतजन्य ही हुआ तो संकेतद्योत्य कैसे ?

इस आशंका का समाधान भाष्यकार करते हैं–सर्गान्तरेष्वपीति । सर्गान्तरेष्वपि–उस संकेतद्योत्य वाच्यवाचकभाव संबन्ध जैसे वर्त्तमान सर्ग में सिद्ध हुआ, वैसे ही सर्गान्तर में भी था, तथैव–उसी प्रकार, वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षः–पूर्व सर्ग के वाच्यवाचकभाव संबन्ध सापेक्ष वर्त्तमान सर्ग के वाच्यवाचकभाव संबन्ध का, सङ्केतः–संकेत, ईश्वर के द्वारा, क्रियते–किया जाता है।

भाव यह है कि, शब्द, अर्थ तथा उन दोनों का संबन्ध प्रकृति के कार्य होने से महाप्रलय के समय प्रकृति में लीन (तिरोहित, नष्ट नहीं) होता है तथापि सर्ग के आदि में पुनः आविर्भूत होने से उसी स्थित शब्दार्थ संबन्ध को प्रदीपप्रकाशवत् ईश्वर पुनः संकेत से द्योतनमात्र करता है, नूतन उत्पन्न नहीं । अतः उस समय भी संकेतद्योत्य ही शब्दार्थसंबन्ध है, संकेतजन्य नहीं, यह सिद्ध हुआ।

सारांश यह है कि, नित्यता दो प्रकार की होती है, कूटस्थ रूप नित्यता और प्रवाह रूप नित्यता । उन दोनों में शब्दार्थ संबन्ध में जो नित्यता है वह कूटस्थ नित्यता नहीं किन्तु प्रवाहरूप नित्यता है । इसमें आगमकार की संमति भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं —संप्रतिपत्तिनित्यतयेति । संप्रतिपत्तिनित्यतया–सदृश व्यवहार परम्परा (प्रवाह) नित्य होने से, शब्दार्थसंबन्धः–शब्द तथा अर्थ का वाच्यवाचकभाव संबन्ध, नित्यः–नित्य है, इति–यह, आगमिनः–आगमशास्त्रकार, प्रतिजानते–कहते हैं अर्थात् निश्चयपूर्वक स्वीकार करते हैं । भाव यह है कि, सर्गान्तर में भी वर्तमान सर्ग के जैसा ही शब्दार्थसंबन्ध संकेतद्योत्य है, यह आगमविरुद्ध नहीं, किन्तु आगमसंमत है । यद्यपि प्रलयकाल में अपनी शक्ति सहित पद का प्रधान में तिरोभाव (लय) होता है तथापि फिर सृष्टिकाल में शक्ति सहित ही पद का आविर्भाव भी होता है, संबन्धादि शक्ति रहित नहीं । अतः पूर्व संबन्ध के अनुसार ही संकेत भी होता है, विलक्षण नहीं । अतएव उक्त व्यवहार-परंपरा से शब्दार्थसंबन्ध नित्य है, यह सिद्ध हुआ।

ऊपर जो सूत्र में 'प्रणव' आया है उसकी सिद्धि निम्न प्रकार से होती है—, प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति विग्रहे प्रपूर्वक 'णू स्तवने' इत्यस्माद्धातोः 'ॠदोरप्' इति सूत्रेण अप् प्रत्यये 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति सूत्रेण गुणे 'एचोऽयवायावः' इति सूत्रेणावादेशे 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति सूत्रेण णत्वे 'कृत्तद्धितसमासाश्च'

विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम् ।

तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते । तथा चोक्तम्—

इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञायां, 'सौ' अनुबन्धलोपे रुत्वे विसर्गे च 'प्रणवः' इति रूपं सिद्धम् ।

वैसे ही प्रणव शब्द का पर्याय वाचक 'ओम्' शब्द की सिद्धि भी निम्न प्रकार से होती है—'अवतीति ओम्' इति विग्रहे अवधातोः 'अवतेष्टिलोपश्च' इत्युणादि सूत्रेण मनप्रत्यये मनूप्रत्ययस्य टिलोपे च अव् म् इति जाते 'ज्वरत्वर' इत्यादि सूत्रेण 'उपधाव-कारयोरूठि 'ऊ म्' इति जाते 'सर्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'ओम्' इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

प्रणिधान के उपयोगी ईश्वर-वाचक प्रणव का निरूपण करके प्रणिधान के स्वरूप को सूत्रकार निरूपण करते हैं–तज्जपस्तदर्थभावनम् । भाष्यकार ने इस सूत्र के आदि में "विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः" इतने अंश का अध्याहार किया है । अतः उसके अनुसार "विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनस्तज्जपस्तदर्थभावनम्" इतना बड़ा वाक्य समझना चाहिये, जिसका अर्थ नीचे दिया जाता है ।

विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य–विशेष रूप से ज्ञात वाच्य-वाचक भाव संबन्धवाले, योगिनः–योगियों को, तज्जपः–उस प्रणव का उच्चारण रूप जप और तदर्थभावनम्–उस प्रणव के अर्थ-स्वरूप ईश्वर की भावना अर्थात् पुनः पुनः चित्त में निवेश रूप ध्यान करना कर्तव्य है ।

सूत्रार्थ भाष्यकार कहते हैं--प्रणवस्येति । प्रणवस्य–ओङ्कार का, जपः–जप, च–और, प्रणवाभिधेयस्य–ओङ्कार के अर्थ, ईश्वरस्य–ईश्वर का, भावनम्–वारंवार चित्त में निवेश करना योगियों का परम कर्तव्य है । इस जप तथा भावना का फल दिखाते हैं - तदस्येति । तत्–इस प्रकार, प्रणवं जपतः–ओङ्कार का जप करनेवाले, च–और, प्रणवार्थं भावयतः—ओङ्कार का अर्थ ईश्वर की भावना करनेवाले, अस्य योगिनः–उक्त योगी का, चित्तम्–चित्त, एकाग्रम्–एकाग्र (स्थिर), संपद्यते–हो जाता है । यद्यपि एक काल में जप और भावना करना असंभव है तथापि भावना (ध्यान) के पूर्व तथा भावना के पश्चात् जप करे ऐसा क्रम समझना चाहिये । इसमें स्व-उक्तिस्वरूप वैयासिकी गाथा का प्रमाण देते हैं--तथा चोक्तम्—ऐसा ही विष्णु-पुराण में कहा है--

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते ।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ इति ॥ २८ ॥
किंचास्य भवति—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते ।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥
वि० पु० ६-६-२ ॥ इति ॥

स्वाध्यायात्-प्रणव-जप के पश्चात्, योगमासीत-ईश्वर-भावना करे, और, योगात्-ईश्वर-भावना के पश्चात्, स्वाध्यायमासते-प्रणव-जप करे, स्वाध्याययोगसंपत्त्या-इस प्रकार जप तथा योग की प्राप्ति होने पर, परमात्मा प्रकाशते-परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है।

भाव यह है कि, प्रणव का जप तथा प्रणव-अर्थ की भावना निरन्तर करते रहना योगियों का परम कर्तव्य है। क्योंकि, यही (जप तथा भावना) ईश्वर-प्रणिधान कहा जाता है। अतः इसी प्रणव का नित्य जप करते रहने से तथा प्रणव-अर्थ ईश्वर-भावना करते रहने से योगियों का चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता हुआ शीघ्र समाधिलाभ कर लेता है। तत्पश्चात् विवेकख्याति (स्वरूप-साक्षात्कार) द्वारा योगियों को कैवल्य की प्राप्ति होती है।

आशंका—श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं, स याति परमां गतिम् ॥ ८।१३

इस श्लोक से प्रणव का जप तथा ईश्वर-भावना को साक्षात् मोक्ष का साधन कहा है, और योगसूत्रकार ने योग द्वारा जप तथा ईश्वर-भावना को मोक्ष का साधन कहा है, उक्त गीता-वाक्य के साथ सूत्रकार के कथन का विरोध स्पष्ट प्रतीत होता है ?

समाधान—पूर्वोक्त श्लोक से पूर्व—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ ८।१२

यह श्लोक है। इसके साथ एकवाक्यता करके ओङ्कारजप तथा ईश्वर भावना के द्वारा समाधिलाभ करते हुए योगी परम गति को प्राप्त होता है। ऐसा अर्थ करके दोनों का समन्वय करने से दोष का परिहार हो जाता है; अतः विरोध नहीं ॥ २८ ॥

निम्न लिखित पंक्ति द्वारा जिज्ञासा उपस्थित करते हैं कि, पूर्वोक्त ईश्वर-प्रणिधान का केवल समाधिलाभ ही प्रयोजन है अथवा अन्य भी कोई प्रयोजन है ? किञ्चास्य

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति।

यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः

भवतीति। च–और, किम्—क्या प्रयोजन, अस्य—इस, ईश्वर-प्रणिधान का, भवति–है ? सूत्रकार अन्य जो मुख्य प्रयोजन हैं, उनको दिखाते हैं—ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। ततः–पूर्वोक्त ईश्वर-प्रणिधान से, अन्तरायाभावः–वक्ष्यमाण व्याधिस्त्यान आदि विघ्न का अभाव, च—और, प्रत्यक्चेतनाधिगमः–आन्तर-चेतन रूप आत्मा का साक्षात्कार, अपि–भी, होता है। अर्थात् ईश्वर के प्रणिधान से जैसे शीघ्र समाधिलाभ होता है, वैसे ही विघ्नाभावपूर्वक अपने शुद्ध रूप का साक्षात्कार भी हो जाता है। सूत्र के प्रत्यक् पद से ईश्वर तथा चेतन पद से जड प्रधान की व्यावृत्ति होती है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—ये तावदिति। ये तावदन्तरायाः-जो विघ्न रूप, व्याधिप्रभृतयः–वक्ष्यमाण व्याधि आदि हैं, ते तावत्—वे सब, ईश्वरप्रणिधानात्—ईश्वर की भावना से, न भवन्ति—नहीं होने पाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। प्रणिधान का विघ्नाभाव रूप एक मुख्य फल कह कर अन्य भी स्वरूप-साक्षात्कार रूप मुख्य फल कहते हैं। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। अस्य–इस ईश्वर-प्रणिधान का फल योगी को, स्वरूपदर्शनमपि–निज शुद्ध-स्वरूप का साक्षात्कार भी, भवति–होता है।

यहां पर ऐसी आशङ्का होती है कि, जिस विषयक प्रणिधान (भावना) किया जाता है, उसी विषयक साक्षात्कार होता है, यह नियम है। प्रकृत में ईश्वर का प्रणिधान ईश्वर-विषयक है, अतः इससे ईश्वर का ही साक्षात्कार होना उचित है ? ईश्वर के प्रणिधान से "प्रत्यक् चेतन जीवात्मा को निजरूप का साक्षात्कार होता है" यह कहना अतिप्रसंग-दोष-युक्त है; क्योंकि, उक्त नियम के भंग करने से सर्वत्र अन्य के प्रणिधान से अन्य का साक्षात्कार होना चाहिये और ऐसा कहीं होता तो नहीं है; अतः उक्त कथन अतिप्रसक्त ही है ?

उक्त आशङ्का का उत्तर भाष्यकार देते हैं—यथैवेश्वर इति। यथैव—जैसे, ईश्वरः पुरुषः–ईश्वर पुरुष है, शुद्धः–कूटस्थ नित्य होने से उत्पत्ति नाश रहित है, प्रसन्नः—क्लेश वर्जित है, केवलः–धर्म-अधर्म से रहित है तथा, अनुपसर्गः—जाति, आयु, भोग से रहित है, तथा–वैसे ही, बुद्धेः प्रतिसंवेदी–बुद्धि-वृत्ति-प्रतिबिम्ब

प्रतिसंवेदी पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ २९ ॥

अथ केऽन्तरायाः ? ये चित्तस्य विक्षेपाः, के पुनस्ते क्रियन्तो वेति—

के ग्रहण करनेवाला, अयमपि—यह प्रत्यक्-चेतन जीवात्मा भी, पुरुषः—पुरुष है, इत्येवम्—इस प्रकार, अधिगच्छति—साक्षात्कार करता है अर्थात् प्रत्यक्-चेतन अधिगम रूप पुरुष-दर्शन को प्राप्त करता है।

भाव यह है कि, यद्यपि यह नियम है कि, जिसकी भावना की जाती है उसीका साक्षात्कार होता है, अन्य का नहीं। अतः परमात्मा की प्रणिधान रूप भावना करने से परमात्मा का ही साक्षात्कार होना उचित है, आत्मा का नहीं। तथापि जैसे एक शास्त्र का पूर्ण अभ्यास हो जाने से उसके सदृश अन्य शास्त्र का भी अनुभव हो जाता है, वैसे ही परमात्मा तथा आत्मा का पुरुषत्वेन अत्यन्त सादृश्य होने से परमात्मा की भावना करने से उसके सदृश आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। और "जिसकी भावना की जाय उसीका साक्षात्कार होता है" यह नियम विसदृश पदार्थविषयक समझना चाहिये। अतः परमात्मा की भावना से आत्मा का साक्षात्कार मानने में जो अतिप्रसंग दोष दिया था उसको यहां अवकाश नहीं है।

यद्यपि "प्रति वस्तु अञ्चति इति प्रत्यक्" इस व्युत्पत्ति से तथा—"प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति" इत्यादि शास्त्र से प्रत्यक् शब्द का प्रत्येक वस्तु में व्यापक रूप से विद्यमान ईश्वर ही अर्थ होता है, जीव नहीं। तथापि "प्रतीपं विपरीतं अञ्चति विजानाति वा इति प्रत्यक्" इस व्युत्पत्ति से विपरीत ज्ञानवाले जीवात्मा भी प्रत्यक् कहे जाते हैं। अतः (इस कथन से) "सूत्रस्थ प्रत्यक्-चेतन शब्द से ईश्वर का ग्रहण करना चाहिये, जीव का नहीं" इस शंका की निवृत्ति हो गई। यहां इतना और भी विशेष समझना चाहिये कि, ईश्वर-प्रणिधान से प्रथम अव्यवहित होने से जीवात्मा के शुद्ध निजरूप का साक्षात्कार होता है, पश्चात् ईश्वर का यह क्रम है। इति ॥ २९ ॥

भाष्यकार प्रश्नोत्तर रूप से सूत्र का अवतरण करते हैं—अथ केऽन्तरायाः। अथ—"ईश्वर के प्रणिधान से अन्तराय (विघ्न) का अभाव होता है" इस बात को सुनने के अनन्तर प्रश्न उठता है कि, केऽन्तरायाः—वे अन्तराय कौन हैं ? उत्तर देते हैं—ये चित्तस्य विक्षेपाः। ये—जो चित्तस्य—चित्तके, विक्षेपाः—विक्षेपक हैं, अर्थात् जो चित्त को विक्षिप्त करके एकाग्रता से प्रच्युत कर देते हैं वे अन्तराय हैं। फिर प्रश्न उठता है—के पुनस्ते क्रियन्तो वेति। के पुनस्ते—फिर उन अन्तरायों के कौन कौन नाम हैं, वा—और, कियन्तः—कितने प्रकार के हैं ? अर्थात् उन अन्तरायों के भिन्न भिन्न नाम तथा उनकी इयत्ता (परिमित संख्या) कहनी चाहिये। इस आकांक्षा

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्ति-दर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्ते ऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

नवाऽन्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः । सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति । एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः । तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम् ।

के निवारणार्थ सूत्रकार अन्तरायों के नाम तथा संख्या निर्देश करते हैं—व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व; ये नव, चित्तविक्षेपाः—चित्त के विक्षेपक अर्थात् चञ्चल करनेवाले हैं । अतः, ते—वे नव, अन्तरायाः—अन्तराय अर्थात् योग के विरोधी होने से विघ्नरूप हैं ।

भाष्यकार सूत्र का अर्थ करते हैं—नवाऽन्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः । चित्तस्य विक्षेपाः—चित्त के विक्षेपक, नवाऽन्तरायाः—उक्त ये नव अन्तराय (योग के विरोधी) हैं । "विक्षिपन्ति योगाद् अपनयन्ति इति विक्षेपाः" इस व्युत्पत्ति से ये व्याध्यादि नव चित्त को विक्षिप्त करते हैं, अतः विक्षेप कहे जाते हैं ।

ये नवों योग के प्रतिपक्षी हैं, इसको अन्वय-व्यतिरेक से निश्चय कराते हैं—सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति । एते—ये नव, चित्तवृत्तिभिः—पूर्वोक्त प्रमाण आदि चित्तवृत्तियों के, सह—साथ ही, भवन्ति—होते हैं, अर्थात् "इनके सद्भाव में पूर्वोक्त प्रमाण, विपर्यय आदि वृत्तियां उत्पन्न होकर चित्त को विक्षिप्त करती हैं और इनके अभाव में उक्त वृत्तियां उत्पन्न नहीं होने से चित्त स्थिर हो जाता है" । इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक से इन नवों में चित्तविक्षेप रूप कार्य के प्रति कारणता गृहीत होती है अर्थात् चित्तविक्षेप के प्रति ये नव कारण हैं, यह निश्चय होता है ।

सूत्रोक्त व्याध्यादि प्रत्येक का व्याख्यान करते हैं—तत्रेति । तत्र—इन नव समाधि के विरोधियों में, धातुरसकरणवैषम्यम्—धातु की विषमता, रस की विषमता, और करण की विषमता, व्याधिः—व्याधि (रोग) कहा जाता है । अर्थात् वात, पित्त, कफ रूप तीनों धातुओं में से किसी एक के कुपित होने से न्यूनाधिक भाव होना धातु-वैषम्य कहा जाता है । भुक्त, पीत अन्न-जल का परिपाक न होना रसवैषम्य कहा जाता

स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्।

आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः। भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभू-

---

है और ज्ञान के करण श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति मन्द होना करणवैषम्य कहा जाता है। इन्हीं तीनों (धातु, रस, करण की विषमताओं) को व्याधि कहते हैं। रोगजन्य शरीर अस्वस्थ रहने पर समाधि का अभ्यास न हो सकने से व्याधि समाधि में अन्तराय है। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। चित्तस्य-चित्त की, अकर्मण्यता-जो कार्य करने में असमर्थता वह, स्त्यानम्-स्त्यान कहा जाता है। अर्थात् इच्छा होने पर भी कोई कार्य करने की क्षमता न रहना स्त्यान कहा जाता है। स्त्यानजन्य चित्त का कार्य करने में असमर्थ होने के कारण समाधि का अभ्यास न हो सकने से स्त्यान समाधि में अन्तराय है। संशय उभयकोटिस्पृग् विज्ञानम्, स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति। इदम् एवम् स्यात्-यह ऐसा होगा, न एवम् स्यात्--अथवा ऐसा नहीं होगा, इति-इस प्रकार का, उभयकोटिस्पृग्विज्ञानम्-एक धर्मी में उभय कोटिविषयक ज्ञान, संशयः-संशय कहा जाता है। "मैं योग कर सकूंगा या नहीं", "यह योग साध्य है या असाध्य" इस प्रकार दो कोटि को विषय करनेवाले ज्ञान को संशय कहते हैं; अतः संशय-युक्त पुरुष से समाधि का अभ्यास न हो सकने के कारण संशय समाधि में अन्तराय है। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्। समाधिसाधनानाम्-समाधि के साधनों का, अभावनम्-अनुसन्धान (उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति) न होना, प्रमादः-प्रमाद कहा जाता है। प्रमाद के कारण समाधि के अभ्यास में प्रवृत्ति न होने से प्रमाद समाधि में अन्तराय है। आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। कायस्य चित्तस्य च-शरीर और चित्त की जो, गुरुत्वात्-भारी होने से, अप्रवृत्तिः-अप्रवृत्ति वह, आलस्यम्-आलस्य कहा जाता है। कफ के आधिक्य से शरीर और तमोगुण के आधिक्य से चित्त भारी होता है। उस समय आलस्य आता है। अतः समाधि का अभ्यास नहीं होता है; अतएव आलस्य समाधि में अन्तराय है। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः। चित्तस्य-चित्त की, विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः-विषय के साथ संयोग होने से अभिकांक्षा (विषय-तृष्णा) रूप वैराग्य का अभाव, अविरतिः-अविरति कहा जाता है। विषय में राग होने के कारण चित्त चञ्चल होने से वैराग्याभाव रूप अविरति भी समाधि में अन्तराय है। भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्। विपर्ययज्ञानम्-अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान, भ्रान्तिदर्शनम्-भ्रान्तिदर्शन कहा जाता है। योग के

मिकत्वं समाधिभूमेरलाभः ।

अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा । समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ ३० ॥

साधनों में असाधन का ज्ञान और असाधनों में साधन का ज्ञानरूप भ्रान्तिदर्शन होने से यह भी समाधि में अन्तराय है। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः । समाधिभूमेः—किसी अन्य प्रतिबन्धक से मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका तथा संस्कारशेषा रूप समाधिभूमि का, अलाभः—लाभ न होना, अलब्धभूमिकत्वम्—अलब्धभूमिकत्व नामक अन्तराय कहा जाता है, और यह (समाधिभूमि प्राप्त न होना) भी समाधि में अन्तराय ही है। अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा। लब्धायां भूमौ—उक्त मधुमत्यादि भूमियों में से किसी एक भूमि की कथञ्चित् प्राप्ति होने पर भी, चित्तस्य—उसमें चित्त की, अप्रतिष्ठा—निरंतर स्थिति का अभाव, अनवस्थितत्वम्—अनवस्थितत्व नामक अन्तराय कहा जाता है, और यह भी निरंतर स्थिरता के अभाव रूप होने से समाधि में अन्तराय है। इसमें हेतु देते हैं—समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति । हि—क्योंकि, समाधिप्रतिलम्भे सति—अन्तिम भूमिक समाधि के लाभ होने पर ही, तदवस्थितं स्यात्—चित्त स्वस्वरूप में स्थित होता है, अर्थात् स्थिति पद को प्राप्त होता है। किसी एक भूमि के लाभ होने पर नहीं।

भाव यह है कि, मधुमती आदि योगभूमियों में से किसी एक योगभूमि की प्राप्ति होने से कृतकृत्यता मान कर बैठे रहने पर चित्त की चरम स्थिति (संपूर्ण निरोध) न होने से प्राप्त हुई भूमि भी नष्ट हो जायगी। अतः इस अवस्था में भी योगी को सावधानी के साथ समाधि का अभ्यास चालू रखना चाहिये। उपसंहार करते हैं—एत इति । एते चित्तविक्षेपा नव—ये पूर्वोक्त चित्त को विक्षेप करने वाले व्याध्यादि नव, योगमलाः—योगमल, योगप्रतिपक्षाः—योगप्रतिपक्ष तथा, योगाऽन्तरायाः—योगान्तराय, इति—इन नामों से, अभिधीयन्ते—व्यवहृत होते हैं। संशय तथा भ्रान्तिदर्शन ये दोनों विपर्यय रूप होने पर भी संशय उभयकोटि विषयक और भ्रान्तिदर्शन एक वस्तु विषयक होने से दोनों का पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है। इन नव अन्तरायों में से संशय और भ्रान्तिदर्शन चित्त की वृत्ति रूप होनेसे साक्षात् समाधि के विघ्न रूप हैं और शेष व्याधि आदि सात अवृत्ति रूप होने पर भी चित्तवृत्ति के सहकारी होने से समाधि के विघ्नरूप हैं, ऐसा विवेक कर लेना चाहिये। इति ॥ ३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च । येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम् ।

पूर्वोक्त केवल व्याधि आदि नव प्रकार के विक्षेप ही अन्तराय हैं, ऐसा नहीं; किन्तु अन्य भी वक्ष्यमाण दुःख आदि पांच उन (विक्षेपों) के साथी हैं। इस बात को सूत्रकार कहते हैं—दुःखदौर्मनस्याऽङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः । दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः–दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास; ये पांच, विक्षेपसहभुवः–पूर्व-उक्त व्याधि आदि नव प्रकार के विक्षेपों के साथी हैं। अर्थात् व्याधि आदि विक्षेपों के होने पर ये दुःख आदि अन्य पाँच भी विघ्न रूप से उपस्थित हो जाते हैं।

भाष्यकार क्रमशः प्रत्येक दुःखादि का व्याख्यान करते हैं— दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च । दुःखम्—दुःख, आध्यात्मिकम्–आध्यात्मिक, आधिभौतिकम् —आधिभौतिक, च—और, आधिदैविकम् — आधिदैविक के भेद से तीन प्रकार के हैं।

यहाँ आध्यात्मिक पद में जो आत्म शब्द है, इसका अर्थ शरीर तथा मन है। अतः "आत्मनि अधि इति अध्यात्म" अर्थात् शरीर और मन के अधिकार (निमित्त) से जो दुःख उत्पन्न होता है, वह अध्यात्म दुःख कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें शरीर-निष्ठ ज्वरादि रोगजन्य दुःख शारीरिक दुःख कहा जाता है और मन-निष्ठ काम क्रोधादिजन्य दुःख मानसिक दुःख कहा जाता है । यद्यपि मनोजन्य होने से सभी दुःखों को मानसिक ही कहना चाहिये, तथापि केवल मनोजन्य मानसिक और शरीरद्वारा मनोजन्य शारीरिक दुःख कहा जाता है। ऐसा विवेक कर लेना चाहिये। आधिभौतिक पद में भूत शब्द का अर्थ प्राणी है। अतः "भूते अधि इति अधिभूतम्" अर्थात् किसी प्राणी के अधिकार से जो दुःख उत्पन्न हुआ हो वह अधिभूत दुःख कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से चौर, व्याघ्र आदि किसी प्राणियों के द्वारा जो दुःख प्राप्त हुआ हो वह आधिभौतिक दुःख कहा जाता है। और आधिदैविक पद में देव शब्द का अर्थ प्रसिद्ध सूर्यादि देव ही है। अतः "देवे अधि इति अधिदेवम्" अर्थात् किसी देव के अधिकार से जो दुःख उत्पन्न हुआ हो वह अधिदेव दुःख कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से इन्द्रादि देवों द्वारा वज्रपात, ग्रहपीडा, अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अति

दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः। यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्। प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः।

एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति। समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥ ३१ ॥

गर्मी आदि से जन्य जो दुःख वह आधिदैविक दुःख कहा जाता है। दुःख का लक्षण करते हैं–येनेति। येन—जिस के संबन्ध होने से, अभिहताः प्राणिनः–पीडित हुए प्राणी, तदुपघाताय–उस प्रतिकूल वेदनीय हेय दुःख की निवृत्ति के लिये, प्रयतन्ते–प्रयत्न करते हैं, तद्–वह, दुःखम्–दुःख कहा जाता है। ये तीनों दुःख विक्षेप द्वारा समाधि के प्रतिपक्षी होने से विक्षेप के साथी एवं परम्परा से समाधि में अन्तराय रूप कहे जाते हैं।

क्रम-प्राप्त दौर्मनस्य का लक्षण करते हैं—दौर्मनस्यमिति। इच्छाव्याघातात्–अभिलषित पदार्थ-विषयक इच्छा का व्याघात होने (पूर्ति न होने) से, चेतसः क्षोभः–जो चित्त में क्षोभ होता है वह, दौर्मनस्यम्–दौर्मनस्य कहा जाता है। यह चित्त-क्षोभ-रूप दौर्मनस्य भी उक्त विक्षेप के साथी होने से समाधि में विघ्नकारी है।

अङ्गमेजयत्व का लक्षण करते हैं–यदङ्गानीति। यत्–जो, अङ्गानि–शरीर के प्रत्येक कर, चरणादि अङ्गों को, एजयति–कम्पयति–कंपावे, तत्–वह, अङ्गमेजयत्वम्–अङ्गमेजयत्व नामक विक्षेप का सहकारी है। यह शरीर का कंपन भी समाधि के अङ्गभूत आसन का विरोधी होने से तद् द्वारा समाधि का प्रतिपक्षी है।

श्वास का लक्षण करते हैं–प्राण इति। प्राणः-प्राण, यत्–जो, बाह्यं वायुम्–इच्छा विना बाह्य वायु का, आचामति–आचमन करता है, अर्थात् नासिकारंध्र द्वारा भीतर प्रवेश करता है, सः–वह, श्वासः–श्वास कहा जाता है। यह प्राणक्रिया यदि चालू रहे तो चित्त समाहित नहीं हो सकता है। अतः यह प्राणक्रिया विशेष भी रेचक प्राणायाम के विरोध द्वारा समाधि का विरोधी है।

प्रश्वास का लक्षण करते हैं—यदिति। यत्–जो प्राण, कौष्ठ्यं वायुम्–इच्छा विना भीतर की वायु को, निःसारयति–बाहर निकालता है, सः–वह, प्रश्वासः–प्रश्वास कहा जाता है और यह प्राण क्रियाविशेष भी समाधि के अङ्गभूत पूरक प्राणायाम के विरोध द्वारा समाधि का विरोधी है।

पूर्वोक्त व्याधि आदि विक्षेप के ये दुःख आदि पाँचों सहायक हैं। इसमें हेतु देते हैं—एत इति। एते–ये दुःख आदि पांच, विक्षेपसहभुवः–पूर्वोक्त व्याधि आदि नव विक्षेपों के साथ होनेवाले हैं अर्थात् सहायक हैं। क्योंकि, विक्षिप्तचित्तस्य–विक्षिप्त चित्त को ही, एते–ये दुःखादि, भवन्ति–होते हैं और, समाहितचित्तस्य–

अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यसेत्।

समाहित चित्त को, एते–ये दुःखादि, न भवन्ति–नहीं होते हैं। भाव यह है कि, विक्षिप्त चित्त में दुःखादि हैं और समाहित चित्त में नहीं। अत एव व्याधि आदि नव विक्षेपों के ये दुःखादि पांच समाधि को विघ्न करने में साथी हैं, यह प्रतीत होता है। इति ॥ ३१ ॥

ईश्वरप्रणिधान विषयक अभ्यासरूप अर्थ का उपसंहार करनेवाले सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं—अथेति। अथ–उक्त अर्थ के अनन्तर, एते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः–पूर्वोक्त सर्व विक्षेप समाधि के विरोधी हैं। अतः, ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्याम्–पूर्वोक्त उसी अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा, निरोद्धव्याः–निरोध करने योग्य हैं। तत्र–उन दोनों अभ्यास वैराग्यों में से, अभ्यासस्य विषयम्–ईश्वरप्रणिधान रूप अभ्यास के विषय का, उपसंहरन्–उपसंहार करते हुए सूत्रकार, इदम्–यह, आह–कहते हैं—तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। तत्प्रतिषेधार्थम्–उन पूर्वोक्त विक्षेपों के प्रतिषेध (निवृत्ति) के लिये, एकतत्त्वाभ्यासः–ईश्वररूप एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।

इसी अर्थ को संक्षेप से भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—विक्षेपेति। विक्षेपप्रतिषेधार्थम्–पूर्वोक्त व्याध्यादि समाधि-विरोधियों के अभाव के लिये, एकतत्त्वावलम्बनम्–ईश्वररूप एक तत्त्वावलम्बन में, चित्तमभ्यसेत्—पुनः पुनः चित्त को प्रवेश करने का अभ्यास योगी करे।

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायाञ्च प्रयुज्यते ॥

इस कोष के अनुसार सूत्र में एक शब्द प्रधान वाचक है। अतः एकतत्त्व शब्द का अर्थ प्रधान तत्त्व हुआ और वह प्रधान तत्त्व यहां पर ईश्वर ही है, अन्य स्थूल आदि पदार्थ नहीं। अतः इस ईश्वररूप एकतत्त्वावलम्बन में बारंबार चित्त को निवेश करना ही एकतत्त्वाभ्यास कहा जाता है। और इसीको ईश्वरप्रणिधान कहते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि, उक्त व्याध्यादि विक्षेपों की निवृत्ति करने के लिये इसी एकतत्त्वाभ्यास रूप ईश्वरप्रणिधान योगी को सतत करते रहना चाहिये।

'राजमार्त्तण्ड' नामक योगसूत्र-वृत्ति में भोजदेव ने "एकस्मिन् कस्मिंश्चित् अभिमते तत्त्वे" इस पंक्ति से "कोई भी अभिमत एक तत्त्व में चित्तनिवेश का

अभ्यास करे" ऐसा कहा है। एवं योगवार्त्तिक में विज्ञानभिक्षु ने "एकं स्थूलं किञ्चित्" इस पंक्ति से एकतत्त्व शब्द का अर्थ कोई एक स्थूल पदार्थ माना है, ईश्वर नहीं और "यत्तु एकतत्त्वशब्देनात्र परमेश्वर एवोक्त इति तन्न, बाधकं बिना सामान्यशब्दस्य विशेषपरत्वानौचित्यात्" इत्यादि पंक्तियों से श्रीवाचस्पति मिश्र ने जो "एकतत्त्वमीश्वरः प्रकृतत्वात्" इस पंक्ति से एकतत्त्व शब्द का अर्थ ईश्वरतत्त्व माना है, उसका खण्डन करते हुए यह कहा है कि, "किसी बाधक के बिना एकतत्त्वरूप सामान्य शब्द का ईश्वरतत्त्व रूप विशेष अर्थ मानना अनुचित है" इत्यादि। वह प्रकरणविरुद्ध तथा उपक्रमोपसंहार की एकरूपता का अज्ञानमूलक समझना चाहिये। क्योंकि, यहां ईश्वरप्रणिधान रूप प्रकरण बाधक होने से एवं निम्नलिखित उपक्रमोपसंहार की एकरूपता बाधक होने से एकतत्त्व रूप सामान्य शब्द का ईश्वर-तत्त्व रूप विशेष अर्थ मानना उचित ही है। तथाहि—

यद्यपि सूत्र में एकतत्त्व शब्द सामान्य-रूप से पठित होने से किसी भी स्थूल पदार्थ को एकतत्त्व शब्द से ग्रहण करने की संभावना हो सकती है, केवल ईश्वर ही नहीं; तथापि शब्द-शास्त्र का यह नियम है कि, जहां अनेकार्थ शब्द होने से किसी एक अर्थविशेष का निश्चय न हो वहां प्रकरण के बल से अर्थ-विशेष का निश्चय किया जाता है। जैसे, सैन्धव पद लवण तथा अश्व रूप दो अर्थ का वाचक होता हुआ भी भोजन रूप प्रकरण के बल से लवण और गमन रूप प्रकरण के बल से अश्वरूप अर्थ-विशेष का ही ग्राहक होता है। वैसे ही प्रकृत में एकतत्त्व शब्द सामान्य अर्थ वाचक होने पर भी ईश्वर-प्रणिधान रूप प्रकरण के बल से ईश्वर रूप अर्थविशेष का ही ग्रहण करना उचित है।

व्यास भगवान् ने प्रकृत सूत्र के अवतरणिका-भाष्य में "तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह" इस कथन से उपसंहार (समाप्ति) परक इस सूत्र का व्याख्यान किया है और उपसंहार उसीका होता है जिसका उपक्रम (आरम्भ) किया गया हो। यहां पर उपक्रम ईश्वरप्रणिधान का है; अतः उपसंहार भी ईश्वरप्रणिधान का ही होना उचित है, अन्य का नहीं। अतएव उपक्रमोपसंहार की एकरूपता के बल से एकतत्त्व शब्द का ईश्वर अर्थ मान कर एकतत्त्वाभ्यास शब्द से ईश्वरप्रणिधान का ही ग्रहण करना उचित है; अन्य किसी स्थूलादि पदार्थ का नहीं, यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि, "ततःप्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" इस गत सूत्र से यह कहा गया है कि, ईश्वरप्राणिधान से प्रत्यक् चेतन का साक्षात्कार तथा अन्तरायों का अभाव होता है। इस पर जिज्ञासा हुई कि, "वे अन्तराय कौन हैं, जिनका ईश्वर-प्रणिधान से अभाव होता है?" तब "व्याधिस्त्यान" इत्यादि तथा "दुःखदौर्मनस्य" इत्यादि सूत्रद्वय से अन्तरायों के स्वरूप दिखाते हुए उनके नाम निर्देश करके

यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम्।

पुनः "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" इस प्रकृत सूत्र से उन्हीं अन्तरायों के अभाव के लिये एकतत्त्व का अभ्यास प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् उपक्रम में जिस ईश्वर-प्रणिधान को अन्तराय-निवृत्ति का उपाय कहा गया है, उसीका उपसंहार प्रकृत सूत्र से कहना होगा; क्योंकि, उपक्रमोपसंहार का यही स्वरूप होता है। अतः एकतत्त्वाभ्यास शब्द से ईश्वरप्रणिधान ही को लेना उचित है और ईश्वर अतिरिक्त जड एवं स्थूल कोई अन्य पदार्थ के प्रणिधान को लेना उचित नहीं। यह दार्शनिक शिरोमणि श्रीवाचस्पति मिश्र का ही मत युक्तियुक्त होने से समीचीन प्रतीत होता है, और विज्ञानभिक्षु का नहीं। ऐसा एक ही स्थल में नहीं किन्तु सम्पूर्ण योगदर्शन में विज्ञानभिक्षु ने श्रीवाचस्पति मिश्र का विरोध बिना समझे ही अर्थ का अनर्थ करते हुए किया है। अत एव योगवार्तिक योगजिज्ञासुओं को उपादेय नहीं किन्तु विपरीत अर्थ का बोधक होने से सर्वथा हेय है।

यदि यह कहें कि, जैसे ईश्वरप्रणिधान अन्तराय निवृत्ति का उपाय है, वैसे ही एकतत्त्वाभ्यास शब्द से प्रतिपादित किसी स्थूल पदार्थ का प्रणिधान एक पृथक् स्वतन्त्र उपाय के रूप में सूत्रकार ने प्रतिपादन किया है, तो वह भी कहना समुचित नहीं। क्योंकि, इसके लिये तो "यथाभिमतध्यानाद्वा" इस अग्रिम सूत्र को बताया ही है। अलम्।

यहां पर प्रसंग से वैनाशिक मत का खण्डन भाष्यकार करते हैं—यस्येति। यस्य तु—जिस वैनाशिक के मत में तो, चित्तम्—चित्त, प्रत्यर्थनियतम्—एक एक विषय में ही नियत अर्थात् क्षणिक होने से एक विषय को ग्रहण करके वहीं समाप्त, प्रत्ययमात्रम्—ज्ञानमात्र अर्थात् वृत्तिरूप आधेय से रहित होने से निराधार, च—और क्षणिकम्—क्षणिक है, तस्य—उस वैनाशिक के मत में, सर्वम् एव चित्तम् एकाग्रम्—प्रतिक्षण उत्पन्न विनष्ट होने से सभी चित्त एकाग्र ही हैं, विक्षिप्तम्—अनेकाग्र (चञ्चल), नास्त्येव—है ही नहीं; क्योंकि, जिस विषय को ग्रहण करने के लिये चित्त उत्पन्न होता है, उसीको ग्रहण करके वह नष्ट हो जाता है; अन्य विषय को ग्रहण करने के लिये रहता ही नहीं है तो अनेकाग्र कैसे कहा जा सकता है? अतः प्रत्येक चित्त व्यक्ति का एकाग्र ही होने से एकाग्रता के लिये योगाभ्यास का विधान उनके मत में व्यर्थ है।

भाव यह है कि, जब चित्त क्षणिक है तब तुरन्त उत्पन्न हो कर नष्ट हो जाने के कारण एक विषय को त्याग कर अन्य अन्य विषयों पर तो जाने पाता ही नहीं तो अनेकाग्र

यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थंनियतम्।

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेन चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदेकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्।

कैसे कहा जा सकता है? और जब अनेकाग्र ही नहीं है तो उसको एकाग्र करने के लिये जो उनके (क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार के) गुरु बुद्ध ने उपदेश दिया है वह व्यर्थ होगा। अतः वैनाशिक का क्षणिक विज्ञानवाद स्वसिद्धान्त से भी विरुद्ध होने से हेय है।

भाष्यकार अपने मत को दिखाते हैं—यदीति। यदि पुनः इदम्—और जब यह चित्त, सर्वतः—सर्व विषय के तरफ से, प्रत्याहृत्य—योगाभ्यास के द्वारा आकर्षित करके, एकस्मिन् अर्थे—किसी एक अवलम्बनीभूत चतुर्भुजादि मूर्ति में, समाधीयते—समाहित किया जाता है, तदा—तब, भवति एकाग्रम्—एकाग्र (स्थिर) होता है, इति—इसलिये, अतः—एकाग्रता के लिये बुद्ध-उक्त उपदेश के विरुद्ध होने से, न प्रत्यर्थनियतम्—एक एक विषय के प्रति नियत (क्षणिक) चित्त नहीं है किन्तु स्थायी है, यह सिद्ध हुआ।

बौद्ध लोग अपने मत का समर्थन करते हैं—यदि हम एक विषय को त्याग कर अन्य-अन्य विषय को ग्रहण करना चित्त की विक्षिप्तता (चञ्चलता) और एक ही विषय में निरन्तर स्थित रहना एकाग्रता है, ऐसा कहें; तब हमारे मत में उक्त अनेकाग्रता का अभाव तथा तत्प्रयुक्त समाधि की व्यर्थता रूप दोष लग सकता है, परन्तु हम ऐसा नहीं कहते हैं; किन्तु परस्पर भिन्न अनेक नीलपीतादि विषयाकार होने से क्षण-क्षण में विलक्षण आकार को धारण करना चित्त की विक्षिप्तता और ज्ञानमात्र निरन्तर सदृश विषयाकार चित्त का प्रवाह चालू होना एकाग्रता है, ऐसा कहते हैं। इस प्रकार की एकाग्रता हमारे मत में भी संभव है। क्योंकि, यद्यपि हमारे मत में चित्त क्षणिक है, तथापि प्रथम क्षण में जिस विषय पर जाकर चित्त समाप्त होता है, पुनः द्वितीय क्षण में पूर्व सदृश विषय में निरन्तर उत्पन्न तथा समाप्त करना यही हमारे मत में योगसाधना से साध्य है। अतः हमारे गुरु बुद्ध का जो समाधि के लिये उपदेश है वह व्यर्थ नहीं।

इसीका संक्षेप से अनुवाद करते हुए भाष्यकार खण्डन करते हैं—योऽपीति। योऽपि—और जो वैनाशिक लोग, सदृशप्रत्ययप्रवाहेन—अभ्यास के द्वारा सदृश चित्त का प्रवाह होने से, चित्तम्—चित्त को, एकाग्रम्—एकाग्र, मन्यते—मानते हैं, उनसे यह पूछना चाहिये कि, जो सदृश-प्रत्ययप्रवाह रूप एकाग्रता आप मानते हैं, वह प्रवाह चित्त का धर्म है अथवा प्रवाह अंश का? (इस प्रकार दो विकल्प करके

अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति।

यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत्। अन्यप्रत्ययोपचि-

---

खण्डन करते हैं)। तस्य एकाग्रता–सदृशप्रत्ययप्रवाहशील चित्त की एकाग्रता, यदि–जो, प्रवाहचित्तस्य–उत्तर उत्तर धारारूप चित्त के प्रवाह का, धर्मः–धर्म है, ऐसा कहेंगे, तदा–तो, क्षणिकत्वात्–चित्त तथा चित्त का प्रवाह क्षणिक होने से, एकम्–एक, प्रवाहचित्तम्–प्रवाह चित्त, नास्ति–नहीं है, अर्थात् चित्त व्यक्तियों के समुदाय ही प्रवाह होने से प्रत्येक व्यक्तियों से अतिरिक्त एक कोई प्रवाह चित्त ही नहीं है तो किसका धर्म होगा? अथ–और यदि, प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य–प्रवाह के अंश प्रत्येक चित्त व्यक्ति का ही, धर्मः–धर्म है ऐसा कहेंगे तो, स सर्वः–वह सब चित्त व्यक्तियां, सदृशप्रत्ययप्रवाही वा–विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा–चाहे सदृश-प्रत्यय प्रवाहवाला कहें, चाहे विसदृश (विलक्षण) प्रत्यय-प्रवाहवाला कहें, प्रत्यर्थनियतत्वात्–प्रत्येक विषय व्यक्ति में ही उत्पन्न विनष्ट होने से, एकाग्र एव–एकाग्र (स्थिर) ही है, इति–इस कारण से, विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः–विक्षिप्त चित्त की अनुपपत्ति तो रह ही गयी, अर्थात् वैनाशिक के मत में जो विक्षिप्त चित्त की अनुपपत्ति तथा उनके गुरु बुद्ध के उपदेश में वैयर्थ्य रूप दोष दिया गया है वह तो तदवस्थ ही रहा। तस्मात्–अतः, एकम्–एक, अनेकार्थम्–अनेक ज्ञानों का आश्रय, अवस्थितम्–स्थायी, चित्तम्–चित्त है क्षणिक नहीं, इति–यह सिद्ध हुआ। अर्थात् वैनाशिक को भी क्षणिक नहीं किन्तु स्थायी चित्त मानना उचित है।

निम्न लिखित युक्तियों से भी चित्त एक, अनेकार्थ तथा स्थिर सिद्ध होता है। इसको भाष्यकार कहते हैं–यदि चेति। यदि च–और यदि, चित्तेन एकेन–एक चित्त के साथ, अनन्विताः–असंबद्ध, तथा, स्वभावभिन्नाः–स्वभाव से क्षण-क्षण में भिन्न, प्रत्ययाः–चित्त, जायेरन्–उत्पन्न होवेंगे, अथ–तो, अन्यप्रत्ययदृष्टस्य–अन्य अर्थात् प्रथम उत्पन्न चित्त से ज्ञात विषय का, अन्यः–अन्य अर्थात् द्वितीयादि क्षण में उत्पन्न चित्त, स्मर्ता–स्मरण करनेवाला, कथं भवेत्–कैसे होगा? क्योंकि, "अनुभव, तज्जन्य संस्कार तथा स्मरण इन तीनों का एक ही आश्रय होता है" यह नियम है, च–और, अन्यप्रत्ययोपचितस्य–अन्य अर्थात् प्रथम क्षण में उत्पन्न चित्त से किया हुआ, कर्माशयस्य–कर्म के संस्कारजन्य फल का, अन्यः–अन्य अर्थात् द्वितीय-

तस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् ।

कथञ्चित्समाधीयमानमप्येतद्गोमयपायसीयन्यायमाक्षिपति ।

यादि क्षण में उत्पन्न, प्रत्ययः–चित्त, उपभोक्ता–उपभोग करने वाला, कथं भवेत्–कैसे होगा ? क्योंकि, "जो कर्म का अनुष्ठान कर्त्ता है वही उस कर्म के फल का भोक्ता होता है, अन्य नहीं," यह नियम है। और यदि इस नियम को नहीं माने तो "अकृताभ्यागम" (बिना किये कर्म का फल प्राप्त होना) तथा "कृतविप्रणाश" (किये कर्म का फल दिये बिना ही नाश होना) रूप दोष का प्रसंग होगा। यदि कहें कि, जैसे वैश्वानर इष्टि का कर्ता पिता होता है और उसके फल का भोक्ता पुत्र होता है एवं श्राद्ध आदि उत्तर-कर्म का कर्त्ता पुत्र होता है और उसके फल का भोक्ता पिता होता है तो भी अकृताभ्यागम तथा कृतविप्रणाश रूप दोष नहीं लगता है, वैसे ही प्रथम चित्त कर्म का कर्ता और द्वितीय चित्त फल का भोक्ता होने पर भी अकृताभ्यागम तथा कृतविप्रणाशरूप दोष का प्रसंग यहां भी नहीं होगा, तो यह कथन भी विषम दृष्टान्त होने से समीचीन नहीं। क्योंकि, जैसे पितापुत्र का परस्पर जन्य-जनकभाव संबन्ध है, वैसे ही यदि पूर्वोत्तर चित्तों का भी परस्पर जन्य-जनक भाव संबन्ध होता तो वैनाशिक ऐसा कह सकते थे कि, पूर्व चित्त का किया हुआ कर्म का फल उत्तर चित्त भोगता है, सो ऐसा वैनाशिक लोग भी मानते नहीं हैं, किन्तु परस्पर संबन्ध रहित ही नूतन-नूतन चित्त क्षण-क्षण में उत्पन्न होता है, ऐसा मानते हैं। एवं जैसे पिता पुत्र के उद्देश्य से तथा पुत्र पिता के उद्देश्य से कर्म का अनुष्ठान करता है, वैसे उत्तर चित्त के उद्देश्य से पूर्व चित्त तो कर्म करता है नहीं, किन्तु अपने ही उद्देश्य से कर्म करता है और पूर्व चित्त का किया हुआ कर्म का फल उत्तर चित्त भोगता है। अतः अकृताभ्यागम तथा कृतविप्रणाश रूप दोष का प्रसंग तदवस्थ ही रहा। अधिक क्या कहा जाय ? कथञ्चित्–किसी प्रकार, समाधीयमानमपि–समाधान करने पर भी, एतत्–यह वैनाशिक का दृष्टान्त, गोमयपायसीयन्यायम्–गोमयपायसीय न्याय को भी, आक्षिपति–तिरस्कार कर जाता है, अर्थात् उससे भी अधिक दोषाधायक है।

भाव यह है कि, जैसे कोई यह कहे कि, "गोमयं पायसं गव्यत्वात् उभयसिद्धपायसवत्" अर्थात् गोमय (गोबर) पायस (दूधपाक) के समान मधुर तथा भक्ष्य है; क्योंकि, वह भी दूध के समान गो से ही उत्पन्न हुआ है, इत्यादि; तो यह तर्क जैसे तर्काभास है, वैसे ही "जैसे पिता के किये हुए कर्म का फल पुत्र और पुत्र के किये हुए कर्म का फल पिता भोगता है। वैसे पूर्व चित्त के किये हुए कर्म का फल उत्तर चित्त भोगता है"। यह वैनाशिक का तर्क भी तर्काभास है। गोमयपायसीय न्याय-रूप तर्क में जो दोष प्राप्त होता है, उससे भी अधिक दोषाधायक वैनाशिक का तर्क इस

किञ्च स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम् । यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्याम्यहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः । एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानं सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् ।

स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः । न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते । प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम् ॥३२॥

कारण से है कि, उसमें तो "गोमयत्व" हेतु भी है, परन्तु वैनाशिक के तर्क में तो कोई हेतु ही नहीं है।

जो पूर्वोक्त युक्ति से संतुष्ट न हों, उनके प्रति कहते हैं--किञ्चेति । किञ्च—क्षणिक वाद में अन्य भी दोष हैं, और वह यह कि—चित्तस्यान्यत्वे–प्रतिक्षण चित्त को अन्य से अन्य नूतन ही मानने पर, स्वात्मानुभवापह्नवः–अपने आत्म अनुभव का अपलापरूप दोष भी, प्राप्नोति–प्राप्त होता है। कथम्—यदि कहें कि, वह कैसे तो, यत् अहम् अद्राक्षम्–जिसको मैंने देखा था, तत्स्पृशामि–उसीका स्पर्श कर रहा हूँ, च--और, यत् अहम् अस्प्राक्षम्—जिसका मैंने स्पर्श किया था, तत् पश्यामि–उसीको देख रहा हूँ,इति प्रत्ययः–इस प्रकार का स्वानुभव रूप प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष, सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति–सर्व ज्ञानों के भेद होने से, प्रत्ययिनि–अहम् , अहम् इत्याकारक प्रतीयमान ज्ञान का आश्रय चित्त में, अभेदेन–एक रूप से जो, उपस्थितः–ज्ञात होता है, वह अनुपपन्न हो जायगा ?। क्योंकि, एकप्रत्ययविषयः–अनेक ज्ञान का आश्रय एक चित्त को विषय करनेवाला, अयम्–यह, अभेदात्मा–अभेदरूप, अहमिति प्रत्ययः—जो अहम् इस प्रकार का ज्ञान है वह, कथम्–किस प्रकार, अत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु–क्षणिक होने से अत्यन्त भिन्न चित्तों में, वर्त्तमानम्—रहा हुआ, सामान्यम् एकम् प्रत्ययिनम्—सामान्य एक प्रत्ययी को, आश्रयेत्—आश्रय करेगा ? च—और, अयम्—यह, स्वानुभवग्राह्यः—अपने अनुभव, गम्य, अभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः–अभेद रूप अहम् इत्याकारक प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्षस्य माहात्म्यम्-इस प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष रूप स्वानुभव का माहात्म्य, प्रमाणान्तरेण–अनुमान आदि अन्य किसी तर्क के द्वारा किसीसे भी, न च अभिभूयते–अभिभव अर्थात् अपलाप नहीं किया जा सकता है। च–क्योंकि, प्रमाणान्तरम्–अन्य अनुमान आदि प्रमाण, प्रत्यक्षबलेनैव–प्रत्यक्ष प्रमाण के बल से ही, व्यवहारं लभते–प्रमाण व्यवहार को

प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रामाणिक माने जाते हैं। अभिप्राय यह है कि, अन्य अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्ष मूलक होने से दुर्बल हैं और प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य सब प्रमाणों का जनक होने से प्रबल है। अतः प्रबल प्रत्यक्ष प्रमाण का बाध दुर्बल वैनाशिक के अनुमान से नहीं हो सकता है। तस्मात्—उक्त हेतु से, एकम्—एक, अनेकार्थम्—अनेक ज्ञानों का आश्रय, च–और, अवस्थितम्—स्थिर, चित्तम्—चित्त है, क्षणिक नहीं, यह सिद्ध हुआ।

यहां पर क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन करने की आवश्यकता केवल इसलिये हुई है कि, यदि क्षणिक विज्ञानवाद के मतानुसार चित्त क्षणिक माना जायगा तो योगानुष्ठान व्यर्थ है। क्योंकि, उक्त युक्तियों से क्षणिक चित्त एकाग्र ही है। अतः उसको एकाग्र करने के लिये योगानुष्ठान व्यर्थ है। और जब योगानुष्ठान ही व्यर्थ हुआ तब सुतराम् योगबोधक (प्रतिपादक) प्रकृत योगदर्शन व्यर्थ हो जाता है। अतः शास्त्रारम्भ की सफलता को दिखाने के लिये चित्त की अनेक काल स्थायिता का प्रतिपादन किया गया है। अतएव सभी पदार्थ की स्थायिता का प्रतिपादन न कर केवल चित्त की ही स्थायिता का प्रतिपादन भाष्यकार ने किया है।

कतिपय आधुनिक विद्वानों का यह कहना है कि, यहां पर क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन प्रक्षिप्त है, अर्थात् बौद्ध मत के बाद किसी विद्वान् ने स्वयं बना कर योगभाष्य में मिला दिया है। क्योंकि, भाष्यकार व्यास भगवान् के काल में क्षणिक विज्ञानवाद आदि बौद्ध मत था ही नहीं; किन्तु बुद्ध के बाद बौद्ध मत का जन्म हुआ है, इत्यादि सो समीचीन नहीं। क्योंकि, ऋषि त्रिकालदर्शी होते हैं; अतः "भविष्य में क्षणिक विज्ञानवाद आदि बौद्ध मत उत्पन्न होगा" ऐसा प्रथम से ही जान कर उसका खण्डन कर गए हैं और क्षणिक विज्ञानवाद तथा शून्यवाद आदि बौद्ध के मस्तिष्क की उपज नहीं है, किन्तु ये सब वाद प्रथम से ही विषय की दृढ़ता के लिये कल्पित रूप से विद्यमान थे। अर्थात् स्थूणा-निखनन न्याय से आशङ्का रूप से विद्यमान थे। उनके केवल प्रचारक बौद्ध लोग हुए हैं। जैसे "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" इस छान्दोग्य श्रुति में शून्यवाद पाया जाता है और उसीके प्रचारक बुद्ध के शिष्य शून्यवादी माध्यमिक हुए हैं। अतः शून्यवाद बौद्धों के मस्तिष्क की उपज नहीं, किन्तु पहले से ही विद्यमान था। वैसे ही विषय की दृढता के लिये पूर्वपक्ष रूप एवं कल्पित क्षणिक विज्ञानवाद भी प्रथम से ही विद्यमान था, जिसका खण्डन प्रकृत भाष्य में पाया जाता है। यदि इन वादों को प्रक्षिप्त मानेंगे तो वेदान्तदर्शन के सम्पूर्ण तर्कपाद को प्रक्षिप्त ही मानना होगा। क्योंकि, उसमें भी जैन तथा बौद्ध मत का खण्डन आता है और ऐसा मानने से वेदान्त दर्शन का दूसरा अध्याय प्रायः तीन ही पाद का रह जायगा। इति दिक् ॥ ३२ ॥

यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम्—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्। दुःखितेषु करुणाम्। पुण्यात्मकेषु मुदिताम्। अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य

जो मैत्र्यादि भावना रूप साधन असूया आदि कालुष्य को दूर करते हुए चित्त को प्रसादित एवं स्थिति पद युक्त करते हैं, वे परिकर्म कहे जाते हैं। और वे मन के धर्म हैं। परिकर्मित मन असूयादि दोष रहित होता हुआ समाधि तथा समाधि के उपायों की सिद्धि करता है। अतः अब यहां से भाष्यकार जिज्ञासा के रूप में परिकर्म का उपक्रम करते हैं—यस्येति। यस्य–जिस, चित्तस्यावस्थितस्य–एकाग्र चित्त की स्थिति पद के लिये, शास्त्रेण–शास्त्र से, इदम् परिकर्म–यह मैत्री भावना आदि परिकर्म, निर्दिश्यते–निर्देश (कथन) किया जाता है, तत्–वह (मैत्रीभावना आदि परिकर्म), कथम्–किस प्रकार का है? अर्थात् जिस परिकर्म के द्वारा स्थिर चित्त रागद्वेषादि रहित प्रसाद युक्त होता हुआ ईश्वरप्रणिधान में स्थिति पद को प्राप्त होता है, उस मैत्रीभावना आदि परिकर्म का स्वरूप कैसा है?

उक्त जिज्ञासा की शान्ति के लिये सूत्रकार परिकर्म का स्वरूप दिखाते हैं—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्–सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा तथा पापात्मा पुरुष विषयक, क्रमशः, मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्—मित्रता, दया, मुदिता, (हर्ष) तथा उपेक्षा (उदासीनता) की, भावनातः–भावना के अनुष्ठान से, चित्तप्रसादनम्–चित्त की प्रसन्नता होती है। अतः इनके द्वारा योगी अपने चित्त को प्रसादयुक्त करके एकाग्र करे।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—तत्रेति। तत्र—मैत्र्यादि चारों भावनाओं में से, सुखसंभोगापन्नेषु प्राणिषु–सुख-संभोगसंपन्न सर्व प्राणियों में मैत्रीं भावयेत्–मित्रता की भावना करे। अर्थात् उन सुखी पुरुषों के साथ मित्र के समान वर्ताव रखे।

दुःखितेषु। करुणाम् (भावयेत्)। दुःखितेषु—दुःखी प्राणियों में करुणाम् भावयेत्—दया की भावना करे। अर्थात् उन दुःखी पुरुषों पर कृपा रखे। पुण्यात्मकेषु मुदिताम् (भावयेत्)। पुण्यात्मकेषु–पुण्यात्माओं में (पवित्र कर्म करनेवालों में), मुदिताम् भावयेत्–मुदिता की भावना करे। अर्थात् धर्म करनेवाले

भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । ततश्च चित्तं प्रसीदति । प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ ३३ ॥

पुरुषों को देख कर आनन्द को प्राप्त होवे । अपुण्यशीलेषूपेक्षाम् (भावयेत्) । अपुण्यशीलेषु–पाप कर्म करने के स्वभाववाले पुरुषों में, उपेक्षाम् भावयेत्–उपेक्षा (तटस्थता) की भावना करे । अर्थात् उनके साथ उदासीनता का वर्ताव रखे । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । एवम्–इस प्रकार, अस्य भावयतः–भावना करनेवाले इस योगी को, शुक्लो धर्मः–शुक्ल धर्म, उपजायते–उत्पन्न होता है । अर्थात् उक्त मित्रता आदि के वर्ताव से जिस शुद्ध धर्मविशेष से चित्त स्थिति पद को प्राप्त होता है, उस धर्मविशेष का उदय होता है । ततश्च चित्तं प्रसीदति । च—और, ततः—उसके बाद, चित्तम्—चित्त, प्रसीदति—प्रसाद को प्राप्त होता है अर्थात् प्रसन्न होता है । प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते । प्रसन्नम्–प्रसन्न हुआ चित्त, एकाग्रम्—एकाग्र होता हुआ, स्थितिपदम्—स्थिति पद को, लभते–प्राप्त होता है ।

यद्यपि सूत्रकार तथा भाष्यकार ने चित्तप्रसाद के हेतु सामान्य रूप से सुखी, दुःखी, धार्मिक तथा पापी पुरुषों के प्रति क्रमशः मैत्री, दया, आनन्द तथा तटस्थता की भावना करने को कहा है; तथापि श्रीवाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों ने इस अर्थ को इस प्रकार विशेष रूप से स्फुट किया है—

चित्त में चार प्रकार के कालुष्य हैं— ईर्ष्याकालुष्य, परापकारचिकीर्षाकालुष्य, असूयाकालुष्य तथा अमर्षकालुष्य; ये चारों चित्तमल कहे जाते हैं । क्योंकि, ये चित्त को विक्षिप्त करके मलिन करते रहते हैं । अतः इन चारों के रहते हुए चित्त का प्रसादयुक्त होना कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है । अतएव पूर्वोक्त मैत्री आदि भावना द्वारा इन चित्तमलों की निवृत्ति करना योगजिज्ञासुओं का प्रथम कर्तव्य है । इन चारों के स्वरूप तथा निवृत्ति के उपाय-निरूपण निम्न लिखित हैं—

अपने से भिन्न पुरुषों के सद्गुण तथा वैभव - अधिक्य को देख कर अर्थात् सुखी देख कर जो चित्त में दाह होता है वह ईर्ष्याकालुष्य कहा जाता है । क्योंकि, यह राजस तामस है, अतः चित्त को विक्षिप्त करके मलिन करता है । अतः ऐसे सर्व सुखी पुरुषों के प्रति मैत्रीभावना करने से यह कालुष्य निवृत्त हो जाता है । क्योंकि, जैसे एक मित्र के सुख - वैभव को देख कर " ये मेरे मित्र के सुख - वैभव हैं, अतः मेरे ही हैं " ऐसा समझने से दाह नहीं होता है । वैसे ही सर्व सुखी पुरुषों के प्रति मैत्री भावना करने से दाह रूप ईर्ष्याकालुष्य नहीं होता है । और पूर्व के जो हैं वह भी निवृत्त हो जाते हैं ।

अपने से अन्य पुरुषों को प्रतिकूल जान कर उनका अपकार (अहित) करने की जो इच्छा वह परापकारचिकीर्षाकालुष्य कही जाती है । क्योंकि, दूसरे का अहित करने

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

की इच्छा भी राजस-तामस होने से चित्त को विक्षिप्त करके मलिन करती है। अतः ऐसे पुरुषों के प्रति अपकार करने की भावना न कर प्रत्युत करुणा-भावना करने से यह कालुष्य दूर हो जाता है।

अपने से अन्य पुण्यात्मा पुरुष के सद्गुणों में दोषारोपण करना असूयाकालुष्य कहा जाता है। क्योंकि, यह पुण्यात्मा पुरुष की निन्दा भी राजस - तामस होने से चित्त को विक्षिप्त करके मलिन करती है। अतः ऐसे पुण्यात्माओंके प्रति मुदिता भावना करने से अर्थात् उनको देख कर आनन्दित होने से यह असूयाकालुष्य निवृत्त होता है।

अपने से अन्य किसी पापात्मा पुरुष के कठोर वचन सुनने से अपने को अपमानित जान कर जो उसका बदला लेने की चेष्टा करना वह अमर्षकालुष्य कहा जाता है। क्योंकि, यह भी राजस-तामस होने से चित्त को विक्षिप्त करके मलिन करता है। अतः ऐसे पापी पुरुषों के प्रति उपेक्षा-रूप तटस्थता (उदासीनता) की भावना करने से यह अमर्षकालुष्य भी निवृत्त होता है।

इन चारों भावनाओं के अनुष्ठान से शुक्ल धर्म की उत्पत्ति होती है। पापसंबंध से रहित केवल पुण्य को शुक्ल धर्म कहते हैं। जैसे स्वाध्याय (वेदाध्ययन) आदि नित्य कर्म के अनुष्ठान से पापसंबंध से रहित केवल पुण्यरूप शुक्ल धर्म की उत्पत्ति होती है। वैसे ही मैत्र्यादिभावना के अनुष्ठान से पापसंबन्ध से रहित केवल पुण्य-रूप शुक्ल धर्म की उत्पत्ति होती है। और जो धर्म पशु-याग आदि के अनुष्ठान से उत्पन्न होता है, वह कृष्ण शुक्ल धर्म कहा जाता है। क्योंकि, उस धर्म में पशुहिंसा-जन्य पापलेश का संसर्ग है। अतएव पञ्चशिखाचार्य ने "स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" इस वाक्य से " पुण्य के साथ स्वल्प भी पापसंबन्ध हो तो उसको प्रायश्चित्त के द्वारा दूर करना चाहिये, अन्यथा पुण्य के फल सुखभोग - काल में स्वल्प पाप का फल दुःख भी सहन करना पड़ेगा" यह कहा है।

किसी व्याख्याकार ने राग तथा द्वेष रूप दो कालुष्य अधिक मान कर मैत्रीभावना से रागकालुष्य तथा करुणाभावना से द्वेषकालुष्यकी निवृत्ति भी प्रतिपादन की है। और किसीने मैत्री भावना का अर्थ द्वेषाभाव मात्र किया है, हर्ष नहीं। क्योंकि, हर्ष भी एक प्रकारका राग का हेतु होने से चित्तविक्षेपक ही है। इति ॥ ३३ ॥

चित्तप्रसाद के हेतु मैत्र्यादि भावना का प्रतिपादन करके संप्रति चित्तस्थिति का हेतु प्राणायाम का प्रतिपादन सूत्रकार करते हैं—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। इस सूत्र में उत्तर सूत्र के "स्थिति" पद का अपकर्ष है और "संपादयेत्" क्रियापद का अध्याहार है तथाच—वा—अथवा, प्राणस्य—कौष्ठय प्राणवायु का, प्रच्छ-

कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्। विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत्॥ ३४॥

र्दनविधारणाभ्याम्–दो में से किसी एक नासिकापुट से रेचन तथा विधारण रूप कुम्भक के द्वारा, स्थितिं संपादयेत्–चित्त की स्थिति का संपादन करे।

सूत्र का व्याख्यान भाष्यकार करते हैं—कौष्ठ्यस्येति। प्रयत्नविशेषात्–योग-शास्त्र-उक्त प्रयत्नविशेष से, कौष्ठ्यस्य वायोः—उदर की वायु का, नासिकापुटाभ्याम्–दोनों में से किसी एक नासिकापुट के द्वारा, वमनम्–धीरे-धीरे रेचन करना अर्थात् बाहर निकालना, प्रच्छर्दनम्–प्रच्छर्दन कहा जाता है। और प्राणायामः–रेचित प्राण का आयाम अर्थात् बाहर निकले हुए वायु को सहसा भीतर प्रवेश न होने देना, किन्तु बाहर ही स्थापन करना, विधारणम्–विधारण कहा जाता है। अर्थात् प्रच्छर्दन पद से रेचक और प्राणायाम तथा विधारण इन दोनों पदों से कुम्भक प्राणायाम का ग्रहण है। वा–अथवा, ताभ्याम्–उक्त प्रच्छर्दन विधारणरूप रेचक, कुम्भक प्राणायाम द्वारा, मनसः–मन की, स्थितिम्–स्थिरता का, संपादयेत्–संपादन करे। अर्थात् जैसे वक्ष्यमाण विषयवती प्रवृत्ति आदि मन की स्थिरता के हेतु हैं, वैसे ही प्राणायाम भी एक स्थिरता का हेतु है।

भाव यह है कि, दो प्रकार का प्राणायाम होता है, एक योग–प्रतिपादित रीति से कौष्ठ्य वायु को बाहर निकाल कर (रेचन कर) सहसा भीतर प्रवेश न होने देना किन्तु बाहर ही रोक रखना और दूसरा बाहर की वायु को भीतर करके (पूरक करके) सहसा बाहर न होने देना किन्तु भीतर ही रोक रखना (कुम्भक करना)। उनमें से रेचक-कुम्भक रूप एक प्रकार के प्राणायाम को सूत्रकार तथा भाष्यकार ने यहां दिखाया है, इससे पूरक-कुम्भक रूप प्राणायाम को भी समझ लेना चाहिये। सूत्रकार तथा भाष्यकार के इस कथन से बाहर भी कुम्भक होता है, यह सिद्ध हुआ। अधिक प्रसिद्ध पूरक, कुम्भक रेचक रूप प्राणायाम भी उक्त कथन से उपलक्षित है। वस्तुतस्तु प्रच्छर्दन–विधारण कहने से ही पूरक भी आ जाने से पूरक कहने की आवश्यकता नहीं है।

प्रकृत सूत्र में वा शब्द विकल्पार्थक है। जैसे पूर्वोक्त मैत्र्यादि भावना चित्त-प्रसाद के हेतु हैं, वैसे "प्रच्छर्दन - विधारण भी एक हेतु है"। (ऐसा भ्रम न होना चाहिये)। इस प्रकार मैत्र्यादि के साथ विकल्पार्थक वा शब्द को नहीं समझना चाहिये। किन्तु चित्तस्थिति के हेतु जैसे विषयवती प्रवृत्ति आदि हैं वैसे ही "प्रच्छर्दन–विधारण रूप प्राणायाम भी एक हेतु है"। इस प्रकार अग्रिम सूत्र–प्रतिपादित विषयवती प्रवृत्त्यादि के साथ विकल्पार्थक वा शब्द है, ऐसा समझना चाहिये। और जो विज्ञानभिक्षु ने "प्राणायामः स विज्ञेयो रेचकपूरककुम्भकाः" इस स्मृति

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥

का (अभिप्राय समझे बिना) उदाहरण देते हुए यह कहा है कि, "पूरक के बिना कुम्भक होता ही नहीं अर्थात् बाहर कुम्भक नहीं होता है; क्योंकि, पूरक, कुम्भक तथा रेचक; ये तीनों संमिलित प्राणायाम कहे जाते हैं" इत्यादि। वह प्रकृत सूत्र तथा भाष्य एवं योगियों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण अनादरणीय है। एवं प्रकृत सूत्रस्थ वा शब्द को अप्यर्थ मानते हुए—"आभ्यामपि चित्तस्य प्रसादनं कुर्यात्" इस पंक्ति से उक्त प्रच्छर्दन तथा विधारण के द्वारा भी चित्त प्रसादन करे" ऐसा कहा है, यह भी भाष्य–विरुद्ध होने से हेय है। क्योंकि, भाष्यकार कहते हैं, "ताभ्यां मनसः स्थितिं संपादयेत्" अर्थात् प्रच्छर्दन तथा विधारण के द्वारा मन की स्थिति को संपादन करे और विज्ञानभिक्षु कहते हैं, "आभ्यामपि चित्तस्य प्रसादनं कुर्यात्" अर्थात् इन प्रच्छर्दन तथा विधारण के द्वारा चित्तप्रसादन करे। इससे स्पष्ट ही भाष्य–विरोध प्रतीत होता है। और विचार दृष्टि से देखा जाय तो प्राणायाम चित्तप्रसाद का हेतु नहीं, किन्तु चित्तस्थिरता का हेतु है। क्योंकि, मन की गति प्राण की गति के अधीन है। प्राणायाम से जब प्राण की गति श्रमित होकर निरुद्ध होती है तब मन की गति भी (चित्तवृत्ति भी) निरुद्ध हो जाती है, यह अनुभव-सिद्ध है। अतः उक्त प्राणायाम चित्तस्थिति का ही हेतु है, चित्तप्रसाद का नहीं, यही कहना उचित है।

चित्त प्रसन्न हुए बिना कभी स्थिर नहीं हो सकता है; अतः प्रथम मैत्र्यादि भावना के अनुष्ठान द्वारा इसको प्रसन्न करे, पश्चात् स्थिर, चाहे वक्ष्यमाण विषयवती वृत्त्यादि द्वारा करे अथवा प्रकृत प्राणायाम द्वारा, इसमें कामचार है।

प्रसन्न हुआ चित्त शीघ्र स्थिति पद को प्राप्त होता है, इस बात को भगवान् भी कहते हैं—'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते' ॥२–६५॥

इस सूत्र से प्राणायाम को चित्तस्थिति का हेतु अर्थात् समाधि का हेतु कहा गया है और द्वितीय पाद के "यमनियमासनप्राणायाम" इत्यादि सूत्र से भी यही कहा गया है। अतः सूत्रकार की पुनरुक्ति स्पष्ट प्रतीत होती है तथापि यह प्रथम पाद उत्तमाधिकारी के लिये तथा द्वितीय पाद मन्दाधिकारी के लिये होने से एवं द्वितीय पाद प्रतिपादित प्राणायाम यमादि सहकृत तथा यह स्वतन्त्र रूप से चित्तस्थिति के हेतु होने से पुनरुक्ति नहीं। इति दिक् ॥ ३४ ॥

जिन साधनों के साथ प्राणायाम का विकल्प प्रतिपादन किया गया है, उनको सूत्रकार दिखाते हैं—विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। वा–अथवा, विषयवती–गन्धादि विषयों को साक्षात्कार करनेवाली, प्रवृत्तिः–साधक

नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः। जिह्वाग्रे रससंवित्। तालुनि रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्।

के चित्त की वृत्ति, उत्पन्ना–उत्पन्न होती हुई, मनसः–मन की, स्थितिनिबन्धनी–स्थिरता का हेतु है। अर्थात् जैसे उक्त प्राणायाम चित्त-स्थिति का हेतु है, वैसे ही निम्नलिखित गन्धादि विषयक चित्तवृत्ति भी चित्तस्थिति का हेतु है।

भाव यह है कि, पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश; ये पांच भूत कहे जाते हैं और ये स्थूल, सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। एवं इनमें रहने वाले क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द; ये पांचों विषय कहे जाते हैं और ये भी अदिव्य तथा दिव्य के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। पृथिव्यादि स्थूल भूतों में रहने वाले गन्धादि अदिव्य अर्थात् लौकिक कहे जाते हैं और तन्मात्रा के कार्य सूक्ष्म-पृथिव्यादि भूतों में रहनेवाले गन्धादि दिव्य अर्थात् अलौकिक कहे जाते हैं। क्योंकि स्थूल पृथिव्यादि भूतों में रहनेवाले गन्धादि से अस्मदादि अदिव्य पुरुषों को सुख, दुख, मोहरूप भोग होता है; अतः ये अदिव्य अर्थात् लौकिक कहे जाते हैं। और पञ्च-तन्मात्राओं के कार्य सूक्ष्म पृथिव्यादि भूतों में रहनेवाले जो सूक्ष्म गन्धादि विषय हैं वे दिव्य अर्थात् अलौकिक कहे जाते हैं। क्योंकि, दिव् नाम स्वर्ग का है और स्वर्ग में रहनेवाले देव दिव्य कहे जाते हैं। उक्त सूक्ष्म गन्धादि केवल देवताओं के ही भोग के उपयोगी हैं, मनुष्यों के नहीं। अतः ये भी दिव्य कहे जाते हैं। और अदिव्य गन्धादि में जैसे शान्त, घोर तथा मूढ रूप तीन धर्म हैं, वैसे दिव्य गन्धादि में नहीं, किन्तु ये केवल सुखात्मक ही हैं। इसलिये भी दिव्य कहे जाते हैं। इन पांचों दिव्य गन्धादि विषयों का योगशास्त्र-प्रतिपादित उपाय द्वारा जो योगियों को साक्षात्कार होता है वह विषयवती प्रवृत्ति कही जाती है, और वह प्रवृत्ति गन्धादि पांच विषय के भेद से पांच प्रकार की है। जैसे-गन्धप्रवृत्ति, रसप्रवृत्ति, रूपप्रवृत्ति, स्पर्शप्रवृत्ति तथा शब्दप्रवृत्ति इन प्रत्येक प्रवृत्तियों का अर्थ करते हुए भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—

नासिकाग्र इति। नासिकाग्रे–अपनी नासिका के अग्र भाग में, धारयतः–संयम करनेवाला अर्थात् धारणा, ध्यान समाधिद्वारा चित्त एकाग्र करनेवाला, अस्य–इस योगी को, या–जो, दिव्यगन्धसंवित्–दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है, सा-वह, गन्धप्रवृत्तिः–गन्ध प्रवृत्ति कही जाती है। जिह्वाग्रे रससंवित्। जिह्वाग्रे–अपनी जिह्वा के अग्र भाग में उक्त संयम द्वारा चित्त एकाग्र करनेवाले योगी को जो, रससंवित्–दिव्य रस का साक्षात्कार होता है वह रसप्रवृत्ति कही जाती है। तालुनि रूपसंवित्। तालुनि–अपने तालु में संयम द्वारा चित्त एकाग्र करनेवाले योगी को जो, रूपसंवित्–दिव्य रूप का साक्षात्कार होता है वह रूपप्रवृत्ति कही जाती है। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। जिह्वामध्ये–जिह्वा के मध्य भाग में संयम द्वारा चित्त एकाग्र करनेवाले

जिह्वामूले शब्दसंविदित्येता वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्तीति । एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या ।

यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूत-

---

योगी को जो, स्पर्शसंवित्-दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार होता है वह स्पर्शप्रवृत्ति कही जाती है । जिह्वामूले शब्दसंविदिति । जिह्वामूले-अपनी जिह्वा के मूल भाग में संयम द्वारा चित्त एकाग्र करनेवाले योगी को जो, शब्दसंवित्-दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है वह शब्दप्रवृत्ति कही जाती है ।

शंका होती है कि, कैवल्य के प्रति अनुयोगी इन वृत्तियों से कैवल्यार्थी मुमुक्षुओं को क्या प्रयोजन ? इस पर भाष्यकार कहते हैं—एता इति । एताः वृत्तयः—ये पांच प्रकार की वृत्तियां, उत्पन्नाः-उत्पन्न होकर, चित्तम् चित्त की, स्थितौ निबध्नन्ति-स्थिरता में निबद्ध करतीं हैं, संशयं विधमन्ति-प्रमारूप होने से सर्व प्रकार के संशय को दूर करती हैं, च और, समाधिप्रज्ञायाम्-समाधि प्रज्ञा की उत्पत्ति में अर्थात् विवेक ख्याति की उत्पत्ति में, द्वारीभवन्ति-द्वार रूप होती हैं अर्थात् कैवल्य के हेतु स्वरूप साक्षात्कार करने में साधनरूप बन जाती हैं । अतः ये पांचों प्रवृत्तियां कैवल्यार्थी मुमुक्षुओं को अनुपयोगी नहीं किन्तु उपयोगी है ।

शास्त्रसिद्ध अन्य वृत्तियों में भी विषयवत्त्व का अतिदेश भाष्यकार करते हैं—एतेनेति । एतेन-रूपप्रवृत्ति को विषयवती कथन करने से ही, चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु-चन्द्र, आदित्य, ग्रह, मणि तथा प्रदीप आदि की रश्मियों में संयम करने से जो, प्रवृत्तिः-योगी के चित्त की वृत्ति, उत्पन्ना-उत्पन्न होती है उसको भी, विषयवती एव—विषयवती ही, वेदितव्या-जानना चाहिये । अर्थात् इनमें धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप संयम के द्वारा चित्त एकाग्र करने से जो इन सबके साक्षात्कार रूप वृत्ति उत्पन्न होती है वह भी विषयवती ही है, ऐसा समझना चाहिये ।

यद्यपि गन्धप्रवृत्ति आदि प्रवृत्तियों को गन्धादि अनात्म-विषयक होने से उनका उल्लेख प्रकृत शास्त्र में आत्मजिज्ञासुओं के लिये अनुपयुक्त है, तथापि जैसे अनात्म गन्धादि विषयक संयम से अनात्मा का साक्षात्कार होता है, वैसे ही "आत्म-विषयक संयम करने से आत्मा का भी साक्षात्कार हो सकता है" । इस प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये उनका उल्लेख यहां किया गया है ।

शास्त्र आदि प्रमाण प्रतिपादित अर्थों में भी योगाभ्यास बिना अश्रद्धा हो सकती है, इस बात को भाष्यकार दिखाते हैं—यद्यपीति । यद्यपि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैः-यद्यपि तत् तत्-शास्त्र, अनुमान आदि प्रमाण तथा आचार्य के

मेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्, तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति ।

तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति । तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः । तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सूक्ष्मविषयमप्यापवर्गाच्छ्रद्धीयते ।

एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते । अनियतासु वृत्तिषु तद्वि-

---

उपदेश द्वारा अवगतम्–जाना हुआ, अर्थतत्त्वम्–पदार्थ, सद्भूतम् एव भवति–यथार्थ ही होता है, हि–क्योंकि, एतेषाम्—इन शास्त्रादि में, यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्–यथार्थ अर्थ के प्रतिपादन करने का सामर्थ्य है, अतः इन शास्त्र आदि से बोधित अर्थ में संशय तथा अश्रद्धा का अवकाश ही नहीं, तथापि—तो भी, यावत्—जबतक, एकदेशोऽपि कश्चित्—उक्त शास्त्र आदि प्रमाण प्रतिपादित अर्थों में से कोई एक भी पदार्थ का, स्वकरणसंवेद्यो न भवति—जिज्ञासु को अपने साधन से अपरोक्ष साक्षात्कार न हो जाय, तावत्—तब तक, अपवर्गान्तेषु सूक्ष्मेषु अर्थेषु–कैवल्य पर्यन्त निखिल सूक्ष्म विषयों में, सर्वम् परोक्षम् इव—सर्व पदार्थ परोक्ष के जैसा ही रहता है, न दृढाम् बुद्धिम् उत्पादयति—संशय रहित अपरोक्षात्मक दृढ बोध उत्पन्न नहीं करता है, तस्मात्—इसलिये, शास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेव–शास्त्र, अनुमान आदि प्रमाण तथा आचार्य के उपदेश से ज्ञात अर्थ में दृढता के लिये ही, अवश्यम्–अवश्य, कश्चित्—उनमें से कोई एक, अर्थविशेषः—अर्थ विशेष का, प्रत्यक्षीकर्तव्यः—संशयादि रहित साक्षात्कार करना चाहिये । भाव यह है कि, जब तक योगद्वारा उन पदार्थों में से किसी एक का प्रत्यक्ष न हो तब तक मोक्षपर्यन्त उन सभी पदार्थों में संशय रह ही जाता है ।

उक्त चित्तपरिकर्म का फल दिखाते हैं—तत्रेति । तत्र—उन गन्धादि विषयक प्रवृत्तियों में से, तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति—शास्त्र आदि प्रमाण से उपदिष्ट किसी एक पदार्थ के उक्त योगद्वारा प्रत्यक्ष होने पर, सर्वं सूक्ष्मविषयमपि—सर्व सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय भी, आपवर्गात्–अपवर्ग (मोक्ष) पर्यन्त, श्रद्धीयते—श्रद्धा के विषय बन जाते हैं । अर्थात् "पूर्वोक्त शास्त्र आदि प्रमाणों ने जिन पदार्थों का बोधन किया है वे सब यथार्थ ही हैं" इस प्रकार की श्रद्धा निश्चल हो जाती है । एतदर्थमेव–योग श्रद्धामूलक होने से इसी श्रद्धा के उत्पादन करने के लिये ही, इदं चित्तपरिकर्म–यह पूर्वोक्त गन्धादि विषयक प्रवृत्तिरूप चित्तपरिकर्म का, निर्दिश्यते–

षयायां वशीकारसंज्ञायामुपजातायां समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति । तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥ ३५ ॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्तते ।

निर्देश (कथन) किया जाता है। सारांश यह है कि, समाधिप्रज्ञा का श्रद्धा ही एकमात्र द्वार है। "समाधिप्रज्ञा का श्रद्धा द्वार है" यह जो कहा है, उसका विवरण करते हैं—अनियतास्विति। अनियतासु वृत्तिषु—अव्यवस्थित चित्तवृत्तियों के होने से, तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायाम्—जिस विषय में राग है उस विषयक वशीकारसंज्ञा नामक वैराग्य, उपजातायाम्—उत्पन्न होने पर, तस्य तस्य अर्थस्य—तत् तत् उत्तर-भूमिक सर्व पदार्थों का, प्रत्यक्षीकरणाय—साक्षात्कार करने के लिये, समर्थं स्यात्—चित्त समर्थ होता है। तथा च सति—और जब चित्त समर्थ होता है तब, श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयः—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति तथा समाधि, अस्य— इस योगी को, अप्रतिबन्धेन—निर्विघ्नपूर्वक, भविष्यन्ति होवेंगे। अतः श्रद्धा (दिव्य, पदार्थ विषयक विश्वास) तथा चित्तस्थिति के लिये सबसे प्रथम इन गन्धादि वृत्तियों का संपादन करे, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ ३५ ॥

पूर्व सूत्र से गन्धादि संवित्-रूप प्रवृत्तियों को चित्तस्थिति के उपाय प्रतिपादन करके संप्रति चित्तसंवित् तथा अस्मितासंवित् रूप दोनों प्रवृत्तियों को चित्तस्थिति के उपाय कहते हैं—विशोका वा ज्योतिष्मती। भाष्यकार सूत्रार्थ करने के लिये अनुवृत्ति सूचन करते हैं—प्रवृत्तिरिति। इस सूत्र में प्रवृत्तिः, उत्पन्ना, मनसः तथा स्थितिनिबन्धनी; इन चारों पदों की अनुवृत्ति है। अतः सूत्रार्थ यह हुआ कि—वा अथवा, विशोका—शोक रहित (दुःख रहित), ज्योतिष्मती—प्रकाश-रूप ज्योतिष्मती नामक, प्रवृत्तिः—प्रवृत्ति (साक्षात्कार) भी, उत्पन्ना—उत्पन्न होकर, मनसः—चित्त की, स्थितिनिबन्धनी—स्थिति के निमित्त है।

आगे भाष्यकार ज्योतिष्मती-प्रवृत्ति के दो भेद कहेंगे चित्तसंवित् और अस्मिता-संवित दोनों ही विषयवती हैं। प्रवृत्ति और संवित् इन दोनों शब्दों का अर्थ साक्षात्कार है, और अस्मिता शब्द का अर्थ अहंकार है। अतः चित्त-विषयक साक्षात्कार तथा अहंकार-विषयक साक्षात्कार ये दोनों "विशोका ज्योतिष्मती" नाम से कहे जाते हैं। अर्थात् चित्त में संयम (धारण, ध्यान तथा समाधि) करने से चित्त-विषयक साक्षात्कार एवं अहंकार में संयम करने से अहंकार-विषयक साक्षात्कार उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर कर देता है, यह फलित हुआ।

भाव यह है कि, जैसे पूर्वोक्त गन्धसंवित्; रससंवित्, रूपसंवित्, स्पर्शसंवित्, तथा

हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्, बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते ।

शब्द संवित्; ये पांचों प्रवृत्तियां चित्तस्थिति के निमित्त हैं। वैसे ही चित्तसंवित् तथा अहंकारसंवित् नामक ये दोनों प्रवृत्तियां भी चित्तस्थिति के निमित्त हैं।

"प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी" इतने अंश की अनुवृत्ति है, यह कहा गया है। उसे संमिलित कर भाष्यकार अत्यन्त संक्षिप्त सूत्रार्थ करते हैं—हृदयेति। हृदयपुण्डरीके-हृदय-कमल में, धारयतः—धारणा संयम करने से, या—जो, बुद्धिसंवित्—चित्त का साक्षात्कार उत्पन्न होता है, सा—वह, मनसः—चित्त की, स्थितिनिबन्धनी—स्थिति के निमित्त है। इसमें हेतु देते हैं—बुद्धिसत्त्वमिति। हि—क्योंकि, बुद्धिसत्त्वम्—चित्त, भास्वरम्-प्रकाशरूप, आकाशकल्पम्—आकाश के समान व्यापक है। तत्र-उस चित्त में, स्थितिवैशारद्यात्-निर्मल एकाग्रता प्राप्त होने से, प्रवृत्तिः-तद्विषयक साक्षात्कार रूप चित्त, सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते-सूर्याकार, चन्द्राकार, नक्षत्राकार तथा मणिप्रभाकाररूप विशेष रूप से उत्पन्न होता है।

इस भाष्य का भाव श्रीवाचस्पति मिश्र ने 'योगवैशारदी' में इस प्रकार स्पष्ट किया है कि, उदर (पेट), उरस् (छाती) के मध्य में दश अङ्गुलि परिमित हृदय-कमल है। वह रक्तवर्ण, अष्टदल, पञ्चच्छिद्र, अधोमुख एवं संपुटित है। पूर्वोक्त रेचक प्राणायाम के अभ्यास के द्वारा वह ऊर्ध्वमुख तथा विकसित होता है। प्रफुल्लित हृदय-कमल में सूर्यमण्डल, अकार तथा जागरितस्थान है। उसके ऊपर चन्द्रमण्डल, उकार तथा स्वप्नस्थान है। उसके ऊपर वह्निमण्डल, मकार तथा सुषुप्तिस्थान है। उसके ऊपर आकाश-स्वरूप ब्रह्मनाद अर्धमात्रा तुरीयस्थान है। ऐसा ब्रह्मवादी लोग कहते हैं। उस हृदयकमल की जो वीनाकाश रूप कर्णिका है, उसमें एक ऊर्ध्वमुखी ब्रह्मनाड़ी है। इसीको सुषुम्ना नाडी भी कहते हैं। वह उक्त हृदयस्थ आन्तर-सूर्यमण्डल के बीचोबीच होकर मस्तकस्थ दशम द्वार रूप ब्रह्माण्ड पर्यन्त जा पहुँची है। अतएव नाडी बाहर के सूर्यमण्डल से भी ओतप्रोत अर्थात् निरन्तर सम्बद्ध है। वही सुषुम्ना नाडी चित्त का निवास स्थान है। उस सुषुम्ना नाडी में संयम द्वारा चित्त को एकतान करने से वह चित्त सात्त्विक, ज्योति-स्वरूप, आकाश-तुल्य होता हुआ कभी सूर्याकार, कभी चन्द्राकार, कभी नक्षत्राकार तथा कभी मणिप्रभाकार होकर भासता है। तत्पश्चात् उस चित्त का साक्षात्कार होता है और यह जो चित्त का साक्षात्कार वही ज्योतिष्मती प्रवृत्ति नाम से कहा जाता है। इस प्रवृत्ति के उक्त सूर्यादि अनेक विषय होने से यह भी विषयवती ही है।

तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति ।

यत्रेदमुक्तम्—तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीत इति । एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥३६॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७॥

अस्मिता के कार्य मन में समापत्ति दिखाकर अस्मिता-समापत्ति के स्वरूप दिखाते हैं–तथेति । तथा–वैसे ही अस्मितायाम्—अस्मिता नामक अहंकार में, समापन्नं चित्तम्—समापन्न हुआ अर्थात् धारणापूर्वक स्थिरता को प्राप्त हुआ चित, निस्तरङ्गमहोदधिकल्पम्—तरङ्ग रहित समुद्र के समान, शान्तम्—शान्त, अनन्तम्—अनन्त, तथा, अस्मितामात्रम्–सत्त्वप्रधान अहंकार स्वरूप, भवति–हो जाता है । अर्थात् उस दशा में चित्तवृत्ति अहङ्काराकार हो जाती है । इसी अहंकार विषयक साक्षात्कार रूप वृत्ति को "अस्मितामात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति" कहते हैं । इस उक्त अर्थ में शास्त्रान्तर की संमति भाष्यकार दिखाते हैं—यत्रेदमुक्तम्–'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संजानीत' इति । यत्रेदमुक्तम्–इसी प्रकार अस्मिता-समापत्ति का स्वरूप पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है–तम्–उस, अणुमात्रम्–दुरधिगम होने से अणुमात्र, आत्मानम्–अहंकारास्पद आत्मा का, अनुविद्य–चिन्तन करके, अस्मि इति एवम्–"मैं ऐसा ही हूँ" इस प्रकार, तावत् संजानीते इति–अपने निज रूप को योगी जानता है । भाष्यकार सूत्रस्थ ज्योतिष्मती पद के दो अर्थ कहते हुए उन दोनों का फल करते हैं—एषा द्वयीति । एषा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः–इस प्रकार यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, द्वयी–दो प्रकार की, विशोका विषयवती–एक विशोका विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, च–और दूसरी, विशोका अस्मितामात्रा–विशोका अस्मितामात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, उच्यते–कही जाती है । यया–जिस साक्षात्कार रूप प्रवृत्ति के द्वारा, योगिनश्चित्तम्—योगी का चित्त, स्थितिपदं लभते–परमेश्वर विषयक स्थिरता को प्राप्त होता है । इति ॥ ३६ ॥

चित्त-स्थैर्य का कारण अन्य परिकर्म दिखाते हैं— वीतरागविषयं वा चित्तम् । वा–अथवा, वीतरागविषयम्–राग रहित योगियों के चित्त विषयक संयम से एकाग्र हुआ, चित्तम्–चित्त भी स्थितिपद को प्राप्त होता है । अर्थात् जैसे पूर्वोक्त गन्धादि विषयक संयम से एकाग्र हुआ चित्त स्थितिपद को प्राप्त होता है, वैसे ही सनकादि दत्तात्रेय, कृष्णद्वैपायन (व्यास) तथा शुकदेव आदि वीतराग महर्षि योगियों के चित्त

वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३७ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानलम्बनं वा ॥ ३८ ॥

स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

को आलम्बन कर संयम द्वारा एकाग्र किया हुआ चित्त भी अति स्थिरता को प्राप्त होता है।

भाष्यकार सूत्र का अर्थ करते हैं—वीतरागेति। वा-अथवा, वीतरागचित्तावलम्बनोपरक्तम्-राग रहित उक्त सनकादि महर्षि योगी महात्माओं के चित्तरूप अवलम्बन से उपरक्त एवं, तदाकारम्-उसकी धारणा से तदाकार, योगिनः-योगी का, चित्तम्-चित्त, स्थितिपदम्-स्थितिपद को, लभते-प्राप्त होता है। अर्थात् चित्त शुद्ध चित्त के ध्यान करने से भी स्थिर हो जाता है। इति ॥ ३७ ॥

उसी के जैसा अन्य परिकर्म को भी कहते हैं—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ वा-अथवा, स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम्-स्वप्न अवस्था में सात्त्विक ज्ञान का विषय जो भगवत्प्रतिमारूप पदार्थ है एवं निद्रा अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में सात्त्विक ज्ञान का विषय जो सुखमय अपना स्वरूपभूत पदार्थ है, उस पदार्थ का अवलम्बन करनेवाला चित्त भी स्थितिपद को प्राप्त होता है। यहां पर स्वप्न तथा निद्रा पद से सात्त्विक स्वप्न तथा सात्त्विक निद्रा का ग्रहण है।

सूत्र का विवरण भाष्यकार करते हैं—स्वप्नेति। स्वप्नज्ञानालम्बनं वा-स्वप्न अवस्था में ज्ञान का विषय भगवत्प्रतिमा रूप पदार्थ का अवलम्बन करनेवाला अथवा, निद्राज्ञानालम्बनं वा-सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का विषय सुखमय अपना स्वरूपभूत पदार्थ का अवलम्बन करनेवाला, तदाकारम्-उस पदार्थाकार, योगिनः-योगी का, चित्तम्-चित्त, स्थितिपदम्-स्थितिपद को, लभते-प्राप्त होता है।

इसका भाव श्रीवाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि-जिस समय यह योगी स्वप्न में निर्जन वन के निकट स्थित, मानो चन्द्र-मण्डल से प्रकट हुई हो, मृणाल-कण के समान अति कोमल अङ्ग-प्रत्यङ्गों से सम्पन्न, अभिजात-चन्द्रकान्त-मणि के सदृश, सुरभियुत मालती-पुष्प की माला से सुशोभित, परम-मनोहर, भगवान् महेश्वर की प्रतिमा की आराधना करते हुए ही जागता है।, उस समय योगी का चित्त उससे तृप्त न होने से अन्य तरफ जाना सुतरां कठिन है। अतः प्रसन्न मन से उस सात्त्विक-स्वप्न-ज्ञान का विषयभूत उक्त भगवत्प्रतिमा में ही अपने चित्त को

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत् । तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥ ३९ ॥

एकतान करके जोड़ देने से भी योगी का चित्त स्थितिपद को प्राप्त होता है। एवं जिस समय यह योगी गाढ निद्रा-रूप सुषुप्ति से जागता है, उस समय उसको "सुखमहमस्वाप्सम्" "अर्थात् मैं सुखपूर्वक सोया था" इस प्रकार की स्मृति होती है। उस सात्त्विक निद्राज्ञान रूप स्मृति का विषय जो अपना स्वरूप उसको आलम्बन करके चित्त को एकतान करने से भी स्थितिपद को प्राप्त होता है। इति ॥ ३८ ॥

पुरुष की रुचि भिन्न-भिन्न होने से जिस देवता में अतिशय रूचि हो उसी देवता का ध्यान करने से चित्त स्थितिपद को प्राप्त होता है। यह कहते हुए सूत्रकार अब प्रवृत्ति के प्रकरण का उपसंहार करते हैं—यथाभिमतध्यानाद्वा। वा - अथवा, यथाभिमतध्यानात्—जिस देवता का स्वरूप योगी को अभिमत (इष्ट) हो उसीका ध्यान करने से चित्त स्थितिपद को प्राप्त होता है।

उसी को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्राऽपि स्थितिपदं लभत इति ॥

यदेवाभिमतम्—जिस योगी को जो स्वरूप अभीष्ट हो, तदेव—उसीका, ध्यायेत्—ध्यान करे। तत्र—जिस रूप का ध्यान करे उस रूप में, लब्धस्थितिकम्—स्थिरता को प्राप्त हुआ चित्त, अन्यत्राऽपि—उससे अन्य अपने स्वरूप आदि में भी, स्थितिपदम्—स्थिति पद को लभते—प्राप्त हो जाता है।

भाव यह है कि, "अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी, तस्य उदिति नाम,स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः,उदेति हवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद"॥ इत्यादि श्रुति-उक्त आदित्य मण्डलान्तर्गत हिरण्मय, हिरण्यश्मश्रु, हिरण्यकेश पुरुष में यदि अधिक अभिरुचि हो तो उसी का ही ध्यान करे। एवं शिव, शक्ति, गणपति, विष्णु, तथा सूर्यादि देवताओं के मनोहर दिव्य-स्वरूप में से किसी एक में यदि विशेष रुचि हो तो उसी का ध्यान करे। उसमें स्थिरता को प्राप्त हुआ चित्त निर्गुण, निराकार, विशुद्ध परमेश्वर में भी स्थितिपद को प्राप्त हो जाता है। इति ॥ ३९ ॥

इस प्रकार छः सूत्रों से परिकर्म अर्थात् चित्त-स्थिति के उपायकथन करने पर जिज्ञासा होती है कि—ऐसा कौन लक्षण है कि, जिससे यह जाना जाय कि, "अब चित्त पूर्ण रूप से स्थितिपद को प्राप्त हो चुका है।" इस आशङ्का को शान्त करने के

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति । स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य । एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतिघातः स परो वशीकारः । तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति ॥४०॥

लिये जिस लक्षण (चिह्न) से चित्त की स्थिरता प्रतीत होती है, उस लक्षण का सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं-परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः। परमाणुपरममहत्त्वान्तः-अणु अर्थात् सूक्ष्म पदार्थों में परम अणु परमाणु पर्यन्त तथा महान् अर्थात् स्थूल पदार्थों में परम महान् आकाश पर्यन्त, अस्य—इस योगी के चित्त का, वशीकारः-वशीकार हो जाता है । अर्थात् उक्त परिकर्म के सतत अनुष्ठान से सूक्ष्म तथा स्थूल किसी भी पदार्थ में चित्त-निवेश करके स्थिर करने का सामर्थ्य योगी को प्राप्त होता है । यही सामर्थ्य चित्त की पूर्ण स्थिति का परिचायक है ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं-सूक्ष्म इति सूक्ष्मे—सूक्ष्म पदार्थों में निविशमानस्य । चित्तस्य—एकतान रूप से निविशमान चित्त को, परमाण्वन्तम् परमाणु-पर्यन्त, स्थितिपदम्-स्थितिपद, लभते-प्राप्त होता है तथा, स्थूले-स्थूल पदार्थोंमें, निविशमानस्य चित्तस्य-एकतान रूप से निविशमान चित्त को, परममहत्त्वान्तम्-परम महान् आकाश पर्यन्त, स्थितिपदम्-स्थितिपद, लभते प्राप्त होता है । एवमिति एवम्-इस प्रकार, ताम् उभयीम् कोटिम्-उन दोनों कोटि अर्थात् सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थों के तरफ, अनुधावतः—अनुधावन करने (दौडने) वाला, अस्य इस चित्त का, यः-जो, अप्रतिघातः—अप्रतिघात अर्थात् कहीं रुकावट नहीं होना, सः-वह, परो वशीकारः-पर वशीकार कहा जाता है । यही चित्त की अन्तिम स्थिति का लक्षण (चिह्न) है । तद्वशीकारादिति । तद्वशीकारात्—उस वशीकार के लाभ से,योगिनश्चित्तम्-योगी का चित्त; परिपूर्णम्—परिपूर्ण होता हुआ, पुनः-फिर अन्य, अभ्यासकृतम् अभ्याससाध्य, परिकर्म—परिकर्म की अर्थात् स्थिति के उपाय को, न अपेक्षते—अपेक्षा नहीं करता है ।

अणु पदार्थों में निविशमान चित्त का जो परमाणु तक प्रवेश करके स्थिर होना एवं महान् पदार्थों में निविशमान चित्त का जो आकाश तक प्रवेश करके स्थिर होना अर्थात् कहीं रुकावट न होना, वही चित्त की स्थिरता का लक्षण है, यह सिद्ध हुआ । इति ॥ ४० ॥

अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति, तदुच्यते—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः । अभिजातस्येव

इस प्रकार चित्त-स्थिति के उपाय तथा स्थिर चित्त का सूक्ष्म-स्थूल विषयों में वशीकार कथन के पश्चात् भाष्यकार प्रश्न उठाते हैं—अथ लब्धस्थितिकस्येति । अथ सूक्ष्म तथा स्थूल विषयों में चित्त का वशीकार श्रवण के अनन्तर प्रश्न उपस्थित होता है कि, लब्धस्थितिकस्य चेतसः—स्थिरता को प्राप्त हुए चित्तको, जो समापत्तिः—समापत्ति (सबीज संप्रज्ञात-समाधि) प्राप्त होती है, वह, किंस्वरूपा—किस प्रकार के स्वरूपवाली, वा और, किंविषया—किस प्रकार के विषयवाली होती है? अर्थात् संप्रज्ञात समाधि का स्वरूप किस प्रकार का होता है? और उसका विषय कौन-कौन है? तदुच्यते—उक्त प्रश्नों का उत्तर सूत्रकार देते हैं—क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिरिति । इस सूत्र में "क्षीणवृत्तेः" इतना अंश का वृत्त्यन्तर रहित अर्थ है। "अभिजातस्येव मणेः" इतना अंश दृष्टान्त है। ग्रहीतृ शब्द का अहंकार उपाधिक पुरुष अर्थ है। ग्रहण शब्द का इन्द्रिय अर्थ है। ग्राह्य शब्द का पञ्चतन्मात्रारूप सूक्ष्म भूत और पृथिव्यादि स्थूल भूत एवं भौतिक गोघटादि पदार्थ हैं। "तत्स्थतदञ्जनता" इतने अंश का उक्त विषयों में जाकर एकाग्र स्थिति प्राप्त कर विषयाकारता को प्राप्त हुआ चित्त अर्थ है। और समापत्ति शब्द का पारिभाषिक भावनाविशेष रूप संप्रज्ञात-समाधि अर्थ है। तथाच अभिजातस्य मणेः निर्मल स्फटिक मणि के, इव—सदृश, क्षीणवृत्तेः—राजस-तामस वृत्ति रहित स्वच्छ चित्त की जो, ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु—उक्त पुरुष, महतत्त्व, अहंकार, इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र, स्थूल भूतादि पदार्थों में, तत्स्थतदञ्जनता—एकाग्र स्थिति प्राप्त कर इन विषयों के समान आकारता वह, समापत्तिः—संप्रज्ञात समाधि कही जाती है। इसी को भावना-विशेष सबीज समाधि भी कहते हैं।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—क्षीणवृत्तेरिति । सूत्र में "क्षीणवृत्तेः" इस पद का प्रत्यस्तमित (वृत्त्यन्तर रहित चित्तवृत्ति) अर्थ है। अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम् । 'अभिजातस्येव मणेः' इतना अंश दृष्टान्त का उपादान है। यथा स्फटिक इति । यथा जैसे, स्फटिकः—अति स्वच्छ स्फटिक मणि, उपाश्रयभेदात्—रक्त, पीत, नीलादि वर्ण-विशिष्ट जपाकुसुम आदि उपाधि के

मणेरिति दृष्टान्तोपादानम्। यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात्तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते, तथा भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति। तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं भवति। तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति।

तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेषु द्रष्टव्यम्। ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणस-

---

सन्निधान से, तत्तद्रूपोपरक्तः—उस उस उपाधि के रूप से उपरक्त (प्रतिबिम्बित) होता हुआ, उपाश्रयरूपाकारेण–उस उस उपाधि के रक्तादि आकार से, निर्भासते–भासता है। तथा—वैसे ही, चित्तम्—अभ्यास-वैराग्य से राजस, तामस वृत्ति रहित एवं मैत्री आदि भावना से निर्मल (अति स्वच्छ) हुआ चित्त भी जब, ग्राह्यालम्बनोपरक्तम्—ग्राह्यरूप (विषयरूप) अवलम्बन से उपरक्त होता हुआ, ग्राह्यसमापन्नम्—ग्राह्यभाव (ग्राह्याकार) को प्राप्त होता है, तब ग्राह्यरूपाकारेण—ग्राह्य पदार्थ के आकार से, निर्भासते—भासता है। तथा भूतेति। तथा—वैसे ही, भूतसूक्ष्मोपरक्तम्—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूप भूत सूक्ष्म उपाधि से उपरक्त चित्त, भूतसूक्ष्मसमापन्नम्–भूतसूक्ष्मभाव को प्राप्त हुआ, भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासम्–भूतसूक्ष्मस्वरूपाभास अर्थात् तदाकार (भूत सूक्ष्माकार), भवति–होता है। अर्थात् तन्मात्र के सन्निधान से तन्मात्राकार होकर चित्त भासता है। इस कथन से विचारानुगत समाधि दिखाया गया है। तथा स्थूलेति। तथा–वैसे ही, स्थूलालम्बनोपरक्तम्–पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाशरूप स्थूलभूत उपाधि से उपरक्त चित्त, स्थूलरूपसमापन्नम्–स्थूलभूत के आकार को प्राप्त होकर, स्थूलरूपाभासम्–स्थूलभूत के आकार का आभासवाला, भवति–होता है। अर्थात् स्थूल पांच भूतों में से किसी एक के सन्निधान से चित्त उसी स्थूल भूत का आकार होकर भासता है। तथा विश्वेति। तथा–वैसे ही, विश्वभेदोपरक्तम्–विश्वभेद अर्थात् स्थावर, जंगम, गो, घट आदि स्थूलपदार्थरूप आलम्बन से उपरक्त चित्त, विश्वभेदसमापन्नम्–विश्वभेद को प्राप्त होकर, विश्वरूपाभासम्–विश्वभेद गो, घट आदि आकार के आभासवाला, भवति–होता है। अर्थात् जिस पदार्थ पर चित्त जाता है उसी के सन्निधान से उसीका आकार होकर भासता है। इस कथन से वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि दिखाया गया है। तथा ग्रहणेष्विति। तथा–वैसे ही, ग्रहणेषु–ग्रहण नामक, इन्द्रियेषु–इन्द्रियों में, अपि–भी, द्रष्टव्यम्–

मापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते ।

तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते इति ।

तदेवमभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा

देखना चाहिये । ग्रहणालम्बनोपरक्तम्–जब ग्रहण नामक इन्द्रिय-रूप आलम्बन से उपरक्त हुआ चित्त, ग्रहणंसमापन्नम–ग्रहणभाव को प्राप्त होता है तब, ग्रहणस्वरूपाकारेण–ग्रहण के आकार से, निर्भासते–भासता है । अर्थात् ज्ञान के कारण इन्द्रिय के संनिधान से चित्त इन्द्रियाकार प्रतीत होता है । इस कथन से आनन्दानुगत समापत्तिरूप संप्रज्ञातसमाधि का निर्देश किया गया है । तथा ग्रहीतृपुरुषेति । तथा–वैसे ही, ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तम्–जब चित्त ग्रहीतृ नामक अहंकारोपाधिक पुरुष रूप आलम्बन से उपरक्त होता हुआ, ग्रहीतृपुरुषसमापन्नम्—ग्रहीतृपुरुषाकार को प्राप्त होता है तब, ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण—ग्रहीतृपुरुष के आकार से, निर्भासते—भासता है । अर्थात् अस्मिता (अहंकार) उपाधिक पुरुष के संनिधान से पुरुषाकार होकर चित्त भासता है इस कथन से अस्मितानुगत समापत्ति नामक संप्रज्ञात समाधि का निर्देश किया गया है । तथा मुक्तपुरुषेति । तथा–वैसे ही, मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तम्–जब चित्त मुक्त पुरुष शुकदेव, प्रह्लाद आदि के आलम्बन से उपरक्त होता हुआ, मुक्तपुरुषसमापन्नम्–मुक्तपुरुषाकार को प्राप्त होता है तब, मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण–मुक्त पुरुष के आकार से, निर्भासते–भासता है। अर्थात् जीवन्मुक्तपुरुषाकार होकर प्रतीत होता है । इस कथन से भी अस्मितानुगत समापत्ति रूप संप्रज्ञात समाधि का ही निर्देश किया गया है । इस भाष्यगत इति शब्द समापत्ति विभाग की समाधि का सूचक है ।

भाष्यकार प्रकृत सूत्र के व्याख्यान का उपसंहार करते हुए सूत्रगत "तत्स्थतदञ्जनता" इस पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं—

तदेवमिति । तत्—वह, एवम्—इस प्रकार, अभिजातमणिकल्पस्य—अत्यन्त स्वच्छ स्फटिक मणि के समान, चेतसः—चित्त की, गृहीतृग्रहणग्राह्येषु—ग्रहीतृ, ग्रहण, ग्राह्य नामक, पुरुषेन्द्रियभूतेषु—पुरुष, इन्द्रिय तथा भूत पदार्थों में, या जो, तत्स्थतदञ्जनता—तत्स्थतदञ्जनता अर्थात् तेषु—उन पदार्थों में, स्थितस्य—स्थित (स्थिर चित्त) की, तदाकारापत्तिःउक्त—पुरुषादि के समान आकारता, सा—

समापत्तिरित्युच्यते ॥ ४१ ॥

वह, समापत्तिः—समापत्ति अर्थात् "संप्रज्ञातसमाधि" इति—इस शब्द से उच्यते—कहा जाता है।

यद्यपि भाष्यकार ने ग्रहीतृ शब्द से केवल पुरुष-विषयक समापत्ति (भावना) का ही ग्रहण किया है, तथापि पुरुष को अविषय होने से तद्विषयक समापत्ति असंभव है। अतः ग्रहीतृ शब्द से अहङ्कारविशिष्ट पुरुषविषयक समापत्ति का ग्रहण समझना चाहिये। एवं शुक, प्रह्लाद आदि मुक्त पुरुषविषयक समापत्ति को भी उनके शरीर-विशिष्ट ही समझना चाहिये; केवल चेतन-विषयक नहीं। अतएव उनका भाष्य में पृथक् उपन्यास किया गया है। अन्यथा ग्रहीतृ शब्द से शुक, प्रह्लाद आदि मुक्त पुरुषरूप चेतन का ग्रहण हो जाने से उनका पृथक् उपन्यास व्यर्थ हो जायगा।

जैसे वेद में "अग्निहोत्रं जुहोति" "यवागूं पचति" ऐसा पाठक्रम है। इस यथाश्रुत पाठक्रम के अनुसार ही यदि अनुष्ठान भी किया जाय, तो अग्निहोत्र प्रथम करना पड़े, तत्पश्चाद् यवागू-पाक करना पड़े और अग्निहोत्र के लिये यवागू से अतिरिक्त होम्य द्रव्यान्तर की कल्पना करना पड़े एवं यवागू-पाक का अग्निहोत्र के अदृष्ट से अतिरिक्त अदृष्टान्तर की कल्पना करना पड़े। अतः उभय कल्पना-गौरव होने से "पाठ्यक्रमादर्थक्रमो बलीयान्" इस न्याय का आश्रयण करके प्रबल अर्थक्रम से दुर्बल पाठक्रम को बाध कर प्रथम यवागू-पाक किया जाता है। तत्पश्चात् अग्निहोत्र किया जाता है। ऐसा करने से अग्निहोत्र के लिये यवागूरूप एकही द्रव्य तथा अग्निहोत्र का एक ही स्वर्गजनक अदृष्ट मानने से लाघव होता है। इसी प्रकार लोक में जैसे "खाओ, खाओ, बनाओ, नहाओ" ऐसा कहने पर उक्त न्याय का आश्रयण करके प्रबल अर्थक्रम के अनुरोध से दुर्बल पाठक्रम को बाध कर प्रथम स्नान किया जाता है। तत्पश्चात् भोजन बनाया जाता है और तत्पश्चात् खाया जाता है। वैसे ही प्रकृत सूत्र में उक्त न्याय का आश्रयण करके प्रबल अर्थक्रम से दुर्बल 'ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु" इस पाठक्रम का बाध करके प्रथम ग्राह्यविषयक, तत्पश्चात् ग्रहण-विषयक, तत्पश्चात् ग्रहीतृविषयक समापत्ति समझना चाहिये। इसी प्रकार प्रकृत सूत्र के भाष्य में भी जो प्रथम भूत सूक्ष्म-विषयक समापत्ति का उपन्यास पाया जाता है, उसको भी सूत्रक्रम के अनुरोध से ही समझना चाहिये। अनुभव-दृष्टि से देखा जाय तो प्रथम स्थूलभूत-विषयक, उसके पश्चात् सूक्ष्मभूत-विषयक समापत्ति होती है। अन्यथा, यदि स्थूलभूत-विषयक समापत्ति के बिना सूक्ष्मभूत-विषयक समापत्ति हो सके तो स्थूलभूत-विषयक समापत्ति की आवश्यकता न होने से उसका उल्लेख भाष्य में व्यर्थ हो जायगा।

पीछे "वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥"

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम् ।

इस सूत्र से जो संप्रज्ञात समाधि का लक्षण तथा चार भेद कथन किये गए हैं, उसी का ग्रहीतृ-ग्रहण तथा ग्राह्य-रूप विषयमात्र का प्रकृत सूत्र से निर्देश किया गया है। वितर्कानुगत आदि चार से अलग संप्रज्ञात समाधि के ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्यरूप विषय के भेद से अधिक भेद यहां नहीं समझना चाहिये। यह बात उसी (१७ वां) सूत्र पर कह आये हैं। पाठक को वहीं देखना चाहिये। इति ॥ ४१ ॥

पूर्वोक्त ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्यविषयक तीन प्रकार की समापत्तियों (संप्रज्ञात समाधियों) में जो ग्राह्यविषयक समापत्ति है वह सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार के भेद से चार प्रकार की है। उनमें स्थूलग्राह्य-समापत्ति के सवितर्क तथा निर्वितर्क ये दो भेद हैं और सूक्ष्मग्राह्य-समापत्ति के सविचार तथा निर्विचार ये दो भेद हैं। उनमें सबसे प्रथम सवितर्कनामक स्थूलग्राह्य-समापत्ति का लक्षण सूत्रकार करते हैं—तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिरिति। तत्र—उन ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्यविषयक तीन प्रकार की समापत्तियों में जो, शब्दार्थज्ञानविकल्पैः—शब्द, अर्थ तथा ज्ञानरूप तीन विकल्पों से, संकीर्णा—संमिलित (मिश्रित) है। अर्थात् जिसमें शब्द, अर्थ तथा ज्ञानरूप भिन्न-भिन्न पदार्थों का अभेद रूप से भान होता है वह, सवितर्का समापत्तिः—सवितर्का-नामक समापत्ति कही जाती है। इसी को सविकल्प-संप्रज्ञात-समाधि भी कहते हैं।

भाष्यकार विशेष रूप से सूत्र का अर्थ स्फुट करते हैं—तद्यथेति। तद्यथा—वह जैसे, गौरिति शब्दः—"गौः" यह शब्द अर्थात् कण्ठ-तालु आदि के संयोग से उच्चरित एवं श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य जो 'गौः' इत्याकारक शब्द है, इसका "गौः" ऐसा उच्चारण होता है। गौरित्यर्थः—"गौः" यह अर्थ अर्थात् गोष्ठस्थित (गोशाला में स्थित) जो शृङ्ग-सास्नावाली व्यक्ति गो शब्द का अर्थ है। इसका भी "गौः" ऐसा ही उच्चारण होता है, गौरिति ज्ञानम्—"गौः" यह ज्ञान अर्थात् पूर्वोक्त गोव्यक्ति को देखने से जो चित्त का तदाकाररूप परिणामविशेष गो का ज्ञान, इसका भी "गौः" ऐसा ही उच्चारण होता है, इति—इस प्रकार, विभक्तानामपि—गो शब्द, गो अर्थ, गो ज्ञान; ये तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, तो भी, ग्रहणम्—इनका ज्ञान, अविभागेन—अविभाग रूप से एकसा ही, दृष्टम्—देखा गया है। इसी भिन्न-भिन्न पदार्थों की

विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा अन्ये ज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः।

तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः

एकसी प्रतीति का नाम शब्दार्थज्ञानविकल्प है; क्योंकि, यह ज्ञान शब्दज्ञानानुपाती तथा वस्तुशून्य है।

भाव यह है कि, जैसे "गौः" इत्याकारक शब्द को उच्चारण करता हुआ कोई किसी को पूछे कि, "यह क्या है?" तो उत्तर मिलेगा कि, "यह गौ है"। फिर पूछा जाय कि, क्षेत्र में शृङ्गसास्नादि आकृतिवाली व्यक्ति जो चर रही है वह क्या है? तो उत्तर मिलेगा कि, "यह गौ है" तथा फिर पूछा जाय कि, "उस व्यक्ति-विषयक जो वृत्ति आपके चित्त में उत्पन्न हुई है वह क्या है?" तो फिर उत्तर मिलेगा कि, "यह गौ है"। इस प्रकार तीनों स्थलों में "गौ है, गौ है" ऐसा ही उच्चारण किया गया है। परन्तु जहां गो शब्द है, वहां गोव्यक्ति तथा गोव्यक्ति का ज्ञान नहीं है, फिर भी शब्द के साथ दोनों अभिन्न होकर भासते हैं। अतः यह ज्ञान विकल्परूप है। और जहां गोव्यक्तिरूप अर्थ है, वहाँ गो शब्द तथा गो का ज्ञान नहीं है। फिर भी व्यक्ति, रूप अर्थ के साथ अभिन्न होकर ये दोनों भासते हैं। अतः यह ज्ञान विकल्परूप है। एवं जहाँ गोव्यक्ति का ज्ञान है, वहाँ गो शब्द तथा गो व्यक्तिरूप अर्थ नहीं है, तो भी गोव्यक्ति के ज्ञान के साथ अभिन्न होकर ये दोनों भासते हैं। अतः यह ज्ञान भी विकल्परूप ही है। यहां पर शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का परस्पर ऐसा संबन्ध है कि, इन तीनों के भिन्न-भिन्न होने पर भी एक का ज्ञान होने पर दूसरे दो की अवश्य उपस्थिति हो जाती है। इस अविद्यमान अभेद का भान होना ही यहाँ शब्दार्थज्ञान की परस्पर संकीर्णता है।

विभज्यमाना इति। च–और, विभज्यमानाः—विचार-दृष्टि से देखा जाय तो ये तीनों विभज्यमान हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि अन्ये शब्दधर्माः—गोशब्द कण्ठस्थित तथा उदात्तादि धर्मवाला अन्य है, अन्येऽर्थधर्माः—गोशब्द का अर्थ शृङ्गसास्नादि विशिष्ट व्यक्ति भूमिस्थित तथा जडत्व-मूर्तत्वादि-धर्मयुक्त अन्य है, एवं अन्ये ज्ञानधर्माः—गो का ज्ञान चित्तस्थित तथा प्रकाशकत्व, अमूर्तत्वादि धर्मवाला अन्य ही है, इति–इस प्रकार, एतेषाम्–इन तीनों का, विभक्तः पन्थाः–भिन्न-भिन्न मार्ग है, अर्थात् ये तीनों परस्पर पृथक्-पृथक् ही हैं, फिर भी इनका भान अभिन्न रूप से परस्पर संकीर्ण ही होता है। अतः ये तीनों ज्ञान विकल्परूप हैं, यह फलित हुआ। तत्र समापन्नस्येति। तत्र–उस, समापन्नस्य–समाहित, योगिनः–योगी की, समाधिप्रज्ञायाम् समाधिप्रज्ञा (वृत्तिविशेष) में, यः–जो, गवा-

स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ॥ ४२ ॥

यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते सा च निर्वितर्का समापत्तिः । तत्परं प्रत्यक्षम् । तच्च श्रुता-

---

द्यर्थः–गो आदि पदार्थ, समारूढः–उपारूढ अर्थात् बुद्ध्यारूढ है, सः–वह, चेत्–यदि, शब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्धः—शब्द, अर्थ तथा ज्ञान-रूप विकल्प से युक्त होता हुआ, उपावर्त्तते—उपारूढ होता है, तो, सा संकीर्णा समापत्तिः–वह संकीर्ण समापत्ति, सवितर्का इति उच्यते–सवितर्कानामक समापत्ति (सविकल्प संप्रज्ञात समाधि) कही जाती है ।

भाव यह है कि, जिस भावना-विशेष समाधिप्रज्ञा में स्थूलभूत तथा प्रतिमा आदि कोई मूर्त्तियां एवं गो, घट आदि कोई अन्य पदार्थ उक्त शब्द, अर्थ, ज्ञान-रूप विकल्प से संकीर्ण होकर भासते हैं तो उस प्रज्ञा को सविकल्प-संप्रज्ञात-समाधि कहते हैं । इस समाधि-प्रज्ञा में जो उक्त पदार्थों की प्रतीति वह प्रत्यक्ष-प्रतीतिरूप है । यहां प्रत्यक्ष-प्रतीति अपर और पर के भेद से दो प्रकार की है । उनमें भाष्यकार ने अग्रिम सूत्र के भाष्य में निर्वितर्का समाधि-प्रज्ञा में जो पदार्थ की प्रतीति होती है उसको पर प्रत्यक्ष कहा है । अतः इस प्रतीति को अपर-प्रत्यक्ष रूप ही समझना चाहिये । क्योंकि, इस विकल्परूप भावना में यथार्थता का अभाव है । इति ॥ ४२ ॥

पूर्व विषय के साथ अग्रिम सूत्र का सम्बन्ध जोड़ने के लिये भाष्यकार प्रथम निर्वितर्का समापत्ति का स्वरूप निर्देश करते हैं— यदा पुनरिति । यदा पुनः–और जब, शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ–शब्दसंकेत की स्मृति का अपगम— (निवृत्ति) होने पर, श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायाम्–आगम, अनुमान, ज्ञान विकल्प से रहित समाधिप्रज्ञा में, स्वरूपमात्रेण–स्वरूपमात्र से, अवस्थितोऽर्थः—अवस्थित अर्थ, तत्स्वरूपाकारमात्रतया एव–उस स्वरूप के आकारमात्र रूप से ही, अवच्छिद्यते–प्रतीत होता है । सा चेति । सा च–वह समाधिप्रज्ञारूप भावना, निर्वितर्का समापत्तिः–निर्वितर्का समापत्ति कही जाती है । तत्परं प्रत्यक्षम् । तत्–वह ज्ञान (समाधि-प्रज्ञारूप भावना) यथार्थविषयक होने से, परम् प्रत्यक्षम्–पर प्रत्यक्ष कहा जाता है । क्योंकि, इस समापत्ति (भावना) में विषय का यथार्थ ही भान होता है । सवितर्का समापत्ति के समान विकल्प नहीं, (अयथार्थ नहीं) । तच्चेति । च—और, तत्–वह परप्रत्यक्षरूप ज्ञान, श्रुतानुमानयोः–आगम और अनुमान का,

नुमानयोर्बीजम् । ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः । न च श्रुतानुमानज्ञान-सहभूतं तद्दर्शनम् ।

तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शन-मिति । निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्व-

---

बीजम्-कारण है। क्योंकि, इसके बल से ही अर्थ का प्रत्यक्ष करके योगी लोक श्रुति-युक्ति द्वारा उपदेश करते हैं। उसी को दिखाते हैं—तत इति। ततः-उस (पर प्रत्यक्ष) के पश्चात्, श्रुतानुमाने—आगम तथा अनुमान, प्रभवतः-उत्पन्न होते हैं। न चेति। श्रुतानुमानज्ञानसहभूतम्—आगम तथा अनुमान ज्ञान के साथ रहनेवाला, तद्दर्शनम्—वह पर-प्रत्यक्ष-रूप ज्ञान, न च-नहीं है। तस्मादिति। तस्मात्-इसीसे, प्रमाणान्तरेण-अन्य प्रमाण से, असंकीर्णम्-असंमिश्रित, योगिनः-योगी का, निर्वितर्कसमाधिजम्-निर्वितर्क समाधिजन्य, दर्शनम्-ज्ञान है। अर्थात् उक्त विकल्प-रूप नहीं; किन्तु यथार्थविषयक है। क्योंकि, यह ज्ञान विकल्प-रूप आगम तथा अनुमान ज्ञान का कारण है। जैसे, वह्निज्ञान का कारण धूमज्ञान वह्निज्ञान का विषय नहीं। वैसे ही, विकल्परूप आगम तथा अनुमान ज्ञान का कारण पर-प्रत्यक्ष विकल्परूप नहीं, किन्तु यथार्थ है।

व्याख्येय सूत्र की योजना करते हैं—निर्वितर्काया इति। अस्याः निर्वितर्कायाः समापत्तेः-इस निर्वितर्का समापत्ति का, सूत्रेण-अग्रिम सूत्र के द्वारा सूत्रकार, लक्षणं द्योत्यते-लक्षण दिखाते हैं—स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवाऽर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्केति। स्मृतिपरिशुद्धौ—स्मृति को परिशुद्धि (निवृत्ति) होने पर अर्थात् आगम, अनुमान ज्ञान के कारण शब्दसंकेतस्मृति के अपनय (दूर) होने पर जो, अर्थमात्रनिर्भासा-केवल ग्राह्यरूप अर्थ को ही प्रकाश करनेवाली अत एव स्वरूपशून्या इव-स्वरूप शून्य के समान (नहीं के बराबर) अर्थात् ग्रहणाकार ज्ञानात्मक रूप से रहित चित्तवृत्ति, वह, निर्वितर्का—निर्वितर्का-नामक संप्रज्ञात समाधि कहा जाता है। यद्यपि अवतरणिका में ही सूत्रार्थ स्पष्ट हो गया है तथापि पुनः उसीका विस्तार भाष्यकार करते हैं—या शब्दसंकेतेति। या-जो, शब्दसंकेत-श्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ—शब्दसंकेत - ज्ञान, आगम - ज्ञान तथा अनुमान-ज्ञानरूप विकल्पात्मक (अध्यास-रूप) स्मृति की निवृत्ति होने से, ग्राह्य-

रूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञास्वरूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्र-स्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा तदा निर्वितर्का समापत्तिः। तथा च व्याख्यातम्। अस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः।

स च संस्थानविशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति। धर्मान्तरस्य कपालादेरु-

---

स्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा–ग्राह्यस्वरूप से उपरक्त (प्रतिबिम्बित) हुई भावना, ग्रहणात्मकं स्वं प्रज्ञास्वरूपं त्यक्त्वा इव–ग्रहणाकार अपने ज्ञानस्वरूप को जैसे त्याग दिये हो वैसे, पदार्थमात्रस्वरूपा–केवल ग्राह्यपदार्थाकार हुई अतएव, ग्राह्यस्वरूपापन्ना इव–जैसे ग्राह्यस्वरूप को प्राप्त हो गई हो वैसे, भवति–होती है, सा–वह भावना, तदा–उस समय, निर्वितर्का समापत्तिः–निर्वितर्का-नामक संप्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

उक्त अर्थ में वृद्धों की संमति दिखाते हुए विरोध का परिहार करते हैं– तथा चेति। तथा च–इसी प्रकार, पूर्वाचार्यों ने भी, व्याख्यातम्–व्याख्यान किया है– अस्याः–इस निर्वितर्का-समापत्ति का, लोकः–जो अवलम्बनरूप, अर्थात्मा—विषय, गवादिर्घटादिर्वा–स्थूल गो आदि भोगायतन तथा घटादि विषय है वह, एकबुद्ध्युपक्रमः–"यह एक घट है" इत्याकारक एकबुद्धि को उत्पन्न करनेवाला, अणुप्रचयविशेषात्मा–अणुओं का स्थूलरूप परिणामविशेष है। अर्थात् वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक बौद्धों के मतानुसार परमाणुओं का संघात (पुञ्ज) रूप तथा योगाचार बौद्ध के मतानुसार विज्ञान-स्वरूप बुद्धि का ही एक आकाररूप एवं नैयायिक मतानुसार द्व्यणुकादि-क्रम से आरम्भरूप स्थूल गो, घटादि पदार्थ नहीं है; किन्तु अणुओं का स्थूल-परिणामविशेष भेदाभेद-रूप पृथक् पदार्थ है।

स चेति। स च–और वह स्थूल गो, घटादि पदार्थ, संस्थानविशेषः–संस्थानविशेष अर्थात् अवयव-संनिवेशरूप अवयवी, भूतसूक्ष्माणाम्–भेदरूप होने से सूक्ष्म भूतों का, साधारणो धर्मः—साधारण धर्म, आत्मभूतः–अभेदरूप से भूतसूक्ष्मों में अनुगत, व्यक्तेन फलेन अनुभूतः–अभिव्यक्ति तथा व्यवहाररूप कार्य से अनुमित तथा, स्वव्यञ्जकाञ्जनः–अपनी अभिव्यक्ति की कारणता को प्राप्त होता हुआ, प्रादुर्भवति–प्रादुर्भूत (अभिव्यक्त) होता है। अर्थात् स्थूल गो, घटादि पदार्थ अपने-अपने कारण में से अपूर्व उत्पन्न नहीं होते हैं; किन्तु प्रथम से विद्यमान का ही आविर्भावमात्र ही होता है। घटादि में नित्यता का परिहार करते हैं–धर्मान्तरस्येति। च–और, कपालादेः धर्मान्तरस्य उदये–दण्ड-प्रहार के अनन्तर घटादि कार्य-रूप

दये च तिरोभवति ।

स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते । योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते ।

यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यं तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति ।

प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति ।

धर्मान्तर की अपेक्षा कपालादि रूप धर्मान्तर के उदय होने पर, तिरोभवति—घटादि कार्यरूप धर्म का तिरोभाव होता है। अर्थात् कुलाल आदि के व्यापार से पूर्व मृत्तिका आदि में घटादि कार्य अनागत अवस्था से कुलाल आदि के व्यापार के अनन्तर वर्तमान अवस्था से तथा दण्डादि-प्रहार के अनन्तर अतीत अवस्था से विद्यमान रहता है। घटादि कार्य का मृत्तिकादि कारण में कभी भी अभाव नहीं रहता है। स एष इति । स एष धर्मः—वह स्थूल घटादि कार्य-रूप धर्म, अवयवी इति उच्यते—अवयवी इस शब्द से कहा जाता है। अर्थात् अवयव-पुञ्ज ही अवयवी है ऐसा नहीं, किन्तु अवयव से अतिरिक्त (पृथक्) अवयवी पदार्थ है। योऽसावेकश्चेति । यः असौ—जो वह परिणामरूप अवयवी, एकश्च—एक, महांश्च—महान् अर्थात् बड़ा, अणीयांश्च—अत्यन्त अणु अर्थात् छोटा, स्पर्शवांश्च—स्पर्शवाला, क्रियाधर्मकश्च—क्रियारूप (जलादि - धारण क्रियारूप) धर्मवाला तथा, अनित्यश्च—अनित्य कहा जाता है, तेन अवयविना—उसी अवयवी के द्वारा, व्यवहाराः—यथायोग्य सब व्यवहार, क्रियन्ते—किये जाते हैं।

"अवयव से अतिरिक्त अवयवी नहीं है, किन्तु अवयव ही निर्वितर्का समापत्ति का विषय है" इस वैनाशिक (बौद्ध) के मत का भाष्यकार खण्डन करते हैं—यस्येति । यस्य पुनः—और जिस वैनाशिक के मत में, सः—वह, प्रचयविशेषः—स्थूलरूप परिणाम अवयवी, अवस्तुकः—तुच्छ है, च—और, सूक्ष्मं कारणम् अनुपलभ्यम्—परमाणुरूप अवयवात्मक सूक्ष्म कारण अप्रत्यक्ष है, तस्य—उस (बौद्ध) के मत में, अवयव्यभावात्—योग्य अवयवी के अभाव होने से, अतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति—सभी ज्ञान को अतद्रूपप्रतिष्ठ मिथ्या ज्ञान ही मानना पड़ेगा, अर्थात् कोई भी ज्ञान उनके मत में सत्य सिद्ध नहीं होगा। अतः प्रायेण—प्रायः करके, सर्वमेव—सभी, मिथ्याज्ञानमिति—मिथ्या ज्ञान है ऐसा आक्षेप उनके मत में, प्राप्तम्—प्राप्त हुआ। क्योंकि, परमाणुओं से अतिरिक्त स्थूल अवयवी वे मानते नहीं हैं और अति सूक्ष्म परमाणुओं का प्रत्यक्ष होता नहीं है। अतः अप्रत्यक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप

तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद्विषयाभावात्। यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाम्नातम्। तस्मादस्त्यवयवी यो महत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्का विषयो भवति ॥ ४३ ॥

से प्रतीयमान सभी ज्ञान उनके मत में मिथ्या ही मानना पड़ेगा और तत्प्रयुक्त अमिथ्याभूत व्यवहार भी मिथ्या ही मानना पड़ेगा।

तदा चेति। तदा च–और तब, विषयाभावात्–उनके मत में स्थूल अवयवीरूप विषय का अभाव होने से, सम्यक् ज्ञानम् अपि–सत्य ज्ञान भी, किं स्यात्–कौन होगा? अर्थात् कोई भी नहीं। यद्यदिति। लोक में, यत् यत् उपलभ्यते–जो जो पदार्थ भासते हैं, तत् तत्–वे सब, अवयवित्वेन–अवयवी रूप से ही, आम्नातम्–आम्नात अर्थात् प्रतीत हैं। तस्मादिति। तस्मात्–उक्त युक्ति से बौद्ध-मत को दुष्ट होने से, ज्ञान की सत्यता सिद्ध करने के लिये, अवयवी अस्ति–स्थूल अवयवी पदार्थ है, यः–जो, महत्त्वादि-व्यवहारापन्नः–महान् स्थूल इत्यादि व्यवहारवाला, निर्वितर्कायाः समापत्तेः–निर्वितर्का नामक समापत्ति का, विषयो भवति–विषय है।

भाव यह है कि, गो आदि पद का जो सास्नादिमद् गो आदि व्यक्तिरूप अपने-अपने अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध है, वह शब्द-संकेत कहा जाता है। जिसको यह ज्ञात नहीं कि, गो पद का तथा आनय पद का किस अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध है, उसको "गामानय" इस वाक्य के श्रवण करने पर भी बोध नहीं होता है, और जिसको यह ज्ञात है कि, 'गो' पद का शृंगसास्नादिमद् व्यक्ति के साथ तथा 'आनय' पद का आनयन क्रिया के साथ नियत सम्बन्ध है, वह "गामानय" इस वाक्य के श्रवण के अनन्तर ही गो को ले आता है। क्योंकि, उसको शब्द-संकेत का ज्ञान है। यह शब्द-संकेत की स्मृति शाब्द-बोध का जनक है। ये शब्द, अर्थ तथा ज्ञान उक्त प्रकार से संकीर्ण रूप से भासते हैं। अतः यह विकल्पात्मक है, इससे जन्य आगम, अनुमान ज्ञान है; अतः यह भी विकल्पात्मक ही है। अतः सवितर्का-समापत्ति में योगियों को जो पदार्थ भासता है वह भी शब्द-संकेत स्मरणपूर्वक होने से विकल्पात्मक (अयथार्थ) कहा जाता है। और निर्वितर्का-समापत्ति में योगियों को जो अर्थ भासता है उसको शब्द-संकेत-स्मरण के अभावपूर्वक होने से तथा आगम, अनुमान-ज्ञान विकल्प से शून्य केवल पदार्थमात्रविषयक होने से वह निर्विकल्पात्मक (यथार्थ ग्राह्यविषयक) कहा जाता है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने "स्मृतिपरिशुद्धौ" इत्यादि पदों से सूचित किया है।

इसका विशेष स्पष्टीकरण यह है कि, सवितर्का-समापत्ति शब्द-संकेत-स्मरणपूर्वक होती है और निर्वितर्का नहीं। सवितर्का-समापत्ति ग्राह्य-ग्रहण उभयविषयक होती है

और निर्वितर्का केवल ग्राह्य-विषयक ही होती है। सवितर्का समापत्ति ग्रहणाकार ज्ञान-रूप चित्तवृत्तिरूप है और निर्वितर्का ग्रहणाकार ज्ञान-रहित केवल ग्राह्यरूप अर्थाकार चित्तवृत्तिरूप है। सवितर्का-समापत्ति शब्द, अर्थ, ज्ञान संकीर्णविषयक होने से विकल्प वृत्ति (ज्ञानाभास) रूप है और निर्वितर्का उक्त संकीर्णतारहित केवल अर्थविषयक होने से यथार्थ ज्ञानरूप है।

यद्यपि निर्वितर्का-समापत्ति में ग्राह्यरूप अर्थाकार चित्तवृत्ति विद्यमान है, तथापि वह स्वरूप से भासती नहीं है; किन्तु ध्येयाकार हो जाती है। अत एव सूत्रकार ने "स्वरूपशून्या इव" इस प्रकार इव पद का प्रयोग किया है अर्थात् उक्त वृत्ति रहती हुई भी ध्येयरूप हो जाने से नहीं के बराबर है।

निर्वितर्का-समापत्ति में शब्द तथा ज्ञान का अर्थ के साथ संकीर्ण होकर भान नहीं होता है। इसमें "स्मृतिपरिशुद्धौ" इतना अंशहेतु दिया गया है। अर्थात् यदि पूर्वोक्त शब्द, अर्थ, ज्ञान संकीर्णविषयक ज्ञान तथा आगम, अनुमान के कारण शब्द-संकेत का स्मरण-ज्ञान सवितर्का-समापत्ति के समान इस निर्वितर्का-समापत्ति में भी विद्यमान रहता तब ग्राह्य अर्थ के साथ शब्द तथा ज्ञान का भी संकीर्णरूप से भान होता; परन्तु इस दशा में पूर्वोक्त शब्द-संकेत-स्मरण आदि विद्यमान नहीं हैं; किन्तु स्मृति की परिशुद्धि हो जाती है। अर्थात् उक्त स्मृति आदि की निवृत्ति हो जाती है। अतः शब्द तथा ज्ञान का अर्थ के साथ संकीर्णरूप से भान न होकर केवल ग्राह्य-रूप स्थूल घटादि पदार्थों के स्वरूप का ही योगियों को इस दशा में भान होता है।

बुद्ध के प्रधान चार शिष्य हुए हैं—सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्य-मिक। इन चारों को वैनाशिक कहते हैं। उनमें सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक बाह्य अर्थ को मानते हैं। परन्तु बाह्य अर्थ परमाणुरूप अवयव से अतिरिक्त स्थूल अवयवीरूप हैं, ऐसा नहीं मानते हैं। किन्तु परमाणु-संघात (पुञ्ज) ही गो, घट आदि बाह्य पदार्थ हैं, ऐसा मानते हैं। अतः इस वाद को संघात-वाद कहते हैं। योगाचार बाह्य अर्थ को नहीं मानते हैं। किन्तु विज्ञान के ही आकार गो-घट आदि पदार्थ हैं,ऐसा मानते हैं। अतः इस वाद को विज्ञान-वाद कहते हैं और माध्यमिक बाह्य,आन्तर किसी पदार्थ को नहीं मानते हैं। किन्तु शून्य ही तत्त्व है, ऐसा कहते हैं। अतः इस वाद को शून्यवाद कहते हैं। प्रकृत निर्वितर्का समापत्ति बाह्यार्थ-विषयक है और शून्यवाद तथा विज्ञान-वाद में बाह्यार्थ का स्वीकार नहीं। अतः इसका खण्डन भाष्यकार ने अत्यन्त संक्षेप से किया है; नैयायिक बाह्यार्थ को तो मानते हैं। परन्तु परमाणु से द्व्यणुकादि-क्रम से गो, घट आदि स्थूल अवयवी का आरम्भ होता है, ऐसा मानते हैं। अतः इस वाद को आरम्भवाद कहते हैं। जिसको दूसरे शब्द से असत्कार्यवाद भी कहते हैं। सां-ख्यादि मत में बाह्यार्थ स्वीकार है। कुलालादि के व्यापार से पूर्व मृत्तिका आदि

कारण में घटादि कार्य प्रथम से ही विद्यमान हैं। कुलालादि व्यापार से केवल उनका आविर्भावमात्र होता है। एवं दण्डादि-प्रहार के अनन्तर उनका केवल तिरोभावमात्र होता है। इस आविर्भाव-तिरोभाववाद को परिणामवाद कहते हैं। जिसको सत्कार्य-वाद भी कहते हैं। इस वाद में कार्य के उत्पत्ति-नाश का स्वीकार नहीं। इन (संघात-वाद, विज्ञानवाद, आरम्भवाद तथा परिणामवाद) में से परिणामवाद-मतानुसार बाह्य अर्थ निर्वितर्का-समापत्ति का विषय है। उक्त अन्य मत से स्वीकृत बाह्य अर्थ नहीं। अतः प्रसंगवश अन्य मतों का निरास यहां भाष्यकार ने किया है।

उनमें "एकबुद्ध्युपक्रमः" "एकश्च महांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाकर्मकश्च अनित्यश्च तेनावयविना" इत्यादि पदों से भाष्यकार ने संघातवाद का खण्डन किया है। क्योंकि, संघातवादी परमाणुरूप अवयवों से अतिरिक्त घटादि अवयवी पदार्थ को नहीं मानते हैं। और परमाणुओं में एकत्व, महत्त्व, योग्य स्पर्श, जलादि धारणरूप क्रिया, अनित्यत्व तथा अवयवित्व आदि धर्म नहीं हैं। यदि परमाणुओं से अतिरिक्त स्थूल घटादि पदार्थ नहीं माने जांय तो घटादि में जो उक्त एकत्वादि की प्रतीति होती है सो नहीं होनी चाहिये। क्योंकि, परमाणु अनेक हैं, एक नहीं; सूक्ष्म हैं, महान् नहीं; अवयव हैं, अवयवी नहीं; योग्य स्पर्श-रहित हैं, तथा जलादि-धारण क्रिया-रहित हैं, और घटादि में जो परमाणुओं में नहीं हैं उन सब धर्मों की प्रतीति तो होती है। अतः परमाणुओं से अतिरिक्त उक्त सर्वधर्मयुक्त घटादि अवयवी का अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

यदि परमाणु-संघात ही घटादि होवें तो घटादि का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये ? क्योंकि, परमाणु अतीन्द्रिय हैं। यदि कहें कि, जैसे एक केश के अतीन्द्रिय होने पर भी उनके संघात का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही एक परमाणु के अतीन्द्रिय होने पर भी उनके संघातरूप घटादि का प्रत्यक्ष होता है, तो यह भी विषम दृष्टान्त होने से समीचीन नहीं; क्योंकि, दूर में स्थित एक केश का अप्रत्यक्ष होने पर भी सन्निधान में उसका प्रत्यक्ष होता है। अतः केश अतीन्द्रिय नहीं और परमाणु अतीन्द्रिय होने से उनका सन्निधान में भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः उन परमाणुओं के संघात-रूप घटादि होने से उनका भी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, और होता तो है; अतः परमाणुओं के संघातरूप ही घटादि नहीं, किन्तु परमाणुरूप अवयवों से अतिरिक्त अवयवीरूप घटादि कार्य हैं, यह सिद्ध हुआ।

और यदि परमाणुपुञ्ज ही घटादि माने जांय तो दण्डादि-प्रहार से घटादि का नाश होने पर जो कपाल, शर्करादि (कंकर आदि) की प्रतीति होती है, सो नहीं होनी चाहिये। क्योंकि, कपालादि से तो घटादि की उत्पत्ति हुई नहीं है, जिससे कपालादि की प्रतीति हो किन्तु संयुक्त-परमाणु ही उनके मत में घटादि हैं; अतः घटादि

का नाश उनके मत में परमाणुओं का वियोग होना है। अतः वियुक्त परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने से घटादि-नाश के अनन्तर कपालादि किसी की भी प्रतीति नहीं होनी चाहिये और कपालादि की प्रतीति तो होती है, अतः संघातवाद दोषदुष्ट होने से सर्वथा हेय ही है।

"अर्थात्मा" इत्यादि पदों से भाष्यकार ने आभासरूप क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन किया है। क्योंकि, यदि घटादि पदार्थ आन्तर क्षणिक ही माने जांय तो उनमें बाहर अनेक काल-स्थायिता की जो प्रतीति होती है सो नहीं होनी चाहिये। एवं विज्ञान का आकार ही यदि घटादि बाह्य पदार्थ माने जांय तो क्षणिक विज्ञान-स्वरूप बुद्धि के आन्तर पदार्थ होने से शरीर के भीतर ही घटादि की प्रतीति होनी चाहिये, बाहर नहीं और ऐसी प्रतीति तो होती नहीं है, किन्तु "यह घट है" इस प्रकार पुरोवर्त्ति देश में घट की प्रतीति होती है। विज्ञानवादी विज्ञानस्वरूप बुद्धि को ही अहंप्रत्ययी आत्मा मानते हैं, अतः उनके मत में "यह घट है" ऐसी प्रतीति न होकर "मैं घट हूँ" ऐसी प्रतीति होनी चाहिये। क्योंकि, विज्ञानरूप ही घट है और विज्ञान ही उनके मत में अहंप्रत्ययी आत्मा है। इत्यादि अनेक दोष से दूषित होने से क्षणिक विज्ञानवाद भी अविचारित रमणीय है।

"अणुप्रचयविशेषात्मा" इत्यादि पदों से भाष्यकार ने आरम्भवाद का खण्डन किया है। क्योंकि, "अणुओं का प्रचयविशेष अर्थात् आविर्भाव स्थूलरूप परिणाम" यह इसका अर्थ है। इस परिणामवाद के कथन से आरम्भ वाद का निरास स्पष्ट ही प्रतीत होता है।

भाव यह है कि, कपाल में घट प्रथम से विद्यमान नहीं है, कुलाल के व्यापार से नूतन उत्पन्न होता है, यह आरम्भवाद का सिद्धान्त है सो समीचीन नहीं। क्योंकि, जैसे कपाल में घट अविद्यमान है, वैसे ही तन्तुओं में भी; अतः जैसे कपाल से घट उत्पन्न होता है, वैसे तन्तुओं से भी होना चाहिये। क्योंकि, अविद्यमानता दोनों स्थल में समान है। यदि कहें कि, अविद्यमानता के दोनों स्थल में समान होने पर भी जहाँ जिसका प्रागभाव रहता है वहां से उसकी उत्पत्ति होती है, यह नियम है। घट का प्रागभाव कपाल में है, तन्तुओं में नहीं, अतः कपाल से ही घट की उत्पत्ति होती है, तन्तुओं से नहीं। और प्रागभाव कहां किसका रहता है, यह फलबलकल्प्य है, इत्यादि। कथञ्चित् कार्यकारण की व्यवस्था करने पर भी शास्त्रविरुद्ध होने से आरम्भवाद रम्य नहीं, क्योंकि, "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" भ. गी. अ० २-१६। इस भगवद्-वाक्य से सिद्ध है कि, असत् की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः असत्कार्य की उत्पत्ति होती है, यह आरम्भवाद भी अनादरणीय है।

स्वसिद्धान्त में परिणामवाद है, जिसे सत्कार्यवाद कहा जाता है इसको भाष्यकार ने "आविर्भवति" "तिरोभवति" इत्यादि अनेक पदों से व्यक्त किया है। जैसे तिलों

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

में तेल प्रथम से ही विद्यमान है। तैलकार के व्यापार से उसका आविर्भावमात्र (अभिव्यक्तिमात्र) होता है। वैसे ही मृत्तिका में घट प्रथम से ही विद्यमान है। कुलाल के व्यापार से उसका आविर्भावमात्र होता है। एवं जैसे दुग्ध का परिणाम दधि है, वैसे ही मृत्तिका का परिणाम घट है। इसी प्रकार जितने कार्य संसार में दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब अपने-अपने कारण के परिणाम हैं।

यह मृत्तिकादि के घटादि-परिणाम मृत्तिकादि कारण से अत्यन्त भिन्न नहीं; क्योंकि, अत्यन्त भिन्न होवें तो गो-अश्व के समान मृत्तिकादि के घटादि धर्म नहीं कहे जा सकते हैं और अत्यन्त अभिन्न होवें तो अवयवावयविभाव तथा कार्यकारणभाव व्यवहार का लोप हो जाय। अतः कथञ्चित् भिन्न तथा कथञ्चित् अभिन्न मृत्तिकादि से घटादि परिणाम माने जाते हैं। जो निर्वितर्का-समापत्ति का विषय है, यह सिद्ध हुआ। इस भेदाभेद पक्ष को भाष्यकार ने "भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्मः" तथा "आत्मभूतः" इन दोनों पंक्तियों से व्यक्त किया है। "भूतसूक्ष्माणाम्" इस षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करके किञ्चित् भेद व्यक्त किया है और "आत्मभूतः" इस पद से किञ्चित् अभेद व्यक्त किया है। इति ॥ ४३ ॥

पूर्व संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात के भेद से दो प्रकार की समाधि कह चुके हैं। संप्रज्ञात ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्यरूप विषय के भेद से तीन प्रकार की है। ग्रहीतृविषयक समापत्ति विकल्प तथा अविकल्प-भेद से दो प्रकार की है। एवं ग्रहणविषयक समापत्ति विकल्पाऽविकल्प-भेद से दो प्रकार की है। तथा ग्राह्य-विषयक समापत्ति भी (संप्रज्ञात-समाधि) सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा तथा निर्विचारा के भेद से चार प्रकार की है। इस प्रकार सबीज संप्रज्ञात समाधि के आठ भेद हुए। उनमें सवितर्का तथा निर्वितर्का स्थूल ग्राह्यविषयक है। सविचारा तथा निर्विचारा सूक्ष्म ग्राह्य-विषयक है। सवितर्का शब्द, अर्थ, ज्ञान-विकल्प से संकीर्णविषयक है। निर्वितर्का असंकीर्णविषयक है। उनमें स्थूल पञ्चभूत तथा भौतिक पदार्थविषयक ग्राह्य समापत्ति के सवितर्का तथा निर्वितर्का रूप दो भेद प्रतिपादन करके सूक्ष्मभूत तथा पञ्चतन्मात्रविषयक ग्राह्य समापत्ति के सविचारा तथा निर्विचारारूप दो भेद सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्यातेति। एतया एव—इस सवितर्का तथा निर्वितर्का समापत्ति के व्याख्यान से ही, सूक्ष्मविषया—सूक्ष्म भूत तथा पञ्चतन्मात्रविषयक, सविचारा निर्विचारा च—सविचारा तथा निर्विचारा नामक समापत्ति भी, व्याख्याता—व्याख्यात हो गई। अर्थात्

तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते।

या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते।

जैसे स्थूल पदार्थों में शब्दार्थ-ज्ञान विकल्प संकीर्ण समापत्ति (भावना) सवितर्का-समापत्ति तथा उक्त विकल्प से असंकीर्ण समापत्ति, निर्वितर्का-समापत्ति कही गई है। वैसे ही निम्नलिखित भाष्य-निर्दिष्ट देशादि-ज्ञानपूर्वक समापत्ति सविचारा-समापत्ति और देशादि ज्ञान के अभावपूर्वक समापत्ति निर्विचारा-समापत्ति कही जाती है।

सूत्र का भाव खोलते हुए भाष्यकार सविचारा-समापत्ति का लक्षण करते हैं—तत्रेति। तत्र—उन सविचारा तथा निर्विचारा रूप दोनों समापत्तियों में से, अभिव्यक्तधर्मकेषु—अभिव्यक्त धर्मवाले, देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु—देश, काल तथा निमित्त के ज्ञानपूर्वक, भूतसूक्ष्मेषु—सूक्ष्म भूत तथा पञ्चतन्मात्रविषयक, या—जो, समापत्तिः—समापत्ति है, सा—वह, सविचारा इति उच्यते—सविचारा-नामक समापत्ति कही जाती है। अर्थात् यह समापत्ति कार्यकारणभाव - विचार के सहित होने से सविचारा कही जाती है।

तत्रापीति। तत्र अपि—सवितर्का समापत्ति के समान सविचारासमापत्ति में भी, एकबुद्धिनिर्ग्राह्यम् एव—भूतसूक्ष्मरूप पार्थिव आदि पांच परमाणु क्रमशः पांच, चार, तीन, दो, एकगुणक होने पर भी सब मिलकर एकबुद्धि के विषय होकर ही, उदितधर्मविशिष्टम्—उदित अर्थात् वर्त्तमानरूप धर्मविशिष्ट तथा इससे सूचित उक्त शब्द-संकेत-स्मृति, आगम, अनुमान, विकल्प-सहित ही, भूतसूक्ष्मम्—पार्थिवादि पांच परमाणुरूप भूतसूक्ष्म, आलम्बनीभूतम्—आलम्बनीभूत होते हुए अर्थात् ध्येयरूप विषय को प्राप्त होते हुए, समाधिप्रज्ञायाम्—समाधि प्रज्ञा में अर्थात् समाधिसंज्ञक बुद्धि वृत्ति में, उपतिष्ठते—भासते हैं।

सविचारा-समापत्ति का लक्षण करके अब निर्विचारा-समापत्ति का लक्षण भाष्यकार करते हैं—या पुनरिति। या पुनः—और जो, सर्वथा—सर्व नील, पीतादि प्रकार से, सर्वतः—सर्व देश-काल-निमित्त के ज्ञान से रहित, शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु—शान्त-भूत, उदित-वर्त्तमान, अव्यपदेश्य-भविष्यत्‌रूप काल धर्म से रहित, सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु—सर्व धर्म के आश्रय तथा सर्वधर्मात्मक अर्थात् पूर्वोक्त भेदाभेदरूप पदार्थविषयक, समापत्तिः—समापत्ति है, सा—

एवं स्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्ममेतेनैव स्वरूपेणालम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति । प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते । तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च । एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति ॥ ४४ ॥

वह, निर्विचारा इति उच्यते–निर्विचारा-नामक समापत्ति कही जाती है। अर्थात् यह समापत्ति कार्यकारणभाव के विचार से रहित होने से निर्विचारा कही जाती है। हि–इस कारण से कि, एवंस्वरूपम्–इस प्रकार वस्तुतत्त्व को ग्रहण करनेवाली, तद्भूतसूक्ष्मम्–उस उक्त भूत सूक्ष्म को, एतेन एव स्वरूपेण–इसी यथार्थ स्वरूप से, अवलम्बनीभूतम् एव–ध्येयरूप से विषय करती हुई ही, समाधिप्रज्ञास्वरूपम्–समाधि प्रज्ञारूप बुद्धि वृत्तिस्वरूप को, उपरञ्जयति–उपरञ्जन करती है। भाव यह है कि, निर्वितर्का समापत्ति के समान इस निर्विचारा समापत्ति में भी प्रज्ञानात्मक चित्त की वृत्ति स्वरूपशून्य होकर ध्येयमात्र हो जाती है

निर्विचारा समापत्ति के विषय का निरूपण करके अब उसका स्वरूप-निर्देश करते हैं—प्रज्ञा चेति। च—और, यदा–जिस अवस्था में, प्रज्ञा–प्रज्ञासंज्ञक समाधिवृत्ति, स्वरूपशून्या इव–स्वरूप, शून्य के समान अर्थात् विद्यमान होती हुई भी अविद्यमान के समान, अर्थमात्रा–उक्त देश, कालादि-रहित केवल सूक्ष्म पदार्थविषयक, भवति–होती है, तदा–उस अवस्था में, निर्विचारा इति उच्यते–यह समापत्ति निर्विचारा कही जाती है। संकलन करके स्वरूप-भेद के उपयोगी विषय-विभाग का प्रतिपादन करते हैं—तत्रेति। तत्र–उन चारों समापत्तियों में, महद्वस्तुविषया–स्थूलपदार्थविषयक, सवितर्का निर्वितर्का च–सवितर्का तथा निर्वितर्का समापत्ति है और सूक्ष्मवस्तुविषया–सूक्ष्म पदार्थविषयक, सविचारा निर्विचारा च–सविचारा तथा निर्विचारा समापत्ति है।

उपसंहार करते हैं—एवमिति। एवम्–वृत्ति के स्वरूप की हानि के समान, विकल्पहानिः–विकल्प की हानि भी, एतया एव–इसी निर्वितर्का के व्याख्यान से, उभयोः–सविचारा तथा निर्विचारा इन दोनों समापत्तियों में भी, व्याख्याता–सूत्रकार के द्वारा व्याख्यात हो गई। अर्थात् जैसे निर्वितर्का समापत्ति में वृत्ति और विकल्प का सद्भाव नहीं, वैसे ही सविचारा और निर्विचारा समापत्तियों में भी वृत्ति और विकल्प का सद्भाव नहीं। जब निचली भूमि में ही वृत्ति तथा विकल्प नहीं है तो ऊंची भूमि में तो ये कैसे रह सकते हैं!

सूक्ष्मविषयत्वं चाऽलिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

इस प्रकार ग्रहीतृसमापत्ति, ग्रहणसमापत्ति तथा चार प्रकार की ग्राह्यसमापत्ति के भेद से छः प्रकार की संप्रज्ञात समाधि सिद्ध हुई। ग्रहीतृसंप्रज्ञात समाधि से योगियों को ग्रहीतारूप आत्मा का साक्षात्कार होता है। ग्रहणसंप्रज्ञात-समाधि से ग्रहणरूप इन्द्रियों का साक्षात्कार होता है। सवितर्क ग्राह्य संप्रज्ञात समाधि से स्थूल-भूत भौतिक का संकीर्णरूप से साक्षात्कार होता है। निर्वितर्कग्राह्यसंप्रज्ञात-समाधि से उन्हीं भूतभौतिक पदार्थों का असंकीर्णरूप से साक्षात्कार होता है। सविचार-ग्राह्य संप्रज्ञात समाधि से सूक्ष्मभूत पार्थिवादि परमाणुओं का तथा शब्दादि तन्मात्र का संकीर्णरूप से साक्षात्कार होता है। और निर्विचार संप्रज्ञात-समाधि से उन्हीं परमाणुओं का तथा तन्मात्रों का असंकीर्णरूप से साक्षात्कार होता है। इन्द्रियों से जिनका साक्षात्कार नहीं होता है, उनका भी इन समाधियों से साक्षात्कार होता है, यह भाव है।

सवितर्कसंज्ञक प्रथम संप्रज्ञात समाधि शब्द, अर्थ, ज्ञानसंकीर्णविषयक होने से विकल्पात्मक (भ्रमात्मक) है? सविचारसंज्ञक तृतीय संप्रज्ञात समाधि देश काल निमित्त ज्ञानपूर्वक होने से यह भी विकल्पात्मक ही है। क्योंकि, इसमें ऊर्ध्व, पार्श्व आदि देश, वर्त्तमान आदि काल तथा पार्थिवादि परमाणु कारण तथा निम्नलिखित शब्दादि कार्य; ये सब संकीर्ण होकर भासते हैं। सूक्ष्मभूत जो पार्थिव परमाणु हैं वह कारण और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच तन्मात्र-कार्य संकीर्ण होकर भासते हैं। सूक्ष्मभूत जलीय परमाणु कारण तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस ये चार तन्मात्र-कार्य संकीर्ण होकर भासते हैं। सूक्ष्मभूत तैजस परमाणु कारण तथा शब्द, स्पर्श, रूप ये तीन तन्मात्र-कार्य संकीर्ण होकर भासते हैं। सूक्ष्मभूत वायवीय परमाणु कारण तथा शब्द, स्पर्श ये दो तन्मात्र-कार्य संकीर्ण होकर भासते हैं। एवं सूक्ष्मभूत आकाश-परमाणु (योगमत में आकाश को कार्य होने से सावयव मानते हैं, अतः आकाश का भी परमाणु माना गया है) कारण तथा शब्द यह एक तन्मात्र-कार्य संकीर्ण होकर भासते हैं। अतः देश-काल-निमित्त (कार्यकारण) ज्ञानपूर्वक होने से इस सविचार समाधि को सवितर्का समापत्ति के समान कहा है। अन्य दो समाधियों का विषय स्पष्ट है। इन छः प्रकार के संप्रज्ञात समाधि के द्वारा योगी स्थूल, सूक्ष्म तथा व्यवहित सभी पदार्थों को जान लेता है। इसीलिये इस अवस्था में योगी ईश्वर के समान सर्वज्ञ हो जाता है। इति ॥ ४४ ॥

सविचारा तथा निर्विचारा समापत्ति से जिन सूक्ष्म पदार्थों का साक्षात्कार होता है, उनकी विश्रान्ति कहां तक है? इस जिज्ञासा को शान्त करते हुए सूत्रकार सूक्ष्म-

पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः । आप्यस्य रसतन्मात्रम् । तैजसस्य रूपतन्मात्रम् । वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम् । आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति । तेषामहंकारः । अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः । लिङ्गमात्रस्याप्यलिङ्गं सूक्ष्मविषयः । न चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति ।

विषयता की सीमा बताते हैं—सूक्ष्मविषयत्वं चाऽऽलिङ्गपर्यवसानमिति । सूक्ष्मविषयत्वम् च–और सूक्ष्मविषयक समापत्ति के सूक्ष्म विषय में जो सूक्ष्मविषयता है वह, अलिङ्गपर्यवसानम्–अलिङ्गनामक प्रकृति पर्यन्त ही है । अर्थात् सविचारा तथा निर्विचारा समापत्ति के सूक्ष्म विषय में जो सूक्ष्मता है वह प्रकृति तक जाकर समाप्त हो जाती है । उस (प्रकृति) से आगे लय के योग्य उपादान कारणरूप सूक्ष्म पदार्थ नहीं है, किन्तु प्रकृति ही सूक्ष्म से सूक्ष्म लयस्थानरूप उपादान है ।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हुए स्थूल पदार्थ से आरम्भ कर प्रकृति पर्यन्त सूक्ष्मता के क्रम का प्रतिपादन करते हैं—पार्थिवस्येति । पार्थिवस्य अणोः–पार्थिव परमाणु तथा उसका कारण, गन्धतन्मात्रम्–गन्धतन्मात्र, सूक्ष्मो विषयः–समापत्ति के सूक्ष्म विषय हैं । आप्यस्येति । आप्यस्य–जल-परमाणु तथा उसका कारण, रसतन्मात्रम्–रसतन्मात्र समापत्ति के सूक्ष्म विषय हैं । तैजसस्येति । तैजसस्य–अग्नि-परमाणु तथा उसका कारण, रूपतन्मात्रम्–रूपतन्मात्र समापत्ति के सूक्ष्म विषय हैं । वायवीयस्येति । वायवीयस्य–वायु-परमाणु तथा उसका कारण, स्पर्शतन्मात्रम्–स्पर्शतन्मात्रसमापत्ति के सूक्ष्म विषय हैं । आकाशस्येति । आकाशस्य–आकाश परमाणु तथा उसका कारण, शब्दतन्मात्रम्–शब्दतन्मात्र समापत्ति के सूक्ष्म विषय हैं । तेषामहङ्कारः । तेषाम्–उन पञ्चतन्मात्रों का कारण, अहङ्कारः–अहंकार समापत्ति का सूक्ष्म विषय है । अस्यापीति । अस्य अपि–अहंकार का भी कारण, लिङ्गमात्रम् –लिङ्गसंज्ञक महत्तत्त्व, सूक्ष्मो विषयः–समापत्ति का सूक्ष्मविषय है । लिङ्गमात्रस्येति । लिङ्गमात्रस्य अपि–लिङ्गमात्रसंज्ञक महत्तत्त्व का भी कारण, अलिङ्गम्–अलिङ्गसंज्ञक प्रकृति, सूक्ष्मो विषयः–समापत्ति का सूक्ष्म विषय है । इन सब में से पूर्व-पूर्व कार्य की अपेक्षा उत्तर-उत्तर कारण सूक्ष्म हैं, यह कहा गया है । अब इसी स्थान पर सूक्ष्मता का पर्यवसान है । यह कहते हैं—न चेति । अलिङ्गात् परम्–अलिंगनामक प्रकृति से परे, सूक्ष्मम्–सूक्ष्म, न च अस्ति–नहीं है । क्योंकि प्रकृति का उपादान यदि कोई होवे तो वह प्रकृति से अधिक सूक्ष्म भी होवे । सो प्रकृति का उपादान तो कोई है नहीं । अतः प्रकृति से पर कोई सूक्ष्म भी नहीं ।

नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति । सत्यम् । यथा लिङ्गात्परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य । किं तु लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति, हेतुस्तु भवतीति । अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥ ४५ ॥

कार्य की अपेक्षा उपादान कारण में सूक्ष्मता अधिक है, यह कहा गया । शङ्कावादी इस बात को नहीं समझ कर शङ्का करते हैं–नन्विति । ननु पद शङ्कासूचक है । "अव्यक्तात् पुरुषः परः" इस श्रुतिप्रमाण से, पुरुषः सूक्ष्मः अस्ति इति–प्रकृति से अधिक सूक्ष्म पुरुष है, तो प्रकृति से पर सूक्ष्म नहीं है, ऐसा क्यों कहते हैं ? । उत्तर देते हैं—सत्यम् । "सत्यम्" यह अर्ध अङ्गीकारवाचक अव्यय पद है, भाव यह है कि यद्यपि श्रुति में अव्यक्तसंज्ञक प्रकृति से अधिक सूक्ष्म पुरुष को कहा है तथापि–यथा लिङ्गादिति । यथा–जैसी, लिङ्गात्–लिंगरूप महत्तत्त्व से, परम्–पर, अलिङ्गस्य सौक्ष्म्यम–अलिंगरूप प्रकृति की सूक्ष्मता है, एवम्–वैसी, पुरुषस्य–पुरुष की, न च–नहीं है ।

फिर शङ्का करते हैं—किन्तु । तु–तो, किम्–कैसी सूक्ष्मता है । उत्तर देते हैं—लिङ्गस्येति । लिङ्गस्य–लिङ्गनामक महत्तत्त्व का, अन्वयिकारणम्—अन्वयिकारण अर्थात् उपादान कारण, पुरुषो न भवति–पुरुष नहीं है, तु किन्तु, हेतुः–हेतु अर्थात् निमित्त कारण, भवति–है । उपसंहार करते हैं—अत इति । अतः—इसलिये, प्रधाने-प्रकृति में, सौक्ष्म्यम्—सूक्ष्मता, निरतिशयम्—निरतिशय, व्याख्यातम्—कही गई है ।

भाव यह है कि, महत्तत्त्व की अपेक्षा प्रकृति में जैसी सूक्ष्मता है, वैसी पुरुष में नहीं है । क्योंकि, महत्तत्त्व का प्रकृति उपादान कारण है, परन्तु पुरुष उपादान कारण नहीं, किन्तु निमित्त कारण है । अतः यद्यपि पुरुष प्रकृति से सूक्ष्म है, तथापि जड, ग्राह्य, परिणामि उपादान-कारणता-सहित सूक्ष्मता की विश्रान्ति प्रकृति में ही है, पुरुष में नहीं । इसीलिये भाष्यकार ने प्रधान में ही निरतिशय सूक्ष्मता कही है ।

भाष्यकार ने महत्तत्व को लिंग तथा प्रकृति को अलिंग, इस लिये कहा है कि महत्तत्त्व अपने उपादान प्रकृति में लीन होता है और प्रकृति किसी में लीन नहीं होती है । क्योंकि, प्रकृति का कोई उपादान है नहीं, जिसमें वह लीन हो ।

जैसे वह्नि का कार्य धूम लिंग कहा जाता है । क्योंकि, धूम से वह्नि का अनुमान होता है । वैसे ही प्रकृति का कार्य महत्तत्त्व लिंग कहा जाता है । क्योंकि, महत्तत्त्व से प्रकृति का अनुमान होता है और प्रकृति किसी का कार्य नहीं, अतः प्रकृति से किसीका अनुमान नहीं होता है । अत एव प्रकृति लिंग नहीं ।

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः । तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति स चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥ ४६ ॥

"आत्मन आकाशः सम्भूतः" इस श्रुति से आकाश की उत्पत्ति होती है और जिसकी उत्पत्ति होती है वह कार्य कहा जाता है और जो कार्य होता है। वह अवयववाला होता है। आकाश उत्पन्न हुआ है, अतः कार्य है, अतः अवयववाला है अतएव भाष्यकार ने आकाश का अवयव परमाणु माना है।

भूतसूक्ष्म से आरम्भ कर प्रकृति पर्यन्त जितने सूक्ष्म पदार्थ हैं वे सब सवितर्का तथा निर्वितर्का-समापत्ति के विषय हैं, यह सिद्ध हुआ। इति ॥४५ ॥

उक्त ग्राह्य विषयक चारों समापत्तियों को सूत्रकार सबीजत्व प्रतिपादन करते हैं–**ता एव सबीजः समाधिरिति। ता एव**–वे पूर्वोक्त सवितर्कादि चारों समापत्तियां ही, **सबीजः समाधिः**–सबीज समाधि कही जाती है। एवकार असंप्रज्ञात समाधि का व्यवच्छेद करता है। अर्थात् संप्रज्ञात-समाधि ही सबीज समाधि कहा जाता है, असंप्रज्ञात नहीं।

इन चारों समापत्तियों की सबीजता में हेतु देते हुए भाष्यकार सूत्रार्थ स्पष्ट करते हैं—**ता इति। ताः**–वे, **चतस्रः**–सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा तथा निर्विचारा ये चारों, **समापत्तयः**–समापत्तियां **बहिर्वस्तुबीजाः**–उक्त प्रकृति आदि बाह्य वस्तु आलम्बन-रूप बीजवाली हैं, **इति**–इसलिये, **समाधिरपि**–समाधि भी, **सबीजः**–आलम्बन-रूप बीजवाला है। अर्थात् स्थूल सूक्ष्म ध्येय आलम्बन-रूप बीज सहित होने से संप्रज्ञात समाधि सबीज कहा जाता है। अथवा संप्रज्ञात समाधि काल में थोड़ा बहुत बीजभूत अज्ञान विद्यमान रहता है; अतः यह संप्रज्ञात समाधि सबीज कहा जाता है। उसी आलम्बन रूप बीज को दिखाते हैं—**तत्रेति। तत्र**–इन चार प्रकार की समापत्तियों में, **स्थूले अर्थे**–स्थूल आलम्बन विषयक, **सवितर्को निर्वितर्कः**–सवितर्का तथा निर्वितर्का समापत्ति है और **सूक्ष्मे अर्थे**–सूक्ष्म-आलम्बन-विषयक, **सविचारो निर्विचारः**—सविचारा तथा निर्विचारा समापत्ति है। अर्थात् सवितर्क तथा निर्वितर्क इन दोनों समाधियों में स्थूल आलम्बन रूप बीज होने से ये दोनों सबीज हैं। एवं सविचार तथा निर्विचार इन दोनों समाधियों में सूक्ष्म आलम्बन रूप बीज होने से ये दोनों भी सबीज हैं। उपसंहार करते हैं—**स इति। इति**-इस प्रकार, **सः समाधिः**–वह संप्रज्ञात-समाधि, **चतुर्धा**-चार प्रकार से, **उपसंख्यातः**–व्याख्यात हुआ। "श्रोत्रादि-इन्द्रिय ग्रहण कहलाते हैं, शब्दादि श्रोत्रादिइन्द्रियों के विषय हैं और अहंकार इन्द्रियों का कारण है" इस प्रकार के विचार-पूर्वक जो इन्द्रिय विषयक समापत्ति वह सविचारा-

ग्रहणसमापत्ति और उक्त विचार रहित केवल इन्द्रिय विषयक जो समापत्ति वह निर्विचाराग्रहणसमापत्ति कहलाती है। एवं "महत्तत्त्व का कार्य अहंकार त्रिगुणात्मक है, अहंकार ग्रहण करनेवाला ग्रहीता है" इस प्रकार के विचारपूर्वक जो अहंकार रूप ग्रहीतृविषयक समापत्ति वह सविचाराग्रहीतृसमापत्ति कहलाती है और उक्त विचार रहित केवल अहंकाररूप ग्रहीतृविषयक जो समापत्ति वह निर्विचारा ग्रहीतृ समापत्ति कहलाती हैं। इस प्रकार सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा के भेद से चार प्रकार की ग्राह्यसमापत्ति, सविचारा, निर्विचारा के भेद से दो प्रकार की ग्रहणसमापत्ति और सविचारा, निर्विचारा के भेद से दो प्रकार की ग्रहीतृसमापत्ति सब मिलाकार आठ प्रकार की संप्रज्ञात समाधि हैं, यह सिद्ध हुआ।

यहां पर श्रीवाचस्पति मिश्र का कहना यह है कि—सूत्रपाठ "ता एव सबीजः समाधिः" इस प्रकार है। यह सूत्रस्थ एवकार भिन्न क्रमक है अर्थात् "ताः" के आगे इसका संबन्ध नहीं है, किन्तु "सबीजः" के आगे सम्बन्ध है। अन्यथा यथाश्रुत पाटक्रम के अनुसार यदि सूत्र का अर्थ किया जाय तो, "ता एव सबीजः समाधिः" अर्थात् वे ही सवितर्का आदि चार प्रकार की ग्राह्य समापत्तियां सबीज हैं, अन्य नहीं, यह अर्थ होगा। ऐसी स्थिति में उक्त दो प्रकार की ग्रहण समापत्ति तथा दो प्रकार की ग्रहीतृ समापत्ति की एवकार से व्यावृत्ति हो जाने से उनमें सबीजता की सिद्धि न होगी और जब एवकार का संबन्ध भिन्न क्रम से "ताः सबीज एव समाधिः" इस प्रकार करते हैं, तो यह अर्थ होता है कि, "उक्त आठों प्रकार की समापत्तियां सबीज ही हैं, निर्बीज नहीं"। इससे ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीतृ विषयक आठों समापत्तियों का सबीज रूप से समावेश हो जाता है। अर्थात् उक्त अष्ट प्रकार की संप्रज्ञात-समाधि सबीज ही हैं, निर्बीज नहीं, यह अभिमत अर्थ सिद्ध हो जाता है। और वक्ष्यमाण असंप्रज्ञात-समाधि की एवकार से व्यावृत्ति हो जाती है अर्थात् असंप्रज्ञात-समाधि सबीज नहीं किन्तु संप्रज्ञात-समाधि ही सबीज है। यह मिश्रजी का कथन एक प्रकार से समीचीन ही है।

परन्तु भाष्यकार ने "ताश्चतस्रः समापत्तयः" इस पंक्ति में चतसृ शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया है, अष्टन् शब्द का नहीं। इस से प्रतीत होता है कि, सूक्ष्म-ग्राह्य-समापत्तियों में ही ग्रहण-ग्रहीतृसमापत्तियों का सूक्ष्म विषयक होने से अन्तर्भाव किया है। अतः सूक्ष्म विषयक ग्राह्य समापत्तियों के अंदर ग्रहण-ग्रहीतृ विषयक चारों समापत्तियों का भी अन्तर्भाव हो जाने से उसके लिये एवकार का भिन्न क्रम से सबीज शब्द के आगे सबन्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

भाव यह है कि, यद्यपि सवितर्का तथा निर्वितर्का समापत्ति स्थूल ग्राह्य विषयक है, तथापि सविचारा तथा निर्विचारा समापत्ति सूक्ष्म-ग्राह्य विषयक है, और "सूक्ष्म-विषयत्वं चालिंगपर्यवसानम्" इस सूत्र से सूक्ष्मविषयता का प्रकृति पर्यन्त पर्यवसान्

कथन किया गया है। जिसके अंदर इन्द्रिय तथा अहंकार भी आ गए हैं। यद्यपि सविचारा तथा निर्विचारा समापत्ति के विषय परमाणु रूप भूतसूक्ष्म तथा तन्मात्र ही को भाष्यकार ने कहा है, इन्द्रियों को नहीं। तथापि जैसे पञ्चतन्मात्र अहंकार का कार्य और सविचारा समापत्ति का विषय है, ऐसा भाष्यकार ने कहा है। वैसे ही इन्द्रियां भी अहंकार के कार्य होने से सविचारा समापत्ति का विषय हो सकती हैं। अत: ग्रहणरूप इन्द्रियां तथा ग्रहीतृरूप अहंकार के सूक्ष्म होने से तद्विषयक समापत्ति ग्राह्य-समापत्ति रूप सवितर्का समापत्ति के अन्तर्भूत होने से "ताः" पद से ही उक्त आठों समापत्तियां गृहीत हो जाने से पवकार के भिन्न क्रम से सबीज शब्द के आगे अन्वय करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। यदि कहें कि, इस प्रकार ग्रहण तथा ग्रहीतृ समापत्तियों का ग्राह्यसमापत्ति के अंदर अन्तर्भाव होने से "क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः। १-४१" इस सूत्र में उनका पृथक् भेद करना असंगत हो जायगा। सो समीचीन नहीं। क्योंकि, सूक्ष्मत्वेन उनका ग्राह्य-समापत्ति में अन्तर्भाव होने पर भी ग्रहणत्वेन तथा ग्रहीतृत्वेन उनका पृथक्-करण करना अत्यावश्यक है।

"वितर्कविचाराऽऽनन्दाऽस्मितारूपाऽनुगमात् संप्रज्ञातः"। १-१७। इस सूत्र में कहा हुआ वितर्कानुगत पद से सवितर्का तथा निर्वितर्का रूप दोनों ग्राह्य-समापत्तियां ली गई हैं। विचारानुगत पद से सविचारा तथा निर्विचारा ये दोनों ग्राह्यरूप समापत्तियां ली गई हैं। आनन्दानुगत पद से आनन्द नामक इन्द्रिय रूप ग्रहण विषयक ग्रहण-समापत्ति ली गई है, और अस्मितानुगत पद से अस्मिता नामक अहंकार रूप ग्रहीतृविषयक ग्रहीतृ समापत्ति ली गई है। अतः "क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः"। १-४१। इस सूत्र में इन्हीं पूर्वोक्त सूत्र-प्रतिपादित चारों के चार भेद कहे गए हैं। क्योंकि, सवितर्क निर्वितर्क के भेद से से दो प्रकार की वितर्कानुगत और सविचार, निर्विचार के भेद से दो प्रकार की विचारानुगत; ये चारों ग्राह्य-समापत्ति हैं। आनन्दानुगत ग्रहण-समापत्ति है, जो सविचार तथा निर्विचार के भेद से दो प्रकार की है। एवं अस्मितानुगत ग्रहीतृ-समापत्ति है, जो यह भी सविचार तथा निर्विचार के भेद से दो प्रकार की है। इस प्रकार चार प्रकार की ग्राह्य समापत्ति दो प्रकार की ग्रहण-समापत्ति तथा दो प्रकार की ग्रहीतृ समापत्ति के भेद से आठ प्रकार की संप्रज्ञात समाधि निष्पन्न हुई। इस प्रकार श्रीवाचस्पति मिश्र ने जो संप्रज्ञात-समाधि के आठ भेद कहे हैं, उसको न समझ कर विज्ञानभिक्षु ने जो छः प्रकार की ही संप्रज्ञात-समाधि कहा है, वह उनका प्रमाद ही समझना चाहिये। इति ॥ ४६ ॥

सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा तथा निर्विचारा चारों ग्राह्य-विषयक समापत्तियों

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः। तथा चोक्तम्—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥ ४७ ॥

में निर्विचारा समापत्ति को सूत्रकार अधिकतर उत्तम बताते हैं—निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद इति। निर्विचारवैशारद्ये—निर्विचार समाधि के वैशारद्य होने पर योगी को, अध्यात्मप्रसादः—अध्यात्मप्रसाद होता है। अर्थात् निर्विचार समाधि की विशारदता प्राप्त होने पर योगी को एक ही काल में सर्व पदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान उदय होता है।

वैशारद्य शब्द का अर्थ भाष्यकार बताते हैं—अशुद्धीति। अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य—रजोगुण तथा तमोगुण के आधिक्य-प्रयुक्त अशुद्धि आवरण रूप मल से रहित, प्रकाशात्मनः—प्रकाश-रूप, बुद्धिसत्त्वस्य—सात्त्विक बुद्धि का जो, रजस्तमोभ्याम्—रजोगुण तथा तमोगुण से, अनभिभूतः—अनभिभूत (अतिरस्कृत), स्वच्छः—स्वच्छ (निर्मल), स्थितिप्रवाहः—स्थिरता रूप एकाग्र प्रवाह वह, वैशारद्यम्—वैशारद्य कहा जाता है। अर्थात् जब रजोगुण तथा तमोगुण की अधिकता होती है, तब चित्तगत सत्त्वगुण तिरस्कृत हो जाता है। यही चित्त में अशुद्धि आवरण-रूप मल है। योगी के अभ्यासवश सत्त्वगुण के प्रबल होने से जब यह मल दूर हो जाता है तब राजस-तामस रहित शुद्ध सात्विक प्रकाशरूप अति स्वच्छ चित्त का स्थिर प्रवाह चालू होता है। यही समाधि की विशारदता (प्रवीणता) कही जाती है। यदेति। यदा—जब, निर्विचारस्य समाधेः—निर्विचार समाधि का, इदम्—यह, वैशारद्यम्—वैशारद्य, जायते—लब्ध हो जाता है, तदा—तब, योगिनः—योगी को, भूतार्थविषयः—परमाणु रूप भूतसूक्ष्म से आरम्भ कर प्रकृतिपर्यन्त सर्व सूक्ष्म पदार्थों का, क्रमाननुरोधी—क्रम के अनुरोध के विना ही एक ही काल में, स्फुटः—साक्षात्कार रूप, प्रज्ञालोकः—प्रज्ञालोक, प्राप्तः भवति—हो जाता है। वही प्रज्ञालोक, अध्यात्मप्रसादः—अध्यात्म-प्रसाद कहा जाता है।

इस प्रज्ञाप्रसाद का लाभ होने पर योगी शोक रहित हो जाता है। इसी विषय में परम ऋषि की गाथा का उदाहरण देते हैं— तथा चोक्तम्—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

तस्मिन्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतंभरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति। न च तत्र विपर्यासज्ञान-गन्धोप्यस्तीति। तथा चोक्तम्—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥ इति॥४८॥

शैलस्थः भूमिष्ठान् इव–शैलशिखरारूढ पुरुष, भूमिस्थित पुरुषों को जैसे अल्प (छोटा) देखता है, वैसे ही, प्राज्ञः–उक्त साक्षात्कार युक्त योगी, प्रज्ञाप्रसादम्—प्रज्ञाप्रसादरूप शैलशिखर पर, आरुह्य—आरूढ होकर, अशोच्यः–स्वयं शोक रहित होता हुआ, सर्वान् जनान् शोचतः—अपने से अन्य सब अज्ञानी पुरुषों को शोक युक्त, अनुपश्यति–देखता है। अर्थात् ज्ञान युक्त योगी उक्त ज्ञान के प्रकर्ष से अपने को सर्वोपरि जानता हुआ शोक युक्त अज्ञानियों को तुच्छ समझता है। इति ॥ ४७ ॥

निर्विचार समाधि के वैशारद्य प्राप्त होने पर जो स्फुट प्रज्ञालोकरूप अध्यात्मप्रसाद योगियों को प्राप्त होता है, उसका दूसरा अन्वर्थ नाम निर्देश सूत्रकार करते हैं—ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञेति। तत्र—निर्विचार योग के वैशारद्य काल में जो, प्रज्ञा–अध्यात्मप्रसाद रूप बुद्धि योगी को प्राप्त होती है वह, ऋतम्भरा—ऋतम्भरा कही जाती है। अर्थात् उसका योगिजन-प्रसिद्ध दूसरा अन्वर्थ नाम ऋतम्भरा है। इस यथार्थ नाम के निर्देश के सूत्रकार ने अपने कथन में प्राचीन योगियों की सम्मति दिखलाई है।

इसी अर्थ को भाष्यकार विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—तस्मिन्निति। तस्मिन्-निर्विचार समाधि के वैशारद्य से उत्पन्न अध्यात्मप्रसाद की प्राप्ति होने पर, समाहित-चित्तस्य–समाहित (एकाग्र) चित्तवाले योगियों की, या—जो, प्रज्ञा–एक प्रकार की चित्तवृत्ति रूप बुद्धि, जायते—उत्पन्न होती है, तस्याः—उस बुद्धि की, ऋत-म्भरा इति संज्ञा भवति–ऋतम्भरा यह संज्ञा है। अर्थात् उस बुद्धि वृत्ति रूप प्रज्ञा का प्राचीन नाम 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' है। अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति। च–और सा– वह प्रज्ञा की ऋतम्भरा संज्ञा, अन्वर्था—अन्वर्थ अर्थात् यथार्थ है। क्योंकि वह प्रज्ञा, सत्यम् एव बिभर्ति–सत्य अर्थ को ही धारण करती है। यथार्थता को ही स्पष्ट करते हैं—नचेति। तत्र–उस ऋतम्भरा प्रज्ञा में, विपर्यासज्ञानगन्धः–विपर्यास ज्ञान (मिथ्या ज्ञान) का लेश, अपि–भी, न च–नहीं, अस्ति–है। उक्त अर्थ में स्मृति प्रमाण देते हैं— तथा चोक्तम्—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

सा पुनः—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥४९॥

श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयम्। न ह्यागमेन शक्यो

आगम नाम श्रवण का, अनुमान नाम मनन का, और ध्यानाभ्यासरस नाम निदिध्यासन का है। इन तीनों साधनों के द्वारा तीन प्रकार की प्रज्ञा को संपादन करते हुए योगी वक्ष्यमाण उत्तम निर्बीज असंप्रज्ञात योग को प्राप्त करते हैं।

भाव यह है कि, "ऋतं सत्यमेव बिभर्तीति ऋतम्भरा" अर्थात् जो बुद्धिवृत्ति सत्य को ही धारण करनेवाली (विषय करनेवाली) हो वह ऋतम्भरा कहलाती है। इस व्युत्पत्ति से यथार्थ विषयक बुद्धि का यौगिक नाम ऋतम्भरा है, ऐसा प्रतीत होता है। अतः इस बुद्धिवृत्ति का ऋतम्भरा नाम रूढ नहीं किन्तु यौगिक अर्थ के अनुसार ही है। क्योंकि, ऋत नाम सत्य का है और भर नाम धारणकर्ता का है। अतएव सत्य अर्थ को धारण करनेवाली होने से उक्त प्रज्ञा का सार्थक नाम ऋतम्भरा है।

सवितर्का, निर्वितर्का और सविचार रूप तीनों समापत्ति काल में अविद्या विद्यमान रहने से बुद्धिवृत्ति यथार्थ विषयक नहीं और इस निर्विचारा समापत्ति के वैशारद्य काल में अविद्या विद्यमान न रहने से उक्त बुद्धिवृत्ति यथार्थ है। अतः इस अवस्था की प्रज्ञा ऋतम्भरा कही जाती है। इति ॥ ४८ ॥

यदि कहें कि, लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम-जन्य ज्ञान से ही सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतीति हो सकती है; तो योगजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा की क्या आवश्यकता है? इस आशंका का समाधान सूत्रकार करते हैं—सा पुनः-श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वादिति। सा पुनः—और वह ऋतम्भरा प्रज्ञा, विशेषार्थत्वात्—भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेषरूप अर्थ विषयक होने से, श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्—शास्त्रजन्य प्रज्ञा तथा अनुमानजन्य प्रज्ञा से, अन्यविषया—भिन्न विषयक है। अर्थात् इन्द्रिय-रूप लौकिक प्रत्यक्ष-प्रमाण-जन्य प्रज्ञा वर्तमान एवं सन्निकृष्ट पदार्थ विषयक है, आगम तथा अनुमान प्रमाणजन्य प्रज्ञा परोक्ष विषयक है, और यह योगजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा-भूत, भविष्यत्, वर्तमान त्रैकालिक पदार्थ-विषयक साक्षात्काररूप है। अतः उन तीनों प्रज्ञाओं से यह ऋतम्भरा प्रज्ञा श्रेष्ठ है। 'सा पुनः' इतना अंश भाष्यकार ने जोडकर सूत्र का अर्थ किया है।

इसी अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—श्रुतमिति। श्रुतम् आगमविज्ञानम्—श्रुतरूप जो आगम-प्रमाण जन्य विज्ञान है, तत्—वह, सामान्यविषयम्—सामान्य विषयक ही है, विशेष विषयक नहीं। न हीति। हि—क्योंकि, आगमेन—आगम रूप प्रमाण से, विशेषः—प्रकृति भूतसूक्ष्म-गत तथा पुरुष-गत अपरोक्षरूप विशेष अर्थ का, अभिधातुम्—कथन करना, शक्यः—शक्य, न—नहीं है।

विशेषोऽभिधातुम् । कस्मात् । न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति । तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव । यत्र व्याप्तिस्तत्र गतिर्यत्र न व्याप्तिस्तत्र न गतिरित्युक्तम् । अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः । तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति ।

शङ्का करते हैं—कस्मात् । कस्मात्—आगम प्रमाण से उक्त प्रकृत्यादि गत विशेष अर्थ का ज्ञान क्यों शक्य नहीं ? हेतुपूर्वक उत्तर देते हैं—न होति । इति—इस कारण से शक्य नहीं है कि, शब्दः—आगम प्रमाण, विशेषण—विशेष अर्थ के साथ कृतसंकेत—वाच्यवाचकभावसम्बन्ध रूप संकेतवाला, नहि—नहीं है । अर्थात् पद-पदार्थ का जो वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध रूप संकेत है वह विशेष अर्थ के साथ नहीं किन्तु सामान्य अर्थ के साथ है । अतः आगम प्रमाण में विशेष अर्थ बोधन करने का सामर्थ्य नही है । यही दशा अनुमान-प्रमाण की भी है । क्योंकि, वह लिङ्ग-लिङ्गिसम्बन्ध ज्ञानजन्य है । इस अर्थ को भाष्यकार व्यक्त करते हैं—तथेति । तथा—वैसे ही, अनुमानम्—अनुमान प्रमाण भी, सामान्य विषयमेव—सामान्य (स्वरूप) अर्थ विषयक ही है । अर्थात् कतिपय अर्थ का परोक्ष रूप से ही बोधक है, सभी अर्थ का परोक्ष रूप से ही बोधक है, सभी अर्थ का अपरोक्ष रूप से नहीं । क्योंकि, यत्र व्याप्तिस्तत्र गतिर्यत्र न व्याप्तिस्तत्र न गतिरित्युक्तम् । यत्र व्याप्तिः—"यत्र धूमस्तत्र वह्निः" इस प्रकार की जहाँ व्याप्ति है, तत्र गतिः—वहां अनुमान को गति है । यत्र न व्याप्तिः—ओर जहां उक्त प्रकार की व्याप्ति नहीं है, तत्र न गतिः—वहां अनुमान की गति नहीं है. इति उक्तम्—इस प्रकार प्रमाण ग्रन्थों में कहा है । अथवा, यत्र व्याप्तिः—जहां धूम है, तत्र गतिः—वहां वह्नि है, यत्र न गतिः—जहां वह्नि नहीं है, तत्र न व्याप्तिः—वहां धूम भी नहीं है, इति—इस प्रकार, उक्तम्—प्रमाण ग्रन्थों में कहा है । अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः । अनुमानेन च—और अनुमान से, सामान्येन—सामान्य (परोक्ष) रूप से ही, उपसंहारः—उपसंहार होता है अर्थात् निगमन वाक्य से पदार्थ का ज्ञान सामान्य रूप से हो होता है, विशेष (अपरोक्ष) रूप से नहीं । तस्मादिति । तस्मात्—इसलिये, श्रुतानुमानविषयः—आगम और अनुमान का विषय, विशेषः—विशेष, कश्चित् न अस्ति—कुछ नहीं है किन्तु इन दोनों का विषय सामान्य ही है । और समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय विशेष होने से यह अवश्य स्वीकार करने योग्य है ।

यदि कहें कि, आगम तथा अनुमान उक्त सम्बन्धग्रह सापेक्ष होने से सामान्य विषयक भले हों, परन्तु इन्द्रियजन्य लोकप्रत्यक्ष तो विशेष विषयक है । इसी से उक्त प्रकृत्यादिगत विशेष का साक्षात्कार हो जायगा फिर ऋतम्भरा प्रज्ञा की क्या आवश्यकता है ?

न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति। न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा। तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥ ४९ ॥

इस आशङ्का का उत्तर भाष्यकार देते हैं—न चास्येति। अस्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनः—इस सूक्ष्म व्यवहित तथा दूरस्थ वस्तु का, लोकप्रत्यक्षेण—इन्द्रिय-रूप लौकिक-प्रत्यक्ष से, ग्रहणम्—ज्ञान, न च अस्ति—नहीं है। अर्थात् जैसे निर्विचारा-समापत्ति-जन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकृतिगत, भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेष को साक्षात्कार करती है। वैसे इन्द्रियजन्य लोकप्रत्यक्ष प्रज्ञा उक्त प्रकृत्यादिगत विशेष का साक्षात्कार नहीं कर सकती है। अतः सर्व वस्तुगत विशेष प्रकाश (साक्षात्कार) के लिये अभ्यास द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा का सम्पादन योगी को अवश्य करना चाहिये।

यदि कहें कि—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगमरूप प्रमाण से जिसका ज्ञान होता है, उसीका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, और इन प्रमाणों से जिसका ज्ञान नहीं होता है, उसका अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जाता है। जैसे आकाश-कुसुम का ज्ञान उक्त किसी भी प्रमाण से नहीं होता है। अतः उसका अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जाता है, एवं प्रकृतिगत, भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेष का उक्त किसी भी प्रमाण से ज्ञान नहीं होता है। अतः ये पदार्थ ही नहीं हैं, तो उनमें रहा हुआ विशेष का साक्षात्कार करने के लिये ऋतम्भरा प्रज्ञा की क्या आवश्यकता है?

इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं—न चास्येति। अप्रमाणकस्य—उक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अविषय होने पर भी, अस्य विशेषस्य—उक्त प्रकृत्यादिगत विशेष का, अभावः—अभाव, न च अस्ति—नहीं है। इति—क्योंकि, समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव—इस समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा से ही ग्राह्य, सः—वह, विशेषः—विशेष, भवति—होता है। भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा—चाहे वह विशेष परमाणु आदि भूतसूक्ष्मगत हो अथवा पुरुषगत हो। अर्थात् जैसे उक्त तीनों प्रमाणों से सिद्ध वस्तु के के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। वैसे ही इस ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा योगियों को प्रत्यक्ष-सिद्ध प्रकृतिगत, भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेष के अस्तित्व को आकाश-कुसुम के समान अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। क्योंकि, आकाश-कुसुम न तो किसी प्रमाणों से सिद्ध है और न समाधि-प्रज्ञा से। अतः उसका अस्तित्व अस्वीकार्य है और यह विशेष तो प्रमाणों से सिद्ध न होने पर भी समाधिप्रज्ञा से सिद्ध है। अतः इस विशेष का अस्तित्व अवश्य स्वीकार्य है।

विषय का उपसंहार करते हैं—तस्मादिति। तस्मात्—इस लिये, विशेषार्थत्वात्—प्रकृतिगत, भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेष विषयक होने से, श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्—

समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबंधी ॥५०॥

आगम-ज्ञान तथा अनुमानज्ञान से, अन्यविषया-भिन्न-विषयक, सा—वह, प्रज्ञा—ऋतम्भरासंज्ञक समाधिप्रज्ञा है, यह सिद्ध हुआ।

स्थूल-विषयक समापत्ति सूक्ष्म पदार्थ को विषय नहीं कर सकती है, परन्तु सूक्ष्म-विषयक समापत्ति स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थों को विषय कर सकती है। यद्यपि निर्विचारा समापत्ति ग्राह्य विषयक है, आत्मा ग्राह्य नहीं। अतः आत्मा को विषय नहीं कर सकती है, अत एव भाष्यकार ने इसको भूतार्थ विषयक कहा है। अतः तज्जन्य प्रसाद भी आत्मा को विषय नहीं कर सकता है, तथापि निर्विचारा समापत्ति में विशारदता प्राप्त होने पर जो अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है, जिसको प्रज्ञालोक, समाधिप्रज्ञा तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा भी कहते हैं, उसका आधार आत्मा है। अतः आधार रूप से आत्मा भी भासता है। अत एव इसका नाम अध्यात्मप्रसाद है, इसीलिये यह ऋतम्भरा प्रज्ञा आत्मगत विशेष को भी प्रकाशती है। अतः इस प्रज्ञा में जड, चेतन, स्थूल, सूक्ष्म, देशान्तर, कालान्तर के सभी पदार्थ भासते हैं। इस अवस्था में योगी सर्वज्ञ हो जाता है।

जैसे "कुलालोऽस्ति" इस वाक्य जन्य कुलाल विषयक एक प्रकार का ज्ञान होता है। "घटः कर्तृजन्यः कार्यत्वात् पटवत्" इस अनुमान जन्य कुलाल विषयक दूसरे प्रकार का ज्ञान होता है और चक्षु-इन्द्रिय जन्य "अयं कुलालः" इत्याकारक कुलाल-विषयक तीसरे प्रकार का ज्ञान होता है परन्तु इन तीनों ज्ञानों में कुछ न कुछ तारतम्य अवश्य है। वैसे ही समाधि जन्य जो ज्ञान होता है उसमें भी अन्य की अपेक्षा विशेष साक्षात्कार रूप तारतम्य समझना चाहिये, जो तात्विक विशेषरूप है। इति ॥ ४९ ॥

यद्यपि यथोक्त उपाय के अभ्यास से परमार्थ विषयक चित्तको एकाग्ररूप संप्रज्ञात समाधि लब्ध होता है, तथापि उसकी एकाग्रता कायम रहना कठिन है। क्योंकि, जैसे प्रतिबन्धक प्रचण्ड पवन के वेग से एकाग्र हुई भी प्रदीपशिखा की स्थिरता कायम रहना कठिन है। वैसे ही प्रतिबन्धक प्रचण्ड विक्षेप जनित अनादि व्युत्थान-संस्कार (विषयवासना) के वेग से एकाग्र हुए चित्त की वृत्ति की भी स्थिरता कायम रहना कठिन है। इस आशङ्का को दूर करने लिये भाष्यकार सूत्र का अवतरण करते हैं—समाधिप्रज्ञेति। समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे—उस समाधि प्रज्ञा के लाभ होने से, योगिनः—योगी के चित्त में, प्रज्ञाकृतः—इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से जन्य, संस्कारः—समाधि संस्कार, नवः नवः—नूतन, नूतन, जायते—उत्पन्न होते हैं। जो उक्त अनादि व्युत्थान संस्कार के प्रतिबन्धक होते हैं। इसी बात को सूत्रकार कहते हैं—तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार-प्रतिबन्धीति। तज्जः संस्कारः— उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से जन्य जो संस्कार वह,

समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते। व्युत्थानसंस्काराभिभवात्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते। ततः समाधिजा प्रज्ञा, ततः प्रज्ञाकृताः संस्काराः इति नवो नवः संस्काराशयो जायते। ततश्च प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति। कथमसौ संस्काराशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति।

अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी–अन्य विक्षेप-जनित व्युत्थान-संस्कारों का प्रतिबन्धक है। अर्थात् यथोक्त निर्विचार समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न जो संस्कार वह निखिल अन्य व्युत्थान संस्कारों का बाधक होता है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—**समाधिप्रज्ञाप्रभव इति। समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारः**–उक्त ऋतम्भरा-प्रज्ञा से जन्य जो संस्कार वह, **व्युत्थानसंस्काराशयम्**–अनुद्बुद्ध व्युत्थान-संस्कार रूप वासना को, **बाधते**–बाध अर्थात् अभिभव करता है। **व्युत्थानेति। व्युत्थानसंस्काराभिभवात्**–उक्त व्युत्थान संस्कार के अभिभव होने से, **तत्प्रभवाः प्रत्ययाः**–उन व्युत्थान संस्कारों से उत्पन्न होनेवाली जो प्रमाण, विपर्यय आदि चित्तवृत्तियां थी वे, **न भवन्ति**– उत्पन्न होने नहीं पाती हैं, किन्तु निरुद्ध हो जाती हैं। **प्रत्ययनिरोध इति। प्रत्ययनिरोधे**–चित्तवृत्तियों के निरोध होने पर, **समाधिः**–उक्त निर्विचार-समाधि, **उपतिष्ठते**–उपस्थित हो जाता है। **ततः समाधिजा प्रज्ञा। ततः**–समाधि प्राप्त होने के पश्चात्, **समाधिजा प्रज्ञा**–निर्विचार समाधि से जन्य ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्राप्त होती है। **ततः प्रज्ञाकृताः संस्काराः। ततः**–ऋतम्भरा- प्रज्ञा प्राप्त होने के पश्चात्, **प्रज्ञाकृताः संस्काराः**–ऋतम्भरा-प्रज्ञा से जन्य संस्कार प्राप्त होते हैं। **इति नवो नवः संस्काराशयो जायते। इति**–इस प्रकार, **नवो नवः**–नूतन, नूतन, **संस्काराशयः**–संस्काररूप वासना, **जायते**–उत्पन्न होती रहती है। **ततश्च प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति। ततश्च प्रज्ञा**–और उस समाधि संस्कार से ऋतम्भरा-प्रज्ञा, **ततश्च संस्काराः**–और ऋतम्भरा-प्रज्ञा से समाधि संस्कार, **इति**–इस प्रकार संस्कार तथा प्रज्ञा का चक्र चला करता है। अर्थात् प्रतिदिन प्रज्ञा से संस्कार तथा संस्कार से प्रज्ञा का उदय होता रहता है।

शङ्का उठाते हैं—**कथमसाविति। असौ संस्काराशयः**–यह समाधिप्रज्ञा-जन्य वासना-रूप संस्कार, **चित्तम्**–चित्त को, **साधिकारम्**–अधिकार विशिष्ट, **कथं न करिष्यति**–क्यों नहीं करेगा?

शङ्का करनेवाले का अभिप्राय यह है कि, जन्म-मरण आदि दुःख देने की योग्यतावाले चित्त को साधिकार कहते हैं और यह योग्यता चित्त में संस्कार से प्राप्त होती है। इस अवस्था में भी चित्त समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार से युक्त तो है ही, तो फिर वह संस्कार चित्त को साधिकार क्यों नहीं करता है?

न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षयहेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति । चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति । ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥ ५० ॥

समाधान कहते हैं—न ते प्रज्ञाकृता इति । ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः—वे ऋतम्भरा प्रज्ञा-जन्य संस्कार, क्लेशक्षयहेतुत्वात्—अविद्या आदि के क्लेश के नाश के हेतु होने से, चित्तम्—चित्त को, अधिकारविशिष्टम्—जन्म-मरण आदि दुःख देने की योग्यतारूप अधिकार युक्त, न कुर्वन्ति—नहीं करते हैं । इसी को स्पष्ट करते हैं—चित्तमिति । हि—क्योंकि, चित्तम्—चित्त को, ते—ऋतम्भरा प्रज्ञा जन्य संस्कार, स्वकार्यात्—उसके अपने कार्य से, अवसादयन्ति—कर्तव्य शून्य कर देते हैं । अर्थात् नष्टप्रायः कर देते हैं । ख्यातिपर्यवसानमिति । हि—क्योंकि, ख्यातिपर्यवसानम्—सत्त्वपुरुषान्यताख्याति (विवेक-ज्ञान) के उदय पर्यन्त ही, चित्तचेष्टितम्—चित्त का व्यापार रहता है । अर्थात् जब विवेक-ख्याति उत्पन्न हो जाती है तब चित्त का व्यापार समाप्त हो जाता है ।

समाधान-कर्ता सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि, सभी संस्कार चित्त को साधिकार नहीं करते हैं, किन्तु जो संस्कार क्लेशादि वासना जन्य होते हैं, वे ही चित्त को साधिकार करते हैं । समाधिप्रज्ञा-जन्य जो संस्कार हैं, वे क्लेशादि वासना से जन्य नहीं, प्रत्युत क्लेशादि-वासना के क्षय के हेतु हैं; अतः ये संस्कार चित्त को साधिकार नहीं करते हैं ।

चित्तसत्त्व तथा बुद्धिसत्त्व ये दोनों एक अर्थ के वाचक शब्द हैं । अतः चित्तवृत्ति का निरोध अर्थात् बुद्धिवृत्ति का निरोध ही योग कहा जाता है । सत्य-अर्थ का पक्षपात करना बुद्धि का स्वभाव होता है । बुद्धि तभी तक इधर-उधर भटकती रहती है. जब तक यह सत्य अर्थ को विषय करने नहीं पाती है और जब यह समाधि प्रज्ञा रूप से यथार्थ (सत्य) वस्तु को ग्रहण कर लेती है, तब उसी क्षण अपने आप मिथ्या वस्तु की तरफ भटकना छोड़ कर सत्य वस्तु में ही स्थितिपद को प्राप्त होती हुई संस्कार बुद्धि, चक्रक्रम से भ्रमण करती हुई, मिथ्या-संस्कार अनादि हैं तो भी, उसको बाध लेती है । इसीका नाम चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग है । इस काल में सत्य अर्थ-ध्येयाकार वृत्ति का सद्भाव रहता है, अतः यह संप्रज्ञात योग कहा जाता है ।

चित्त के दो कार्य हैं, एक पुरुष के लिये शब्दादि का भोग तथा दूसरा विवेक-ख्याति की उत्पत्ति द्वारा मोक्ष संपादन करना । इन्हीं दोनों कार्यों में चित्त का अधिकार है । भोग के लिये क्लेशादि वासनाजन्य संस्कार युक्त चित्त भोगाधिकारवाला कहा जाता है, और समाधि संस्कार से क्लेश संस्कार रहित चित्त मोक्षाधिकार कहा

किं चास्य भवति—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी । प्रज्ञाकृतानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति । कस्मात् ।

जाता है। इन दोनों अधिकारों में से प्रथम अधिकार दुष्ट है। विवेकख्याति के उदय होने से यह भोगाधिकार समाप्त हो जाता है। क्योंकि, विवेकख्याति के उदय पर्यन्त ही चित्त की चेष्टा है। इति ॥ ५० ॥

साधिकार चित्त जन्मादि संस्कार का हेतु है। चित्त के दो अधिकार हैं, भोगाधिकार तथा विवेकख्याति अधिकार। उनमें प्रज्ञासंस्कार से भोगाधिकार की प्रशान्ति होती है, यह बात कही गई। इस पर भाष्यकार शङ्का उठाते हैं—किञ्चास्य भवति। अस्य–इस योगी को, उक्त प्रज्ञाजन्य संस्कार के निरोध के लिये, किञ्च–और अन्य कौन उपाय, भवति–है ? अर्थात् प्रज्ञासंस्कार युक्त चित्त प्रज्ञासंस्कारप्रवाह का जनक होने से व्युत्थान काल में भोगाधिकार के समान इस काल में भी अधिकार युक्त ही है। अतः उस अधिकार के उच्छेद के लिये योगी का अन्य कुछ कर्तव्य है अथवा नहीं ?। इस शङ्का का उत्तर सूत्र से देते हैं—तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिरिति। सूत्र में अपि पद से प्रज्ञा का तथा तस्य पद से प्रज्ञाजन्य संस्कार का ग्रहण है। इन दोनों का निरोध परवैराग्य के अभ्यास से होता है। तथा च। तस्यापि निरोधे–परवैराग्य के अभ्यास द्वारा प्रज्ञा तथा प्रज्ञासंस्कार का निरोध होने पर, सर्वनिरोधात्–नूतन तथा पुरातन सर्व संस्कारों का निरोध होने से जो समाधि प्राप्ति होती है वह, निर्बीज समाधि–निर्बीज समाधि कहा जाता है। अर्थात् पूर्वोक्त गुणवैतृष्ण्य रूप परवैराग्य के अभ्यासजन्य जो समाधिप्रज्ञात्मक निखिल वृत्तिप्रवाह तथा तज्जन्य संस्कारप्रवाह का निरोध होता है; वह निरोध निर्बीज समाधि कहा जाता है, जिसको असंप्रज्ञात योग कहते हैं।

सूत्रगत अपि शब्द का फल निर्देश करते हुए भाष्यकार सूत्र का व्याख्या करते हैं—स न केवलमिति। सः–वह परवैराग्यजन्य निर्बीज समाधि, केवलम्–केवल, समाधिप्रज्ञाविरोधी–अपने कारण परवैराग्य द्वारा समाधिप्रज्ञा का ही विरोधी, न–नहीं है, किन्तु, प्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि–प्रज्ञाजन्य संस्कार का भी–प्रतिबन्धी भवति–परिपन्थी (प्रतिबन्धक) है।

शङ्का उठाते हैं—कस्मादिति कस्मात्–निर्बीज समाधि अपने कारण परवैराग्य द्वारा संस्कार का भी प्रतिबन्धी क्यों है ?

निरोधजः संस्कारः समाधिजान्संस्कारान्बाधत इति ।

निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वम-

शङ्का करने वाले का आशय यह है कि, परवैराग्यजनित निर्बीज समाधि जन्य जो विज्ञान है, वह सद्विषयक होने से प्रबल है, और उसकी अपेक्षा विज्ञान स्वरूप समाधिप्रज्ञा दुर्बल है। अतः सद्विषयक प्रबल रज्जु-विज्ञान से जैसे असद्विषयक दुर्बल सर्पविज्ञान का बाध होता है, वैसे ही परवैराग्यजनित निर्बीज-समाधिजन्य प्रबल विज्ञान से दुर्बल विज्ञानरूप समाधिप्रज्ञा मात्र का बाध कहना उचित है; परन्तु उक्त विज्ञान से प्रज्ञाजन्य संस्कार का भी बाध कहना उचित नहीं। क्योंकि, विज्ञान का विज्ञान के साथ ही विरोध होता है, तज्जन्य संस्कार के साथ नहीं। अन्यथा स्वप्न पदार्थविषयक संस्कार का भी जाग्रद्विज्ञान से बाध होने से जागने पर पुरुष को स्वप्न पदार्थ-विषयक जो स्मृति होता है सो नहीं होनी चाहिये और होती तो है ? अतः निर्बीज समाधि विज्ञान से प्रज्ञा संस्कार का बाध कहना अनुचित है ?

उत्तर देते हैं—निरोधजः संस्कार इति। निरोधजः संस्कारः-परवैराग्यजनित निरोधजन्य संस्कार, समाधिजान् संस्करान्—संप्रज्ञात समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार को, बाधते—बाधता है, इति—हम ऐसा कहते हैं।

समाधानकर्ता का अभिप्राय यह है कि, निर्बीज समाधिजन्य विज्ञान से समाधिजन्य पुरातन संस्कार का बाध होता है, ऐसा हम नहीं कहते हैं किन्तु, निर्बीज-समाधि के कारणरूप दीर्घकाल-नैरन्तर्यसत्कारासेवित परवैराग्यजन्य जो नूतन संस्कार उससे पुरातन समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार का बाध होता है, ऐसा कहते हैं अर्थात् संस्कार से संस्कार का बाध होता है, ऐसा कहते हैं। विज्ञान से संस्कार का बाध होता है, ऐसा नहीं कहते हैं।

फिर शङ्का होती है कि, जिस निरोध संस्कार से प्रज्ञासंस्कार का बाध कहा, उसके सद्भाव में प्रमाण क्या ? क्या वह प्रत्यक्ष से अनुभूत है, अथवा स्मृति-रूप कार्य से अनुमित है ? यदि कहें, प्रत्यक्ष से अनुभूत है, तो वह समीचीन नहीं। क्योंकि, इस मत में वृत्ति को ही प्रमाण कहते हैं और इस काल में योगियों की सर्व वृत्तियों का निरोध हो गया है, तो प्रत्यक्ष प्रमाण कहां है ? यदि कहें, स्मृति-रूप कार्य से निरोध संस्कार का अनुमान होता है, तो यह भी समीचीन नहीं ? क्योंकि, सर्व वृत्तियों के निरोध होने पर उस स्वरूप सत् निरोध संस्कार में स्मृतिजनकता कहां है ? अतः निरोध संस्कार के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं होने से जब निरोध संस्कार ही नहीं है तो उक्त प्रज्ञासंस्कार का बाध किससे ?

इसका समाधान भाष्यकार करते हैं—निरोधस्थितिकालेति। निरोधस्थिति कालक्रमानुभवेन—चित्त की निरोधावस्था का जो मुहूर्त अर्ध याम (अर्ध-प्रहर),

नुमेयम्। व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृताववस्थितायां प्रविलीयते। तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधि-

याम तथा अहोरात्र (दिन-रात) आदि कालक्रम के अनुभव उससे, निरोधचित्त-कृतसंस्काराः–निरोध चित्त जन्य संस्कारों के, अस्तित्वम्–अस्तित्व, अनुमेयम् अनुमान करने योग्य है। अर्थात् योगियों की चित्तवृत्तियों का जो निरोध होता है, वह एक क्षण में तो सबका निरोध होता नहीं है, किन्तु धीरे धीरे होता है अर्थात् जैसे जैसे परवैराग्य के अभ्यासक्रम में वृद्धि होती जाती है, वैसे वैसे चित्तवृत्तियों का तथा उनके संस्कारों का भी निरोध होता जाता है। अतः जैसे जैसे परवैराग्य के अभ्यास से व्युत्थान तथा समाधि के संस्कारों में न्यूनता होती जाती है, वैसे वैसे निरोध संस्कारों के अस्तित्व का अनुमान योगियों को होता जाता है। इस संस्कारों की न्यूनतारूप कार्यलिङ्गक अनुमान से निरोध संस्कारों के अस्तित्व को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि, निरोध संस्कार के विना व्युत्थान तथा समाधिसंस्कार में न्यूनता होना असंभव है। इस प्रकार जब निरोध संस्कार का अस्तित्व सिद्ध होता है तब इस निरोध संस्कार से प्रज्ञासंस्कार का बाध कथन समीचीन ही है, असमीचीन नहीं, यह सिद्ध हुआ।

फिर शंका होती है कि, निरोध संस्कार से प्रज्ञासंस्कार का उच्छेद होने पर भी निरोध संस्कार का कोई उच्छेदक न होने से वह विद्यमान है और यदि निरोध संस्कार विद्यमान रहेगा तो चित्त साधिकार रहने से योगी को कैवल्य प्राप्ति नहीं होगी?

अब इसका उत्तर भाष्यकार करते हैं—व्युत्थाननिरोधेति। व्युत्थाननिरोधस-माधिप्रभवैः–व्युत्थान का जो निरोध समाधि अर्थात् संप्रज्ञात-समाधि उससे जन्य जो, कैवल्यभागीयैः–कैवल्यभागीय, संस्कारैः संस्कार उनके, सह–सहित ही, चित्तम्–चित्त भी, स्वस्याम्–अपनी, अवस्थितायाम् प्रकृतौ–अवस्थित प्रकृति में, प्रविलीयते–लीन हो जाता है।

तस्मादिति। तस्मात्–इसलिये, चित्तस्य–चित्त के, अधिकारविरोधिनः–अधिकार के विरोधी, ते संस्काराः–वे निरोध संस्कार, स्थितिहेतवः–स्थिति के हेतु, न भवन्ति–नहीं हैं। अर्थात् इस अवस्था में यद्यपि निरोध संस्कार के विद्यमान रहने से यह चित्त यत्किञ्चित् अधिकारविशिष्ट ही प्रतीत होता है, तथापि यह संस्कार अधिकार के विरोधी होने से भोग के हेतु नहीं। क्योंकि, इस अवस्था में शब्दादि उपभोग तथा विवेकख्याति रूप चित्त के दोनों अधिकार निवृत्त हो जाते हैं।

इस अवस्था में विदेह नामक तथा प्रकृतिलय नामक योगियों का साधिकार चित्त निरोधभागीय रूप से स्थित नहीं है, किन्तु क्लेशवासित रूप से स्थित है। अतः

धिकारविरोधिनो न स्थितिहेतवो भवन्तीति । यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्तते ।

तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यत इति ॥ ५१ ॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्-व्यासभाष्ये
प्रथमः समाधिपादः ॥ १ ॥

अवधि समाप्ति के पश्चात् वे पुनः संसार में आते हैं । इस आशय को भाष्यकार व्यक्त करते हैं— यस्मादिति । यस्मात्—इस कारण से कि, इस अवस्था में, अवसिताधिकारं चित्तम्-समाप्त अधिकारयुक्त चित्त. कैवल्यभागीयैः संस्कारैः सह-कैवल्यभागीय संस्कार के सहित, निवर्त्तते-निवृत्त (निरुद्ध) हो जाता है । तस्मिन्निति । तस्मिन् निवृत्ते-और संस्कारसहित चित्त के निवृत्त होने पर, पुरुषः—पुरुष (आत्मा) स्वरूपमात्रप्रतिष्ठः—केवल स्वरूप (निज रूप) में स्थित हो जाता है । अतः निजरूप में में स्थित होनेसे, इस अवस्था में निखिल-कर्तव्य समाप्तिरूप असम्प्रज्ञात-समाधि के लाभ से आत्मा, शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते-शुद्ध केवल तथा जीवन्मुक्त कहा जाता हैं । इति शब्द पादसमाप्ति का सूचक है ।

भाव यह है कि, प्रकृत योगियों का चित्त संस्कार रहित होकर निरुद्ध होता है । अतः ये पुनः संसार में नहीं आते हैं, किन्तु मुक्त हो जाते हैं । और उक्त विदेह नामक तथा प्रकृतिलय नामक योगियों का चित्त संस्कार सहित निरुद्ध होता है; अतः ये अवधि समाप्त होने के पश्चात् पुनः जन्म-मरण रूप संसार में आते हैं, मुक्त होने नही पाते हैं ।

श्रीवाचस्पति मिश्र ने 'योगवैशारदी' में निम्न लिखित श्लोक से इस पाद में प्रतिपादित विषयों का संग्रह इस प्रकार किया है—

योगस्योद्देशनिर्देशौ, तदर्थं वृत्तिलक्षणम् ।
योगोपायाः प्रभेदाश्च, पादेऽस्मिन्नुपवर्णिताः ॥ १ ॥

योग का उपक्रम, योग का लक्षण, योग के लिये वृत्ति-लक्षण, योग के उपाय तथा योग के विभेद; ये पांच विषय प्रथम पाद में निरूपण किये गए हैं । इति ॥५१॥

योगभाष्यविवृतौ सरलायां, ब्रह्मलीनमुनिना रचितायाम् ।
यः समाधिमुनिरूपणनामा, आगतः स चरणः परिपूर्णम् ॥

इति श्रीस्वामिब्रह्मलीनमुनिविरचितायां पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यदेवनागरीभाषाविवृत्यां प्रथमः समाधिपादः ॥ १ ॥

अथ साधनपादो द्वितीयः

उद्दिष्टः समहितचित्तस्य योगः । कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

नातपस्विनो योगः सिद्धयति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा

सर्वभक्तहृदयान्निवारितैर्यस्तमोभिरिव वेष्टितः क्षुधा ।
कृष्णतामगमदार्त्तिनाशनः सोऽस्तु मे मनसि नन्दनन्दनः ॥ १ ॥
सत्यमत्यधिकवादिकुतर्कैश्छादितं जगति वीक्ष्य पदैर्ये ।
प्राकृतैः प्रकटतामनयंस्ते श्रीकवीरचरणा विजयन्ते ॥ २ ॥
पतञ्जलेः सूत्रकृतोऽङ्घ्रिमादितः प्रणम्य व्यासं च सुभाष्यभाषितम् ।
विदां वरं श्रीलविशारदीकृतं तदुक्तिभाषां वितनोमि यत्नतः ॥ ३ ॥

शङ्का होती है कि, जब प्रथम पाद से ही उपाय, अवान्तर भेद तथा फल-सहित योग का निरूपण हो चुका है, तो फिर अन्य क्या शेष रहा है कि, जिसके लिये द्वितीय पाद का आरम्भ किया जाता है ?

इस आशङ्का का उत्तर भाष्यकार देते हैं—उद्दिष्ट इति । समाहितचित्तस्य-प्रथम पाद में पूर्व पुण्यप्रभाव से स्थिर-चित्त पुरुष के प्रति, योगः-योग, उद्दिष्टः-उपदिष्ट हुआ, व्युत्थितचित्तोऽपि-चञ्चल-चित्तवाला पुरुष भी, योगयुक्तः-समाहित चित्त होकर योगयुक्त, कथम्-किस प्रकार, स्यात्-हो, इति-इस हेतु से, एतत्-इस द्वितीय पाद का, आरभ्यते-आरम्भ होता है । अर्थात् उत्तम अधिकारी के प्रति प्रथम पाद से योग का उपदेश किया गया है । संप्रति मध्यम अधिकारी के प्रति द्वितीय पाद से योग का उपदेश किया जाता है—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग इति । तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि-शरीर-इन्द्रियादि का अनावश्यक रूप तप, प्रणव आदि ईश्वर के पवित्र नामों का जप तथा उपनिषद् आदि मोक्ष शास्त्रों का पाठ-अध्ययन-रूप स्वाध्याय और सर्व कर्मों को ईश्वरार्पण अथवा उसके फल का त्याग रूप ईश्वरप्रणिधान, क्रियायोगः-ये तीनों क्रियायोग कहे जाते हैं । अर्थात् ये क्रिया के साधन होनेसे क्रियायोग (कर्मयोग) कहे जाते हैं ।

अन्वय तथा व्यतिरेक मुख से उपायता का परिचय कराया जाता है । उनमें व्यतिरेक मुख से तप को योग का उपाय कहते हैं—नातपस्विनो योगः सिद्धयति । अतपस्विनः-अतपस्वी पुरुष से, योगः-योग, न सिद्धयति-सिद्ध नहीं हो सकता है ।

प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपःसंभेदमापद्यत इति तपस उपादानम् ।

तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यते ।

स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ॥ १ ॥

तप के विना योग की असिद्धि में हेतु दिखाते हैं—अनादिकर्मेति । अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा–अनादि कर्म, क्लेश तथा वासना से चित्रित (मिश्रित), च–और, प्रत्युपस्थितविषयजाला–विषय की तरफ उन्मुख करानेवाली जो, अशुद्धिः–रजोगुण तथा तमोगुण के समुद्रेक रूप मलिनता वह, तपः अन्तरेण–तप के विना, संभेदम्–अत्यन्त विरलता अर्थात् तनुतापूर्वक विनाश को, न आपद्यते– प्राप्त नहीं हो सकती है, इति–इस कारण से सूत्र में सर्वप्रथम, तपसः–तप का, उपादानम्–ग्रहण किया है ।

यदि यह कहें कि, कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप धातु-वैषम्य द्वारा योग के प्रतिपक्षी हैं तो वे उपाय कैसे ?

इसका समाधान भाष्यकार करते हैं—तच्चेति । च–और, तत्–वह तप जो, चित्तप्रसादनम्–चित्त की प्रसन्नता का हेतु हो एवं, अबाधमानम्–शरीर तथा इन्द्रियादि का बाधकारक न हो वह तप, अनेन–इस योग–जिज्ञासु से, आसेव्यम्–सेवन करने योग्य है, इति–इस प्रकार, मन्यते—सूत्रकार आदि महर्षिगण मानते हैं । अर्थात् उसी प्रकार का तपश्चरण होना चाहिये कि, जिससे धातु–वैषम्य द्वारा योग में विघ्न न होने पावे ।

तप का प्रकार बताकर अब स्वाध्याय का प्रकार बताते हैं—स्वाध्याय इति । प्रणवादिपवित्राणाम्–ओङ्कार आदि पुरुषसूक्त, रुद्रमण्डल, ब्राह्मणादि वैदिक तथा ब्रह्मपारायणादिपौराणिक भगवान् के पवित्र नामों का, जपः–जप, वा–अथवा, मोक्षशास्त्राध्ययनम्–उपनिषद् आदि मोक्ष–शास्त्र का अध्ययन, स्वाध्यायः–स्वाध्याय कहा जाता है । क्रमप्राप्त ईश्वरप्रणिधान का प्रकार बतलाते हैं—ईश्वरेति । सर्वक्रियाणाम्–निखिल कर्मों का, परमगुरौ—परम गुरु परमात्मा को अर्पणम्–अर्पण करना, वा–अथवा तत्फलसंन्यासः–उन कर्मों के फल का त्याग करना, ईश्वरप्रणिधानम्–ईश्वर–प्रणिधान कहा जाता है ।

भाव यह है कि, यद्यपि प्रथमपाद से योग का निरूपण किया गया है, तथापि वह समाहित अर्थात् अविक्षिप्त—चित्तवाले उत्तम अधिकारी के लिये उपयोगी है, और जो व्युत्थित अर्थात् विक्षिप्तचित्तवाले मन्द मध्यम अधिकारी हैं, उनके लिये

उपयोगी नहीं। क्योंकि, प्रथम पाद में योग के उपाय अभ्यास–वैराग्य कहे गये हैं। ये मन्द मध्यम अधिकारी को शीघ्र संभव नहीं। अतः प्रथम स्थिरता तथा सत्त्वशुद्धि के लिये जो योग के तप आदि उपाय हैं उनका द्वितीय पाद से प्रतिपादन करते हैं। द्वितीयपाद प्रतिपादित योग-उपायों के अनुष्ठान के पश्चात् ही शुद्ध चित्तवाला पुरुष प्रतिदिन अभ्यास–वैराग्य की भावना कर सकता है।

यद्यपि वक्ष्यमाण अन्य भी यमनियमादि योग के उपाय हैं, तथापि यथोक्त क्रिया-योग सुकर तथा अत्यन्त उपयोगी होने से उनमें से पृथक् करके प्रथम इसीका निरूपण किया गया है। अत एव विष्णुपुराण में खाण्डिक्य—केशिध्वज संवाद में —

"योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जमानोऽभिधीयते"।

इस श्लोक से उपक्रम करके प्रथम तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधानरूप क्रियायोग का ही मध्यम अधिकारी के प्रति उपदेश किया गया है। एवं श्रीभगवान् ने भी—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते"।

इस श्लोक से आरुरुक्षु योगियों का प्रथम कर्तव्य क्रियायोग ही कहा है।

तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान की क्रियायोग संज्ञा स्वशास्त्र संकेतित है। कर्मयोग को क्रियायोग कहते हैं। यद्यपि उक्त तप आदि क्रियायोग नहीं, किन्तु क्रियायोग के साधन हैं, तथापि कार्यकारण में अभेद विवक्षा से उनको क्रियायोग कहा गया है। तप योग का साधन है। वह उग्र तथा अनुग्र के भेद से दो प्रकार का है। कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप उग्र तथा इन्द्रिय - निग्रह रूप तप अनुग्र कहे जाते हैं। कृच्छ्रचान्द्रायणादि शरीर इन्द्रियादि के शोषण द्वारा योग के विरोधी होने से योगजिज्ञासुओं को उपादेय नहीं किन्तु हेय हैं, और जो राजस, तामस रहित केवल शुद्ध सात्त्विक हितमित भोजन तथा शीत–उष्ण आदि द्वन्द्व धर्मों को सहन करते हुए इन्द्रिय—निग्रहरूप जो तप करना है वह उपादेय है। अत एव "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"। इस श्रुति में अनाशक शब्द से जो तप शरीर, इन्द्रियादि शोषक न हों वही उपादेय हैं, ऐसा कहा गया है।

स्वाध्याय भी योग का साधन है, जिसका निरूपण भाष्य के अनुवाद में हो चुका है। अर्थात् परमेश्वर के नामों का उच्चारण तथा उपनिषद् का एवं गीत आदि मोक्ष शास्त्रों का पाठ वृत्तिनिरोध—रूप योग में हेतु है, एवं ईश्वर–प्रणिधान भी योग का साधन है। प्रथम पाद के "ईश्वर–प्रणिधानाद्वा" इस सूत्र में ईश्वर-प्रणिधान का जो अर्थ किया गया है उससे कुछ विलक्षण अर्थ यहां है और वह यह कि, कायिक, वाचिक, मानसिक जो कुछ भी कर्म करे उन सबको परम-गुरु परमात्मा को अर्पण करना। जैसा कि, महर्षि ने कहा है—

स हि क्रियायोगः—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनूकरोति ।

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥

फल की इच्छा से अथवा निष्काम भाव से जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म मैं करता हूँ वह सब हे परमेश्वर ! आपको अर्पण करता हूँ । क्योंकि, आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही कर्म करता हूँ, अन्यथा नहीं । इसमें मेरापन है ही क्या ?

ईश्वर–प्रणिधान का दूसरा अर्थ फलेच्छापरित्यागपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान करना है । जैसे श्रीभगवान् ने कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ गी० २–४७

हे अर्जुन ! कर्मानुष्ठान में ही तेरा अधिकार है । कर्म के फल में कभी नहीं । और, तूँ कर्मों के फल की वासनावाला भी न हो तथा तेरी कर्म न करने में प्रीति भी न हो । सारांश यह है कि, भगवान् को प्रसन्न करने के लिये भृत्यवत् निष्काम कर्मानुष्ठान का नाम ईश्वर–प्रणिधान है । इति ॥ १ ॥

क्रियायोग के दो फल कथन करने के लिये भाष्यकार निम्न लिखित अध्याहृत अंश को सूत्र के साथ जोड़ते हुए सूत्रार्थ करते हैं—स हि क्रियायोगः-समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्चेति । स हि क्रियायोगः–वह पूर्वोक्त क्रियायोग, समाधिभावनार्थः—समाधि की उत्पत्ति करने के लिये, च–और, क्लेशतनूकरणार्थः—क्लेशों को तनूकरण अर्थात् सूक्ष्म (दुर्बल) करने के लिये है । अर्थात् पूर्वोक्त तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान के अनुष्ठान करने से समाधिसिद्धि तथा वक्ष्यमाण अविद्यादि क्लेशों में क्षीणता प्राप्त होती है ।

सूत्र का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार क्रियायोग के सूत्र उक्त जो दो फल हैं, उनमें हेतु देते हैं—स हीति । हि–क्योंकि, सः–वह तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान रूप क्रियायोग, आसेव्यमानः–अच्छी प्रकार से सेवन किया हुआ, समाधिम्–समाधि की, भावयति–उत्पत्ति करता है, च–और, क्लेशान्–क्लेशों को, प्रतनूकरोति–सूक्ष्म अर्थात् दुर्बल करता है ।

शंका होती है कि, जब क्रियायोग ही क्लेशों को सूक्ष्म कर देता है तो प्रसंख्यानाग्नि (विवेक - ख्याति) व्यर्थ है ?

प्रतनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति । तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति ॥ २ ॥

इस शंका का समाधान भाष्यकार करते हैं—प्रतनूकृतानिति । प्रतनूकृतान् क्लेशान्-क्रियायोग द्वारा सूक्ष्म किये हुए क्लेशों को, प्रसंख्यानाग्निना–प्रसंख्यान-रूप अग्नि से, योगाभ्यासी पुरुष, दग्धबीजकल्पान्—दग्ध-बीज तुल्य, अत एव अप्रसवधर्मिणः–अप्रसवधर्मी अर्थात् पुनः अंकुर उत्पादन में असमर्थ, करिष्यति—कर देगा अर्थात् कर देता है । भाव यह है कि, क्रियायोग का क्लेशों को क्षीण करना मात्र कार्य है । दग्धबीज रूप अप्रसवधर्मी (वन्ध्य) करना नहीं । अतः प्रसंख्यान व्यर्थ नहीं; किन्तु क्लेशों को दग्ध करने में सार्थक है

फिर शंका होती है कि, प्रसंख्यान रूप अग्नि ही क्लेशों को दग्ध कर देगा तो क्रियायोगद्वारा तनूकरण करने की क्या आवश्यकता है ?

इसका समाधान भाष्यकार करते हैं—तेषामिति । तेषाम्–उन क्लेशों को, तनूकरणात्—तनूकरण (सूक्ष्म) करने से, पुनः—फिर क्लेशैः—क्लेशों से, अपरामृष्टा—अतिरस्कृत हुई, सत्त्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः—प्रकृति-पुरुष के भेद ज्ञान रूप, सूक्ष्मा प्रज्ञा–सूक्ष्म-विषयक ऋतम्भरा-प्रज्ञा, समाप्ताधिकारा–गुणों के कार्यारम्भण रूप अधिकार समाप्ताधिकार होती हुई, प्रतिप्रसवाय–प्रलयभाव के लिये, कल्पिष्यते–समर्थ हो जाती है । अर्थात् निरोध काल में उक्त विवेकख्याति भी नष्ट हो जाती है । इति शब्द सूत्र के व्याख्यान की समाप्ति का सूचक है । भाव यह है कि, क्रियायोग द्वारा क्लेशों को क्षीण किये बिना प्रसंख्यान - रूप विवेकख्याति की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है, तो क्लेशों को दग्ध कौन करेगा ? अर्थात् कोई नहीं । अतः क्रियायोग व्यर्थ नहीं, किन्तु क्लेशों को तनूकरण करने में सार्थक है ।

भाव यह है कि, जैसे अग्निसंबद्ध - बीज, अङ्कुर उत्पन्न करने में असमर्थ है । वैसे ही प्रबल एवं विरोधी क्लेशसंबद्ध चित्त भी विवेकख्याति रूप अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ है । अतः प्रथम क्रियायोग के अनुष्ठान द्वारा क्लेशों को तनूकरण करने से अभ्यास - वैराग्य के अनुष्ठान द्वारा विवेकख्याति उत्पन्न होती है और प्रबल विवेकख्याति दुर्बल क्लेशों को नाश करती है । इस अवस्था में चित्त समाप्ताधिकार होने से अर्थात् गुणों के कार्यारम्भण रूप अधिकार समाप्त होने से विवेकख्याति भी अभ्यास - वैराग्य के अनुष्ठान से निरुद्ध हो जाती है । क्योंकि, विवेकख्याति भी एक प्रकार चित्त की सात्त्विक-परिणाम रूप वृत्ति ही है । इसी निरोध की निरोध समाधि,

अथ के क्लेशाः कियन्तो वेति—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥३॥

क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः ।

निर्बीज समाधि तथा असंप्रज्ञात समाधि आदि संज्ञायें हैं। इसी अवस्था में पुरुष निजरूप में स्थित हो जाता है।

उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ के भेद तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं। उनमें उत्तम अधिकारी को समाधियोग्यता तथा क्लेशतनुता प्रथम से सिद्ध होने से क्लेशों को तनूकरण करने के लिये क्रियायोग का उल्लेख प्रथम पाद में सूत्रकार ने नहीं किया है। क्योंकि, प्रथम पाद उत्तमाधिकारी के लिये है, यह कहा गया है। इति ॥२॥

अग्रिम सूत्र का व्याख्यान करने के लिये भाष्यकार शङ्का उठाते हैं— अथ के क्लेशाः कियन्तो वेति। जिन क्लेशों को उक्त क्रियायोग तनूकरण करता है, वे कौन हैं? और कितने प्रकार के हैं?। शङ्का का उत्तर देते हुए सूत्रकार संख्या सहित क्लेशों के स्वरूप निर्देश करते हैं—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च-क्लेशा इति। अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः—अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये, पंचक्लेशाः—पांच प्रकार के क्लेश हैं। अर्थात् ये पांचों साक्षात् क्लेश - रूप न होने पर भी क्लेश के हेतु होने से क्लेश कहे जाते हैं।

किसी किसी पुस्तक में "पञ्चक्लेशाः" ऐसा पाठ नहीं है, किन्तु "क्लेशाः" इतना ही पाठ है, परन्तु क्लेशों की न्यूनाधिक संख्या के व्यवच्छेद के लिये पञ्च ग्रहण आवश्यक है। इस विचार से मैं ने "पञ्चक्लेशाः" इसी पाठ को उचित समझ कर उल्लेख किया है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं— क्लेशा इति। क्लेशा इति—क्लेश अर्थात्, पंच विपर्यया इत्यर्थः—पांच प्रकार के विपर्यय (मिथ्या) ज्ञान हैं, यह अर्थ हुआ।

यद्यपि पांच क्लेशों में प्रथम जो अविद्या है, वही एक विपर्यय रूप है, अस्मिता आदि चार नहीं। तथापि अस्मिता आदि भी अविद्योपादानक होने से अविद्यारूप ही हैं। क्योंकि, अविद्या सद्भाव के अधीन अस्मितादि का सद्भाव और अविद्यासमुच्छेद के अधीन अस्मितादि का समुच्छेद होता है। अतः विपर्ययरूप अविद्यामूलक होने से अस्मिता आदि चारों भी विपर्यय ही कहे गए हैं।

उन पांचों क्लेशों के संसार के हेतु होने से हेय रूप से प्रतिपादन करते हैं—

ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति ॥ ३ ॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।४।

अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधविक-

---

ते स्पन्दमाना इति। ते - वे अविद्यादि पञ्च-क्लेश, स्पन्दमानाः–उदार अवस्था-वाले होते हुए, गुणाधिकारम्–सत्त्वादि गुणों के कार्य उत्पादन रूप अधिकार को, द्रढयन्ति–दृढ अर्थात् बलवान् करते हैं। परिणामम्–कार्य - रूप परिणाम को, अवस्थापयन्ति–अवस्थापन करते हैं। कार्यकारणस्रोतः–अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार आदि परम्परा से कार्यकारण प्रवाह को, उन्नमयन्ति–उत्पन्न करते हैं। च–और, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा-कर्मों से क्लेश और क्लेशों से कर्म इस प्रकार आपस में एक दूसरे के अनुग्रह के अधीन होकर, कर्मविपाकम्–कर्मों के विपाक (फल) जो जाति, आयु, भोगरूप पुरुषार्थ है उसको, अभिनिर्हरन्ति–निष्पादन करते हैं। इति शब्द सूत्र के व्याख्यान की समाप्ति का सूचक है।

सारांश यह है कि, ये उक्त पञ्चक्लेश उदार अवस्था को प्राप्त होकर, सत्त्व आदि गुणों को कार्य - उत्पत्ति में उन्मुख कर और गुणवैषम्यरूप परिणामद्वारा प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तथा तन्मात्र आदि परम्परा को निष्पादन कर कर्म के फल जन्मादि के हेतु होते हैं। अतः (उक्त अनर्थ परम्परा के हेतु होने से) हेय हैं। इति ॥३॥

अविद्या - मूलक होने से क्लेश हेय हैं, इस आशय से सूत्रकार अस्मितादि चार क्लेशों को अविद्यामूलक प्रतिपादन करते हैं—अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनु-विच्छिन्नोदाराणामिति। प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्–प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार नामक चार अवस्थावाले, उत्तरेषाम्–पूर्व सूत्र - उक्त अविद्या से उत्तर अस्मितादि चार क्लेशों का, क्षेत्रम्–मूल कारण, अविद्या—अविद्या ही है। अर्थात् जैसे व्रीह्यादि धान्य का मूल कारण क्षेत्र (खेत) है, वैसे ही अस्मिता आदि चारो क्लेशों का मूल कारण अविद्या है। अतः अविद्या जैसे हेय है, वैसे ही अस्मितादि भी अविद्या - मूलक होने से हेय ही है।

भाष्यकार सूत्रार्थ को विशद करते हैं—अत्राविद्येति। अत्र–इन पांच क्लेशों में, अविद्या–प्रथम जो अविद्या है, वह, प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्–प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार नामक, चतुर्विधविकल्पानाम्–चार प्रकार के विकल्प रूप, उत्तरेषामस्मितादीनाम्–उत्तर के अस्मिता, राग द्वेष तथा अभिनिवेश रूप चार क्लेशों का, क्षेत्रं प्रसवभूमिः–क्षेत्ररूप प्रसवभूमि (मूल कारण) है। अस्मितादि के

ल्पानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् । तत्र का प्रसुप्तिः ।

चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः । तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः ।

जो प्रसुप्तादि चार अवस्थाभेद हैं, उन प्रत्येक का विवरण भाष्यकार करते हैं—तत्र का प्रसुप्तिः । तत्र—अस्मितादि की प्रसुप्तादि चार अवस्थाओं में, प्रसुप्तिः–प्रसुप्ति, का–कौन है ? अर्थात् प्रसुप्ति किसका नाम है ? प्रसुप्तादि अवस्था - रूप कार्य से क्लेशों का अनुमान होता है । जब तक क्लेशों का प्रसुप्तादि अवस्था-रूप कार्य न बताया जाय तब तक इनके सद्भाव में प्रमाण नहीं । अतः प्रसुप्तादि का स्वरूप कहना चाहिये । यह प्रश्न कर्त्ता का अभिप्राय है ।

उत्तर देते हैं—चेतसीति । चेतसि चित्त में, शक्तिमात्रप्रतिष्ठानाम्–शक्तिमात्र से प्रतिष्ठित अर्थात् अनागत अवस्था से अवस्थित अस्मितादि का जो, बीजभावोपगमः–बीजरूप अपना कार्यजनन सामर्थ्य से युक्त होकर रहना वह प्रसुप्ति कहा जाता है ।

प्रथम पाद में प्रतिपादित विदेह तथा प्रकृतिलय नामक योगियों के चित्त में जो अस्मितादि क्लेश हैं, ये प्रसुप्त अवस्था में हैं । क्योंकि, उस अवस्था में अस्मिता आदि अपना कार्य (जो क्लेश देना है उसको) नहीं करते हैं, और जब अवधि समाप्ति के बाद उत्तेजक मिलते हैं तब अस्मितादि उद्बुद्ध होकर अपना कार्य (क्लेश देना) करने लगते हैं । इसी प्रकार व्युत्थित चित्तवाले पुरुषों के चित्त में भी जो अस्मितादि रहते हैं, वे भी प्रसुप्त अवस्था में अपना कार्य नहीं करते हैं, और जब किसी उद्-बोधक से उद्बुद्ध होते हैं, तब ही क्लेश देते हैं, एवं अस्मितादि में से जो उद्बुद्ध होते है, वे ही क्लेश देते हैं । अन्य जो सुप्त हैं वे नहीं । अतएव एक समय में प्रायः एक ही क्लेश होता है, अन्य नहीं ।

अस्मितादि क्लेशों की प्रसुप्त अवस्था का प्रतिपादन का प्रसंगवश प्रबोध (जाग्रत्) अवस्था का भी भाष्यकार प्रतिपादन करते हैं—तस्येति । तस्य—प्रसुप्त अस्मितादि क्लेशों का, प्रबोधः-जाग्रत होना, आलम्बने—अपने अपने विषय में, सम्मुखीभावः—सम्मुख (अभिव्यक्त) होना है । अर्थात् जैसे विषय को ग्रहण न करना क्लेशों का सोना है, वैसे ही विषय को ग्रहण करने लगना उनका जागना है ।

विवेकख्यातियुक्त योगियों के चित्त में जो अस्मितादि क्लेश विद्यमान हैं, वे प्रसुप्त अवस्थाक नहीं, किन्तु दग्धबीजभावारूप पञ्चमी अवस्थाक हैं । अतः विदेह प्रकृतिलयों के तथा साधारण व्युत्थित चित्तवाले पुरुषों के अस्मितादि क्लेश प्रबुद्ध होकर जैसे उनको क्लेश देते हैं, वैसे विवेकख्यातियुक्त योगियों को नहीं देते हैं । इस बात

प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति। अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते।

तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति

को भाष्यकार कहते हैं—प्रसंख्यानवत इति। दग्धबीजस्य प्रसंख्यानवतः—जिनके क्लेश के बीज दग्ध हो गये हैं ऐसे विवेकज्ञानवाले योगियों के चित्त में रहे हुए अस्मितादि क्लेश का, सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने—विषयरूप आलम्बन के सम्मुख होने पर भी, असौ—वह प्रबोध (जागरण), न अस्ति—नहीं होता है। क्योंकि, दग्धबीजस्य—जला हुआ बीज का, कुतः—कहां से, प्ररोहः—प्ररोह (अंकुर, उत्पत्ति) हो सकता है ? क्लेशों के अप्ररोह में शास्त्रप्रसिद्ध चरम देह को प्रमाण देते हैं—अत इति। अतः—विवेकख्याति द्वारा क्लेशों के दाह होने से यह योगी, क्षीणक्लेशः कुशलः चरमदेहः—क्षीणक्लेश, कुशल तथा चरम देह, इति उच्यते—कहा जाता है। भाव यह है कि, यदि योगी के क्लेशों का पुनः प्ररोह हो तो शास्त्र में उसको जो चरम (अन्तिम) देहवाला कहा है, सो असंगत हो जायगा। क्लेशों की जो दग्धबीजभावरूपा पञ्चमी अवस्था है उसकी गणना सूत्र में नहीं किया है। उसमें कारण बताते हैं—तत्रैवेति। सा—वह, दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था—दग्धबीजभावा नामक क्लेशों की पञ्चमी अवस्था, तत्रैव—विवेकज्ञानवाले योगी के चित्त में ही है, न अन्यत्र—विदेह प्रकृतिलय नामक योगियों के चित्त में तथा अन्य किसी पुरुषों के चित्त में नहीं, इति—यह सिद्ध हुआ। भाव यह है कि, दग्धबीजभावारूप पञ्चमी अवस्थावाले जो अस्मितादि क्लेश हैं वे अविद्यामूलक और हेय न होने से उनकी गणना सूत्रकार ने प्रकृत सूत्र में नहीं की है।

शंका होती है कि, सिद्धान्त में सत्कार्यवाद के स्वीकार होने से किसी पदार्थ की उत्पत्ति, नाश तो माना जाता है नहीं किन्तु आविर्भाव-तिरोभाव माना जाता है, तो योगियों के चित्त में जो दग्ध-अस्मितादि क्लेश हैं, उनका अत्यन्त नाश तो हुआ नहीं है, किन्तु तिरोहित (सुप्त) रूप से वे विद्यमान हैं, तो पुनः उद्बुद्ध होकर वे क्लेश क्यों नहीं देते हैं ?

अब इस शंका का उत्तर भाष्यकार देते हैं—सतामिति। तदा—विवेक-ज्ञानकाल में, योगी के चित्त में, सतां क्लेशानाम्—विद्यमान क्लेशों का, बीजसामर्थ्यम्—क्लेश-रूप अंकुर उत्पन्न करने का सामर्थ्य, दग्धम्—दग्ध (नष्ट) हो गया है, इति—इस प्रकार से, विषयस्य—विषय का, सम्मुखीभावेऽपि सति—सन्निधान

न भवत्येषां प्रबोध इति ।

उक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च ।

तनुत्वमुच्यते—प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति

होने पर भी, एषाम्–इन क्लेशों का, प्रबोधः–पुनः प्रबोध, न भवति–नहीं होता है। भाव यह है कि, यद्यपि क्लेश विद्यमान हैं, पर प्रसंख्यान-अग्नि के द्वारा उनका बीज-भाव नष्ट हो जाने से पुनः प्ररोह नहीं होता है।

प्रसुप्त-अवस्था के निरूपण तथा दग्ध-बीजभाव अवस्थाक क्लेशों का अप्ररोह के निरूपण का उपसंहार करते हुए शिष्य को सावधान करने के लिये क्लेशों की तनु-अवस्था के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—उक्तेति। प्रसुप्तिः—विदेह तथा प्रकृतिलय नामक योगियों के तथा व्युत्थित चित्तवाले पुरुषों के क्लेशों की प्रसुप्तिअवस्था, उक्ता–कही गयी, च–और, दग्धबीजानाम्—दग्धबीजभाव नामक पञ्चक अवस्थाक विवेक-ज्ञान युक्त योगियों के क्लेशों का, अप्ररोहः—अप्ररोह भी कहा था, अब, तनुत्वम्—क्लेशों की तनुता (तनु-अवस्था), उच्यते–कही जाती है—प्रतिपक्षेति। प्रतिपक्ष-भावनोपहताः—अपना प्रतिपक्ष जो तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान रूप क्रिया-योग उसकी भावना से उपहत हुए, क्लेशाः–अस्मितादि क्लेश, तनवः—सूक्ष्म (क्षीणबल), भवन्ति–हो जाते हैं। अर्थात् जब क्लेशों के विरोधी तप आदि क्रिया-योग के अनुष्ठान से अस्मितादि क्लेश क्षीणबल हो जाते हैं तब उनकी तनु अवस्था कही जाती है। अथवा, प्रतिपक्षभावनोपहताः—अविद्या का प्रतिपक्ष सम्यक्ज्ञान, अस्मिता का प्रतिपक्ष विवेकज्ञान, रागद्वेष का प्रतिपक्ष तटस्थता तथा अभिनिवेश का प्रतिपक्ष अहन्ता-ममता बुद्धि की निवृत्ति, इन सबकी भावना करने से उपहत हुए क्लेशाः—अविद्यादि पांचों क्लेश, तनवः–कृशित, भवन्तिः—हो जाते हैं। अर्थात् अविद्यादि पांचों क्लेशों के विरोधी क्रमशः सम्यक्-ज्ञान, भेदज्ञान, ताटस्थ्य तथा अहन्ता, ममता का त्याग है। उनकी भावना (अनुष्ठान) करने से जब क्लेश कृशता को प्राप्त होते हैं, तब उनकी तनु-अवस्था कही जाती है।

क्रमप्राप्त विच्छिन्न अवस्था को भाष्यकार दिखाते हैं – तथेति तथा–वैसे ही जो क्लेश, विच्छिद्य-विच्छिद्य—बीच-बीच में विच्छिन्न-विच्छिन्न होकर, तेन-तेन आत्मना—तत्-तत् रूप से, पुनः-पुनः—बारंबार, समुदाचरन्ति—आविर्भूत होते हैं, इति—इसलिये वे, विच्छिन्नाः—विच्छिन्न कहे जाते हैं। अर्थात् राग (प्रेम) के आविर्भाव काल में द्वेष (क्रोध) का आविर्भाव न होने से जो अदृश्यमान द्वेष

विच्छिन्नाः । कथम् । रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् । न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरित ।

रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति । नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रिषु विरक्तः । किंतु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति । स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति ।

वह विच्छिन्न कहा जाता है । इसी प्रकार एक विषय में उत्कट राग होने से जो अन्य विषय में अनुत्कट (अदृश्यमान) राग वह भी विच्छिन्न कहा जाता है ।

शंका करते हैं— कथमिति । कथम्—किस प्रकार से विच्छेद होता है । अर्थात् विच्छेद होने में प्रमाण क्या है ?

उत्तर देते हैं—रागकाल इति । रागकाले—किसी विषय में प्रेम के समय, क्रोधस्य—क्रोध के (द्वेष के), अदर्शनात्—अदर्शन से, विच्छेद का अनुमान होता है। अर्थात् विच्छेद के सद्भाव में अनुमान प्रमाण है । हेतु देते हुए इसी बात को स्पष्ट करते हैं—न हिति । हि—क्योंकि, रागकाले—किसी विषय में प्रेम के समय, क्रोधः-क्रोध (द्वेष), न समुदाचरति–आविर्भूत हुआ नहीं देखा जाता है । अर्थात् यदि क्रोध का विच्छेद न होता तो रागकाल में भी देखा जाता, और देखा तो नहीं जाता है । अतः प्रतीत होता है कि उस समय क्रोध विच्छिन्न है । क्लेशों के कालिक विच्छेद को दिखाकर दैशिक विच्छेद को दिखाते हैं—रागश्चेति च—और, रागः—राग, क्वचित्—किसी एक विषय में, दृश्यमानः—देखा जाता हो तो, विषयान्तरे—अन्य विषय में, न अस्ति इति न—नहीं है ऐसा नहीं किन्तु अन्य विषय में भी है ही । क्योंकि— नैकस्यामिति । चैत्रः—चैत्र नामक पुरुष, एकस्यां स्त्रियाम्—एक किसी स्त्री रूप विषय में, रक्तः—रक्त (प्रीतियुक्त) है, अतः, अन्यासु स्त्रीषु—अन्य स्त्री रूप विषय में, विरक्तः— विरक्त है, इति–यह संभव, न-नहीं है । किन्तु—किन्तु, तत्र—जिसमें रक्त है उस स्त्री में, रागः—राग उत्कट होने से, लब्धवृत्ति—लब्धवृत्ति (उदार) है , और अन्यत्र तु—अन्य स्त्री में, भविष्यद्वृत्तिरिति—भविष्यद्वृत्ति (विच्छिन्न) है । हि—क्योंकि, सः—वह भविष्यद् वृत्ति-राग, तदा–लब्धवृत्ति रागकाल में, प्रसुप्ततनुविच्छिन्नः-प्रसुप्त, तनु तथा विच्छिन्न रूप से, भवति—विद्यमान है ।

यहां पर इतना विशेष और भी समझ लेना चाहिये कि, राग के आविर्भाव काल में जो अनुत्कट क्रोध है, वह विजातीय राग की उदारता के कारण विच्छिन्न है और एक विषयक राग के आविर्भाव काल में अन्य विषयक जो अनुत्कट राग है, वह सजातीय राग की उदारता के कारण विच्छिन्न है । इसी प्रकार एक क्लेश के उदार

विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इति। उच्यते—सत्यमेवैतत्। किं तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति।

काल में अन्य सर्व क्लेश कहीं प्रसुप्त, कहीं तनु तथा कहीं विच्छिन्न अवस्था में विद्यमान रहते हैं।

क्रमप्राप्त उदार के स्वरूप दिखाते हैं—विषय इति। यः—जो क्लेश, विषये—अपने विषय में, लब्धवृत्तिः—लब्धवृत्ति अर्थात् उत्कट रूप से बाहर अपने कार्य में तत्पर होकर भासमान है, सः—वह, उदारः—उदार कहा जाता है।

शंका होती है कि, उदार अवस्थाक जो अस्मितादि हैं, वे ही पुरुषों को क्लेश देते हैं। अतः वे क्लेश शब्द से व्यवहृत हों, पर जो प्रसुप्त, तनु तथा विच्छिन्न अवस्थाक अस्मितादि हैं, वे तो पुरुषों को क्लेश देते नहीं हैं, तो वे क्लेश शब्द से व्यवहृत कैसे होते हैं?

इसका उत्तर देते हैं—सर्व इति। एते सर्वे एव—प्रसुप्त, तनु तथा विच्छिन्न रूप तीनों अवस्थाक अस्मितादि जब उदारता का प्राप्त होते हैं तब, क्लेशविषयत्वम्—अपनी क्लेश-विषयता को, नातिक्रामन्ति—नहीं छोड़ते हैं। अत एव ये सबके सब क्लेश कहलाते हैं। क्लेश रूप से सबको एक मान कर शंका करते हैं—कस्तर्हीति। तर्हि तो, विच्छिन्न—विच्छिन्न, प्रसुप्तः—प्रसुप्त, तनुः—तनु, वा—अथवा, उदारः—उदार, क्लेशः—क्लेश, कः—कौन है? अर्थात् जब सब ही प्रसुप्तादि पुरुषों को क्लेश ही देते हैं तो इनका प्रसुप्तादि भेद कथन करने का क्या प्रयोजन है? सबका व्यवहार क्लेश शब्द से ही क्यों नहीं किया जाय?। अर्धाङ्गीकार करते हुए समाधान करते हैं—उच्यत इति उच्यते—कहा जाता है, सुनो, एतत्—ये प्रसुप्तादि सभी क्लेश होते हैं, अतः इनको क्लेश कहना चाहिये। यह आपका कथन, सत्यमेव—सत्य ही है, किन्तु परन्तु एतेषां विशिष्टानाम् एव—इन विशिष्टों का ही, विच्छिन्नादित्वम्—विच्छिन्न आदि नाम हैं। अर्थात् यद्यपि सामान्यरूप से सभी प्रसुप्तादि को क्लेश ही कहना उचित है, तथापि पूर्वोक्त विशेष विशिष्ट होने से प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार रूप विशेष नाम से इनका व्यवहार होता है। अतः इन सभी अवस्थाक अस्मितादि क्लेश हैं। अत एव सभी हेय हैं, यह सिद्ध हुआ। उदार अवस्था के हान के लिये कारण बताते हैं—यथैवेति। प्रसुप्तादि चार-चार विभागों में विभक्त जो अस्मितादि क्लेश हैं, वे, यथैव—जैसे, ही प्रतिपक्षभावनातः—पूर्वोक्त तप आदि क्रियायोग-रूप प्रतिपक्ष (विरोधी) भावना से, निवृत्तः—निवृत्त

सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात्? सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यासप्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति ॥ ४ ॥

होते हैं, तथैव—वैसे ही, स्वव्यञ्जकाङ्कनेन—अपने उत्पादक संस्कार से अर्थात् विषयासक्ति, विषयचिन्तन आदि उत्तेजक से, अभिव्यक्त इति—अभिव्यक्त हो जाते हैं। अर्थात् पुनः उदार अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। अतः योगियों को सावधानी के साथ क्रियायोग का अनुष्ठान करते रहना चाहिये और विषयचिन्तन आदि कभी भी न करना चाहिये।

अविद्या से उत्तर के अस्मितादि क्लेशों की उत्पत्ति होती है, यह बात प्रकृत सूत्र से कही गई। उस पर शंका होती है कि, अविद्या से क्लेशों की उत्पत्ति भले हो, परन्तु अविद्या की निवृत्ति से उन (क्लेशों) की निवृत्ति कैसे? क्योंकि, कुविन्द (तन्तुवाय) से पट की उत्पत्ति होने पर भी कुविन्द के निवृत्त होने से पट की निवृत्ति नहीं देखी गई है?

इसका उत्तर देते हैं—सर्व इति। अमी सर्वे एव क्लेशाः-ये अस्मितादि सभी क्लेश, अविद्याभेदाः-अविद्या के ही भेद हैं। अर्थात् अविद्योपादानक होने से अविद्या के विना नहीं रह सकते हैं। अतः अविद्या की निवृत्ति होने से इन क्लेशों की भी निवृत्ति हो जाती है, और पट का तो कुविन्द निमित्त-कारण है; उपादान कारण नहीं। अतः कुविन्द के निवृत्त होने पर भी पट की निवृत्ति नहीं होती है। इस बात को न समझ कर प्रश्न करते हैं—कस्मादिति। कस्मात्-किस कारण से अस्मितादि सभी क्लेश अविद्या के ही भेद हैं? उत्तर देते हैं—सर्वेष्विति। सर्वेषु-सर्व अस्मितादि क्लेशों में, अविद्या एव-अविद्या ही उपादान होने से अनुगत रूप से, अभिप्लवते—परिणत होती है।

इसी बात को अन्वय-व्यतिरेक से स्फुट करते हैं—यदविद्ययेति। यद् वस्तु-जो क्लेश, अविद्यया-अविद्या से, आकार्यते-उपस्थित होते हैं, तदेव-वही, क्लेशाः- क्लेश, अनुशेरते-अविद्यानुगत होते हैं और, विपर्यासप्रत्ययकाले-प्रतिभास काल में, उपलभ्यन्ते-भासते हैं, च-और, क्षीयमाणाम् अविद्याम् अनु-अविद्या के क्षीण (नाश) होने के पश्चात्, क्षीयन्ते-क्षीण (नष्ट) हो जाते हैं। अर्थात् अविद्या के सद्भाव में क्लेश का सद्भाव और अविद्या के अभाव में क्लेश का भी अभाव। इस प्रकार अविद्या के अन्वयव्यतिरेकानुसारी होने में सर्व अस्मितादि क्लेश अविद्यास्वरूप ही हैं। क्योंकि, अविद्यास्वरूप होने से ही ये क्लेश विपर्ययज्ञान-

तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते—

काल में उपलब्ध होते हैं और सम्यक् ज्ञान से विपर्यय ज्ञान के नाशकाल में नष्ट हो जाते हैं।

भाव यह है कि अस्मिता आदि प्रत्येक क्लेशों की, प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार तथा दग्धबीजभावरूप पांच-पांच अवस्थायें हैं। उनमें प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार रूप चार अवस्थावाले जो अस्मितादि हैं, वे ही अविद्यामूलक हैं, और जो दग्धबीजभावरूप पञ्चमी अवस्थावाले अस्मितादि हैं, ये अविद्यामूलक नहीं। अत एव सूत्रकार ने प्रसुप्तादि चार ही अवस्थाक अस्मितादि को अविद्या मूलक कहते हुए हेय कहा है। अतः सूत्रकार के कथन में न्यूनता नहीं। क्योंकि, जो क्लेश अविद्यामूलक होने से हेय हैं, उन्हीं का प्रतिपादन करने के लिये यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

यद्यपि क्रियायोगद्वारा संपादित तनु-अवस्थाक अस्मितादि हेय नहीं, किन्तु उपादेय हैं। अतः उनको अविद्यामूलक सूत्रकार का कहना समीचीन नहीं, तथापि असंप्रज्ञात-समाधियुक्त योगियों के लिये ये भी हेय ही हैं। अतः उनको अविद्यामूलक सूत्रकार का कहना समीचीन ही है, असमीचीन नहीं। और क्रियायोग द्वारा क्लेशों में तनुता लाने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि, जब तक क्लेशों में तनुता लाने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि, जब तक क्लेश तनुभाव को प्राप्त न हों, तब तक परवैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है और जब तक परवैराग्य की प्राप्ति न हो तब तक प्रसंख्यान-अग्नि की निष्पत्ति नहीं हो सकती है एवं जब तक प्रसंख्यान-अग्नि की निष्पत्ति न हो तब तक क्लेशों का दाह होना असंभव है। अतः क्रियायोग द्वारा क्लेशों को तनु करने की आवश्यकता है, उत्पादन के लिये नहीं।

श्रीवाचस्पति मिश्र ने निम्न लिखित श्लोक में उक्त प्रसुप्तादि अवस्थाओं का संग्रह इस प्रकार किया है—

> प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां, तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
> विच्छिन्नोदाररूपाश्च, क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥

प्रसुप्त अवस्था क्लेश तत्त्वलीनों (विदेहप्रकृतिलयों) के हैं, तनु अवस्थाक क्लेश विवेकख्यातियुक्त योगियों के हैं और विच्छिन्न तथा उदार अवस्थाक क्लेश विषयसंगी पुरुषों के हैं। इति ॥४॥

पांच क्लेशों में प्रथम अविद्या है वह यद्यपि अनन्त प्रकार की है तथापि क्लेश का हेतु जो अविद्या वह चार ही प्रकार की है। अतः उन चारों के स्वरूप का निर्देश करनेवाले सूत्र की अवतरणिका भाष्यकार रचते हैं—तत्राविद्येति। तत्र—उक्त पांच क्लेशों में, अविद्यास्वरूपम्-प्रथम जो अविद्या है उसका स्वरूप, उच्यते-कहा

अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः । तद्यथा—ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः; अमृता दिवौकस इति । तथाऽशुचौ परमबीभत्से कार्ये

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥

जाता है—अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्येति । अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु—अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म पदार्थों में क्रमशः जो, नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिः—नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मख्याति (आत्मबुद्धि) वह अविद्या—अविद्या कही जाती है। अर्थात् अनित्य स्वर्गादि प्रपञ्च में नित्य-बुद्धि अशुचि शरीरादि में शुचि-बुद्धि, दुःखरूप विषयभोगों में सुखबुद्धि तथा अनात्म—देह-इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि मिथ्याज्ञान रूप अविद्या कहलाती है।

सूत्र का विवरण भाष्यकार कहते हैं—अनित्ये कार्य इति। अनित्ये कार्ये—अनित्य कार्यरूप पृथिव्यादि प्रपञ्च में जो, नित्यख्यातिः—विपर्ययरूप नित्यबुद्धि, तत्—वह अविद्या कही जाती है। यथा—जैसे, पृथिवी—पृथिवी, ध्रुवा—नित्य है, सचन्द्रतारका—चन्द्र तथा नक्षत्र सहित, द्यौः—स्वर्ग, ध्रुवा—नित्य है, एवं दिवौकसः—स्वर्गवासी देवता, अमृताः—अमृत अर्थात् नित्य हैं, इति—यह प्रथम प्रकार की अविद्या कही जाती है।

भाव यह है कि, कुछ लोग पञ्चभूतों को नित्य मान कर उनसे लय होने के लिये उनकी उपासना करते हैं। कुछ लोग सूर्य चन्द्र, तारा तथा द्युलोक को नित्य मान कर उनकी प्राप्ति के लिये धूमादि मार्ग की उपासना करते हैं और कुछ लोग स्वर्ग के देवों को अमर मान कर "अपाम सोमममृता अभूम" इसी श्रुति के कथनानुसार अमरत्व—प्राप्ति के लिये सोमरस का पान करते हैं। इन सबको अनित्य में नित्यख्याति रूप प्रथम प्रकार की अविद्या ही समझना चाहिये।

दूसरे प्रकार की अविद्या का स्वरूप भाष्यकार दिखाते हैं—तथेति। तथा—वैसे ही अशुचौ—अपवित्र, परमबीभत्से—अत्यन्त विकृत पूयशोणितपूरित, काये—शरीर में जो पवित्र तथा रम्य बुद्धि वह दूसरे प्रकार की अविद्या है। कायबीभत्सता में वैयासिकी गाथारूप स्व-उक्ति को प्रमाण देते हैं—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥

इत्यशुचौ शरीरे शुचिख्यातिर्दृश्यते ।

नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसम्बन्धः । भवति

स्थानात्–मल-मूत्र आदि दुर्गन्ध युक्त अत्यन्त अपवित्र माता के उदर रूप स्थान होने से, बीजात्–माता–पिता के रज–वीर्य रूप अत्यन्त मलिन बीज अर्थात् उपादान कारण होने से, उपष्टम्भात्–भुक्त, पीत अन्न–जलादि के परिपाक जन्य अपवित्र रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि–मज्जा तथा वीर्यरूप सप्त धातुरूप उपष्टम्भ अर्थात् आश्रय होने से, निःस्यन्दात्–मल–मूत्र तथा प्रस्वेद (पसीना) आदि अत्यन्त अपवित्र वस्तुओं के प्रस्रवण (निकलने) से, तथा निधनादपि—मरण से भी अर्थात् प्राण-वियोग के पश्चात् चाहे वेदपाठी श्रोत्रिय का भी शरीर क्यों न हो, उसका स्पर्श करने पर स्नानविधान होने से, एवं, आधेयशौचत्वात्—जैसे कामिनी स्त्री अपने अपवित्र शरीर में अङ्गरागादि के द्वारा सुगन्धिता की कल्पना करती है वैसे ही इस शरीर में भी मृज्जलादि के द्वारा पवित्रता की कल्पना (भावना) करने से अर्थात् वह कल्पित पवित्रता वस्तुतः अपवित्रता ही होने से, पण्डिताः–तत्त्ववेत्ता पुरुष, कायम्–इस शरीर को, अशुचिम्—अपवित्र ही, विदुः—कहते हैं । इत्यशुचौ शरीरे शुचि-ख्यातिर्दृश्यते । इति—इस प्रकार स्थान, बीज, उपष्टम्भ, निःस्यन्द, निधन तथा आधेयशौचत्वरूप हेतुओं से, अशुचौ शरीरे–अपवित्र शरीर में, शुचिख्यातिः—पवित्र बुद्धि, दृश्यते–देखी जाती है । अतः यह भ्रान्तिज्ञान रूप अविद्या है ।

इसी अशुचि में शुचिख्याति को कविकृत उपमा-व्यवहारप्रदर्शन के द्वारा स्पष्ट करते हैं—नवेवेति । इयं कन्या कमनीया ज्ञायते–यह स्त्री ऐसी कमनीय प्रतीत होती है कि, नवशशाङ्कलेखा इव–मानो एक नूतन चन्द्रमा की रेखा ही है, मध्व-मृतावयवनिर्मिता इव–मानो ब्रह्मा के द्वारा मधु तथा अमृत के अवयवों से निर्मित हुई है तथा, चन्द्रं भित्त्वा निःसृता इव–अभी तुरन्त चन्द्रमण्डल को भेद करके निकली हुई है, नीलोत्पलपत्रायताक्षी–नील-कमल दल के समान विशाल नयनों से युक्त, हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्याम्–हाव-भावगर्भित नयन-कटाक्ष के द्वारा, जीव-लोकम्–सर्व जीवों को मानो, आश्वासयन्तीव–आश्वासन (सान्त्वना) दे रही है कि—तुम लोग दुःख से न डरो, मैं तुम सबको सदा सुखी रखूंगी, इति–इस प्रकार-कस्य–किस दुर्गन्ध-पूरित अशुचि-शरीर का, केन–किस पूर्वोक्त मधु, अमृत, चन्द्र-रेखादि उपमा के साथ, अभिसम्बन्धः–सम्बन्ध है ? अर्थात् किसीका किसी के साथ

चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति ।

एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः । तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति-परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । (यो. सू. -१५) इति । तत्र सुखख्यातिरविद्या । तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु ।

भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्या-

नहीं, केवल कल्पना मात्र है ? च-फिर भी, एवम्-इस प्रकार, अशुचौ-अपवित्र उक्त कन्या (स्त्री) के शरीर में, शुचिविपर्यासप्रत्ययः-पवित्र-विषयक विपर्यय (मिथ्या) ज्ञान, भवति-होता है. इति-अतः यह ज्ञान दूसरे प्रकार की अविद्या ही है।

उक्त युक्ति का अन्य स्थल में भी अतिदेश करते हैं—एतेनेति । एतेन-अशुचि स्त्रीशरीर में शुचिख्याति के प्रदर्शन से, अपुण्ये-अपुण्यरूप पशुहिंसादि में जो मीमांसकों को, पुण्यप्रत्ययः-पुण्यबुद्धि, तथैव-वैसे ही, अनर्थे-अर्जन, रक्षण आदि अति दुःख जनक होने से अनर्थरूप धन आदि में जो, अर्थप्रत्ययः-अर्थ-बुद्धि सबको हो रही है, वह भी मिथ्याज्ञान रूप अविद्या ही है, यह भी, व्याख्यातः-व्याख्यात हो गया । क्योंकि, ये सब भी निन्दित होने से अशुचि रूप ही हैं ।

तीसरे प्रकार की अविद्या का स्वरूप भाष्यकार दिखाते हैं—तथेति । तथा-वैसे ही, दुःखे विषय-भोग-रूप दुःख में जो, सुखख्यातिम्,सुखबुद्धि वह भी एक प्रकार की अविद्या ही है । इस बात को स्वयं सूत्रकार-"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (यो. सा. २. सू. १५), इति-इस सूत्र से, वक्ष्यति-कहेंगे । अतः यहां इसके विशेष व्याख्यान की आवश्यकता नहीं है । संक्षेप में यहां-तत्रेति । तत्र-विषय-भोग-रूप दुःख में जो, सुखख्यातिः-सुखबुद्धि वह भी, अविद्या-तीसरे प्रकार की अविद्या है, इतना ही कहना पर्याप्त है । चौथे प्रकार की अविद्या का स्वरूप भाष्यकार दिखाते हैं । तथेति । तथा-वैसे ही, अनात्मनि-आत्म भिन्न, बाह्योपकरणेषु-बाह्य साधन, चेतनाचेतनेषु-स्त्री, पुत्र, भृत्यादि चेतन पदार्थों में एवं शय्या, आसन, गृह, धनादि अचेतन पदार्थों में जो, आत्मख्यातिः-आत्मबुद्धि आत्म प्रसिद्ध वा-अथवा, भोगाधिष्ठाने-भोग के अधिष्ठान, शरीरे-शरीर में जो आत्मबुद्धि, वा-अथवा, पुरुषोपकरणे-पुरुष के सुखदुःख साक्षात्कार रूप भोग के साधन, अनात्मनि-आत्मभिन्न, मनसि-मन में जो, आत्मख्यातिः-आत्मबुद्धि; ये सब भी चतुर्थ प्रकार की अविद्या ही हैं ।

तिरिति । तथैतदत्रोक्तम्—व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनु नन्दत्यात्मसंपदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्ध इति ।

एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति ।

स्व - उक्ति में आचार्य - संमति प्रदर्शित करते हैं—तथैतदिति । भाष्यकार कहते हैं कि, जैसा मैंने, एतत्–यह अविद्या का स्वरूप कहा है, तथा–वैसे ही, अत्र–इस विषय में पञ्चशिखाचार्य ने भी, उक्तम्-कहा है—व्यक्तमव्यक्तमिति । अर्थात् व्यक्तम्—पूर्वोक्त चेतन पुत्रादि, वा–अथवा, अव्यक्तम्–अचेतन धनादि अनात्मपदार्थों को, आत्मत्वेन अभिप्रतीत्य–-आत्मरूप से ग्रहण करके, तस्य–-उसकी, संपदम्–संपत्ति को, आत्मसंपदम्–अपनी संपत्ति, मन्वानः–मानने के, अनु–पश्चात् जो, नन्दति–आनन्दित होता है, और, तस्य–उसकी, व्यापदम्–विपत्ति को, आत्मव्यापदम्–अपनी विपत्ति, मन्वानः–मानने के, अनु–पश्चात् जो, शोचति–शोक करता है, सः–वह, सर्वः–सब, अप्रतिबुद्धः–अज्ञानी ही है, अर्थात् विपर्ययज्ञानरूप अविद्यायुक्त ही है ।

शंका होती है कि, दिङ्मोह, अलातचक्र तथा शुक्ति - रजत आदि अनन्त प्रकार की भ्रमज्ञानरूप अविद्या का निर्देश सूत्रकार ने क्यों किया है ?

इसका समाधान भाष्यकार करते हैं—एषेति । एषा–यह, चतुष्पदा–चार प्रकार की जो, अविद्या–अविद्या है वही, अस्य क्लेशसन्तानस्य–इस राग - द्वेष आदि क्लेशप्रवाह का, च–और, सविपाकस्य–धर्म, अधर्मजन्य सुख - दुःखादि सहित, कर्माशयस्य–राग - द्वेषजन्य धर्म - अधर्म का, मूलम्–मूल कारण, भवति–होती है । अर्थात् यद्यपि पूर्वोक्त भेद से अविद्या अनन्त प्रकार की है तथापि जन्ममरणादि संसार के बीजभूत जो अविद्या वह चार ही प्रकार की है ।

शंका होती है कि, अविद्या यह एक समस्त पद है । संमिलित पद का नाम समास है । वह संक्षेपतः पांच प्रकार का है—केवल - समास, अव्ययीभावसमास, तत्पुरुषसमास, बहुव्रीहिसमास तथा द्वन्द्वसमास । उनमें से अविद्या शब्द में केवल-समास तथा द्वन्द्वसमास की संभावना ही नहीं है । पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभावसमास की भी संभावना नहीं है । क्योंकि अव्ययीभावसमास मानने पर "मक्षिकाणामभावोऽमक्षिकम्" के समान "विद्यानामभावोऽविद्यम्" ऐसा नपुंसकलिङ्ग, एकवचन तथा ह्रस्व होना चाहिये, सो है नहीं । साथ ही मक्षिका प्रतियोगिक अत्यन्ताभाव के समान विद्या प्रतियोगिक अत्यन्ताभाव क्लेश - रूप संसार का हेतु ही नहीं । यदि उत्तर

तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्। यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः। यथा चागोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं, किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्। एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः, किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥ ५ ॥

पदार्थ प्रधान तत्पुरुषसमास माना जाय, तो उसकी भी संभावना नहीं है। क्योंकि, तत्पुरुषसमास मानने पर "न राजपुरुषः इति अराजपुरुषः।" राजपुरुष प्रतियोगिक अन्योन्याभाव के समान "न विद्या इति अविद्या।" विद्या प्रतियोगिक अन्योन्याभाव अर्थ होगा और विद्या - प्रतियोगिक अन्योन्याभाव भी क्लेशरूप संसार का हेतु नहीं। अब रहा अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास, तो उसका भी यही हाल है। क्योंकि, "अविद्यमाना मक्षिका यस्मिन् इति अमक्षिको देशः" के समान "अविद्यमाना विद्या यस्याम् इति अविद्या"। इस प्रकार विद्या विहीन कोई अन्य पदार्थ लिया जायगा। परन्तु वह भी क्लेश - रूप संसार का हेतु नहीं। किसी प्रकार क्लेश का हेतु मानने पर विद्यावृत्तिनिरोध-रूप असंप्रज्ञात - समाधिनिष्ठ योगियों को भी पुनः क्लेशापत्ति दोष होगा। अतः अविद्या शब्द का अर्थ क्या है, जो क्लेश रूप संसार का हेतु होने से क्लेश कहा जाता है?

इस शंका का उत्तर भाष्यकार देते हैं---तस्याश्चेति। तस्याश्च--उस अविद्या के, सतत्त्वम्--स्वरूप को, अमित्रागोष्पद्वत्--अमित्र तथा अगोष्पद के समान, वस्तु-भाव पदार्थ ही, विज्ञेयम्--समझना चाहिये। यथा--जैसे, अमित्रः--अमित्र, न मित्राभावः--न मित्राभाव है और न मित्रमात्रम्--न मित्रमात्र ही है, किन्तु--परन्तु, तद्विरुद्धः--मित्र विरुद्ध, सपत्नः--शत्रु है, च--और, अगोष्पदम्--अगोष्पद, न गोष्पदाभावः--न गोष्पदाभाव है और, न गोष्पदमात्रम्--न गोष्पदमात्र ही है, किन्तु--परन्तु, ताभ्याम्--उन दोनों से, अन्यत्--अन्य, वस्त्वन्तरम्--दूसरी वस्तु, देश एव--विपुल देश ही है, एवम्--इसी प्रकार, अविद्या--अविद्या भी, न प्रमाणम्--न प्रमाण-रूप तत्त्वज्ञान है और, न प्रमाणाभावः--न तत्त्वज्ञानाभाव ही है, किन्तु--परन्तु, विद्याविपरीतम्--तत्त्वज्ञान से विरुद्ध, ज्ञानान्तरम्--दूसरा मिथ्याज्ञान ही, अविद्या--अविद्या है, इति--ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् अमित्र शब्द से जैसे नञ् का अर्थ विरुद्ध होने से मित्रविरुद्ध शत्रु रूप अर्थ का बोध होता है तथा अगोष्पद शब्द से गोखुर - विरुद्ध विशाल देश का बोध होता है, वैसे ही अविद्या शब्द से भी विद्याविरुद्ध मिथ्याज्ञान का बोध होता है, ऐसा समझना चाहिये।

भाव यह है कि, लोकाधीन शब्दार्थ - संबन्ध निश्चय किया जाता है। लोक में अमित्र तथा अगोष्पद आदि शब्दों में नञ्तत्पुरुष समास है, जो शक्ति-वृत्ति से उत्तर - पदार्थ - प्रधान होना चाहिये; परन्तु वह उत्तर - पदार्थ - प्रधानरूप शक्यार्थ लोकव्यवहार से बाधित है। अतः अमित्र शब्द में मित्रमात्र रूप शक्यार्थ बाधित होने से, जैसे लक्षणावृत्ति से मित्र विरुद्ध शत्रुरूप लक्ष्यार्थ प्रतीत होता है, एवं गोष्पद शब्द में गोष्पदाभाव तथा गोष्पदमात्ररूप शक्यार्थ बाधित होने से, जैसे लक्षणावृत्ति से गोष्पद विरुद्ध विपुल देश रूप लक्ष्यार्थ प्रतीत होता है, वैसे ही अविद्या शब्द में भी नञ्तत्पुरुष समास है, जो शक्तिवृत्ति से उत्तर - पदार्थ - प्रधान होना चाहिये; परन्तु वह उत्तर - पदार्थ - प्रधानरूप शक्यार्थ लोकव्यवहार से बाधित है। अतः अविद्या शब्द में भी उत्तर - पदार्थ तत्त्वज्ञान तथा तत्त्वज्ञानाभाव रूप शक्यार्थ बाधित होने से लक्षणावृत्ति से विद्याविरुद्ध विपर्ययज्ञानरूप लक्ष्यार्थ ही प्रतीत होता है। अतः विपर्ययज्ञानरूप अविद्या क्लेशरूप संसार के हेतु होने से इसको क्लेश कहने में अनुचित नहीं, यह सिद्ध हुआ।

अविद्या के विषय में भिन्न - भिन्न दर्शनकारों का भिन्न - भिन्न मत है। उनमें प्रधान नैयायिक तथा वेदान्ती हैं। नैयायिक लोग अविद्या शब्द में नञ्तत्पुरुष समास मानकर नञ् का अर्थ प्रसज्य - प्रतिषेध करके विद्याप्रतियोगिक अभाव अविद्या का अर्थ करते हैं। आपाततः निरीक्षण करने से इस अर्थ के साथ प्रकृत अर्थ का विरोध प्रतीत होता है; परन्तु विचार करने पर विरोध का गन्ध भी नहीं है। क्योंकि, नैयायिकों ने नञ्पद का शक्यार्थ ग्रहण करके विद्याप्रतियोगिक अभाव रूप अविद्या पदार्थ माना है और यहां पर शक्यार्थ का बाध होने से लक्ष्यार्थ ग्रहण करके विद्या - विरोधी विपर्यय ज्ञान अविद्या पदार्थ माना है, अतः विरोध नहीं।

वेदान्ती लोग अविद्या को अभाव पदार्थ नहीं मानते हैं, किन्तु अनादि भाव - रूप विद्याविरोधी अविद्या है, ऐसा कहते हैं; क्योंकि, यदि अभाव पदार्थ अविद्या मानी जाय तो अभाव निःस्वरूप होने से किसीका आच्छादन नहीं कर सकता है, और अविद्या तो चेतन को आच्छादन करती है। अतः अविद्या अभाव पदार्थ नहीं किन्तु भाव पदार्थ है और वह अविद्या भाव पदार्थ होता हुआ विपर्ययज्ञान रूप नहीं किन्तु विपर्ययज्ञान का उपादान कारण है। जैसे शुक्ति - रजत - विषयक विपर्ययज्ञान का उपादान कारण साक्षी - चेतन - निष्ठ अविद्या है, वैसे ही जगद्विषयक विपर्ययज्ञान का उपादान कारण ब्रह्मचेतन - निष्ठ अविद्या है। अतः आपाततः देखने से इस अर्थ के साथ भी प्रकृत अर्थ का विरोध प्रतीत होता है; परन्तु विचार करनेपर इसके साथ भी विरोध नहीं। क्योंकि, प्रकृत सांख्य - योग मत में विपर्ययज्ञान को अविद्या माना है और वेदान्तियों ने कार्यकारण में अभेद - विवक्षा से विपर्ययज्ञान के उपादान - कारण

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता

को अविद्या कहा है। अतः इनके साथ भी विरोध नहीं। अतएव इस विषय में विज्ञानभिक्षु का वेदान्तियों पर जो वाक्प्रहार है वह उनकी अदार्शनिकता का परिचायक है।

प्रथम पाद के अष्टम सूत्र से जिस विपर्यय-वृत्ति का लक्षण किया गया है, उसीका भेद-कथन प्रकृत सूत्र से किया गया है। अतएव प्रथम पाद के अष्टम सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने "एते चित्तमलप्रसङ्गेनाऽभिधास्यन्ते" ऐसा कहा है। इस कथन से "लक्षण कथन किये बिना भेद-कथन सूत्रकार का असंगत है" इस शंका का निरास समझना चाहिये। इति ॥ ५ ॥

अविद्या रूप प्रथम क्लेश के स्वरूप का प्रतिपादन करके उसका कार्य तथा अग्रिम रागादि का कारण द्वितीय क्लेश रूप अस्मिता के स्वरूप का सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मितेति। दृग्दर्शनशक्त्योः—दृक् शक्ति पुरुष तथा दर्शन शक्ति बुद्धि की जो, एकात्मता इव—अभिन्नता न होने पर भी अभिन्नता की जैसी प्रतीति वह, अस्मिता—अस्मिता नामक द्वितीय क्लेश कहा जाता है।

यदि कहें कि, इतना अर्थ तो "दृग्दर्शनयोः" इतना ही कहने से निकल सकता था। फिर शक्ति-ग्रहण सूत्र में क्यों किया गया? तो इसका उत्तर यह है कि, दृक्-शक्ति पुरुष तथा दर्शनशक्ति बुद्धि का परस्पर भोक्तृभोग्ययोग्यता रूप संबन्ध दिखाने के लिये शक्ति ग्रहण किया गया है। अर्थात् शक्तिपद शक्ति की योग्यता का बोधक है। पुरुष में भोक्तृयोग्यता और बुद्धि में भोग्ययोग्यता है। अतः इन दोनों का परस्पर भोग्यभोक्तृभाव संबन्ध है। इस अर्थ को द्योतन करने के लिये सूत्र में शक्ति ग्रहण किया गया है।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—पुरुष इति। दृक्शक्तिः पुरुषः-"पश्यतीति दृक्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्रष्टा होने से दृक्शक्ति पुरुष कहा जाता है, दर्शनशक्तिर्बुद्धिः-"दृश्यते इति दर्शनम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषयाकार से परिणत होती हुई दृश्य विषयरूप को प्राप्त होने से दर्शन शक्ति बुद्धि कही जाती है, इति—इस प्रकार अत्यन्त विभक्त, एतयोः—इन दोनों की पूर्वोक्त अविद्या के बल से जो, एकरूपापत्तिः इव—एक रूप न होने पर भी एक रूप से प्रतीति वह, अस्मिता क्लेशः-अस्मिता नामक क्लेश, उच्यते—कहा जाता है।

शंका होती है कि, दृग्दर्शनशक्ति रूप पुरुष बुद्धि की अभेदप्रतीति होने से इस प्रतीति के बल से इन दोनों को परमार्थ से अभिन्न ही क्यों नहीं माना जाय? और

क्लेश उच्यते । भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते ।

स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति । तथा चोक्तम्—'बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्राऽऽत्मबुद्धिं मोहेनेति' ॥ ६ ॥

जब ये दोनों यथार्थ अभिन्न सिद्ध होंगे तो तद्विषयक प्रतीति यथार्थ होने पर पुरुष के क्लेश का हेतु अस्मिता कैसे ?

इस शंका का उत्तर अन्वय - व्यतिरेक से अस्मिता तथा क्लेश में कार्य - कारणभाव दिखाते हुए भाष्यकार करते हैं— भोक्तृभोग्येति । भोक्तृभोग्यशक्त्योः—भोक्तृ-शक्ति - पुरुष को अपरिणामी, शुद्ध तथा चेतन होने से और भोग्य - शक्ति बुद्धि को परिणामिनी, मलिन तथा जड होने से, अत्यन्तासंकीर्णयोः—इन दोनों को परस्पर अत्यन्त असंकीर्ण (विलक्षण) एवं, अत्यन्तविभक्तयोः—अत्यन्त विभक्त होने पर भी, अविभागप्राप्तौ इव—ये दोनों एकरूप के समान जब, सत्याम्—होते हैं तब, भोगः—भोग अर्थात् क्लेश, कल्पते—होता है । अर्थात् उक्त अविभाग प्राप्ति रूप अस्मिता के होने पर भोग रूप क्लेश होता है । तु—और जब, तयोः—भोक्तृशक्ति पुरुष तथा भोग्यशक्ति बुद्धि के, स्वरूपप्रतिलम्भे—स्वरूप ज्ञान रूप विवेक प्राप्त होने पर, कैवल्यमेव—मोक्ष ही, भवति—हो जाता है फिर, कुतो भोगः—भोग रूप क्लेश कहां से होगा ? अर्थात् विवेकख्याति के उदय होने पर अस्मिता के नाश होने से भोग रूप क्लेश की निवृत्ति हो जाती है । इस प्रकार अस्मिता के होने पर भोग रूप क्लेश का होना और अस्मिता का अभाव होने पर भोगरूप क्लेश का अभाव होना रूप अन्वय - व्यतिरेक से भोग रूप क्लेश और अस्मिता में कार्य - कारणभाव निश्चित होता है । अतः अविवेक रूप अस्मिता क्लेश का हेतु है, यह सिद्ध हुआ ।

अस्मिता क्लेश का हेतु है, यह बात पञ्चशिखाचार्य को भी समत है । इस बात को भाष्यकार कहते हैं—तथा चोक्तमिति । तथाच—भोग्य - भोक्तृ - अविवेक रूप अस्मिता क्लेश का हेतु है, यह बात जैसे मैंने कही है, वैसे ही पञ्चशिखाचार्य ने भी, उक्तम्—कही है । आकारशीलविद्यादिभिः—आकार (सदा-विशुद्ध-स्वरूप) शील (उदासीनता) तथा विद्या (चैतन्य) आदि विलक्षण धर्मों से, बुद्धितः—मलिनस्वरूप परिणाम स्वभाव, तथा जडता धर्मवाली बुद्धि की अपेक्षा, परं पुरुषम्—उत्कृष्ट पुरुष को, विभक्तम्—भिन्न, अपश्यन्—न देखते हुए, मोहेन—अस्मिता रूप मोह से, तत्र—उस बुद्धि रूप अनात्मा में, आत्मबुद्धिम्—आत्मभ्रान्ति, कुर्यात्—भोग करते हैं । इस कथन से अस्मिता क्लेश का हेतु है, यह बात स्पष्ट होती है ।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

अस्मिता नाम अहंभाव का है, जिसको दूसरे शब्द में अहंकार कहते हैं, जिसका आकार "मैं हूं," "मैं सुखी हूं," "मैं दुःखी हूं" इत्यादि है, जिसका स्वरूप आसुर-संपद्रूप से श्रीभगवान् ने व्यक्त किया है—

> इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
> इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
> असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
> ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
> आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
> यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

भगवद्गीता अ. १६–१३–१५ ।

यद्यपि अस्मिता अविद्या से भिन्न है, तथापि मिथ्याज्ञान-स्वरूप अविद्या का कार्य होने से यह भी मिथ्याज्ञान रूप ही है। अतः अविद्या कारण और अस्मिता कार्य है। इतना अविद्या और अस्मिता में भेद है। शुक्ति में रजत - ज्ञान अविद्या कहलाता है। उसमें केवल रजत भासता है, शुक्ति नहीं और भोक्तृभोग्यरूप पुरुष बुद्धि विषयक अविवेकज्ञानात्मक अस्मिता में संकीर्ण होकर पुरुष और बुद्धि दोनों भासते हैं। इतना अविद्या तथा अस्मिता में और भेद समझना चाहिये। इसी अवि-वेक ज्ञानरूप अस्मिता को हृदयस्थ जडचेतनग्रन्थि कहते हैं। अतएव परावर दर्शन-रूप विवेक-ज्ञान से इस अविवेकरूप अस्मिता की निवृत्ति श्रुति बोधन करती है—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

द्वि. मु. द्वि. खं. ८ मंत्र।

पर-पुरुष तथा अवर - बुद्धि का विवेक ज्ञान प्राप्त होने पर हृदयग्रन्थिरूप अस्मिता का भेदन, सर्व संशय का छेदन तथा सर्व कर्मों का क्षय हो जाता है। इति ॥ ६ ॥

अविवेक रूप अस्मिता के होने से रागद्वेष होते हैं और विवेक से अस्मिता का अभाव होने पर रागद्वेष का भी अभाव हो जाता है। इस अन्वय - व्यतिरेक से रागद्वेष और अस्मिता में कार्य - कारणभाव निश्चित है। अतः कारण रूप अस्मिता के निरूपण के अनन्तर कार्य रूप रागद्वेष का निरूपण सूत्रकार करते हैं—सुखानु-शयी राग इति। सुखानुशयी–सुखभोग के अनन्तर अन्तःकरण में रहनेवाला जो अभिलाष - विशेष वह, रागः–राग कहा जाता है।

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

भाष्यकार संक्षिप्त सूत्रार्थ करते हैं—सुखेति। सुखाभिज्ञस्य-जिस पुरुष ने सुख का अनुभव किया है, उस पुरुष को, सुखानुस्मृतिपूर्वः- सुख - स्मृतिपूर्वक, सुखे-तत्सजातीय सुख में, वा-अथवा तत्साधने-सुख के साधन स्त्री आदि विषय में, यः-जो, गर्धः तृष्णा लोभः—चाहनाविशेष उत्पन्न होता है, सः-वह, रागः-राग कहा जाता है। गर्ध, तृष्णा और लोभ; ये पर्याय शब्द हैं। इति ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेष इति। दुःखानुशयी—दुःखभोग के अनन्तर अन्तःकरण में रहनेवाला जो क्रोध वह, द्वेषः-द्वेष कहा जाता है।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—दुःखेति। दुःखाभिज्ञस्य—जिस पुरुष ने दुःख का अनुभव किया है उस पुरुष को, दुःखानुस्मृतिपूर्व-दुःखस्मृतिपूर्वक, दुःखे-तत्सजातीय दुःख में, वा-अथवा, तत्साधने-दुःख के साधन शत्रु आदि विषय में, यः-जो, प्रतिघः-मृत्युः-जिघांसा-क्रोधः-क्रोध उत्पन्न होता है, सः-वह, द्वेषः-द्वेष कहा जाता है। प्रतिघ, मन्यु, जिघांसा और क्रोध; ये पर्याय शब्द हैं।

पूर्वोक्त दोनों सूत्रों का भाव यह है कि—प्रथम सुख वा दुःख का अनुभव होता है। उस अनुभव के नाश होने के पश्चात् उसका अनुद्बुद्ध (सुप्त) संस्कार चित्त में विद्यमान रहता है। जब किसी उद्बोधक निमित्त से वह संस्कार उद्बुद्ध (जाग्रत्) हो जाता है, तब वह तद्विषयक स्मृति को उत्पन्न करता है। उस स्मृति के अनन्तर तत्सजातीय सुख तथा सुख - साधन विषयक इच्छा एवं दुःख तथा दुःखसाधन विषयक क्रोध उत्पन्न होता है। वही इच्छा राग एवं वही क्रोध, द्वेष कहा जाता है। इस प्रकार अनुभव से संस्कार, संस्कार से स्मृति, और स्मृति से राग - द्वेष उत्पन्न होते हैं और प्राणिमात्र को क्लेश देते रहते हैं। अतः ये रागद्वेष भी हेय ही हैं, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ ८ ॥

अभिनिवेश द्वेषमूलक होने से सूत्रकार द्वेषनिरूपण के अनन्तर अभिनिवेश का स्वरूप दिखाते हैं—स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेश इति। स्वरसवाही—पूर्व-जन्म के मरणमय विषयक अनुभव-जन्य वासना के बल से स्वभाव-

सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति । न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः ।

एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते । स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो

सिद्ध जो, विदुषोऽपि—विद्वानों के चित्त में भी, तथा रूढः—अज्ञानियों के समान प्राप्त (विद्यमान) मरणभय वह, अभिनिवेशः—अभिनिवेश नामक पञ्चम क्लेश कहा जाता है ।

इसी अर्थ को भाष्यकार विशद करते हैं—सर्वस्येति । सर्वस्य प्राणिनः—सर्व प्राणियों को, इयम्—यह, आत्माशीः—आत्मविषयक प्रार्थना, नित्या—नित्य निरन्तर, भवति—होती रहती है कि, मा न भूवम्—मैं कभी न होऊँ, ऐसा नहीं किन्तु, भूयासम् इति—सदा होऊँ, अर्थात् मेरा अभाव कभी न हो, मैं सदा ही विद्यमान रहूँ, एषा—यह, आत्माशीः—आत्म-अस्तित्व विषयक प्रार्थना, अननुभूतमरणधर्मकस्य—जिसने प्रथम कभी मरण - रूप धर्म का अनुभव नहीं किया है उसको, न च भवति—नहीं हो सकती है । अतः उक्त मरणभयविषयक स्मृति के देखने से यह प्रतीत होता है कि, पूर्व - जन्म में इस प्राणी ने मरणदुःख का अनुभव किया था । क्योंकि, अनुभव विना स्मृति होना असंभव है । अतएव यह मरणभय रूप अभिनिवेश स्वरसवाही है । अर्थात् पूर्व - जन्म के मरणभयविषयक अनुभवजन्य संस्कार से (वासना से) वहनशील (जन्य) है ।

प्रसंगवश जन्मान्तर विषयक नास्तिकों की शंका का निरास भाष्यकार करते हैं—एतया चेति । एतया च—इस पूर्वोक्त आत्मविषयक प्रार्थना से, पूर्वजन्मानुभवः—पूर्व - जन्म का मरणदुःख विषयक अनुभव भी, प्रतीयते—प्रतीत होता है । क्योंकि, यदि वर्त्तमान जन्म के अतिरिक्त पूर्व - जन्म न माना जायगा तो मरणदुःख का अनुभव भी न माना जायगा, तो उस अनुभवजन्य स्मृति के पश्चात् जो सर्वानुभूत मरणत्रास से उक्त आत्मविषयक प्रार्थना वह भी असंभव हो जायगी । अतः पूर्वजन्म अवश्य स्वीकार करना चाहिये ।

यदि कहें कि, वर्त्तमान जन्म में ही भावी मरणदुःख के अनुमान से पूर्वोक्त अभिनिवेश रूप मरण भय हो सकता है, तो पूर्व - जन्म तथा पूर्व - जन्म के मरणभय की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ?

इस शंका का समाधान भाष्यकार करते हैं—स चायमिति । स च अयम्—और सो यह, अभिनिवेशः क्लेशः—अभिनिवेश रूप क्लेश, स्वरसवाही—स्वभावसिद्ध है, क्योंकि जिसने पूर्व कभी भी मरणदुःख को, प्रत्यक्षानुमानागमैः—प्रत्यक्ष,

मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति ।

यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः ।

कस्मात् ? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥ ९ ॥

अनुमान तथा आगमप्रमाणद्वारा, असंभावितः— अनुभव नहीं किया है ऐसे, जातमात्रस्य कृमेरपि—तत्काल उत्पन्न कृमि (कीट) आदि को भी, उच्छेददृष्ट्यात्मकः—उच्छेद दृष्टि स्वरूप जो, मरणत्रासः—यह मरण - त्रास है वही, पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखम्—पूर्व - जन्म में अनुभूत मरणदुःख का, अनुमापयति—अनुमान कराता है । अर्थात् भावी मरणदुःख विद्यमान न होने से उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं । व्याप्ति ज्ञान के अभाव होने से अनुमिति रूप अनुभव भी नहीं तथा भाव दुःख का बोधक कोई आगम - प्रमाण न होने से तज्जन्य अनुभव भी नहीं । अतः पूर्व - उक्त प्राणिमात्र में प्रसिद्ध जो मरणत्रास उसको स्मृति रूप ही कहना पड़ेगा और वह स्मृति पूर्व - अनुभवजन्य संस्कार के विना असंभव है, इसलिये पूर्वजन्म का मरणदुःख विषयक अनुभव तथा पूर्व - जन्म का सद्भाव अवश्य स्वीकार करना चाहिये, यह सिद्ध हुआ ।

सूत्र में 'तथा' पद है, जो अपने निरूपकांश में साकांक्ष है, उसका निरूपक 'यथा' पद है । अतः भाष्यकार यथा पद का अध्याहार करके जैसा सूत्रार्थ संपन्न होता है, वैसा दिखाते हैं—यथा चेति । यथा च—जैसे, अयं क्लेशः—यह मरणभय रूप क्लेश, अत्यन्तमूढेषु—अत्यन्तमूढ नवजात बालक तथा कृमि आदि के चित्त में, दृश्यते—देखा जाता है, तथा—वैसे ही, विज्ञातपूर्वापरान्तस्य—शास्त्रद्वारा जान लिया है पूर्वदशा संसार एवं उत्तरदशा कैवल्य को जिसने ऐसे, विदुषोऽपि—विद्वान् के चित्त में भी, रूढः—रूढ अर्थात् प्रसिद्ध है । अतः यह मरणत्रासरूप क्लेश अभिनिवेश कहा जाता है ।

शंका होती है कि, अज्ञानियों को उक्त मरणत्रास भले हों; परन्तु विद्वानों को भी यह (मरणत्रास) कहना उचित नहीं । क्योंकि, उनका अविद्यास्मितादि क्लेशरूप त्रास विद्या से उन्मूलित हो गया है । अतः विद्वानों को भी मरणत्रास होता है, यह सूत्रकार का कहना उचित नहीं प्रतीत होता है । इस आशय से प्रश्न करते हैं—कस्मादिति । कस्मात्—विद्वानों को भी किस कारण से मरणत्रास (अभिनिवेश) रूप क्लेश होता है ।

इस शंका का उत्तर भाष्यकार देते हैं—समानेति । तयोः कुशलाकुशलयोः—उन दोनों ज्ञानी तथा अज्ञानियों को मरणदुःख का अनुभव होने से, इयं वासना—

यह वासना (पूर्वजन्म के मरणदुःखविषयक अनुभव - जन्य संस्कार), समाना— समान है। अतः विद्वान् तथा अविद्वान् दोनों को यह अभिनिवेश रूप क्लेश समान है। अर्थात् प्रकृत् सूत्र में "विदुषः" इस पद से शास्त्रज्ञ विद्वानों का ग्रहण समझना चाहिये। संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात समाधिनिष्ठ मुख्य विद्वानों का नहीं। क्योंकि, "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन"। इस श्रुति में विद्वानों को भय रहित कहा गया है। अतएव श्रीवाचस्पति मिश्र ने 'न संप्रज्ञातवान् विद्वान्, अपितु श्रुतानुमितविवेकः" इस पंक्ति से "शास्त्रज्ञ विद्वानों का ग्रहण है, मुख्य ज्ञानी का नहीं," ऐसा कहा है। अतः शास्त्रज्ञ विद्वानों को भी अज्ञानियों के समान मरणत्रासरूप क्लेश होता है, यह सूत्रकार का कहना अनुचित नहीं, यह सिद्ध हुआ।

और जो विज्ञानभिक्षु ने "विदुषः" पद का अर्थ संप्रज्ञात समाधिनिष्ठ विद्वान् करते हुए उनको 'अज्ञानियों के समान मरणत्रास होता है" ऐसा कहा है, यह उक्त श्रुतिविरुद्ध होने से अनादरणीय है और जो उन्होंने संस्कारवश संप्रज्ञात - समाधिनिष्ठ विद्वानों को भी अज्ञानियों के समान मरणत्रास कहा है, वह भी सूत्रविरुद्ध होने से उपेक्षणीय ही है। क्योंकि "तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी" १–५०। इस प्रथम पाद के सूत्र में संप्रज्ञातसमाधि संस्कारों को अन्य मिथ्या संस्कारों के विरोधी कहा है। अतः संप्रज्ञात समाधिनिष्ठ विद्वानों को संस्कारबल से भी मरणत्रास कहना सर्वथा अनुचित ही है।

यथोक्त सूत्र तथा भाष्य का सारांश यह है कि, पांच क्लेशों में अन्तिम क्लेश अभिनिवेश है। मरणत्रास को अभिनिवेश कहते हैं। मरणदुःख तथा मरणदुःख के साधनों का स्मरण होने पर मरणत्रास होता है। उक्त स्मरण संस्कार से होता है और संस्कार तत्समान - विषयक अनुभव से पड़ता है। यदि पूर्व - जन्म न माना जाय तो जिस अनुभव के संस्कार - जन्य स्मरण से प्राणी को मरण - त्रास होता है, वह अनुभव इसी वर्त्तमान जन्म का कहना होगा और इस जन्म में तो मरण हुआ नहीं, है अतः मरणदुःख का अनुभव भी कहना समीचीन नहीं। यदि कहें कि, भावी मरणदुःख के अनुमान से मरणत्रास होता है, तो यह भी कहना समीचीन नहीं; क्योंकि, अनुमान करने में असमर्थ अभी तुरन्त जन्मा हुआ बालक तथा कृमि को भी किसी भयंकर सिंह - व्याघ्रादि मारक प्राणी को देखने से अपना मरण निकट जान कर जो शरीर में कम्प होता है, वह न होना चाहिये। क्योंकि, इसको मरणदुःख का अनुभव नहीं है और मरण के भय से कम्पादि देखे तो जाते हैं। अतः कहना पड़ेगा कि, पूर्व - जन्म में इस प्राणी ने मरणःदुख का अनुभव किया है। तज्जन्य संस्कारद्वारा स्मरण होने पर मरण के भय से इसको कम्पादि होते हैं। इससे पूर्व के अनन्त जन्म तथा पूर्व–जन्म के अनन्त दुःख सिद्ध होते हैं, जिसके स्मरण से

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥ १० ॥

अज्ञानी को तो क्या, पठितशास्त्र विद्वानों को भी मरणभय रूप अभिनिवेश होता है, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ ९ ॥

इस प्रकार क्लेशों के लक्षण और प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार रूप चार हेय अवस्था एवं क्रियायोग से उनकी क्षीणता का प्रतिपादन करके अब प्रसंख्यान-अग्नि से उन (क्लेशों) की दग्धबीजभाव नामक उपादेय पञ्चमी अवस्था तथा उन (क्लेशों) की निवृत्ति का उपाय प्रतिपादन सूत्रकार अग्रिम दो सूत्र से करते हैं— ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्मा इति। ते—ये पूर्वोक्त पञ्च क्लेश, सूक्ष्माः—तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर - प्रणिधान रूप क्रियायोग के द्वारा सूक्ष्म (एकमात्र वासनारूप से स्थित) एवं प्रसंख्यान - अग्नि के द्वारा दग्ध हुए, प्रतिप्रसवहेयाः—प्रतिप्रसव अर्थात् असंप्रज्ञात-समाधि द्वारा हेय अर्थात् निरोध करने योग्य हैं। अर्थात् प्रसव नाम उत्पत्ति का है और प्रति नाम उसके विरोधी का है। अतः उत्पत्ति के विरोधी प्रलय (निरोध) प्रतिप्रसव कहा जाता है। प्रकृत में चित्तवृत्ति का संपूर्ण निरोध-प्रलय अर्थक प्रतिप्रसव शब्द से लिया गया है, जो दूसरे शब्द से असंप्रज्ञात - योग कहा जाता है। अतः पूर्वोक्त साधन से सूक्ष्म एवं दग्ध हुए क्लेशों की प्रतिप्रसव रूप संपूर्ण चित्तवृत्ति निरोधात्मक असंप्रज्ञात योग के द्वारा अत्यन्त निवृत्ति करनी चाहिये, यह सूत्र का निष्कर्ष सिद्ध हुआ।

भाष्यकार संक्षेप से सूत्र का विवरण करते हैं—ते पञ्चेति। ते पञ्च क्लेशाः—क्रियायोग के अनुष्ठान से सूक्ष्म हुए जो अविद्यादि पञ्च क्लेश वे, दग्धबीजकल्पाः—जब प्रसंख्यान - अग्नि से दग्धबीज के समान हो जाते हैं तब, योगिनः—योगियों के, चरिताधिकारे। चेतसि—समाप्त अधिकारवाले चित्त के, प्रलीने सति—प्रकृति में लीन होने पर, तेनैव सह—उस चित्त के साथ ही, अस्तं गच्छन्ति—अस्त (लीन) हो जाते हैं।

भाव यह है कि, जो वस्तु पुरुष - प्रयत्न साध्य होती है, उसका उपदेश किया जाता है। क्लेशों की सूक्ष्म अवस्था का जो हान (निरोध) वह पुरुष - प्रयत्न साध्य नहीं; किन्तु प्रतिप्रसव के द्वारा ही हान (निरोध) करने योग्य है, अन्य उपाय से नहीं। इति ॥ १० ॥

पूर्वोक्त क्रियायोग से सूक्ष्म हुए क्लेशों की किस प्रकारके पुरुषप्रयत्न से निवृत्ति

स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति। यथा वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात् सूक्ष्मो यत्नेनो-

---

होती है। इस आशंका का समाधान करते हैं—स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्—ध्यानहेयास्तद्वृत्तय इति। भाष्यकार ने "स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्" इतने अंश का सूत्र के आदि में अध्याहार करके सम्बन्ध किया है और "ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः" इतना अंश सूत्र का है। तथा च—"स्थितानां तु बीजभावोपगतानां ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः" इतना बड़ा वाक्य निष्पन्न हुआ। स्थितानाम्—जो क्लेश चित्त में उदार (स्थूल) रूप से स्थित हैं, अतएव, बीजभावोपगतानाम्—दग्धबीजभाव को नहीं प्राप्त हुए हैं, तु—किन्तु, बीजभाव से ही युक्त हैं, उन क्लेशों की जो वृत्तियां हैं, तद्वृत्तयः—वे वृत्तियां, ध्यानहेयाः—क्रियायोग से सूक्ष्म (क्षीण) तथा ध्यानरूप प्रसंख्यान अग्नि से हेय अर्थात् दग्ध बीज के समान करने योग्य हैं।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—क्लेशानामिति। क्लेशानां याः स्थूलाः वृत्तयः—क्लेशों की जो उदार रूप स्थूल वृत्तियां हैं, ताः—वे, क्रियायोगेन—पूर्वोक्त क्रियायोग के द्वारा, तनूकृताः सत्यः—सूक्ष्म करते हुए, प्रसंख्यानेन ध्यानेन—ध्यान-रूप प्रसंख्यान - अग्नि के द्वारा, हातव्याः—निरोध (निवृत्त) करने योग्य हैं, यावत्सूक्ष्मीकृताः—जब तक सूक्ष्मता को प्राप्त न हो जांय तथा, यावद्दग्धबीजकल्पाः—जब तक दग्ध - बीज के तुल्य न हो जांय। अर्थात् जब तक क्लेशवृत्तियां तनुता को प्राप्त न होवें तब तक तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग करते रहना चाहिये और जब तक दग्ध - बीज के तुल्य न होवें तब तक ध्यान करते रहना चाहिये। आगे असंप्रज्ञात योग की प्राप्ति होने पर समूल क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

पूर्वोक्त साधन - क्रम में दृष्टान्त देते हैं—यथेति। यथा—जैसे, वस्त्राणां स्थूलो मलः—वस्त्रों का स्थूल मल (धूली - आदि), पूर्वम्—धोने से प्रथम, निर्धूयते—झाड़ कर दूर किया जाता है, पश्चात्—उसके अनन्तर, सूक्ष्मो मलः—झाड़ने से शेष रहा हुआ सूक्ष्म मल, यत्नेन—प्रक्षालन आदि यत्न, वा—अथवा, उपायेन—साबुन आदि क्षार द्रव्य संयोग रूप उपाय के द्वारा धोकर, अपनीयते—दूर किया जाता है, तथा—

पायेन चापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां, सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥ ११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

वैसे ही, क्लेशानाम्-क्लेशों की, स्थूला वृत्तयः-उदार रूप स्थूलवृत्तियां, स्वल्पप्रतिपक्षाः-स्वल्प विरोधी साधन से दूर होनेवाली हैं। अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि की अपेक्षा सुकर तथा स्वल्प जो प्रसंख्यान - अग्नि उसीसे सूक्ष्म (निवृत्त) होनेवाली हैं और जो, सूक्ष्मास्तु-सूक्ष्म क्लेशवृत्तियां हैं वे तो, महाप्रतिपक्षाः-महान् प्रतिपक्ष रूप उपाय से दूर होनेवाली हैं। अर्थात् प्रसंख्यान - अग्नि की अपेक्षा श्रेष्ठ तथा दुःसाध्य जो असंप्रज्ञात समाधि उससे निवृत्त होनेवाली हैं। अतः स्थूल मल की निवृत्ति स्वल्प प्रयत्न - साध्य है और सूक्ष्म मल की निवृत्ति अधिक प्रयत्न - साध्य है, यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि, सर्वप्रथम क्रियायोग से उदार रूप स्थूल क्लेशों को सूक्ष्म करे, तत्पश्चात् ध्यान से सूक्ष्म क्लेशों को दग्ध करे, तदनन्तर दग्ध क्लेशों को असंप्रज्ञात समाधि से समूल नाश करे, यह साधन का क्रम है। इति ॥ ११ ॥

आशङ्का होती है कि, जाति, आयु तथा भोग के हेतु जो धर्माधर्मरूप कर्माशय वही पुरुष को सुखदुःखरूप क्लेश देता है; अतः उसीको क्लेश कहना चाहिये। अविद्या, अस्मिता आदि को क्लेश कहना उचित नहीं; क्योंकि, ये पुरुष को क्लेश देते नहीं हैं, तो इनको क्लेश क्यों कहते हैं? इस आशङ्का का निरास सूत्रकार स्वयं करते हैं—क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इति। कर्माशयः-शुभाशुभ कर्मानुष्ठान - जन्य चित्त में जो अदृष्टविशेष, जिसको धर्माधर्म तथा पुण्यपाप भी कहते हैं, वह (अदृष्ट विशेष), क्लेशमूलः-अविद्या, अस्मितादि जो क्लेश तन्मूलक है, अर्थात् क्लेशजन्य होने से क्लेश कहा जाता है और वह दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः-कोई धर्माधर्म दृष्ट जन्म वेदनीय अर्थात् इसी जन्म में पुरुष को क्लेश (सुख दुःख रूप फल) देनेवाला है और कोई अदृष्ट जन्म वेदनीय अर्थात् जन्मान्तर में क्लेश देनेवाला है। अर्थात् शुभ और अशुभ कर्मजन्य जो धर्म और अधर्म वे आशयरूप से अर्थात् वासना रूप से चित्त में जब तक सुख दुःख फल प्राप्त न होवे तब तक विद्यमान रहते हैं। अत एव कर्म के आशय अर्थात् वासनारूप होने से धर्म और अधर्म कर्माशय कहे जाते हैं। उक्त धर्म और अधर्म से जो पुरुष को क्रमशः सुख और दुःख रूप फल प्राप्त होते हैं, वे ही सुख और दुःख क्लेश कहे जाते हैं। बुद्धि और पुरुष के अविवेक रूप अविद्या से शुभ और अशुभ कर्म होते हैं और कर्म से धर्म और अधर्म एवं धर्म और अधर्म से

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रभवः । स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च । तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति ।

तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानु-

क्रमशः सुख और दुःख रूप क्लेश, इस प्रकार धर्म तथा अधर्म रूप जो कर्माशय वह अविद्यादि क्लेशमूलक होने से क्लेशप्रद प्रतीत होता है । वस्तुतः क्लेशप्रद सबके मूल (उत्पत्ति में और कार्य करने में) पूर्वोक्त अविद्या, अस्मितादि ही हैं; अतः वे ही क्लेश कहे जाते हैं । धर्म और अधर्म रूप कर्माशय नहीं, यह पूर्वोक्त शंका का समाधान है ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—तत्रेति । तत्र—उस चित्त में, पुण्यापुण्यकर्माशयः—पुण्य तथा पापरूप कर्माशय, कामलोभमोहक्रोधप्रभवः—काम, लोभ, मोह तथा क्रोध से उत्पन्न होता है, और काम - लोभादि वक्ष्यमाण रीति से क्लेश रूप ही हैं, अतः अविद्यादि क्लेशमूलक ही कर्माशय कहा जाता है । उक्त कर्माशय के दो भेद दिखाते हैं—स इति । सः—वह पुण्य तथा पाप रूप कर्माशय, दृष्टजन्मवेदनीयश्च—दृष्टजन्म वेदनीय और, अदृष्टजन्मवेदनीयश्च—अदृष्टजन्म वेदनीय के भेद से दो प्रकार का है । अर्थात् कतिपय कर्माशय इसी जन्म में फल देनेवाले हैं और कतिपय जन्मान्तर में । दृष्टजन्मवेदनीय पुण्यरूप कर्माशय को दिखाते हैं—तत्रेति । तत्र—उन दोनों कर्माशयों में, तीव्रसंवेगेन—अति उग्र प्रयत्न - पूर्वक अनुष्ठित, मन्त्रतपःसमाधिभिः—मन्त्र, तप तथा समाधि द्वारा, निर्वर्तितः—संपादित, वा—अथवा, ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानाम्—ईश्वर, देवता तथा महर्षि आदि महानुभावों के आराधनात्—आराधना (पूजा, सेवा आदि) द्वारा, परिनिष्पन्नः—निष्पादित, यः—जो, पुण्यकर्माशयः—धर्मरूप कर्माशय है, सः—वह, सद्यः—शीघ्र वर्तमान जन्म में ही, परिपच्यते—परिपाक को प्राप्त होता है । अर्थात् फल देने के लिये उद्यत हो जाता है । अतः वह दृष्टजन्मवेदनीय कहा जाता है ।

दृष्टजन्मवेदनीय पाप रूप कर्माशय को दिखाते हैं—तथेति । तथा—वैसी ही, भीतव्याधितकृपणेषु—भयभीत व्याधि से पीड़ित तथा अन्य किसी प्रकार से दुःखी प्राणी को, तीव्रक्लेशेन—अधिक दुःख देने से, वा—अथवा, विश्वासोपगतेषु अपने पर जो विश्वास रखता हो उसके प्रति विश्वासघात करने से, वा—अथवा, महानुभावेषु तपस्विषु—महानुभाव तपस्वियों का, पुनः पुनः—वारंवार, कृतः—किया गया जो, अप-

भावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते । यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः ।

तथा नहुषोऽपि देवनामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति । तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः ।

कारः-अपकार (हानि), स चापि-वह भी, पापकर्माशयः-पाप रूप कर्माशय, सद्य एव-शीघ्र इसी जन्म में ही, परिपच्यते-परिपाक को प्राप्त होता है । अर्थात् अति शीघ्र फल देने के लिये उद्यत हो जाता है । अतः यह भी दृष्ट-जन्म वेदनीय ही कहा जाता है ।

अनुक्रम से दृष्टजन्मवेदनीय दोनों पुण्य-पाप रूप कर्माशयों के दृष्टान्त देते हैं—यथेति । यथा-जैसे, नन्दीश्वरः कुमारः-शिलाद मुनि के पुत्र नन्दीश्वर कुमार महादेवजी की अति उग्र पूजा-आराधना करने से, मनुष्यपरिणामं हित्वा-इसी जन्म में वर्तमान मनुष्य शरीर को त्याग कर, देवत्वेन परिणतः-देवभाव को प्राप्त हुआ था । अर्थात् अन्य के जैसा दूसरे भव में देवत्व को प्राप्त नहीं हुआ था, किन्तु वर्तमान शरीर ही देवशरीर रूप से परिणत होकर (रूपान्तर होकर) देवलोक को प्राप्त हुआ था । जिस प्रकार के पुण्य के प्रभाव से यह फल प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार के पुण्य को दृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं । तथा-उसी प्रकार, नहुषोऽपि-राजा नहुष भी, देवानामिन्द्रः-स्वर्ग में देवों का इन्द्र हुआ था, परन्तु शिविका-वहन में संलग्न महानुभाव ऋषियों का पार्ष्णिप्रहार रूप अपकार करने से (लात मारने से) अगस्त्य ऋषि के शाप से शीघ्र ही, स्वकं परिणामं हित्वा-अपने देवशरीर को त्याग कर सर्प शरीर को प्राप्त हुआ था । अर्थात् वही देवशरीर सर्प शरीर रूप से रूपान्तर होकर उसका पतन हुआ था । जिस पाप के प्रभाव से नहुष का पतन हुआ था, उस प्रकार के पाप को दृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं । उक्त नन्दीश्वर की कथा शिवपुराण के सनत्कुमार संहिता के ४५ वां अध्याय से आरम्भ है और नहुष की कथा महाभारत के अनुशासनिक १३ वें पर्व के १०० वां अध्याय में है । पाठकों को वहीं देखना चाहिये ।

प्रसङ्गतः जो कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय नहीं है किन्तु केवल अदृष्टजन्मवेदनीय ही है, उसको दिखाते हैं-तत्रेति । तत्र-दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों में, नारकाणाम्-नारकों का (नरकवासी प्राणियों का), दृष्टजन्मवेदनीयः-जो दृष्टजन्मवेदनीय, कर्माशयः-कर्माशय है वह, नास्ति-नहीं है । अर्थात् जिन कर्मों से रौरव तथा कुम्भीपाक आदि नरक प्राप्त होते हैं उन पाप कर्मों के करनेवाले मनुष्य नारक कहे जाते हैं । उनके जो अधर्म रूप कर्म हैं, वे दृष्टजन्मवेदनीय नहीं हैं, अर्थात्

क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति ॥१२॥

वर्तमान जन्म में उन कर्मों के फल प्राप्त नहीं होते हैं; क्योंकि, सहस्रों वर्ष पर्यन्त उपभोग योग्य जो वेदना वह शतवर्षपरिमित आयुष्यवाला मनुष्य शरीर में सम्भव नहीं है।

अब जो कर्माशय अदृष्टजन्मवेदनीय नहीं है उसको दिखाते हैं—क्षीणेति। क्षीणक्लेशानामपि—जैसे नारकों का कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय नहीं है, वैसे ही उनसे विपरीत क्षीणक्लेश ज्ञानी योगियों का अदृष्टजन्मवेदनीयः—जो अदृष्टजन्मवेदनीय, कर्माशयः—कर्माशय है वह, नास्ति—नहीं है। अर्थात् जिनके अविद्यादि क्लेश क्रिया-योग से तनुता को प्राप्त होकर प्रसंख्यान अग्नि से दग्ध हो चुके हैं वे ज्ञानी योगी क्षीण-क्लेश कहे जाते हैं। उनके जो धर्म रूप कर्म हैं वे अदृष्टजन्मवेदनीय नहीं हैं, अर्थात् जन्मान्तर में उन कर्मों के फल प्राप्त नहीं होते हैं; क्योंकि उनके जन्मान्तर के आरम्भक जो कर्म थे वे प्रसंख्यान—अग्नि से दग्ध हो चुके हैं। भाष्यकार ने जो पुण्यापुण्य कर्माशय को कामलोभमोहक्रोधप्रभव कहा है, उसका तात्पर्य कर्माशय को क्लेशमूलक कहने में है। क्योंकि, पूर्वोक्त अविद्यादि पञ्च क्लेश का ही काम, लोभ आदि दूसरा नाम है। जैसे मोह का अर्थ अविद्या-अस्मिता, काम का अर्थ राग, क्रोध का अर्थ द्वेष, और लोभ का अर्थ अभिनिवेश। अतः कर्माशय को कामलोभादिप्रभव कहने से अविद्यादि पञ्च क्लेशप्रभव ही समझना चाहिये। इतना विशेष और भी समझना चाहिये कि, इच्छा-रूप काम तथा लोभ से काम्य कर्म में प्रवृत्ति होने पर स्वर्गादि सुखजनक धर्म उत्पन्न होता है, एवं काम तथा लोभ से ही पर द्रव्य-अपहार आदि (चोरी आदि) अशुभ कर्म करने से नरकादि दुःखजनक अधर्म उत्पन्न होता है। अतः काम और लोभ ये दोनों ही क्लेश पुण्यापुण्य दोनों प्रकार के कर्माशय के हेतु हैं। अधर्म में धर्मबुद्धि होना मोह कहा जाता है। इस प्रकार के मोह से ही अधर्म रूप हिंसादि में धर्मबुद्धि से प्रवृत्ति होने पर अधर्म उत्पन्न होता है, धर्म नहीं। अतः मोह रूप क्लेश केवल अधर्म का ही हेतु है, धर्म का नहीं। एवं क्रोध, ब्रह्मवध आदि अधर्म का ही हेतु है, परन्तु कहीं-कहीं क्रोध भी धर्म का हेतु देखा गया है। जैसे, विमाता सुरुचि तथा उत्तानपाद पिताद्वारा अपमानित होने से ध्रुवजी को क्रोध उत्पन्न हुआ था और उसी क्रोध के कारण तप-अनुष्ठान द्वारा ऐसा विशिष्ट धर्म प्राप्त किया था कि, जिसके प्रभाव से आज भी वे सर्वोपरि स्थान पर विराजमान हैं। अतः क्रोध-रूप क्लेश भी धर्म, अधर्म दोनों प्रकार के कर्माशयों का हेतु है। इस प्रकार किस-किस क्लेश से कौन-कौन धर्माधर्म उत्पन्न होता है, उसका विवेक समझना चाहिये।

विज्ञानभिक्षु—ने "नारकाणां नास्ति दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः" इस भाष्य का इस प्रकार अर्थ किया है कि—नारकीय पुरुषों को वहां साधन-सामग्री के अभाव

भावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते । यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः ।

तथा नहुषोऽपि देवनामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति । तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः ।

कारः-अपकार (हानि), स चापि-वह भी, पापकर्माशयः-पाप रूप कर्माशय, सद्य एव-शीघ्र इसी जन्म में ही, परिपच्यते-परिपाक को प्राप्त होता है । अर्थात् अति शीघ्र फल देने के लिये उद्यत हो जाता है । अतः यह भी दृष्ट-जन्म वेदनीय ही कहा जाता है ।

अनुक्रम से दृष्टजन्मवेदनीय दोनों पुण्य-पाप रूप कर्माशयों के दृष्टान्त देते हैं—यथेति । यथा-जैसे, नन्दीश्वरः कुमारः-शिलाद मुनि के पुत्र नन्दीश्वर कुमार महादेवजी की अति उग्र पूजा-आराधना करने से, मनुष्यपरिणामं हित्वा-इसी जन्म में वर्तमान मनुष्य शरीर को त्याग कर, देवत्वेन परिणतः-देवभाव को प्राप्त हुआ था । अर्थात् अन्य के जैसा दूसरे भव में देवत्व को प्राप्त नहीं हुआ था, किन्तु वर्तमान शरीर ही देवशरीर रूप से परिणत होकर (रूपान्तर होकर) देवलोक को प्राप्त हुआ था । जिस प्रकार के पुण्य के प्रभाव से यह फल प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार के पुण्य को दृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं । तथा-उसी प्रकार, नहुषोऽपि-राजा नहुष भी, देवानामिन्द्रः-स्वर्ग में देवों का इन्द्र हुआ था, परन्तु शिविका-वहन में संलग्न महानुभाव ऋषिय का पार्ष्णिप्रहार रूप अपकार करने से (लात मारने से) अगस्त्य ऋषि के शाप से शीघ्र ही, स्वकं परिणामं हित्वा-अपने देवशरीर को त्याग कर सर्प शरीर को प्राप्त हुआ था । अर्थात् वही देवशरीर सर्प शरीर रूप से रूपान्तर होकर उसका पतन हुआ था । जिस पाप के प्रभाव से नहुष का पतन हुआ था, उस प्रकार के पाप को दृष्ट-जन्मवेदनीय कहते हैं । उक्त नन्दीश्वर की कथा शिवपुराण के सनत्कुमार संहिता के ४५ वां अध्याय से प्रारम्भ है और नहुष की कथा महाभारत के अनुशासनिक १३ वें पर्व के १०० वां अध्याय में है । पाठकों को वहीं देखना चाहिये ।

प्रसङ्गतः जो कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय नहीं है किन्तु केवल अदृष्टजन्मवेदनीय ही है, उसको दिखाते हैं-तत्रेति । तत्र-दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों में, नारकाणाम्-नारकों का (नरकवासी प्राणियों का), दृष्टजन्मवेदनीयः-जो दृष्टजन्मवेदनीय, कर्माशयः-कर्माशय है वह, नास्ति-नहीं है । अर्थात् जिन कर्मों से रौरव तथा कुम्भीपाक आदि नरक प्राप्त होते हैं उन पाप कर्मों के करनेवाले मनुष्य नारक कहे जाते हैं । उनके जो अधर्म रूप कर्म हैं, वे दृष्टजन्मवेदनीय नहीं हैं, अर्थात्

क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति ॥१२॥

वर्तमान जन्म में उन कर्मों के फल प्राप्त नहीं होते हैं; क्योंकि, सहस्रों वर्ष पर्यन्त उपभोग योग्य जो वेदना वह शतवर्षपरिमित आयुष्यवाला मनुष्य शरीर में सम्भव नहीं है।

अब जो कर्माशय अदृष्टजन्मवेदनीय नहीं है उसको दिखाते हैं—क्षीणेति। क्षीणक्लेशानामपि—जैसे नारकों का कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय नहीं है, वैसे ही उनसे विपरीत क्षीणक्लेश ज्ञानी योगियों का अदृष्टजन्मवेदनीयः—जो अदृष्टजन्मवेदनीय, कर्माशयः—कर्माशय है वह, नास्ति—नहीं है। अर्थात् जिनके अविद्यादि क्लेश क्रिया-योग से तनुता को प्राप्त होकर प्रसंख्यान अग्नि से दग्ध हो चुके हैं वे ज्ञानी योगी क्षीण-क्लेश कहे जाते हैं। उनके जो धर्म रूप कर्म हैं वे अदृष्टजन्मवेदनीय नहीं हैं, अर्थात् जन्मान्तर में उन कर्मों के फल प्राप्त नहीं होते हैं; क्योंकि उनके जन्मान्तर के आरम्भक जो कर्म थे वे प्रसंख्यान—अग्नि से दग्ध हो चुके हैं। भाष्यकार ने जो पुण्यापुण्य कर्माशय को कामलोभमोहक्रोधप्रभव कहा है, उसका तात्पर्य कर्माशय को क्लेशमूलक कहने में है। क्योंकि, पूर्वोक्त अविद्यादि पञ्च क्लेश का ही काम, लोभ आदि दूसरा नाम है। जैसे मोह का अर्थ अविद्या-अस्मिता, काम का अर्थ राग, क्रोध का अर्थ द्वेष, और लोभ का अर्थ अभिनिवेश। अतः कर्माशय को कामलोभादिप्रभव कहने से अविद्यादि पञ्च क्लेशप्रभव ही समझना चाहिये। इतना विशेष और भी समझना चाहिये कि, इच्छा-रूप काम तथा लोभ से काम्य कर्म में प्रवृत्ति होने पर स्वर्गादि सुखजनक धर्म उत्पन्न होता है, एवं काम तथा लोभ से ही पर द्रव्य-अपहार आदि (चोरी आदि) अशुभ कर्म करने से नरकादि दुःखजनक अधर्म उत्पन्न होता है। अतः काम और लोभ ये दोनों ही क्लेश पुण्यापुण्य दोनों प्रकार के कर्माशय के हेतु हैं। अधर्म में धर्मबुद्धि होना मोह कहा जाता है। इस प्रकार के मोह से ही अधर्म रूप हिंसादि में धर्मबुद्धि से प्रवृत्ति होने पर अधर्म उत्पन्न होता है, धर्म नहीं। अतः मोह रूप क्लेश केवल अधर्म का ही हेतु है, धर्म का नहीं। एवं क्रोध, ब्रह्मवध आदि अधर्म का ही हेतु है, परन्तु कहीं-कहीं क्रोध भी धर्म का हेतु देखा गया है। जैसे, विमाता सुरुचि तथा उत्तानपाद पिताद्वारा अपमानित होने से ध्रुवजी को क्रोध उत्पन्न हुआ था और उसी क्रोध के कारण तप-अनुष्ठान द्वारा ऐसा विशिष्ट धर्म प्राप्त किया था कि, जिसके प्रभाव से आज भी वे सर्वोपरि स्थान पर विराजमान हैं। अतः क्रोध-रूप क्लेश भी धर्म, अधर्म दोनों प्रकार के कर्माशयों का हेतु है। इस प्रकार किस-किस क्लेश से कौन-कौन धर्माधर्म उत्पन्न होता है, उसका विवेक समझना चाहिये।

विज्ञानभिक्षु—ने "नारकाणां नास्ति दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः" इस भाष्य का इस प्रकार अर्थ किया है कि—नारकीय पुरुषों को वहां साधन-सामग्री के अभाव

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

से कर्मानुष्ठान न हो सकने से उनका कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय नहीं है और स्वर्गीय पुरुषों को स्वर्ग में कर्म-उपयोगी मनुष्य शरीर न होने पर भी वे लोग लीलामनुष्य-विग्रह को धारण करके प्रयाग आदि तीर्थों में कर्मानुष्ठान करते हैं। अतः उनका दृष्ट-जन्मवेदनीय कर्माशय हो सकता है। अत एव भाष्यकार ने केवल नारकीय पुरुषों का ही दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का निषेध किया है, इत्यादि। यह उनका व्याख्यान सूत्र तथा भाष्य विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है। क्योंकि, सूत्रकार तथा भाष्यकार केवल मनुष्यकृत स्वर्ग-नरकजनक पुण्यापुण्य कर्माशय को क्लेशमूलक तथा दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय प्रतिपादन करने में प्रवृत्त हुए हैं, देवादि साधारण कर्माशयों को नहीं; अतएव भाष्य-कार ने मनुष्य-शरीरधारी नन्दीश्वर तथा मनुष्य-शरीरधारी नहुष कृत कर्माशयों को ही दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों का उदाहरण दिया है। देवशरीरधारी इन्द्रादि कृत कर्माशयों को नहीं; अन्यथा, जब इन्द्रादि देवता भी लीलामनुष्यविग्रह धारण करके कर्म करते हैं तो उन्हीं कर्मों को दृष्टजन्मवेदनीय का उदाहरण देना उचित था। देवेन्द्र पद प्राप्त मनुष्यशरीर-धारी नहुष कृत कर्मों तक धावन करने की क्या आवश्यकता थी ? और नरकवासी प्राणियों से साधनाभाव के कारण जब कर्म ही नहीं होते हैं तब उनके कर्माशयों में दृष्टजन्मवेदनीयता का निषेध करना भाष्यकार का असंगत हो जायगा ! और क्षीणक्लेश ज्ञानी-योगियों के समान नारकों का भी नरक के हेतु जो कर्म वही लेना उचित है। अतः मनुष्यशरीरकृत स्वर्ग, नरक का जनक पुण्य तथा पापरूप कर्माशय ही क्लेशमूलक तथा दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय है एवं नरक के जनक जो नरक प्राप्ति के पूर्व का कर्माशय वही दृष्टजन्मवेदनीय नहीं, है किन्तु अदृष्टजन्मवेदनीय ही है। नरक में नारकीय शरीरकृत कर्माशय नहीं, क्योंकि, वहां तो कर्म होता ही नहीं; अतः विज्ञानभिक्षु की कल्पना आदरणीय नहीं। इति ॥ १२ ॥

शंका होती है कि, धर्माधर्म रूप कर्माशय अविद्या-मूलक होने से विद्या की उत्पत्ति होने पर अविद्या के नाश होने से कारण के अभाव से अन्य नूतन कर्माशय भले उत्पन्न न हों, परन्तु प्राचीन जो अनादि जन्म परम्परा-सञ्चित एवं अनियत विपाककाल असंख्य कर्माशय विद्यमान हैं, उनका भोग से नाश होना अशक्य है। अतः विद्या की उत्पत्ति होने पर भी पूर्व कर्मों के विद्यमान रहने से जन्ममरण रूप संसार का उच्छेद होना अशक्य है ? इस शंका का उद्धार सूत्रकार करते हैं—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा इति। सूत्र में विपाक शब्द का अर्थ फल है, जो शुभाशुभ कर्मजन्य धर्माधर्मरूप कर्माशय का सुखदुःखसाक्षात्कार रूप है। जाति शब्द का अर्थ जन्म अथवा देवत्व, मनुष्यत्व, पशुत्व आदि उत्तम, मध्यम, अधमरूप जाति है।

सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति।

स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति।

आयुः शब्द का अर्थ जीवनकाल अर्थात् प्रारब्ध-अनुसार नियत काल पर्यन्त पिण्डप्राण का संबन्ध है और भोग शब्द का अर्थ इन्द्रियादि द्वारा सुखदुःख का साक्षात्कार होना है। तथाच—सति मूले—धर्माधर्मरूप कर्माशय के मूलभूत कारण अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान रहने पर ही, तद्विपाकः—उन धर्माधर्मरूप कर्माशय के सुख दुःख फल होते हैं। वे फल तीन प्रकार के हैं—जात्यायुर्भोगाः—जाति (जन्म), आयु (जीवनकाल) तथा भोग (सुख दुःख साक्षात्कार) रूप। अर्थात् विद्या की उत्पत्ति होने पर जब उक्त कर्माशय का कारण अविद्या नष्ट हो जाती है तब छिन्नमूल कर्माशय जन्मादि संसार को उत्पन्न नहीं करने से संसार का उच्छेद हो जाता है। अतः संसार का उच्छेद शक्य है, अशक्य नहीं, यह उक्त शंका का उत्तर सिद्ध हुआ।

इसी अर्थ को भाष्यकार द्योतन करते हैं—सत्सु क्लेशेष्विति। क्लेशेषु सत्सु-अविद्यादि-क्लेशों के विद्यमान रहने पर ही, कर्माशयः—धर्माधर्म रूप कर्माशय, विपाकारम्भी—अपने फल का जनक, भवति—होता है, न उच्छिन्नक्लेशमूलः—उच्छिन्न क्लेशमूल नहीं, अर्थात् उसके कारण अविद्यादि क्लेश के उच्छिन्न (नाश) होने पर नहीं। इसमें दृष्टान्त देते हैं—यथा—जैसे, तुषावनद्धाः—तुष-रूप सहकारी कारण से संबद्ध (भूसा सहित), अदग्धबीजभावाः—अदग्धबीजभाव (अग्निद्वारा जिनका बीजभाव दग्ध न हुआ हो ऐसे), शालितण्डुलाः—धान के चावल, प्ररोहसमर्थाः—अङ्कुर उत्पन्न करने में समर्थ, भवन्ति—होते हैं, न अपनीततुषाः—न कि तुष रहित, वा—और, दग्धबीजभावाः—न दग्धबीजभाव, तथा—वैसे ही, क्लेशावनद्धः—अविद्यादि क्लेश-रूप सहकारी कारण से संबद्ध, कर्माशयः—धर्माधर्म रूप कर्माशय, विपाकप्ररोही—जन्मादि रूप अङ्कुर उत्पन्न करने में समर्थ, भवति—होता है, न अपनीतक्लेशः—न कि क्लेश रहित, वा—और, न प्रसंख्यानदग्धबीजभावः—न प्रसंख्यान-अग्नि से दग्ध रागादि क्लेश रूप बीजभाव।

धर्माधर्म रूप कर्माशय के फल रूप विपाक का त्रैविध्य दिखाते हैं—स चेति। स च—और वह, धर्माधर्म रूप कर्माशय का, विपाकः—फल, जातिः आयुः भोगः—जाति, आयु तथा भोग के भेद से, त्रिविधः—तीन प्रकार का है, इति—यह सिद्ध हुआ।

तत्रेदं विचार्यते—किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणमथैकं कर्मानेकं जन्माऽऽक्षिपतीति। द्वितीया विचारणा—किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयत्यथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयतीति।

न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्। अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः सांप्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति।

यहां पर पर भाष्यकार प्रसंगवश एकभविक बाद का निरूपण करते हैं—तत्रेदमिति। तत्र-जन्म रूप फल के विषय में, इदम्-यह प्रथम प्रकार का, विचार्यते-विचार किया जाता है—किमेकमिति। किम्-क्या, एकं कर्म—एक कर्म, एकस्य जन्मनः-एक जन्म का, कारणम्-कारण है? अथ-अथवा, एकं कर्म—एक कर्म, अनेकं जन्म-अनेक जन्म को, आक्षिपति-फल देने के लिये उत्पन्न करता है? इति-इस प्रकार एक कर्म को स्थिर करके जन्म एकत्व, अनेकत्व विषयक दो विकल्प किये गए हैं।

द्वितीया विचारणा—द्वितीया-दूसरे प्रकार की, विचारणा-विचारणा यह है कि,—किमिति। किम्-क्या, अनेकं कर्म-अनेक कर्म, अनेकं जन्म-अनेक जन्म का, निर्वर्तयति-निर्माण करते हैं? अथ-अथवा, अनेकं कर्म-अनेक कर्म, एकं जन्म-एक जन्म का, निर्वर्तयति-निर्माण करते हैं, इति-इस प्रकार अनेक कर्म को स्थिर करके जन्म अनेकत्व, एकत्व विषयक दो विकल्प किये गए हैं। इस प्रकार दो दो विकल्पवाले दोनों मिल कर चार विकल्प संपन्न हुए। उनमें प्रथम विकल्प का निराकरण करते हैं—न तावदिति। तावत्-प्रथम तो, एकं कर्म-एक कर्म, एकस्य जन्मनः-आगामी एक जन्म का, न कारणम्-कारण नहीं हो सकता है। कस्मादिति। कस्मात्-क्योंकि, अनादिकालेति। अनादिकालप्रचितस्य-अनादि काल के अनेक जन्मों से संचित, अवशिष्टस्य-फल देने के पश्चात् शेष बचे हुए, असंख्येयस्य-असंख्य प्राचीन, च-तथा, सांप्रतिकस्य-वर्त्तमान काल के नूतन, कर्मणः-कर्मों के, फलक्रमानियमात्-फल का क्रम नियत न होने से, लोकस्य-लोकों को, अनाश्वासः प्रसक्तः-अविश्वास हो जायगा कि, प्राक्तन तथा नूतनों में से कौन एक कर्म प्रथम फल देगा? इत्यादि। स इति। स च-और वह अनाश्वास, अनिष्ट इति-अनिष्ट है, अर्थात् किसी को अभिमत नहीं है; क्योंकि, उक्त विश्वास के अभाव से किसी की भी कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होगी। भाव यह है कि, यदि पूर्व के असंख्य कर्मों में से कोई एक ही कर्म एक जन्म आरम्भ के लिये उद्यत होगा तो क्षय किसी विरला ही कर्म का और उत्पत्ति बहुत कर्मों की होने से निरन्तर उत्पन्न

न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्। अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति।

न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्। तदनेकं जन्म युगपन्न संभवतीति क्रमेणैव वाच्यम्। तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः।

होनेवाले परस्पर संपीडित अनन्त धर्माधर्म रूप कर्माशय फल देने में निरुत्साही होने से प्रेक्षावत् पुरुषों को फल-क्रम का निश्चय करना कठिन हो जायगा ? अतः तत्प्रयुक्त अनाश्वास होने से कर्मानुष्ठान में किसी की प्रवृत्ति नहीं होगी, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

द्वितीय विकल्प का निराकरण करते हैं--न चैकमिति। न च-और न, एकं कर्म-एक कर्म, अनेकस्य जन्मनः-अनेक जन्मों का, कारणम्-कारण हो सकता है। कस्मादिति। कस्मात्-क्योंकि, अनेकेष्विति। अनेकेषु कर्मसु-अनेक संचित तथा आगामी कर्मों में से, एकैकमेव कर्म-एक एक ही कर्म अर्थात् उनमें से कोई एक ही कर्म, अनेकस्य जन्मनः-अनेक जन्मों का, कारणमिति-कारण होने से, अवशिष्टस्य-शेष बचे हुए कर्मों का, विपाककालाभावः प्रसक्तः-फल देने के लिये अवसर का अभाव प्रसक्त होगा ? अर्थात् एक ही प्राक्तन कर्म जब सदा फल देता ही रहेगा तो शेष (बचे हुए) कर्मों को फल देने का अवसर न मिलने से निष्फल हो जायंगे ? स इति। स च अपि-और वह भी, अनिष्ट इति-अनिष्ट ही है; क्योंकि, विफल जानकर अग्रिम कर्मानुष्ठान में कोई प्रवृत्त ही नहीं होगा ?। भाव यह है कि, जब प्रथम पक्ष उक्त एक कर्म को जन्म का कारण मानने में ही प्रेक्षावत् पुरुषों को व्यर्थ जानकर कर्मानुष्ठान में अनाश्वास प्राप्त है तो एक कर्म को अनेक जन्म का कारण मानने में व्यर्थता-प्रयुक्त अनाश्वास प्राप्त हो, इसमें तो कहना ही क्या है ? क्योंकि, एक ही कोई प्राचीन कर्म से जब असंख्य-जन्म हुआ करेंगे तो अन्य प्राचीन कर्मों के व्यर्थ होने से फल में अनाश्वास होगा, तो सुतरां सांप्रतिक अन्य कर्म को व्यर्थ अवसर के अभाव प्रयुक्त होने से अनाश्वास सिद्ध है।

तृतीय विकल्प का निराकरण करते हैं--न चानेकमिति। न च—और न, अनेकं कर्म—अनेक कर्म, अनेकस्य जन्मनः—अनेक जन्मों के, कारणम्—कारण हो सकते हैं। कस्मादिति। कस्मात्—क्योंकि, तदनेकमिति। तत्—वे अनेक कर्म, युगपत्-जो एक ही काल में, अनेकं जन्म—अनेक जन्म देंगे सो वार्त्ता जो योगी नहीं हैं उनको, न संभवति-संभव नही है, इति-अतः क्रमेण एव-अनुक्रम से ही, वाच्यम्—कहना पड़ेगा। तथा च—ऐसी स्थिति में, पूर्वदोषानुषङ्गः—

तस्माज्जन्मप्रयाणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य संमूर्च्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति।

प्रथम पक्ष में उक्त दोष की ही पुनः प्रसक्ति हुई। अर्थात् प्रथम पक्ष में एक कर्म से एक ही जन्म कहने से जो कर्मानुष्ठान में अनाश्वास दोष कहा गया है, वही दोष फिर लागू पड़ेगा? अतः यह तृतीय पक्ष भी असङ्गत ही है। भाव यह है कि, यदि हजारों कर्म, एक ही काल में हजारों जन्म का आरम्भ कर सकते हों तो प्राचीन हजारों कर्मों के भोग द्वारा क्षय होने से अवशिष्ट सांप्रतिक (नूतन) कर्मों के फल देने का अवसर तथा काल-क्रम का नियम रहने से उनके अनुष्ठान में प्रवृत्ति हो सकती है, सो तो एक ही काल में असंख्य जन्मों की संभावना है नहीं; अतः प्रथम पक्ष उक्त दूषण गले पतित है।

इस प्रकार उक्त तीनों पक्षों का निराकरण करने पर शेष रहा जो "अनेक कर्म, एक जन्म के कारण हैं" यह चतुर्थ पक्ष उसका प्रतिपादन करते हैं—तस्मादिति। तस्मात् इसलिये, जन्मप्रयाणान्तरे—जन्म से लेकर मरण पर्यन्त, कृतः—किया हुआ जो असंख्य, विचित्रः—विचित्र अर्थात् सुख दुःख रूप फल देने से विलक्षण, पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयः—धर्म, अधर्म रूप कर्माशयों का समूह वह, प्रधानोपसर्जनभावेन—गौण (विलम्ब-फल-प्रद), प्रधान (शीघ्र-फल-प्रद) भाव से, अवस्थितः—अवस्थित होता हुआ, प्रयाणाभिव्यक्तः—मरणकाल में अभिव्यक्त होकर, एकप्रघट्टकेन संमूर्च्छितः—एक ही काल में परस्पर संघटित होकर (मिलजुल कर), मरणं प्रसाध्य-मरण का निष्पादन करके, एकमेव जन्म—एक ही जन्म का आरम्भ, करोति—करता है, अनेक का नहीं। यह अन्तिम पक्ष स्थिर हुआ। तच्च जन्म—और वह जन्म, तेनैव कर्मणा—उसी कर्म के द्वारा, लब्धायुष्कम्—काल भेद से नियत जीवनरूप आयुष्यवाला, भवति—होता है। तस्मिन् आयुषि—उस आयुष्य में, तेनैव कर्मणा—उसी कर्म के द्वारा, भोगः—सुखदुःख साक्षात्काररूप भोग, संपद्यते—प्राप्त होता है। इति—इसलिये, असौ कर्माशयः—वह धर्म-अधर्मरूप कर्माशय, जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्—पूर्वोक्त जाति, आयुष्य तथा भोगरूप तीनों फल के हेतु होने से, त्रिविपाकः—त्रिविपाक, अभिधीयते—कहा

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात् द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वान्नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति।

जाता है। अतः—इस कारण से, एकभविकः—सब मिलकर एक जन्म का आरम्भ करने से एकभविक, कर्माशयः—पुण्य-पाप रूप कर्माशय, उक्तः—कहा गया है। अर्थात् इसी को एकभविक वाद कहते हैं।

पूर्वोक्त एकभविक कर्माशय सामान्य, विशेष भेद से दो प्रकार का है। उनमें जो जाति, आयु, भोग रूप तीन फल का हेतु है वह त्रिविपाक होने से सामान्य कहा जताा है और जो आयु, भोगरूप दो फल का हेतु है वह द्विविपाक होने से विशेष कहा जाता है एवं जो केवल भोगरूप एक ही फल का हेतु है वह भी एकविपाक होने से विशेष ही कहा जाता है। उनमें सामान्य त्रिविपाक एकभविक जो कर्माशय है उसका स्वरूप प्रतिपादन करके अब विशेष जो द्विविपाक तथा एकविपाक एकभविक दो कर्माशय हैं, उनका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं—दृष्टेति। दृष्टजन्मवेदनीयस्तु—जो दृष्टजन्म-वेदनीय विशेष कर्माशय है वह तो, नहुषवत्—राजा नहुष के कर्माशय के समान, भोगहेतुत्वात्—केवल एक भोग का ही हेतु होने से, एकविपाकारम्भी—एक ही फल का देने वाला, वा—और, नन्दीश्वरवत्—नन्दीश्वर के कर्माशय के समान, भोगायुर्हेतुत्वात्—भोग तथा आयुरूप दोनों फल का हेतु होने से, द्विविपाकारम्भी—दो फल का देनेवाला कहा जाता है। अर्थात् पूर्वोक्त नन्दीश्वर की आयु पूर्व कर्म से आठ वर्ष ही परिमित थी; परन्तु उन्होंने महादेव की आराधना से ऐसा पुण्य-विशेष का लाभ किया था कि, जिसके प्रभाव से अमरत्वात्मक दीर्घायु तथा दिव्य भोग प्राप्त किया था, जाति (जन्म) नहीं; क्योंकि, जाति का लाभ तो उनको प्रथम कर्म से ही हो चुका था। अतः इस प्रकार का कर्माशय दो फल का हेतु होने से द्विविपाकारम्भी कहा जाता है। और राजा नहुष ने ऋषियों को पार्ष्णिप्रहार करने से ऐसा अति उग्र अधर्म का लाभ किया था कि, जिसके प्रभाव से तीव्र दुःख रूप भोग उनको प्राप्त हुआ था, जाति और आयु नहीं, क्योंकि, जाति तथा आयु तो जिस पुण्य से उन्होंने इन्द्र-पद प्राप्त किया था, उसीसे प्रथम ही निर्माण हो चुका था। अतः इस प्रकार का कर्माशय एक फल का हेतु होने से एकविपाकारम्भी कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, जो कर्माशय अदृष्टजन्मवेदनीय है वह त्रिविपाकारम्भी और जो दृष्टजन्मवेदनीय है, वह कहीं द्विविपाकारम्भी और कहीं एकविपाकारम्भी है।

शंका होती है कि, शुभाशुभ कर्म-जन्य पुण्यापुण्य कर्माशय ही एकभविक है, अथवा कर्म-फलजन्य भोग के अनुकूल क्लेश, वासना भी ? यदि उक्त वासना भी एकभविक है तो मनुष्यशरीर के पश्चात् जब पशुशरीर प्राप्त

क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्वर्तिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्च्छितमिदं चित्तं विचित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः ।

यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति । ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति ।

होगा तब पशु-उचित भोग न होना चाहिये ? क्योंकि पशु - उचित भोग के अनुकूल वासना है नहीं ? और वासना बिना भोग होता नहीं है ? इस शंका का उत्तर भाष्यकार देते हैं—क्लेशकर्मेति । सर्वतः ग्रन्थिभिः आततम् मत्स्यजालम् इव—सर्व तरफ की ग्रन्थियों से ग्रथित मछली पकड़ने की जाल के समान, क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्वर्तिताभिः वासनाभिः—क्लेश, कर्म तथा फल के अनुभवजन्य वासना द्वारा, इदं चित्तम्—यह चित्त, अनादिकालसंमूर्च्छितम्—अनादि काल के असंख्य जन्मों से एकल्लोलीभावापन्न एवं, विचित्रीकृतमिव—चित्रित के समान ग्रथित हो रहा है, इति—अतः, एताः वासनाः—ये वासनायें, अनेकभवपूर्विकाः—अनेक भवपूर्वक हैं अर्थात् ये वासनायें अनेक जन्मों की हैं, एक जन्म की नहीं । अतः वासना एकभविक नहीं है, यः तु—जो तो, अयं कर्माशयः—यह कर्माशय है, एष एव—यही, एकभविकः—एकभविक, उक्तः—कहा गया है, इति—ऐसा समझना चाहिये । भाव यह है कि, कर्माशय ही एकभविक है, वासना नहीं; अतः मनुष्यशरीर के पश्चात् जब प्राणी पशुशरीर में जाता है तब पूर्व के किसी जन्म में पशुशरीर से जो भोग का अनुभव किया था, तज्जन्य वासना को वर्त्तमान पशुशरीर में भोग का हेतु होने से पशु - उचित भोग होता है । अतः दोष नहीं ।

शंका होती है कि, शुभाशुभ कर्म - जन्य जो वासना वही तो धर्माधर्म रूप, कर्माशय है, तो कर्माशय से अतिरिक्त आपके अभिमत वासना क्या है ? कि, जिसको एकभविक नहीं मानते हैं और कर्माशय को एकभविक मानते हैं ? इसका उत्तर भाष्यकार करते हैं—ये संस्कारा इति । ये संस्काराः—जो संस्कार, स्मृतिहेतवः—स्मृति के हेतु हैं, ताः वासनाः—वे वासना कही जाती हैं, च—और, ताः—वे वासनायें, अनादिकालीनाः—पिछले अनादि काल के बहुत जन्मों की हैं, अतः मनुष्य आदि शरीर से जब पशु आदि शरीर में प्राणी जाता है तब प्रथम पशु आदि शरीर में अनुभूत भोगजन्य वासना से वर्त्तमान पशु आदि शरीर में तदुचित भोग होता है । और जो धर्माधर्म रूप कर्माशय हैं वे स्मृति के हेतु नहीं, अतः वे वासना नहीं कही जाती हैं, एतएव एकभविक होने से उत्तर के एक ही भव में वे सब कर्माशय समाप्त हो जाते हैं और वासनायें उनसे भिन्न होने से अनेक भव पर्यन्त

यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च । तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य । कस्मात्

यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः—कृतस्य विपाकस्य विनाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति । तत्र कृतस्याविपक्कस्य

विद्यमान रहती हैं । "अनादिकालीनाः" इस पंक्ति के द्वारा वासना को अनादि कहने से "यदि वासना से ही भोग होता है, तो सर्वप्रथम जो जन्म हुआ था, उसमें वासना के अभाव से भोग कैसे हुआ था ?" यह शंका भी निरस्त हो गई । क्योंकि, वासना को अनादि कहने से उसका कारण जन्म भी अनादि सिद्ध हुआ । अतः सर्व जन्म तथा तज्जन्य वासना; ये सब उत्तर ही हैं, कोई प्रथम नहीं, अतः दोष नहीं ।

जिन धर्माधर्म रूप कर्माशयों को एकभविक कहा गया है, वे सभी कर्माशय एकभविक हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये । इस बात को स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार भूमिका रचते हैं—य इति । यः तु असौ—जो यह वासना से भिन्न, एकभविकः कर्माशयः—एकभविक कर्माशय है, सः—वह, नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च—नियत विपाक (नियमपूर्वक अवश्य फल देनेवाले) और अनियत विपाक (अनियमित फल देनेवाले) के भेद से दो प्रकार का है । तत्रेति । तत्र—उन दोनों प्रकार के कर्माशयों में से जो, दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्य एव—इसी जन्म में नियमपूर्वक अवश्य फल देनेवाला कर्माशय है, उसी का ही, अयं नियमः—यह एकभविकत्व नियम है, तु—और जो, अदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य—जन्मान्तर में अनियमित रूप से फल देनेवाला कर्माशय है, उसका यह एकभविकत्व नियम, न—नहीं है । इसमें हेतु पूछते हैं—कस्मादिति । कस्मात्—किस कारण से अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय का एकभविकत्व नियम नहीं है ? सहेतुक उत्तर देते हैं—य इति । हि—क्योंकि, यः—जो, अदृष्टजन्मवेदनीयः अनियतविपाकः—अदृष्टजन्मवेदनीय अनियत विपाक कर्माशय है, तस्य—उसकी, त्रयी गतिः—तीन गति हैं—कृतस्येति । प्रथम तो, कृतस्य अविपाकस्य—किये हुए कर्मों के फल दिये विना ही, विनाशः—नाश होना । प्रधानेति । वा—अथवा दूसरी गति—प्रधानकर्मणि—किसी प्रधान कर्म में, आवापगमनम्—मिल जाना अर्थात् किसी प्रधान कर्म के साथ मिलकर फल देना, स्वतन्त्र नहीं । नियतेति । वा—अथवा तीसरी गति—नियतविपाकप्रधानकर्मणा—नियमपूर्वक अवश्य फल देनेवाले प्रधान कर्म द्वारा, अभिभूतस्य—अभिभूत होकर (दब कर), चिरम्—

नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य ।

यत्रेदमुक्तम्—"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते" । प्रधानकर्मण्यावापगमनम् ।

बहुत काल पर्यन्त, अवस्थानम्—अवस्थित (बैठा) रहना। इन तीनों गतियों में से प्रथमा का स्वरूप दिखाते हैं—तत्रेति। तत्र—उन तीनों गतियों में, कृतस्य अविपक्वस्य—किये हुए कर्मों के फल दिये बिना ही, नाशः—नाश, यथा—जैसे, शुक्लकर्मोदयात्—शुक्ल (शुभ) कर्मों के उदय होने पर, कृष्णस्य—कृष्ण (अशुभ) कर्मों का, इहैव—इसी जन्म में, नाशः—नाश होना है। अर्थात् जो पुरुष तप तथा वेदाध्ययन आदि शुभ कर्मों का, अनुष्ठान करते हैं, उनके पापों का फल दिये बिना ही नाश हो जाता है। शुक्ल-कर्मों से कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण इन दोनों दुःख-हेतुक कर्मों का नाश होता है। इस कथन में श्रुतिप्रमाण देते हैं—द्वे द्वे हेति। पापकस्य—पापी पुरुषों के, वेदितव्ये—भोगने योग्य जो, द्वे द्वे—कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण रूप दुःखजनक दो प्रकार के कर्म हैं, उन दोनों को, पुण्यकृतः—तप तथा वेदादि स्वाध्याय - रूप शुभ कर्म जन्य जो, एको राशिः—एक शुक्ल धर्म समूह है, वह अपहन्ति—नाश कर देता है, तत्—इसलिये, सुकृतानि कर्माणि कर्तुम् इच्छस्व—तप तथा स्वाध्याय आदि सुकृत कर्म ही करने की इच्छा कर, इहैव—इसी मनुष्य शरीर में, ते—तुम्हारे करने योग्य, कर्म—कर्मानुष्ठान का विधान है, अर्थात् मनुष्यशरीर ही कर्मशरीर है, अन्य देव, पशु आदि शरीर कर्मशरीर नहीं किन्तु भोग-शरीर हैं। इस बात का, कवयः—ऋषि, महर्षि आदि विद्वान् लोग, वेदयन्ते—उपदेश करते हैं। श्रुति का भाव यह है कि, अयोगी पुरुषों के शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण उभयरूप ये तीन प्रकार के कर्म हैं। उनमें शुक्ल कर्म सुख का हेतु है और कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण ये दोनों दुःख के हेतु हैं। उन तीनों में से जब शुक्ल कर्म का उदय होता है तब कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण इन दोनों कर्मों का नाश हो जाता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि, शुभ कर्म द्वारा उक्त दुःखहेतुक कर्मों का नाश करे।

द्वितीया गति का स्वरूप दिखाते हैं—प्रधानेति। अदृष्टजन्मवेदनीय अनियत विपाक रूप कर्माशय की द्वितीया गति। जैसे, प्रधानकर्माणि—प्रधान कर्म ज्योतिष्टोमादि में, आवापगमनम्—पशुहिंसादिरूप कर्मों का मिलकर फल देना है। भाव यह है कि, प्रधानभूत अङ्गी याग में हिंसारूप पशु-आलम्भन आदि जो अङ्गकर्म हैं, उनके दो फल हैं—एक तो ज्योतिष्टोम आदि प्रधान कर्म के अङ्गरूप से विधान होने से उनका (प्रधान का) उपकार (सहायता) करना और दूसरा "मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि"

यत्रेदमुक्तम्—"स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्। कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेप्यपकर्षमल्पं करिष्यतीति"।

इस श्रुति से निषिद्ध होने से दुःख-रूप अनर्थ उत्पन्न करना है। उनमें प्रधान कर्म के अङ्गरूप से अनुष्ठान होने से हिंसादि कर्मों में अप्रधानता ही है। अतः प्रधान निरपेक्ष होकर अतिशीघ्र (प्रधान से प्रथम) अपना अनर्थरूप फल नहीं दे सकते हैं; किन्तु जब तक प्रधान कर्म फल न देवे तब तक उनकी सहायता करने के लिए बैठे रहते हैं। अतः प्रधान कर्म की सहायता करने के लिये तथा अपना अनर्थ रूप फल देने के लिये बीजरूप से अवस्थित रहना, यही प्रधान कर्म में आवापगमन कहा जाता है और यही आवापगमन उक्त कर्माशय की द्वितीया गति कही जाती है।

जब प्रधान-कर्म स्वर्गादि फल देने लगते हैं, तब हिंसादि अप्रधान कर्म भी प्रधान का उपकार करते हुए उसके साथ-साथ अपना भी अनर्थ रूप फल देते हैं। इस बात को पञ्चशिखाचार्य की उक्ति से भाष्याकार सिद्ध करते हैं—यत्रेदमिति। यत्र—यथोक्त विषय में, इदम्—इस प्रकार, उक्तम्—महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—स्यादिति। यदि हिंसादि जन्य पाप से यागादि अपूर्व (पुण्य) में, स्वल्पः—थोड़ा भी, संकरः—मिश्रण, स्यात्—हो जाय तो वह, सपरिहारः—स्वल्प प्रायश्चित्त के द्वारा परिहार (दूर) कर सकते हैं; क्योंकि, वह पाप स्वल्प है, अधिक नहीं। और यदि प्रमाद से प्रायश्चित्त न किया जाय तो, सप्रत्यवमर्षः—पुण्य जन्य स्वर्गादि अधिक सुख के साथ-साथ थोड़ा उक्त मिश्रित पापजन्य दुःख भी सहन करना पड़ेगा, परन्तु वह पुण्य के साथ मिश्रित पाप स्वल्प होने से, कुशलस्य—अधिक पुण्य को, अपकर्षाय—नाश करने में, अलं न—समर्थ नहीं है। वादी शंका करते हैं—कस्मात्—पुण्य को नाश करने में पाप समर्थ क्यों नहीं है? पुण्यवाले उत्तर देते हैं—हि—इसमें कारण यह है कि मे—मेरा, अन्यत्—पाप से अन्य, कुशलम्—दीक्षणीया से लेकर दक्षिणा पर्यन्त पुण्य, बहु—बहुत, अस्ति—है, यत्र—जिसमें, अयम्—यह पाप समूह, आवापं गतः—आवाप को प्राप्त हुआ है अर्थात् मिल गया है, और वह, स्वर्गेऽपि—स्वर्ग में भी, अल्पम्—थोड़ा, अपकर्षम्—दुःखसंभेद, करिष्यति—करेगा अर्थात् दुःख देगा।

इस उक्ति से यह सिद्ध है कि, अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक पशु-हिंसादि-जन्य अप्रधान कर्म का ज्योतिष्टोमादि प्रधान कर्म में आवापगमन होता है और वही उक्त कर्माशय की द्वितीया गति कही जाती है।

नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम् ।

कथमिति । अदृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैव कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य ।

यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेद-

---

क्रमप्राप्त तृतीया गति का स्वरूप निर्देश करते हैं—नियतेति । अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक रूप कर्माशय की तृतीया गति । जैसे–नियतविपाकप्रधानकर्मणा–अवश्य फल देनेवाले बलवान् कर्मों से, अभिभूतस्य–तिरस्कृत होकर (दब कर) फल दिये बिना ही, चिरम्–बहुत काल पर्यन्त, अवस्थानम्–बीजरूप से पड़ा रहना है। अर्थात् बलवान् पुण्य कर्मों के निरन्तर भोग होते रहने से फल देने का अवकाश न मिलने से पाप-कर्मों का बीज-रूप से पड़ा रहना एवं बलवान् पाप-कर्मों के निरन्तर भोग होते रहने से फल देने का अवकाश न मिलने से पुण्य-कर्मों का बीज-रूप से पड़ा रहना, प्रधान-कर्मों से अभिभूत होकर चिरकाल पर्यन्त अवस्थान होना है। यहां प्रधान अङ्गी तथा अप्रधान अङ्ग है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु जिसको फल देने का अवकाश मिल गया है वह प्रधान अर्थात बलवान् और जिसको फल देने का अवकाश न मिला है वह अप्रधान अर्थात् दुर्बल है, ऐसा समझना चाहिये। यही अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक रूप कर्माशय की तृतीया गति कही जाती है।

प्रथम कहा गया है कि, मरण के पश्चात् एक ही समय सब कर्माशय अभिव्यक्त होते हैं और अब कहते हैं कि, चिरकाल पर्यन्त अवस्थित रहते हैं। अतः इस कथन में पूर्व-पर का विरोध प्रतीत होता है। इस आशय से शंकावादी पूछते हैं—कथमिति। इति–एक ही समय में कर्माशयों को अभिव्यक्त होना और चिरकाल तक अवस्थित रहना, यह परस्पर विरुद्ध दोनों बातें, कथम्–कैसे कह रहे हैं ? उत्तर देते हैं–अदृष्टेति। अदृष्टजन्मवेदनीयस्य–अदृष्टजन्मवेदनीय जो, नियतविपाकस्यैव कर्मणः–अवश्य फल देनेवाले कर्म हैं उन्हीं को, समानम् मरणम् अभिव्यक्तिकारणम् उक्तम्–समान मरण, अभिव्यक्ति का कारण प्रथम कहा गया है और, अदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य न तु–अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक जो कर्म हैं उनको नहीं कहा गया है। अतः नियत-विपाक को अभिव्यक्ति का कारण और अनियत विपाक को चिर अवस्थान कहने से विरोध नहीं। इससे भिन्न कर्मों की जो तीन गति कही गई हैं उनका निश्चय कराते हैं—यदिति। यत्तु–और जो तो, अदृष्टजन्मवेदनीयं अनियतविपाकं कर्म–अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक रूप

भिभूतं वा चिरमप्युपासीत, यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति। तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति।

न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति ॥ १३ ॥

कर्म हैं, तत्-वे, पूर्वोक्त प्रकार से कहां तो, नश्येत्-नष्ट हो जाते हैं, वा-अथवा, आवापं गच्छेत्-आवाप को प्राप्त होते हैं, वा-अथवा, अभिभूतम्-बलवान् कर्म से अभिभूत होकर, चिरम् अपि उपासीत-बहुत काल तक उपासना (फल देने के लिये विचार) करते हुए पड़े रहते हैं। इस प्रकार पड़ा रहना भी उनका तभी तक होता है, यावत्-जब तक, उनके विरोधी बलवान् कर्मों का फल न भोगा गया हो, अथवा, समानं कर्म-इन कर्मों के समान फल देनेवाला दूसरा कोई, अस्य-इनका, अभिव्यञ्जकं निमित्तम्-अभिव्यञ्जक बलवान् निमित्त कर्म, विपाकाभिमुखम्-फलाभिमुख, न करोति-नहीं करता है और जब उक्त निमित्त मिल जाता है तब अभिव्यक्त होकर फल देने लगते हैं। परन्तु—तदिति। तद्विपाकस्य-इस प्रकार के कर्म के फल विषयक, देशकालनिमित्तानवधारणात् एव-देश, काल तथा निमित्त का निश्चय न होने से ही, इयं कर्मगतिः-यह कर्मगति, चित्रा-विचित्र, च-तथा, दुर्विज्ञाना-दुर्विज्ञेय कही जाती है। अर्थात् भोग-समाप्ति के पश्चात् यथोक्त विरोधी कर्मों का अभाव कब होगा? अथवा अन्य किसी की सहायता कब प्राप्त होगी और फलाभिमुख होकर ये कर्म किस समय फल देंगे, यह कौन कह सकता है? अर्थात् कोई नहीं। अत एव श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि—"कर्मणो गहना गतिः" अर्थात् कर्म की गति गहन है।

उत्सर्ग-रूप सामान्य कर्मों के अपवादरूप विशेष कर्मों से निवृत्ति ही क्यों नहीं मानी जाय। ऐसी शंका होने पर भाष्यकार कहते हैं—न चेति। उत्सर्गस्य-सामान्य कर्मों के, अपवादात्-अपवाद (बाध) से, निवृत्तिः न च-निवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि, उक्त युक्ति से चिरस्थिति के बाद उनका अवश्य फल देना सिद्ध हो चुका है। उपसंहार करते हैं—इतीति। इति-इस प्रकार, एकभविकः कर्माशयः-एकभविक कर्माशय, अनुज्ञातः-व्याख्यात हुआ।

भाव यह है कि, दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय के भेद से दो प्रकार का कर्माशय है। इसी प्रकार नियतविपाक तथा अनियतविपाक के भेद से फल भी दो प्रकार का है। उनमें दृष्टजन्मवेदनीय जो कर्माशय हैं वे नियतविपाक ही हैं, अनियतविपाक नहीं। अतः वे ही एकभविक हैं, और जो अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुःखफला

हैं, वे नियतविपाक तथा अनियतविपाक के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें जो अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय हैं, वे उक्त अभिव्यक्ति के कारण हैं, चिरस्थिति के हेतु नहीं। और जो अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकरूप कर्माशय हैं, उनकी पूर्वोक्त प्रकार से नाश, आवापगमन तथा चिरअवस्थानरूप तीन गति कही गई हैं। अतः सभी कर्म एकभविक नहीं हैं, यह निष्कर्ष है।

वेदान्त के ग्रन्थों में जिस एकभविक वाद का खण्डन पाया जाता है वही यह एकभविक वाद है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये; किन्तु उससे बहुत विलक्षण यह योगीजन-मान्य एकभविक वाद है। क्योंकि, उस एकभविक वाद का यह सिद्धान्त है कि—एक ही भव में एक अथवा असंख्य शरीर धारण करके सर्व कर्मों के फलभोग लेने से कर्म के अभाव से जन्माभाव रूप मोक्ष सिद्ध हो जाता है, तो उसके लिये कष्ट-साध्य ज्ञान संपादन करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस एकभविक वाद को विशेष रूप से देखना हो तो हिंदी भाषाभाषियों को स्वामी श्रीनिश्चलदासजीकृत 'विचार-सागर' के द्वितीय तरंग को देखना चाहिये। ग्रन्थ बढ़ने के भय से उसका स्वरूप यहां नहीं दिखाया गया है। इति ॥ १३ ॥

इस प्रकार क्लेशमूलक कर्म तथा कर्ममूलक जन्म, आयु, भोग रूप तीनों विपाक कहे गये। अब उक्त तीनों विपाक किस के मूल हैं कि, जिसके लिए ये हेय हैं। इस शंका का उत्तर विपाकों के फल कथन करते हुए सूत्रकार करते हैं—ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वादिति। ते—वे जन्म, आयु, भोगरूप विपाक, —पुण्यापुण्यहेतुत्वात्—धर्माधर्म रूप हेतुमूलक होने से, ह्लादपरितापफलाः—ह्लाद (सुख) तथा परिताप (दुःख) रूप फल देनेवाले हैं। अर्थात् शुभ कर्म से जो जन्मादि प्राप्त होते हैं वे सुख रूप फल देनेवाले हैं और अशुभ कर्म से जो जन्मादि प्राप्त होते हैं वे दुःख-रूप फल देनेवाले हैं। इसी अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—ते जन्मेति। ते जन्मायुर्भोगाः—वे जन्म, आयु तथा भोग जो, पुण्यहेतुकाः—पुण्यहेतुक अर्थात् शुभ कर्म जन्य हैं वे, सुखफलाः—सुख रूप फल देनेवाले हैं और जो, अपुण्यहेतुकाः—अपुण्यहेतुक अर्थात् अशुभ कर्म जन्य हैं वे, दुःखफलाः—दुःख रूप फल देनेवाले हैं, इति—इस प्रकार सूत्रार्थ निष्पन्न हुआ।

शंका होती है कि, अपुण्यहेतुक परितापफलक जो जाति, आयु, भोग हैं वे प्रतिकूलवेदनीय होने से भले हेय हों; परन्तु पुण्यहेतुक सुखफलक जो जाति, आयु, भोग हैं वे अनुकूलवेदनीय होने से हेय कैसे? इनकी प्रत्येक आत्मा में अनुभूत जो अनुकूलता है

इति। यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥ १४ ॥

कथं तदुपपद्यते—

वह सहस्रों अनुमान तथा आगम के द्वारा भी दूर नहीं की जा सकती है। ह्लाद तथा परिताप ये दोनों परस्पर अविनाभूत भी नहीं हैं कि, जिसके लिये ह्लाद के ग्रहण करने से अवर्जनीय होने के कारण परिताप भी गृहीत हो जाने से ये जन्मादि तीनों ह्लादफलक भी हेय हो सकते। क्योंकि, ये दोनों (ह्लाद और परिताप) भिन्न हेतुक तथा भिन्न स्वरूपवाले होने से परस्पर निरपेक्ष हैं। अतः ह्लादफलक जाति, आयु भोग हेय कैसे ? इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं—यथेति। यथा च-जैसे, इदं दुःखं प्रतिकूलात्मकम्-यह अशुभ कर्म-जन्य दुःख प्रतिकूलात्मक है, एवम्-वैसे ही, विषयसुखकालेऽपि-शुभ कर्म-जन्य विषय-सुख के भोग-काल में भी, योगिनः योगियों को, प्रतिकूलात्मकं दुःखम्-प्रतिकूलात्मक दुःख, अस्त्येव-विद्यमान ही है। अर्थात् विषय-सुख के भोग-काल में भी योगियों को सूक्ष्म दुःख का अनुसन्धान विद्यमान ही रहता है। अतः ह्लादफलक भी जन्म, आयु, भोग हेय ही हैं, यह सिद्ध हुआ। "योगिनः" शब्द का प्रयोग करके भाष्यकार ने यह दिखाया है कि, दुःखसागर में मग्न मूढ-पुरुषों को भी सुखभोग-काल में सूक्ष्म दुःख विद्यमान तो रहता ही है; परन्तु उनको उसकी प्रतीति नहीं होती है और योगियों को उसकी प्रतीति होती है।

यद्यपि जन्म तथा आयुष सुख-दुःख (ह्लाद-परिताप) से पूर्व होने से इन्हीं दोनों का फल सुख-दुःख है, ऐसा कहना उचित है और भोग का फल सुख-दुःख है, ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि, सुख-दुःख साक्षात्कार का नाम भोग है और वह सुख-दुःख के पश्चात् उत्पन्न होता है। पश्चात् उत्पन्न होनेवाला कारण नहीं कहा जाता है, किन्तु कार्य नियत पूर्ववृत्ति कारण कहा जाता है। अतः ह्लाद-परिताप रूप सुख-दुःख भोग का फल है, यह कहना उचित नहीं। तथापि सुख दुःख साक्षात्कार रूप भोग का सुख-दुःख विषय होने से भोग का फल सुख-दुःख कहा गया है। सुख-दुःख साक्षात्कार रूप भोग से सुख-दुःख उत्पन्न होता है, इस अभिप्राय से नहीं कहा गया है। इति ॥ १४ ॥

यद्यपि विषयी पुरुष विषयसुख - भोग - काल में दुःख को प्रतिकूल रूप से नहीं जानते हैं, तथापि योगी पुरुष उसको जानते हैं। इस पूर्वोक्त बात का प्रश्नपूर्वक उपपादन करने के लिए भाष्यकार सूत्र की अवतरणिका रचते हैं—कथमिति। तत्-विषयसुख भोगकाल में योगी पुरुष सुख के साथ दुःख का भी अनुसन्धान करते हैं, यह बात जो कही गई है वह, कथम्-किस युक्ति द्वारा, उपपद्यते-उत्पन्न होती है ?

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः ।

तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति

ऐसा प्रश्न होने पर उसका उत्तर सूत्रकार स्वयं देते हैं—परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति ।

परिणामतापसंस्कारदुःखैः—परिणाम-जन्य दुःख, ताप-जन्य दुःख तथा संस्कार-जन्य दुःख से विषयसुख मिश्रित होने से, च—और, गुणवृत्तिविरोधात्—गुण-निष्ठ स्वाभाविक चञ्चलता से सदा ही सात्त्विक सुखाकार वृत्ति (विषयसुख) को अन्य विरोधी वृत्तियों से संमिलित होने से, विवेकिनः—विवेक ज्ञान युक्त योगियों की दृष्टि में, सर्वम्—प्रकृति तथा तत्कार्य विषय सुख आदि सब, दुःखमेव—दुःख रूप ही हैं। परिणामदुःख, तापदुःख तथा संस्कारदुःख से मिश्रित होने से विषयसुख दुःख रूप ही है, यह सूत्र द्वारा कहा गया। उनमें प्रथम परिणामदुःख, का विवरण भाष्यकार करते हैं—सर्वस्येति। सर्वस्य—सर्व प्राणियों को, अयम्—यह जो, चेतनाचेतनसाधनाधीनः—स्त्री-पुत्रादि चेतन तथा गृहक्षेत्रादि अचेतन रूप साधन के अधीन, सुखानुभवः—विषयसुख का अनुभव होता है वह, रागानुविद्धः—राग-रूप क्लेश से युक्त ही होता है, इति—अतः, तत्र—वहां, रागजः—रागरूप क्लेश जन्य, कर्माशयः—पाप, अस्ति—है। अर्थात् यह कभी भी संभव नहीं कि, यह विषय इस पुरुष को सुखप्रद तो है, परन्तु इसमें इसको राग नहीं है; किन्तु यही नियम है कि, जिस विषय से पुरुष को सुख होता है उसमें उसको राग अवश्य होता है। अतः सर्व विषयसुख का अनुभव रागरूप क्लेश से युक्त है और जिस राग से युक्त वह सुखानुभव है वह राग राजस होने से सुख के साधन पुण्यापुण्य में प्रवृत्ति अवश्य करावेगा। अतः सुखानुभव पुण्यापुण्य कर्माशय का हेतु है। इस प्रकार राग-जन्य विषयसुख पाप का जनक होने से और पाप दुःख का जनक होने से विषयसुख परिणाम में दुःखरूप ही है, यह सिद्ध हुआ।

विषयसुख में राग-जन्य पुण्यापुण्य प्रदिपादन करने के उपरान्त अब द्वेष-जन्य अपुण्य (पाप) का प्रतिपादन करते हैं—तथाचेति। तथाच—वैसे ही सुखानुभव काल में, दुःखसाधनानि—दुःख साधनों के प्रति, द्वेष्टि—द्वेष करता है, अर्थात् क्रोध से हिंसादि कर्म करके पाप करता है, च—और, दुःख साधनों के परिहार करने

कर्माशयः । तथा चोक्तम् । नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति हिंसाकृतोप्यस्ति शारीरः कर्माशय इति ।

विषयसुखञ्चाविद्येत्युक्तम् ।

में जब पुरुष असमर्थ होता है तब, मुह्यति—मोह को प्राप्त होता है, अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य विवेक शून्य होकर पाप करता है, इति—अतः, द्वेषमोहकृतोऽपि-द्वेष तथा मोह जन्य भी, कर्माशयः—पाप, अस्ति—है। भाष्यकार कहते हैं– तथा चोक्तमिति– रागकाल में द्वेष मोह रहते हैं, यह बात जैसे यहाँ कही गयी है, तथाच—वैसे ही पूर्व भी इसी पाद के चतुर्थ सूत्र पर विच्छिन्न क्लेशों के उपपादन के समय, उक्तम्—कही गई है।

इस प्रकार मन वाणी-प्रवृत्ति-जन्य पुण्यपाप को दिखाकर अब शरीर-प्रवृत्ति-जन्य पुण्यपाप को दिखाते हैं— नान्विति। भूतानि अनुपहत्य—प्राणियों की हिंसा किये बिना, उपभोगः न संभवति उपभोग प्राप्त होना संभव नहीं, इति–अतः हिंसाकृतः अपि–हिंसाजन्य भी, शारीरः कर्माशयः–कायिक पाप-रूप कर्माशय, अस्ति–है। इसी प्रकार भगवान् मनु ने भी कहा है–

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ मनु०अ० ३-६८।

(सूना नाम पशुवधस्थान का है) अर्थात - चुल्ली–चूल्हा पेषणी–चक्की, उपस्कर–झाड़ू, कण्डनी–उलूखल मूसल, उदकुम्भ–पानी का घड़ा; ये पांच गृहस्थ के पशुवध स्थान के समान हिंसाजन्य पाप के स्थान हैं, जो अपने कार्य में लगाकर पाप से बद्ध कर देते हैं।

इस प्रकार सुखानुभव काल में राग, द्वेष, मोह तथा हिंसादि की विद्यमानता से अग्रिम अवश्यंभावी जो पापजन्य दुःख वही परिणामदुःख कहा जाता है।

शंका होती है कि, सर्व अनुभव सिद्ध विषय सुख को दुःख जान कर अपलाप करना योगियों को उचित कैसे? इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं— विषयेति। विषय सुखञ्च–विषयसुख, अविद्या-अविद्या है, इति–यह बात, उक्तम्–"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" यो. सू. २–५ इस सूत्र पर कही गई है।

भाव यह है कि, यद्यपि सर्वानुभूत विषयसुख को दुःख जान कर अपलाप करना योगियों का उचित नहीं प्रतीत होता है, तथापि तात्कालिक तथा अविचारित रमणीय एवं परिणाम में दुःखरूप विषयसुख में विवेकी योगियों का आदर न होने से वे उसको दुःख रूप ही मानते हैं। जैसे मधुविष-मिश्रित भोजन में तात्कालिक सुख सर्वानुभव सिद्ध होने पर भी विवेकी पुरुष परिणाम में मरणरूप दुःख जान कर उस भोजन का त्याग करते हैं, वैसे ही विवेकी योगी पुरुष भी विषय में तात्कालिक सुख सर्वानुभव सिद्ध

या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति। तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति।

होने पर भी उक्त प्रकार से परिणाम में जन्म-मरणरूप दुःख जान कर उस विषयसुखभोग का त्याग करते हैं। इसी बात को श्रीभगवान् ने भी कहा है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ भ. गी. १८-३८

अर्थात् विषय, इन्द्रिय के संयोग से तात्कालिक अमृत समान जो सुख प्रतीत होता है, वह राजस सुख परिणाम में विष के समान दुःख का हेतु कहा गया है। अतः जो सुख परिणाम में दुःख का हेतु है वह सुख नहीं किन्तु सुखाभास दुःखरूप ही है।

भाष्यकार शङ्का उठाते हैं—या भोगेष्विति। या—जो, भोगेषु—भोगों में, इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों की, तृप्तेः—तृप्ति होने से, उपशान्तिः—भोगतृष्णा की शान्ति होती है, तत्—वह, सुखम्—सुख कहा जाता है और, या—जो, लौल्यात्—चाञ्चल्य प्रयुक्त तृप्ति के अभाव से, अनुपशान्तिः—भोग-तृष्णा की शान्ति का अभाव होता है, तत्—वह, दुःखम्—दुःख कहा जाता है। इस प्रकार सुखदुःख की व्याख्या करने से भोग-विषयक जो तृष्णा वही महान् दुःख और विषयभोग द्वारा उस तृष्णा की शान्ति करना वही महान् सुख प्रतीत होता है, सो शान्ति दुःखजनक तो है नहीं, फिर विषयसुख परिणाम में दुःख रूप कैसे? उक्त शङ्का का परिहार करते हैं—नचेति। भोगाभ्यासेन—बारंबार भोग से भी, इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों को, वैतृष्ण्यम् कर्तुम्—तृष्णा रहित करना, नच शक्यम्—शक्य नहीं है। इसमें हेतु देते हैं—यत इति। यतः—क्योंकि, भोगाभ्यासम् अनु—सतत भोग भोगने के पश्चात् भी प्रत्युत, रागाः—राग, च—और, इन्द्रियाणाम् कौशलानि—इन्द्रियों की कुशलतायें, विवर्धन्ते—अधिक बढ़ती हैं। तस्मादिति। तस्मात्—इससे, भोगाभ्यासः—भोग का अभ्यास, सुखस्य—सुख का, अनुपायः—उपाय नहीं हैं, इति—यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि, यदि भोग से इन्द्रियों की तृष्णा की शान्ति होती तो विषयसुख में दुख देखना अनुचित कहा जाता सो तो शान्ति होती नहीं है, प्रत्युत तृष्णा अधिक बढ़ती ही जाती है। अतः विषयसुख में दुःख देखना उचित ही है, क्योंकि, तृष्णा ही तो दुःख का मूल है। यही बात महाभारत में भी कही गई है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ भा. आदि.-८५-१२

स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो वहति दुःखपङ्के निमग्न इति। एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति।

जैसे अग्नि में घृत डालनेसे शान्त न होकर प्रत्युत वह अधिक प्रदीप्त होती है, वैसे ही कामी पुरुषों की कामना विषयभोग से शान्त न होकर प्रत्युत अधिक प्रदीप्त होती है। यह श्लोक मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में भी आता है।

यही बात विष्णुपुराण में ययाति ने कही है—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत् ॥

अर्थात् पृथिवी पर जितने व्रीहि, यव आदि अन्न, कटक-कुण्डल आदि हिरण्य-भूषण, गो-अश्व आदि पशु तथा स्त्री आदि सुखसाधक विषय पदार्थ हैं, वे सब के सब मिल कर एक पुरुष को भी पर्याप्त नहीं हैं। अर्थात् संसार के सभी विषय पदार्थ मिलने पर भी पुरुष की भोग-तृष्णा शान्त होना असंभव है। अतः अतितृष्णा का त्याग ही करना उचित है। अत एव भोगाभ्यास तृष्णा द्वारा दुःख के हेतु होने से योगिजन विषय सुख को दुःख रूप ही देखते हैं।

उक्त विषय को दृष्टान्त द्वारा भाष्यकार स्पष्ट करते हैं–स खल्विति। यः विषयानुवासितः सुखार्थी–जो पुरुष विषय-वासना से युक्त हुआ विषय भोग से सुख चाहता है, सः खलु अयम्–वह निश्चय ही, वृश्चिकविषभीतः आशीविषेण दष्ट इव–वृश्चिक विष से डरनेवाला सर्प - दष्ट (काटा हुआ) पुरुष के समान, महति दुःखपङ्के निमग्नः–महान् दुःख रूप पङ्क में निमग्न हो जाता है। अर्थात् जैसे कोई पुरुष बिच्छू के विष से डरनेवाला हो और विषधर सर्प के काटने से महान् दुःख रूप पङ्क में फंसकर विशेष दुःखी होता है, वैसे ही कामादि क्षुद्र दुःख रूप वृश्चिक - विष से डरनेवाला पुरुष भी स्त्री पुत्रादि रूप विषधर सर्प के काटने से जन्म - मरण आदि महान् दुःख रूप पङ्क में फंसकर विशेष दुःखी हो जाता है, इति–अतः विषयसुख दुःख रूप है, यह सिद्ध हुआ।

परिणाम-दुख निरूपण का उपसंहार करते हैं—एषेति। एषा परिणामदुःखता नाम—यह पूर्वोक्त परिणामदुःखता ही, सुखावस्थायामपि–विषयसुख के अनुभवकाल में भी, प्रतिकूला–प्रतिकूल होती हुई, योगिनमेव–योगियों को ही, क्लिश्नाति–क्लेश देती है; क्योंकि, विषयसुख के भोग काल में भी योगी पुरुषों को इस प्रकार का विवेक तो रहता ही है कि, इस सुख के पश्चात् दुःख अवश्य ही होगा, इत्यादि।

अथ का तापदुःखता ? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति । तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः ।

सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते। ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति । स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते ।

परिणामदुःखता का स्वरूप - निरूपण करने के उपरान्त अब तापदुःखता का स्वरूप निरूपण करने के लिये भाष्यकार प्रश्न उठाते हैं—अथेति । अथ–परिणामदुःखता निरूपण के अनन्तर, तापदुःखता— तापदुःखता का स्वरूप, का—क्या है ? उत्तर देते हैं— सर्वस्येति । सर्वस्य–सबको, द्वेषानुविद्धः–द्वेष - युक्त, चेतनाचेतनसाधनाधीनः—चेतन तथा अचेतन (जड़) रूप साधन के अधीन; तापानुभवः–तापदुःखता का अनुभव प्रसिद्ध ही है, अतः परिणामदुःखता के समान ही तापदुःखता भी होने से इसके स्वरूप निर्वचन करने की विशेष आवश्यकता नहीं। अर्थात् विषयसुख के अनुभव काल में सुख के साधन की न्यूनता से चित्त में जो एक प्रकार का परिताप होता है, वह तापदुःख कहा जाता है, जो प्रायः परिणामदुःख के समान ही है और सर्वजन प्रसिद्ध है । अतः इसको विशेष रूप से निरूपण करने की आवश्यकता नहीं है । तापदुःखता में परिणामदुःखता की समानता को ही दिखाते हैं— तत्रेति । तत्र–उस तापदुःखता में, द्वेषजः— द्वेष-जन्य, कर्माशयः–पुण्यापुण्य रूप कर्माशय, अस्ति–है । अर्थात् जैसे परिणामदुःखता में रागजन्य कर्माशय है, वैसे ही तापदुःखता में भी द्वेषजन्य कर्माशय है । क्योंकि, सुखेति । सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः—सुख - साधनों की प्रार्थना करता हुआ प्राणी, कायेन वाचा मनसा च–शरीर, वाणी तथा मन से, परिस्पन्दते—चेष्टा करता है; ततः—उसके पश्चात्, परम्—दूसरे पर, अनुगृह्णाति–अनुग्रह करता है, च–और, उपहन्ति–मारता भी है, इति–इस प्रकार अनुग्रहपीडाभ्याम्–अनुग्रह और पीड़ा के द्वारा, धर्माधर्मौ–धर्म और अधर्म को, उपचिनोति—संपादन करता है, च—और, सः–वह, कर्माशयः—धर्म, अधर्म रूप कर्माशय, लोभान्मोहाच्च—लोभ तथा मोह से, भवति–होता है ।

तापदुःखता निरूपण का उपसंहार करते हैं—इतीति । इति—अतः, एषा–यह, तापदुःखता–तापदुःखता, उच्यते—कही जाती है । अर्थात् सुख के उपभोग काल में जो उक्त द्वेष जनित चित्त में क्षोभ रूप दुःख तथा द्वेष, लोभ मोहादिजन्य जो धर्माधर्मद्वारा भावी दुःख की संभावना से परिताप वह तापदुःखता कही जाती है । यद्यपि तापदुःखता परिणाम दुःखता के समान होने से एकसी प्रतीत होती है, तथापि परिणामदुःखता का परिज्ञान केवल योगी को ही होता है, भोगी को नहीं, और तापदुःखता का परिज्ञान भोगी को भी भोग काल में हो जाता है, इतना भेद है।

का पुनः संस्कारदुःखता ? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति । एवं कर्मभ्यो विपाकेनानुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति ।

एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति । कस्मात् ? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति । यथोर्णातन्तु-

---

तापदुःखता के स्वरूप निरूपण करने के उपरान्त अब संस्कारदुःखता के स्वरूप निरूपण करने के लिए भाष्यकार प्रश्न उठाते हैं—केति । पुनः—और, संस्कार-दुःखता—संस्कारदुःखता का स्वरूप का—क्या है ? उत्तर देते हैं-सुखेति । सुखानुभवात्-सुख के अनुभव से सुखसंस्काराशयः—सुख—संस्कार रूप वासना और, दुःखानुभवादपि—दुःख के अनुभव से भी, दुःखसंस्काराशयः—दुःख—संस्कार रूप वासना, इति—इस प्रकार अनुभव से संस्कार और संस्कार से अनुभव चक्र सदा चला करता है । एवम्—इस प्रकार जो, कर्मभ्यः—कर्मों से, विपाकेऽनुभूयमाने—सुख-दुःख अनुभूत होने पर, सुखे दुःखे वा—सुख अथवा दुःख में, पुनः—बारंबार कर्माशयप्रचयः—कर्म-वासना समूह उत्पन्न होता रहता है, इति—यह (समूह) संस्कार दुःखता कहा जाता है । अर्थात् सुख-दुःख अनुभव से सुख-दुःख संस्कार, सुख-दुःख संस्कार से सुख-दुःख स्मृति, सुख दुःखस्मृति से सुख-दुःख में राग, सुख-दुःख विषयक राग द्वेष से सुख-दुःख के लिए पूर्वोक्त कायिक, वाचिक, मानसिक चेष्टा द्वारा शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति, शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति होने पर पुण्यापुण्य की उत्पत्ति, पुण्यापुण्य से जन्म, और जन्म से फिर सुख दुख का अनुभव, सुख-दुःख के अनुभव से सुख-दुःख संस्कार, सुख-दुःख के संस्कार से सुख-दुःख की स्मृति सुख-दुःख की स्मृति से सुख-दुःख में राग, सुख-दुःख विषयक राग द्वेष से सुख-दुःख के लिये उक्त शारीरिक आदि चेष्टा-द्वारा शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति, शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति होने पर पुण्यापुण्य की उत्पत्ति, पुण्यापुण्य की उत्पत्ति से जन्म और जन्म से फिर सुख-दुःख का अनुभव और अनुभव से संस्कार-वासना, इस प्रकार सुख-दुःख अनुभव जन्य जो संस्कार वह (संस्कार) दुःख जनक होने से संस्कार-दुःखता कहा जाता है ।

वह इस प्रकार दुःखस्रोत प्रसृत होता हुआ योगियों को ही क्लेश देता है, भोगियों को नहीं, इस बात को कहते हैं—एवमिति-एवम्— इस प्रकार, इदम्—यह अनादि-दुःखस्रोतः—अनादि-काल का दुःखप्रवाह, विप्रसृतम्—विस्तीर्ण होता हुआ, योगिनमेव—योगी को ही, प्रतिकूलात्मकत्वात्—प्रतिकूल होने से, उद्वेजयति—उद्वेग करता है. भोगियों को नहीं । कस्मादिति । कस्मात्—यह अनादि दुःखप्रवाह केवल योगियों को ही क्लेशप्रद क्यों है, अन्य को क्यों नहीं ? । सहेतुक उत्तर देते हैं—अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति । हि—क्योंकि, अक्षिपात्रकल्पो विद्वान्—नेत्र-गोलक

रक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु गात्रावयवेषु । एवमेतानि दुःखान्यक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम् ।

इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहंकारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते ।

तुल्य अतिसूक्ष्म विद्वान् (योगिजन) होते हैं, इति—इस कारण से इन्हीं को क्लेश देते हैं । इस पर दृष्टान्त देते हैं-यथेति । यथा—जैसे, उर्णातन्तुः—अतिसूक्ष्म भी उर्णातन्तु (ऊन का सूत), अक्षिपात्रे—नेत्र-गोलक में, न्यस्तः—पड़ा हुआ, स्पर्शेन—स्पर्श मात्र से, दुःखयति—दुःख देता है, अन्येषु गात्रावयवेषु न च—शरीर के अन्य हस्त, पाद आदि अवयवों में पड़ने पर, दुःख नहीं देता है, एवम्—ऐसे ही, एतानि दुःखानि—यथोक्त ये तीन प्रकार के दुःख स्मृत हुआ, अक्षिपात्रकल्पम्—नेत्र-गोलक के समान अतिसूक्ष्म, योगिनमेव—योगी को ही विषय-भोग काल में, क्लिश्नन्ति—क्लेश देते हैं, न इतरम् प्रतिपत्तारम्—अन्य भोगी रूप प्रतिपत्ता (बोद्धा) को नहीं; क्योंकि, इतर भोगी पुरुषों को तो स्थूल रूप से प्राप्त हुए ही आध्यत्मिकादि दुःख दुःखरूप प्रतीत होते हैं, और विषय-सुख भोग काल में सूक्ष्म रूप से विद्यमान जो दुःख वे इतर भोगी पुरुषों को दुःखरूप से प्रतीत नहीं होते हैं । इसी बात को भाष्यकार और भी स्पष्ट करते हैं—इतरमिति । स्वकर्मोपहृतं दुःखम्—अपने कर्मों से उपार्जित दुःख को, उपात्तं उपात्तं त्यजन्तम्—ग्रहण कर करके भोग द्वारा त्याग करने वाले और, त्यक्तं त्यक्तं उपाददानम्—त्याग कर करके पुनः ग्रहण करनेवाले, अनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या—अनादिवासना से विचित्ररूप चित्तवृत्ति में रही हुई, अविद्यया—अविद्या के द्वारा, सर्वतः अनुविद्धम् इव—वस्तुतः आत्मा अविद्या अनुलिप्त न होने पर भी सर्व तरफ से अनुलिप्त के समान, हातव्य एव—त्याग करने योग्य देह, इन्द्रियादि तथा स्त्री-पुत्रादि में; अहङ्कारममकारानुपातिनम्—अहङ्कारममकार में पड़नेवाले, इतरं तु—उक्त विशेषणयुक्त योगियों से इतर भोगी-पुरुषों को तो, बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्ताः—आधिभौतिक तथा आधिदैविक बाह्य-निमित्तक और आध्यात्मिक आन्तर निमित्तक के भेद से, त्रिपर्वाणः—तीन पर्ववाले, तापाः—ताप, जातम् जातम्—उत्पन्न हो होकर, अनुप्लवन्ते—अपनी उत्पत्ति के अनन्तर व्याप्त करते रहते हैं । अर्थात् तपाते रहते हैं । भोगी पुरुष विषयसुख भोगते समय विषयसुख में सूक्ष्म दुःख को न जानकर केवल त्रिविध ताप

तदेवमनादिना दुःखस्रोतसा व्यूह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति। गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्रो भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते।

रूप स्थूल दुःख का ही अनुसन्धान करते रहते हैं। अतः विषयसुख में सूक्ष्म दुःख को केवल योगी पुरुष ही जानते हैं, यह सिद्ध हुआ।

ऐसी स्थिति में सम्यक् दर्शन रूप विवेकज्ञान के बिना परित्राण नहीं, इस बात को कहते हैं—तदेवमिति। तत्—उस कारण से, एवम्—इस प्रकार, अनादिना दुःखस्रोतसा—अनादि दुःख-प्रवाह में, व्यूह्यमानम् आत्मानम् भूतग्रामम च—बहते हुए (डूबते हुए) अपने को तथा अन्य प्राणि-समुदाय को, दृष्ट्वा—देखकर, योगी—योगीपुरुष सम्यग्दर्शन बिना अन्य कोई दुःख निवृत्ति का उपाय न देखकर, सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनम्—सर्व दुःखों के नाश के कारण विवेक-ज्ञान की ही, शरणम्—शरण में, प्रपद्यते—प्राप्त होते हैं, इति—यह सिद्ध हुआ। अभिप्राय यह है कि, जन्म - मरण - रूप संसार - प्रवाह में पड़े हुए अपने को तथा अन्य प्राणियों को देखकर महात्मागण विषय सुख के भोग में न पड़कर कल्याण के हेतु ज्ञान का ही सम्पादन करते कराते रहते हैं।

इस प्रकार परिणाम से, तापसंयोग से तथा संस्कार से विषयसुख को औपाधिक दुःखरूप प्रतिपादन करके अब सूत्रस्थ "गुणवृत्तिविरोधाच्च" इस हेतुबोधक पञ्चम्यन्त पद का व्याख्यान करते हुए विषयसुख को स्वाभाविक दुःख-रूप प्रतिपादन करते हैं—गुणेति। जैसे परिणामदुःखता आदि से मिश्रित होने से विषयसुख दुःख रूप ही है। वैसे ही गुणवृत्तिविरोधाच्च-सात्त्विक आदि गुणवृत्तियों के परस्पर विरुद्ध होने से भी विषय-सुख, सर्वं दुःखमेव-सब दुःख रूप ही है ऐसा, विवेकिनः-विवेकी पुरुष मानते हैं।

भाष्यकार पूर्वोक्त पंक्ति का व्याख्यान करते हैं—प्रख्येति। प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपाः—प्रख्या, प्रवृत्ति तथा स्थिति रूप जो सत्त्वरजस्तम, बुद्धिगुणाः—बुद्धि के गुण हैं वे, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा—परस्पर अनुग्रह के अधीन होकर, शान्तं घोरं मूढं वा-शान्त, (सुख - रूप), घोर (दुःख - रूप) तथा मूढ (विषाद - रूप), त्रिगुणं एव प्रत्ययम्—त्रिगुणात्मक ही सुख-उपभोग रूप वृत्ति को, आरभन्ते—आरम्भ (उत्पन्न) करते हैं। अर्थात् ये तीनों गुण एक दूसरे से अनुगृहीत होकर ही अपने अपने कार्य को उत्पन्न करते हैं, अकेले स्वतन्त्र रहकर नहीं। अतः सुख-उपभोग रूप शान्त चित्तवृत्ति के भी त्रिगुणात्मक होने से उस वृत्ति में भी दुःख और विषाद

'चलञ्च गुणवृत्त'मिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् ।

रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुद्धयन्ते । सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते ।

अवश्य विद्यमान हैं। इसी लिये सत्त्व - गुण - प्रधान गुणत्रयकार्य शान्तस्वरूप सुखाकार - वृत्ति राजस दुःख तथा तामस विषाद से अनुविद्ध (युक्त) होने से विषय-सुख स्वभाव से ही दुःखरूप है। सुख-उपभोग काल में रजोगुण का परिणाम सूक्ष्म दुःख अवश्य विद्यमान रहता है। इस कथन में भाष्यकार पञ्चशिखाचार्य के वचन को प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं— "चलञ्च गुणवृत्तम्" इति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । इति—इस विषय में महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी, चलञ्च गुणवृत्तम्· सत्त्वादि गुण चंचल हैं, इस उक्ति के द्वारा, चित्तम्—चित्त को, क्षिप्रपरिणामि—शीघ्र परिणामशील, उक्तम्—कहा है।

भाव यह है कि, यदि विषय - उपभोग रूप शान्त - वृत्ति कुछ काल स्थायी होती तो भी किसी प्रकार विषयसुख को सुख कहा जाता, परन्तु वह स्थायी तो है नहीं; क्योंकि, सत्त्वादि गुणों के चंचल होने से तत्प्रयुक्त चित्त भी क्षण-क्षण में विलक्षण-विलक्षण परिणाम को धारण करता है। अतः चित्त के क्षणिक (चञ्चल) होने से शान्त सुखाकार वृत्ति भी क्षणिक (चञ्चल) ही है। अतएव विषयसुख दुःखरूप ही है यह सिद्ध हुआ।

शंका होती है कि' एक ही चित्तवृत्ति एक ही काल में परस्पर विरुद्ध शान्त, घोर तथा मूढ - रूप धर्म को कैसे प्राप्त होती है ? । इसका समाधान करते हैं—रूपेति । रूपातिशयाः—धर्म, अधर्म आदि आठ रूप का अतिशय (विशेष), च—और, वृत्त्यतिशयाः—सुख-दुःख आदि वृत्तियों का अतिशय (विशेष), परस्परेण—परस्पर एक दूसरे का, विरूध्यन्ते—विरोध करते रहते हैं, तु–किन्तु, सामान्यानि—सामान्य, अतिशयैः सह—अतिशय (विशेष) के साथ, प्रवर्त्तन्ते—रहते हैं। अर्थात् विशेष का विशेष के साथ विरोध होता है, सामान्य के साथ नहीं, यह नियम है। अतः विशेष रूप स्थूल धर्मादिकों का विशेष रूप स्थूल अधर्मादिकों के साथ विरोध है, सामान्य रूप सूक्ष्म अधर्मादिकों के साथ नहीं, एवं विशेष - रूप स्थूल - सुख का विशेष रूप स्थूल-दुःख के साथ विरोध है, सामान्य रूप सूक्ष्म दुःख के साथ नहीं। अतः सामान्य विशेष रूप से धर्माधर्मादि तथा सुख दुःखादि एक ही चित्तवृत्ति एक ही काल में एक ही साथ रह सकती है, इस में कोई विरोध नहीं।

भाव यह है कि, धर्म - अधर्म, वैराग्य - अवैराग्य, ऐश्वर्य - अनैश्वर्य, ज्ञान-अज्ञान; ये आठों पदार्थ रूप कहलाते हैं और सुख-दुःख आदि वृत्ति कहलाते हैं। उनमें धर्म का अधर्म के साथ, वैराग्य का अवैराग्य के साथ, ऐश्वर्य का अनैश्वर्य के साथ, ज्ञान का अज्ञान के साथ परस्पर विरोध है, एवं सुख का दुःख के साथ परस्पर विरोध

एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति । गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति ।

है । उनमें इतना और भी विशेष समझना चाहिये कि, इनका परस्पर विरोध तभी होता है जब ये दोनों विशेष अर्थात् उदार (स्थूल रूप से फल देने में समर्थ) रूप से स्थित रहते हैं और जब एक विशेषरूप से और दूसरा सामान्य रूप से (सुप्त तथा विच्छिन्न आदि रूप से) विद्यमान रहते हैं तब इनका परस्पर विरोध नहीं; क्योंकि, दोनों बलवानों का विरोध देखा गया है । एक बलवान् और दूसरा दुर्बल हो तो उनका परस्पर विरोध नहीं देखा गया है । अतः सुखउपभोग काल में उदार (विशेष रूप से स्थूल) अवस्थाक सात्त्विक शान्त सुखवृत्ति, उदार अवस्थाक राजस घोर दु खवृत्ति की ही विरोधिनी है । सुप्त तथा विच्छिन्न अवस्थाक (सामान्य रूप सूक्ष्म अवस्थाक) दु खवृत्ति की विरोधिनी नहीं । अतः सामान्यविशेषों का विरोध न होने से एक ही चित्तवृत्ति एक ही काल में शान्त, घोर तथा मूढ रूप धर्म को प्राप्त हो सकती है । इसमें कोई विरोध नहीं; अत एव विषय सुख - उपभोग काल में विशेष सुख के साथ सामान्य दुःख के विद्यमान रहने से योगिजन विषयसुख को दुःखरूप ही देखते हैं, यह सिद्ध हुआ ।

फिर शङ्का होती है कि, यद्यपि इस प्रकार सुखवृत्ति का दुःखवृत्ति के साथ कोई विरोध नहीं, तथापि विषयसुख को जो स्वाभाविक दुःखता कही गई है वह कैसे ? इसका समाधान करते हैं—एवमिति । एवम्–इस प्रकार, एते गुणाः–ये सत्त्व - रज-स्तमो रूप गुण, इतरेतराश्रयेण–गौण मुख्यभाव से एक दूसरे के अधीन रह कर, उपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः–सुखवृत्ति, दुःखवृत्ति तथा मोहवृत्ति को उत्पन्न करनेवाले हैं; अतः, सर्वे सर्वरूपा भवन्ति–सर्व सुख दुःखमोह स्वरूप हैं । अर्थात् सर्व के उपादान त्रिगुण होने से और उपादेय उपादान-स्वरूप होने से ये तीनों सुख-दुःख मोह सुख दुःख मोह स्वरूप ही हैं ।

फिर शङ्का होती है कि, जब ये तीनों अत्यन्त अभिन्न हैं तो इनमें भेद - व्यवहार कैसे होता है ? इसका उत्तर देते हैं–गुणेति । तु–किन्तु, गुणप्रधानभावकृतः–गौण मुख्य भाव को लेकर, एषाम्–इनमें, विशेषः–विशेष भेद-व्यवहार होता है । अर्थात सुख भोग समय में दुःख तथा मोह (विषाद) गौण और सुख-प्रधान, दुःख भोग समय में सुख तथा मोह गौण और दुःख-प्रधान, एवं मोह समय में सुख तथा दुःख गौण और मोह-प्रधान रूप से विद्यमान रहता है । यहां पर उक्त सामान्य रूप से गौणता तथा विशेष रूप से प्रधानता समझनी चाहिये । उपसंहार करते हैं—तस्मादिति । तस्मात्–इसलिये उपाधि से तथा स्वभाव से, विवेकिनः–विवेकी को, सर्वं दुःखमेव–सभी विषयसुख दुःखरूप ही हैं, इति–यह सिद्ध हुआ ।

तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या। तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः। यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः।

प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्याऽऽत्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्।

इस प्रकार विवेकी को सर्व पदार्थ दुःखरूप ही हैं, यह कहा गया। अतः यह दुःख प्रतिकूल होने से प्रेक्षावत् पुरुष को अवश्य हेय (नाश करने योग्य) है; परन्तु उस दुःख का हान (नाश) उसके कारण के हान बिना नितान्त अशक्य है और उसके कारण का हान उसके ज्ञान बिना उससे भी अधिक अशक्य है। अतः दुःख के मूल कारण का ज्ञान भाष्यकार कराते हैं—तदिति। तत् अस्य महतः दुःखसमुदायस्य—उस महान् दुःख-समुदाय का, प्रभवबीजम्—मूल कारण, अविद्या—मिथ्या ज्ञान रूप अविद्या ही है। तस्याश्चेति। च—और, तस्याः—उस अविद्या का, अभावहेतुः—नाश का कारण, सम्यग्दर्शनम्—तत्त्व (यथार्थ) ज्ञान ही है। इसमें दृष्टान्त देते हैं—यथेति। यथा— जैसे, चिकित्साशास्त्रम्—वैद्यक शास्त्र, चतुर्व्यूहम्—चार व्यूह (विभाग) वाला है, रोगः—रोग, रोगहेतुः—रोग का निदान (मूल कारण), आरोग्यम्—रोग की निवृत्ति और, भैषज्यम्—रोगनिवृत्ति का कारण भैषज्य (औषधि)। एवमिति। एवम्—वैसे ही, इदम् शास्त्रम् अपि—यह योगशास्त्र भी, चतुर्व्यूहमेव—चार व्यूहवाला ही है। तदिति। तद् यथा—वह जैसे, संसारः—संसार, संसारहेतुः—संसार का कारण, मोक्षः—मोक्ष और, मोक्षोपायः—मोक्ष का कारण।

शङ्का होती है कि, दुःख को हेय प्रतिपादन करने चले थे, उसको छोड़ कर संसार को हेय प्रतिपादन क्यों करने लगे? इस शङ्का का परिहार करते हैं—तत्रेति। तत्र—उन चार व्यूहों में जो, दुःखबहुलः संसारः—दुःख बहुल संसार है वही, हेयः—हेय अर्थात् नाश करने योग्य है। प्रधानेति। प्रधानपुरुषयोः—प्रकृतिपुरुष का जो, संयोगः—संयोग है वही, हेयहेतुः—हेयहेतु अर्थात् संसार का कारण है। संयोगस्येति संयोगस्य—उस प्रकृति - पुरुष के संयोग की जो, आत्यन्तिकी निवृत्तिः—अत्यन्त-निवृत्ति वही, हानम्—हान अर्थात् संसार का नाश है। हानेति। सम्यग्दर्शनम्—और जो योगशास्त्रजन्य यथार्थ ज्ञान है वही, हानोपायः—हान का उपाय अर्थात् संसार के नाश का कारण है।

भाव यह है कि, जैसे चिकित्सा - शास्त्र में ज्वरादि रोग हेय, वातपित्तादि धातुवैषम्य हेयहेतु, आरोग्य हान और भैषज्य अर्थात् औषधि हानोपाय; ये चार विषय हैं।

तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हति। हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः। उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम् ॥ १५ ॥

वैसे ही, प्रकृत यो गशास्त्र में भी रोगस्थानापन्न संसार हेय, धातुवैषम्यस्थानापन्न प्रकृति-पुरुष का संयोग हेयहेतु, आरोग्यस्थानापन्न मोक्ष हान और भैषज्यस्थानापन्न सम्यग्दर्शन हानोपाय; ये चार विषय हैं। अतः चिकित्साशास्त्र जैसे आरोग्य - इच्छु पुरुष को उपादेय है, वैसे ही यह प्रकृत योगदर्शन भी मुमुक्षु को उपादेय है।

कोई "हानकर्ता आत्मा के स्वरूप का उच्छेद ही मोक्ष है" ऐसा कहते हैं और कोई "वासना सहित क्लेश का समुच्छेद होने से जो विशुद्ध विज्ञान की उत्पत्ति वही मोक्ष है" ऐसा कहते हैं। इन दोनों मतों का खण्डन करते हुए भाष्यकार स्वाभिमत मोक्ष के स्वरूप का निर्देश करते हैं—तत्रेति। तत्र—उक्त चार प्रकार के व्यूहों में जो प्रकृति-पुरुष के संयोग की अत्यन्त निषिद्ध रूप हान (मोक्ष) कहा गया है वह, हातुः-हानकर्ता आत्मा का, स्वरूपम्—स्वरूप ही होने से, उपादेयं वा हेयं वा—उपादेय (ग्रहण करने योग्य) अथवा हेय (त्याग करने योग्य), भवितुम न अर्हति—होने योग्य नहीं है। क्योंकि, हान इति। हाने—आत्मा के स्वरूप को हान मानने पर, तस्य—उस आत्मा का, उच्छेदवादप्रसङ्गः - उच्छेदवाद अर्थात् आत्मा के नाश की प्रसक्ति होगी। च और, उपादाने—उपादान मानने पर, हेतुवादः—हेतुवाद अर्थात् आत्मा की किसी कारण से उत्पत्ति की प्रसक्ति होगी और-उभयेति। उभयप्रत्याख्याने—आत्म - उच्छेदवाद तथा आत्म-हेतुवाद के प्रत्याख्यान (खण्डन) करने पर, शाश्वतवादः—शाश्वतवाद (आत्म - नित्यत्ववाद) की सिद्धि होती है, इति-इस कारण से(आत्मा के नित्य प्रतिपादन करने से), एतत्—यह प्रकृत योगदर्शन, सम्यग्दर्शनम् - निर्दोष दर्शन कहा जाता है।

भाव यह है कि, प्रकृति - पुरुष का संयोग बंध का हेतु है, और उस संयोग की निवृत्ति मोक्ष कहा जाता है। संयोग द्विष्ठ (दो में रहनेवाला) होता है अतः वह संयोग पुरुष में भी है यह कहना पड़ेगा। जो वस्तु जहां रहती है उसकी निवृत्ति भी वहीं होती है; अतः उक्त संयोग की निवृत्ति रूप मोक्ष उसका अधिकरण पुरुषस्वरूप ही है, यह सिद्ध हुआ। अत एव मोक्ष को हान (नाश) मानने पर पुरुष का ही हान और मोक्ष को उपादान (उत्पत्ति) मानने पर पुरुष का ही उपादान (उत्पत्ति) मानना पड़ेगा, सो किसी को भी इष्ट नहीं। अतः "सम्यग्दृश्यते आत्मा अनेन इति सम्यग्दर्शनम्" इस व्युत्पत्ति से पूर्वोक्त उच्छेदवाद तथा हेतुवाद इन दोनों वादों को खण्डन करके शाश्वतवाद का प्रतिपादक यह प्रकृत योगदर्शन ही शरण्य रूप सम्यग्दर्शन

तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते ।

वर्तमानं च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते । तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति नेतरं प्रतिपत्तारम् । तदेव हेयतामापद्यते ॥ १६ ॥

है । अतः इस कथन से बन्ध - निवृत्ति अधिकरण स्वरूप मानने से आत्मा का स्वस्वरूपावस्थान ही मोक्ष है, यह सिद्ध हुआ । इति ॥ १५ ॥

वैद्यक-शास्त्र के समान योगशास्त्र भी चतुर्व्यूह है, इस बात के कहने के उपरान्त अब यथोक्त हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय: ये चार व्यूह के प्रतिपादक वक्ष्यमाण सूत्रगण की अवतरणिका भाष्यकार रचते हैं--तदिति । तत् एतत् शास्त्रम्--यह यथोक्त योगशास्त्र, चतुर्व्यूहम्–चतुर्व्यूहवाला है, इति–इस बात का, अभिधीयते सूत्रकार आगे के एकादश सूत्रों द्वारा प्रतिपादन करते हैं—हेयं दुःखमनागतमिति । अनागतम्–भविष्य में उत्पन्न होनेवाला जो, दुःखम्–दुःख वह, हेयम्–त्याग करने योग्य है । अर्थात् अतीत, वर्त्तमान तथा अनागत, इन तीन प्रकार के दुःखों में जो अनागत दुःख है वही हेय (साधन द्वारा नाश करने योग्य) है, अतीत और वर्त्तमान नहीं । इसमें हेतु भाष्यकार देते हैं–दुःखमिति । अतीतम् दुःखम्-जो दुःख अतीत हो चुका है वह, उपभोगेन—उपभोग द्वारा ही, अतिवाहितम्—अतिवाहित अर्थात् नष्ट हो चुका है , अत: वह, हेयपक्षे—हेय पक्ष में, न वर्त्तते—नहीं है । वर्त्तमानमिति । च–और, वर्त्तमानम्–जो दुःख वर्त्तमान है वह, स्वक्षणे:–अपने द्वितीय क्षण में, भोगारूढम्–भोगारूढ है अर्थात् द्वितीय क्षण में भोग से ही नष्ट होनेवाला है, इति--तृतीय क्षण में न रहने के कारण, तत्--वह भी, क्षणान्तरे-- अन्य क्षण में (जिस तृतीय क्षण में उसका नाश किया जाय उस क्षण में), हेयताम् न आपद्यते--हेयता को प्राप्त नहीं हो सकता है । तस्मादिति । तस्मात्--इसलिये, यदेव--जो, अनागतम् दुःखम्--अनागत दुःख है, तदेव-वही, अक्षिपात्रकल्पम् योगिनम्--नेत्र गोलक के समान अति कोमल चित्तवाले योगियों को, क्लिश्नाति- क्लेश देता है, न इतरं प्रतिपत्तारम्--इतर जो भोगी रूप प्रतिपत्ता (बोद्धा) है उसको नहीं । तदिति । तदेव--वही अनागत दुःख, हेयताम्--हेयता को, आपद्यते -प्राप्त होता है । अर्थात् अनागत दुःख ही साधन द्वारा नाश करने योग्य है ।

भाव यह है कि, अतीत तथा वर्त्तमान दुःख की निवृत्ति पुरुषार्थ नहीं; किन्तु अनागत दुःख की निवृत्ति ही पुरुषार्थ है, यह सिद्ध हुआ ।

तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः ।

दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः ।

यदि कहें कि, अनागत दुःख चित्त में है, इसमें प्रमाण न होने से उसकी निवृत्ति पुरुषार्थ कैसे ? तो उसका उत्तर यह है कि, तृतीय पाद के १४ वें सूत्र में अनुमान से यह सिद्ध किया जायगा कि,संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब अपनी शक्ति सहित ही हैं, शक्ति रहित नहीं । और अनागत अवस्थाक जो कार्य वही शक्ति कही जाती है । इस नियम के अनुसार चित्त भी अनागत अवस्थाक दुःखरूप कार्य सहित ही है । यदि उस दुःख की निवृत्ति प्रथम से ही न किया जाय तो अवश्य उसको भोगना पड़ेगा । अतः अनागत दुःख है और उसकी निवृत्ति करना भी अवश्य पुरुषार्थ है, यह सिद्ध हुआ । इति ॥ १६ ॥

हेय स्वरूप प्रतिपादक सूत्र का व्याख्यान करके अब क्रमप्राप्त हेयहेतु - स्वरूप प्रतिपादक सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं—तस्मादिति । तस्मात्—इसलिए, यदेव—जो, हेयम् इति उच्यते—हेय है ऐसा कहा जाता है, तस्यैव—उसीका, कारणम्—मूल कारण, प्रतिनिर्दिश्यते—अग्रिम सूत्र से निर्देश किया जाता है—द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुरिति । द्रष्टृदृश्ययोः—द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रधान (प्रकृति) का बुद्धिसत्त्व द्वारा जो, संयोगः—अविवेक कृत परस्पर सम्बन्ध वह, हेयहेतुः—हेय जो संसाररूप दुःख उसका कारण है । अर्थात् प्रधान पुरुष का जो अविवेककृत परस्पर सम्बन्ध वह जन्ममरण रूप संसारदुःख का मूल कारण है ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—द्रष्टेति । बुद्धेः—बुद्धि का, प्रतिसंवेदी—प्रतिसंवेदी अर्थात् प्रतिबिम्बित जो, पुरुषः—पुरुष वह, द्रष्टा—द्रष्टा कहा जाता है । यद्यपि पुरुष द्रष्टृत्वादि सकल धर्म से रहित होने से उदासीन है, तथापि सात्त्विक अतिस्वच्छ बुद्धिमें जब उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है, एवं अपने प्रतिबिम्ब द्वारा अचेतन बुद्धि को जब चेतन समान बनाता है तब वह बुद्धि का प्रतिसंवेदी कहा जाता है । उसी अवस्था में पुरुष बुद्धिरूप दृश्य का द्रष्टा कहा जाता है ।

शङ्का होती है कि, इस प्रकार तो अव्यवहित होने से केवल बुद्धि ही दृश्य होनी चाहिए शब्दादि नहीं; क्योंकि, वे व्यवहित हैं ? इस शङ्का का परिहार भाष्यकार करते हैं—दृश्येति । बुद्धिसत्त्वोपारूढाः—सत्त्वगुण के कार्य बुद्धि के विषयीभूत जितने प्रधान से लेकर शब्दादि विषय पदार्थ हैं वे, सर्वे—सब, धर्माः—बुद्धि के धर्म रूप पदार्थ, दृश्याः—दृश्य कहे जाते हैं । अर्थात् इन्द्रिय-प्रणालिका द्वारा दृश्य - रूप बुद्धि

तदेतद्दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः अनुभवकर्मविषयतामापन्नं यतः। अन्यस्वरूपेण प्रतिपन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकम्।

जब शब्दादि आकार से परिणत होती है तब उसके धर्म (विषय) शब्दादि भी दृश्य कहलाते हैं। प्रकृति का पहला कार्य महत्तत्त्व है और महत्तत्त्व को ही बुद्धि कहते हैं एवं बुद्धि से क्रमशः अहङ्कारादि ब्रह्माण्ड पर्यन्त सर्व पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अत एव बुद्धि के कार्य होने से भी भाष्य में शब्दादि सब पदार्थ बुद्धि के धर्म कहे गए हैं। अतः शब्दादि सकल धर्म सहित ही बुद्धि पुरुष रूप द्रष्टा का दृश्य कहलाती है, अकेली नहीं। यह उक्त शङ्का का उत्तर हुआ।

शङ्का होती है कि, तदाकार होने से बुद्धिसत्त्व भले शब्दादि आकार को प्राप्त हो, परन्तु पुरुष का बुद्धिसत्त्व के साथ सम्बन्ध स्वीकार करने पर वह परिणामी होगा और सम्बन्ध स्वीकार न करने पर बुद्धिसत्त्व में उपारूढ (विषय रूप से प्राप्त) शब्दादि दृश्य कैसे! क्योंकि, द्रष्टा के साथ असंस्पृष्ट पदार्थ दृश्य रूप से कहीं भी देखा नहीं गया है! इस शङ्का का उत्तर भाष्यकार देते हैं—तदिति। तद् एतद् दृश्यम्—यह बुद्धिसत्त्व रूप दृश्य, अयस्कान्तमणिकल्पम्—अयस्कान्त मणि के तुल्य स्वच्छ है; अतः, दृशिरूपस्य पुरुषस्य स्वामिनः—दृशि पुरुष रूप अपने स्वामी का उपकार करता हुआ, दृश्यत्वेन—दृश्य रूप से, स्वम् भवति—स्व हो जाता है। यतः—क्योंकि, अनुभवकर्मविषयताम्—पुरुष के अनुभव रूप कर्म की विषयता को, आपन्नम्—प्राप्त हो गया है। अर्थात् भोक्ता रूप पुरुष का भोग्य बन गया है; अतएव पुरुषरूप स्वामी का स्व हो जाता है।

भाव यह है कि, पुरुष के साथ असंबद्ध भी बुद्धिसत्त्व अतिस्वच्छ होने से पुरुष प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेता है और जैसे चेतना को प्राप्त हो गया हो वैसे शब्दादि विषय का अनुभव करने लगता है। अतः शब्दादि आकार से परिणत बुद्धिसत्त्व में आरूढ शब्दादि विषय को भोगता हुआ द्रष्टा पुरुष स्वामी हो जाता है और इसका बुद्धिसत्त्व स्व हो जाता है। यह बात प्रथम पाद में विस्तार से कही गई है।

शङ्का होती है कि, जो स्वयंप्रकाश होता है वह किसी का विषय नहीं होता है, यह नियम है, तो स्वयंप्रकाश बुद्धिसत्त्व अनुभव का विषय कैसे? इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं—अन्येति। अन्यस्वरूपेण—चेतन से अन्य जड़ स्वरूप से बुद्धिसत्त्व, प्रतिपन्नम्—स्थित है तो भी, अन्यस्वरूपेण—जड स्वरूप जो उसका अपना स्वरूप है उससे अन्य चेतन स्वरूपसे वह, प्रतिलब्धात्मकम्—लब्धसत्ताक हुआ है। अर्थात् स्वयंप्रकाश चेतन का प्रतिबिम्ब पडने से बुद्धिसत्त्व स्वयंप्रकाश प्रतीत होता है।

स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्परतन्त्रम् ।

तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारण-मित्यर्थः ।

वस्तुतः वह स्वयंप्रकाश है नहीं; अतः उसको उक्त अनुभव का विषय होने में कोई आपत्ति नहीं ।

फिर शङ्का होती है कि, जो किसीके प्रति कुछ प्रयत्न करे वह उसका अधीन कहा जाता है । उदासीन पुरुष के प्रति बुद्धिसत्त्व कुछ प्रयत्न तो करता है नहीं, तो वह पुरुष के अधीन (स्व) कैसे ? इस शंका का उत्तर भाष्यकार देते हैं—स्वतन्त्र-मिति । स्वतन्त्रम् अपि–बुद्धिसत्त्व स्वाभाविक जड रूप से लब्धात्मक होने से स्वतन्त्र है तो भी, परार्थत्वात्—उसका सकल व्यापार परार्थ (पुरुष के लिये) होने से अर्थात् पुरुष के भोगमोक्ष सम्पादन करने के लिए होने से वह, परतन्त्रम्–पराधीन है ।

अभिप्राय यह है कि, यद्यपि पुरुष उदासीन है और सुखदुःखादि बुद्धिसत्त्व के धर्म हैं तथापि जिस समय सुखदुःखादि बुद्धिसत्त्व में उत्पन्न होते हैं उस समय पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धिसत्त्व में पडता है । उसी समय बुद्धिसत्त्व रूप उपाधिगत सुख-दुखादि पुरुष के प्रतिबिम्ब में भासते हैं और पुरुष अपने प्रतिबिम्ब को अपना स्वरूप ही समझता है । अतः उक्त सुखदुःखादि को अपने में मानकर "मैं सुखी हूँ," "मैं दुःखी हूँ" ऐसा अपने को मानने लगता है, यही पुरुष में भोग है । अतएव पुरुष को भोक्ता कहते हैं और जब विवेक ज्ञान हो जाता है तब पुरुष अपने को बुद्धिसत्त्व से सर्वथा पृथक् मानता है; अतः बुद्धिसत्त्वगत सुखदुःखादि को प्रतिबिम्ब द्वारा जो अपने में मानता था सो नहीं मानता है, एवं बुद्धिसत्त्व भी प्रतिबिम्ब द्वारा जो अपने को चेतन स्वयंप्रकाश मानता है, था सो नहीं मानता है, यही पुरुष को मोक्ष-प्राप्ति कही जाती है । ये पुरुष को भोग और मोक्ष बुद्धिसत्त्व बिना नहीं हो सकता है । अतः पुरुष के भोगमोक्ष का संपन्दक बुद्धिसत्त्व कहा जाता है । यह भोगमोक्ष का व्यवहार केवल पुरुष में है, बुद्धिसत्त्व में नहीं, अतः बुद्धिसत्त्व केवल भोगमोक्ष का सम्पादन करता है, अतः परार्थ है, स्वतन्त्र नहीं, यह सिद्ध हुआ ।

वादी शङ्का करते हैं कि, यह जो दृग्दृश्यशक्तियों का सम्बन्ध है, वह स्वाभाविक है अथवा नैमित्तिक ? यदि स्वाभाविक है तो सम्बन्धियों के नित्य होने से उनके संबंध का भी उच्छेद होना अशक्य हो जायगा ? और इनके सम्बन्ध का उच्छेद होना अशक्य हो जायगा ? और इनके सम्बन्ध का उच्छेद अशक्य होने से संसार नित्य हो जायगा ? और यदि नैमित्तिक है तो इसका निमित्त कहना पड़ेगा ? यदि क्लेशकर्मतद्वासना को निमित्त कहेंगे तो क्लेशकर्मतद्वासना के अन्तःकरण-वृत्ति होने से प्रथम अन्तःकरण की उत्पत्ति हो तब सम्बन्ध की उत्पत्ति होगी ?

तथा चोक्तम्—तत्संयोगहेतुवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्।

दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतिकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य

और प्रथम सम्बन्ध की उत्पत्ति हो तब अंतःकरण की उत्पत्ति होगी? इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष इस कथन में लागू पड़ता है। इस शङ्का का अपनयन भाष्यकार करते हैं—तयोरिति। तयोः दृग्दर्शनशक्त्योः—उन दृग्दर्शन शक्तियों का जो, अर्थकृतः—पुरुषार्थ प्रयुक्त (पुरुष के लिए जो बुद्धि भोगमोक्ष सम्पादन करती है तत्प्रयुक्त), संयोगः—स्वस्वामिभाव, दृग्दृश्यभाव तथा भोक्तृभोग्यभाव सम्बन्ध है वह, अनादिः हेयहेतुः—अनादि है और हेय का हेतु अर्थात्, दुःखस्य कारणम्—दुःख का कारण है।

भाव यह है कि, उक्त दृग्दर्शन शक्तियों का जो सम्बन्ध उसको हम स्वाभाविक नहीं कहते हैं, जिससे स्वाभाविक पक्ष उक्त दोष लागू पड़े, किन्तु नैमित्तिक कहते हैं। नैमित्तिक कहने पर भी आदिमान् नहीं कहते हैं, जिससे नैमित्तिक पक्ष उक्त दोष लागू पड़े, किन्तु अनादि कहते हैं। इसके निमित्त क्लेशकर्मतद्वासना के अनादि होने से यह भी अनादि है, उत्पत्ति रहित अनादि नहीं। वर्षा के जाने से मृद्भाव को प्राप्त उद्भिज्ज जैसे फिर वर्षा के आने पर प्रादुर्भूत होते हैं, वैसे ही वह अनादि क्लेशकर्मतद्वासना की धारा प्रलय काल में अन्तःकरण के साथ प्रकृति में लीन होने पर भी सृष्टि के आदि काल में फिर पूर्ववत् प्रादुर्भूत होती है। अतः अनादि होने से उक्त अन्योन्याश्रयादि दोष नहीं।

भाष्यकार इस विषय में महर्षि पञ्चशिखाचार्य का वचन प्रमाण देते हैं—तथा चोक्तमिति। तथा च उक्तम्—जैसे भगवान् पतञ्जलि प्रकृतिपुरुष के संयोग को दुःख का हेतु कहते हैं, वैसे ही महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है—तत्संयोगहेतुवर्जनात्—दुःख का कारण प्रकृतिपुरुष के संयोग का वर्जन (नाश) से, अयम्—यह, आत्यन्तिकः दुःखप्रतिकारः—आत्यन्तिक दुःख का प्रतिकार (नाश), स्यात्—होता है। प्रकृतिपुरुष के संयोग के नाश से दुःख का नाश होता है। इस कथन से अर्थात् यह सिद्ध होता है कि, प्रकृति-पुरुष का संयोग ही दुःख का कारण है।

शङ्का करते हैं—कस्मादिति। कस्मात्—अनादि दुःखहेतु बुद्धिसंयोग का परिहार (उच्छेद) शक्य कैसे? अत्यन्त प्रसिद्ध लौकिक उदाहरण द्वारा इस शङ्का का उत्तर देते हैं—दुःखहेतोरिति। परिहार्यस्य दुःखहेतोः—लोक में परिहार करने योग्य दुःखहेतु पदार्थ का, प्रतिकारदर्शनात्—प्रतिकार अर्थात् निवृत्ति का उपाय देखने से उसी प्रकार अनादि दुःखहेतु बुद्धिसंयोग का परिहार भी शक्य है।

भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाधिष्ठानम्। एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतिकारणमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति कस्मात्।

त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव

र्तादति। तद् यथा—वह जैसे, पादतलस्य भेद्यता—पादतल की भेद्यता अर्थात् पादतल भेदन करने योग्य पदार्थ है, कण्टकस्य भेत्तृत्वम्—कण्टक को भेत्तृत्व अर्थात् कण्टक में भेदन करने की शक्ति है और, कण्टकस्य परिहारः—कण्टक का परिहार अर्थात् भेदन होने न देना, पादानधिष्ठानम्— उसके ऊपर पाद न रखना, वा—अथवा, पादत्राणव्यवहितेन अधिष्ठानम्--उपानत् (जूता) के व्यवधान से पाद रखना अर्थात् जूता पहिर कर कण्टक पर पाद रखना। एतदिति लोके एतत् त्रयम् यो वेद--लोक में भेद्य, भेदक तथा परिहार; इन तीनों को जो जानता है, सः-वह, तत्र-वहां, प्रतिकारम् आरभमाणः--भेदक कण्टकादि की निवृत्ति के उपाय का अनुष्ठान करता हुआ, भेदजम्-भेदजन्य, दुःखम्-दुःख को, न आप्नोति-प्राप्त नहीं होता है।

शङ्का करते हैं— कस्मादिति कस्मात्— दृष्टान्त में जैसे भेद्य, भेदक तथा परिहार ये तीनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं, वैसे दार्ष्टान्तिक में तो है नहीं, क्योंकि, सिद्धान्त में एक बुद्धि भेद्य तथा भेदक अर्थात् तप्य और तापक मानी गई है तो इस दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में साम्य कैसे? इसका उत्तर भाष्यकार हेतुबोधक पञ्चम्यन्त पद से देते हैं--त्रित्वेति। त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति-भेद्य, भेदक तथा परिहार; इन तीनों के ज्ञान के बल से, अर्थात् दृष्टान्त में जैसे पुरुष को भेद्य, भेदक तथा परिहार; इन तीनों का ज्ञान है, वैसे ही दार्ष्टान्तिक में भी इन तीनों का ज्ञान विद्यमान है, अतः वैषम्य नहीं। उन्हीं तीनों को भाष्यकार दिखाते हैं--अत्रेति। अत्र अपि-यहां दार्ष्टान्त में भी, तापकस्य रजसः-तापक रजोगुण का, सत्त्वम् एव—सत्त्व गुण ही, तप्यम्—तप्य है। अर्थात् गुणों में ही तप्यतापकभाव है। पादतल के समान मृदु होने से सत्त्वगुण ही तप्य है, कण्टक के समान तीव्र होने से रजोगुण ही तापक है एवं पादत्राण के समान विवेक ज्ञान द्वारा प्रधान-पुरुष संयोग की निवृत्ति उस ताप का परिहार है। अतः दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में साम्य होने से कोई दोष नहीं।

भाव यह है कि, यद्यपि सिद्धान्त में एकमात्र बुद्धि ही तप्य और तापक है, तथापि सत्त्वगुण की अप्रधानता से बुद्धि तप्य है और रजोगुण की प्रधानता से तापक है। अतः गुणों की अप्रधानता, प्रधानता रूप उपाधि के भेद से एक ही बुद्धि तप्य,

तप्यम्। कस्मात्। तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्। सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे। दर्शितविषयत्वात्सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽनुतप्यत इति ॥ १७ ॥

दृश्यस्वरूपमुच्यते—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

तापक दो प्रकार की है। अतः दृष्टान्त में जैसे तप्य तापक दो हैं, वैसे दार्ष्टान्त में भी दो हैं; इसलिये कोई दोष नहीं।

फिर शङ्का करते हैं— कस्मादिति। कस्मात्। बुद्धि ही तप्य क्यों है, पुरुष क्यों नहीं? उत्तर देते हैं—तपिक्रियायाः-ताप रूप क्रिया के, कर्मस्थत्वात्-कर्मनिष्ठ होने से, सत्त्वे कर्मणि-बुद्धिसत्त्व रूप कर्म में, तपिक्रिया-ताप रूप क्रिया है, न अपरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे-अपरिणामी निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ रूप पुरुष में नहीं, तु-किन्तु, दर्शितविषयत्वात्-बुद्धि द्वारा दर्शितविषय होने से, सत्त्वे तप्यमाने-बुद्धिसत्त्व के तप्यमान होने पर, तदाकारानुरोधी-अविवेक से बुद्धिसत्त्व के स्वरूप को अपना स्वरूप मान लेने से, पुरुषः-तदाकारधारी पुरुष, अनुतप्यते-बुद्धिसत्त्व के तपने के पश्चात् आप भी ताप को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् यद्यपि तापक्रिया बुद्धि में है, पुरुष में नहीं; तथापि यथोक्त प्रकार से बुद्धि को ही पुरुष अविवेक से अपना स्वरूप मान लेने से पुरुष में प्रतीत होती है। अर्थात् पुरुष में औपाधिक तापसंयोग है, स्वाभाविक नहीं; यह सिद्ध हुआ।

यद्यपि द्रष्टा के ज्ञान से पूर्व दृश्य का ज्ञान अपेक्षित है; अत एव सूत्रकार द्रष्टा के स्वरूप-प्रतिपादन से प्रथम दृश्य का स्वरूपप्रतिपादन करेंगे। अतः "द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः" इस सूत्र में दृश्य पद का पूर्व प्रयोग आवश्यक था, तथापि द्रष्टा प्रधान होने से तद्वाचक द्रष्टृ पद का पूर्व प्रयोग किया गया हैं ॥ इति ॥ १७ ॥

जिस दृश्य के संयोग को निखिल दुःख का मूल कारण कहा गया, उसके स्वरूप प्रतिपादक सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं—दृश्यस्वरूपमुच्यत इति। दृश्यस्वरूपम्-उक्त दृश्य का स्वरूप सूत्र द्वारा, उच्यते-कहा जाता है—प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यमिति। प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्-जो प्रकाशस्वभाव सत्त्वगुण, क्रियास्वभाव रजोगुण तथा स्थितिस्वभाव तमोगुण है, भूतेन्द्रियात्मकम्-महत्तत्त्वादि द्वारा आकाशादि भूत तथा श्रोत्रादि-इन्द्रिय रूप से परिणत होने से भूतेन्द्रिय स्वरूप है और, भोगापवर्गार्थम्-पुरुष के भोग मोक्ष के लिये है वह त्रिगुणात्मक प्रधान, दृश्यम्-दृश्य कहा जाता है। "प्रकाश-

प्रकाशशीलं सत्त्वम्। क्रियाशीलं रजः। स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगवियोगधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसंभिन्न-

---

क्रियास्थितिशीलम्" इस पद से सत्त्वादि गुणों का स्वरूप, "भूतेन्द्रियात्मकम्" इस पद से कार्य और "भोगापवर्गार्थम्" इस पद से फल कथन किया गया है।

सत्त्वगुण प्रकाशशील, रजोगुण क्रियाशील एवं तमोगुण स्थितिशील है। त्रिगुण-साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्र तथा एकादश इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र से पञ्चमहाभूत और पञ्चमहाभूत से संपूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। अतः इस प्रकार कारण-कार्य रूप तीनों गुण ही दृश्य कहे जाते हैं। यह बात दृश्य को भूतेन्द्रियात्मक कहने से स्पष्ट होती है। उक्त तीनों गुण संयोग, विभाग, धर्मशील हैं; जिनको विवेकख्याति उत्पन्न नहीं हुई है उनके साथ गुण संयुक्त रहते हैं और जिनको विवेक-ख्याति उत्पन्न हो चुकी है उनसे वियुक्त हो जाते हैं। इन तीनों गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोगापवर्ग-संपादन करने के लिये ही है, यह बात दृश्य को भोगापवर्गार्थ कहने से स्पष्ट होती है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—प्रकाशशीलमिति। प्रकाशशीलं सत्त्वम्—प्रकाश स्वभाववाला सत्त्वगुण है, क्रियाशीलं रजः—क्रियास्वभाव वाला रजोगुण है और, स्थितिशीलं तम इति—स्थितिस्वभाववाला तमोगुण है। एत इति। एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः—ये सत्त्वादि तीनों गुण भिन्न-भिन्न धर्मवाले हैं तो भी इनका भाग परस्पर उपरक्त (युक्त) ही रहता है, अर्थात् सत्त्वगुण का भाग जो प्रकाश है वह राजसभाग प्रवृत्ति तथा तामसभाग दुःख से युक्त है, रजोगुण का भाग जो प्रवृत्ति है वह सात्त्विकभाग प्रकाश तथा तामसभाग दुःख से युक्त है, एवं तमोगुण का भाग जो दुःख है वह सात्विकभाग प्रकाश तथा राजसभाग प्रवृत्ति से युक्त है। परिणामिनः—परिणामी हैं अर्थात् दुग्ध जैसे दधि रूप से परिणत होता है वैसे ही ये सत्त्वादि तीनों गुण भी परिणत होते रहते हैं। संयोगवियोगधर्माणः—संयोग तथा वियोग धर्मवाले हैं, अर्थात् अविवेकी पुरुष के साथ ये तीनों गुण संयुक्त रहते हैं और विवेकी पुरुष से वियुक्त होते हैं। इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः—परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से स्थित होकर अपना अपना पृथिव्यादि मूर्तिभाव रूप कार्य को उत्पन्न करनेवाले हैं, अर्थात् जब प्रकाश रूप कार्य उत्पन्न होता है तब सत्त्वगुण अङ्गी और रजोगुण-तमोगुण अङ्ग, जब प्रवृत्ति रूप कार्य उत्पन्न होता है तब रजोगुण अङ्गी, और सत्त्वगुण-तमोगुण अङ्ग, एवं जब दुःख रूप कार्य उत्पन्न होता है तब तमोगुण अङ्गी और सत्त्वगुण-रजोगुण अङ्ग हो जाते हैं। परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसंभिन्नशक्तिप्रविभागाः—परस्पर अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त होने पर भी इन

शक्तिप्रविभागाः। तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः। प्रधानवेलायामुपदर्शितसंनिधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण

गुणों की अपनी-अपनी कार्यजननशक्ति भिन्न भिन्न-ही रहती है; अतः इनके कार्यों में संकरता होने नहीं पाती है। यह गुणों की शक्ति फलबल-कल्प्य है, अर्थात् प्रकाश रूप कार्यकाल में प्रवृत्ति तथा दुःख रूप कार्य नहीं देखे जाने से, प्रवृत्ति रूप कार्य काल में प्रकाश तथा दुःख रूप कार्य नहीं देखे जाने से, एवं दुःख रूप कार्यकाल में प्रकाश तथा प्रवृत्ति रूप कार्य नहीं देखे जाने से यह अनुमान होता है कि, अङ्गाङ्गिभाव काल में इन गुणों की कार्यजननशक्तियां पृथक्-पृथक् ही रहती हैं। अतएव इन गुणों के कार्य में संकरता होने नहीं पाती है। तुल्य-जातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः-अङ्गाङ्गिभाव से मिल कर कार्य करने से ही ये तीनों गुण तुल्यजातीय तथा अतुल्यजातीय रूप भिन्न-भिन्न शक्तिभेदों में अनुपत-नशील हैं, अर्थात् तुल्यजातीय, तथा अतुल्यजातीय रूप भिन्न भिन्न-कार्यों के आरम्भक होते हैं। जिस समय प्रकाश रूप कार्य उत्पन्न होता है उस समय सत्त्वगुण तुल्य-जातीय और रजोगुण-तमोगुण अतुल्यजातीय कहे जाते हैं, जिस समय प्रवृत्ति रूप कार्य उत्पन्न होता है उस समय रजोगुण तुल्यजातीय और सत्त्वगुण-तमोगुण अतुल्यजातीय कहे जाते हैं एवं जिस समय दुःख रूप कार्य उत्पन्न होता है उस समय तमोगुण तुल्य-जातीय और सत्त्वगुण-रजोगुण अतुल्यजातीय कहे जाते हैं। यहां जो तुल्यजातीय हैं वह उपादान और जो अतुल्यजातीय हैं वे सहकारी कारण हैं। अतः एक कार्य के प्रति एक गुण उपादान और दूसरे दो सहकारी कारण होने से मिल कर कार्य कर सकते हैं। इस कथन से "भिन्न-भिन्न शक्तिवाले होने से विरोधी ये तीनों गुण मिल कर एक कार्य का आरम्भ कैसे करते हैं?" यह शङ्का निरस्त हुई। क्योंकि, भिन्न-भिन्न शक्तिके होने पर भी एक कार्य के प्रति तीनों की उपादानता में विरोध हो सकता है; परन्तु एक की उपादानता और अन्य दो की सहकारिता में कोई विरोध नहीं।

प्रधानवेलायामुपदर्शितसंनिधानाः-अपनी अपनी प्रधानता काल में अभिव्यक्त संनिधानवाले हैं, अर्थात् दिव्य देवादि शरीर उत्पत्ति काल में सत्त्वगुण प्रधान होने से अभिव्यक्त है और रजोगुण-तमोगुण सहकारी होने से अनभिव्यक्त (अनुमित) हैं। मनुष्य शरीर-उत्पत्ति काल में रजोगुण प्रधान होने से अभिव्यक्त और सत्त्वगुण-तमोगुण सहकारी होने से अनभिव्यक्त हैं एवं तिर्यक् आदि शरीर-उत्पत्ति काल में तमोगुण प्रधान होने से अभिव्यक्त और सत्त्वगुण रजोगुण सहकारी होने से अनभिव्यक्त हैं; क्योंकि, संसार के प्रत्येक कार्य त्रिगुणात्मक होने से सहकारी कारण रूप अप्रधान अन्य दो गुणों की भी सत्ता अवश्य स्वीकार करने योग्य है। इसी को स्पष्ट करते हैं—गुण-

प्रधानान्तर्णी ।।नुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः संनिधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः ।

प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्त्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति। एतद् दृश्यमित्युच्यते।

तदेतद्भूतेन्द्रियात्मक भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते। तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति।

त्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः—गौण काल में भी व्यापारमात्र से अर्थात् सहकारी रूप से प्रधान के अन्तर्गत होने से (अनुद्भूत होने से) अनुमित अस्तित्ववाले हैं। अर्थात् अङ्गरूप गुणों के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण है। पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः संनिधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः—किसी अन्य कारण के विना केवल पुरुषार्थ-कर्तव्यता से ही सामर्थ्य युक्त होते हुए अयस्कान्तमणि के समान संनिधिमात्र उपकारी अर्थात् पास में रहने मात्र से पुरुष के भोगमोक्ष संपादन रूप उपकार करने वाले हैं। इस कथन से "समर्थ होते हुए भी सत्त्वादि गुण बिना प्रयोजन के कार्यारम्भ क्यों करते हैं ?" यह शङ्का भी निरस्त हो गई। क्योंकि, अपना कुछ प्रयोजन न होने पर भी पुरुष के भोगमोक्ष संपादन रूप उपकार करने के लिये सत्त्वादि गुण कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं। प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य प्रवृत्तिमनुवर्त्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति—अपनी अभिव्यक्ति के बिना ही प्रधान गुण की वृत्ति का अनुसरण करते हुए प्रधान शब्द वाच्य होते हैं, अर्थात् सत्त्वादि तीनों गुण अपने अपने कार्य-काल में प्रधान होने से प्रधान कहे जाते हैं। एतद् दृश्यमित्युच्यते—यह त्रिगुणात्मक प्रधान दृश्य कहा जाता है, अर्थात् "प्रधीयते आधीयते विश्वं कार्यं एभिः गुणैः इति प्रधानम्" अर्थात् उपादान रूप से संपूर्ण कार्य को जो अपने में धारण करे, वह प्रधान कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से प्रधान दृश्य कहा जाता है।

इस प्रकार सत्त्वादि गुणों के स्वभाव वर्णन करके अब उनके कार्य का वर्णन करते हैं—तदिति। तद् एतत्—सो यह दृश्य रूप त्रिगुण, भूतेन्द्रियात्मकम्—भूत-स्वरूप तथा इन्द्रिय स्वरूप है। सत्कार्यवाद में जो जिस स्वरूप होता है वह उसी रूप से परिणत होता है। इस बात को दिखाते हैं—सूक्ष्मस्थूलेन पृथिव्यादिना भूतभावेन परिणमते—सूक्ष्म स्थूल पृथिव्यादि भूत रूप से परिणत होता है, तथा—और, सूक्ष्मस्थूलेन श्रोत्रादिना इन्द्रियभावेन परिणमते—सूक्ष्म स्थूल श्रोत्रादि इन्द्रिय रूप से परिणत होता है। गुण-प्रवृत्ति के प्रयोजन बोधक सूत्र के "भोगापवर्गार्थम्" इस अवयव का विवरण करते हैं—तत्त्विति। तत् तु—सो यह जो भूतेन्द्रियादि दृश्य रूप से प्रकृति प्रवृत्त होती

तत्तु नाप्रयोजनमपि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद्दृश्यं पुरुषस्येति । तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः । भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति ।

तथा चोक्तम्—अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान्सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्न दर्शनमन्यच्छङ्कत इति ।

है वह तो, न अप्रयोजनम्— निष्प्रयोजन नहीं प्रवृत्त होती है, अपितु—किन्तु, प्रयोजनम् उररीकृत्य-प्रयोजन को स्वीकार करके ही, प्रवर्त्तते—प्रवृत्त होती है, इति—अतएव, पुरुषस्य—पुरुष के, भोगापवर्गार्थम्—भोग तथा अपवर्ग के लिये ही, तद् दृश्यम्— वह दृश्य है, ऐसा सूत्र में कहा गया है । भोग का विवरण करते हैं—तत्रेति । तत्र—वहां, अविभागापन्नम्—त्रिगुणात्म-बुद्धि से अपने को भिन्न न जानकर बुद्धिनिष्ठ, इष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणम्—सुख-दुःख रूप इष्ट-अनिष्ट धर्मों का पुरुष को अपने में अवधारण (निश्चय) करना, भोगः—भोग कहा जाता है । अर्थात् बुद्धि में जो सुखदुःख है उसको अपने में मान कर स्वयं सुखी, दुःखी होना यही पुरुष में भोग है । अपवर्ग का विवरण करते हैं—भोक्तुरिति । भोक्तुः—भोक्ता पुरुष के गुणों से पृथक्, स्वरूपावधारणम्—अपने स्वरूप का अवधारण करना, अपवर्गः—अपवर्ग अर्थात् मोक्ष कहा जाता है । अर्थात् बुद्धि में जो सुखदुःख है उसको अपने में न मानना ही अपवर्ग है । इस (भोग-मोक्ष) के अतिरिक्त प्रकृति का अन्य कोई प्रयोजन नहीं, इस बात को कहते हैं—द्वयोरिति । द्वयोः अतिरिक्तम्—भोग और मोक्ष इन दोनों से अतिरिक्त तीसरा प्रकृति-प्रवृत्ति का, अन्यद् दर्शनम्—अन्य प्रयोजन, नास्ति—नहीं है; अतः पुरुष के लिये भोगमोक्ष सम्पादन करना केवल इतना ही प्रकृति-प्रवृत्ति का प्रयोजन है । तथेति । तथा च—जैसा मैंने भोग का स्वरूप कहा है, वैसा ही महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी, उक्तम्—कहा है—अयमिति । अयं तु खलु ये अविवेकी पुरुष ही, त्रिषु गुणेषु कर्तृषु—तीनों गुणों को ही कर्त्ता होने पर भी, तुल्यातुल्यजातीये—सूक्ष्म होने से बुद्धि के तुल्यजातीय तथा अपरिणामी होने से अतुल्य जातीय, तत्क्रियासाक्षिणी—बुद्धि-क्रिया के साक्षी, चतुर्थे—तीनों गुणों की अपेक्षा तुरीय, च—एवं, अकर्तरि पुरुषे—अकर्त्ता रूप पुरुष में, उपनीयमानान्—बुद्धिद्वारा समर्प्यमाण, उपपन्नान्—युक्ति द्वारा चेतन रूप से सिद्ध, सर्वान् भावान्—बुद्धिनिष्ठ सुखदुःखादि सर्व धर्मों को, अनुपश्यन् देखते हुए, अन्यत्—गुणों से अन्य अदर्शनम्—चेतन विषयक ज्ञान के अभाव से चेतन नहीं है, इति—इस प्रकार,

तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति । यथा च जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति । एवं बन्धमोक्षौ बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायी मोक्ष इति ।

एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः

शङ्कते—शङ्का करते हैं। अर्थात् गुणों के कर्त्तापना में बुद्धिद्वारा पुरुष में समर्पित सुखदुःखादि को देखते हुए भी अविवेकी पुरुष चेतन के अस्तित्व में शङ्का करते हैं। यहां तुल्यजातीय कहने से प्रकृतिपुरुष में अविवेक-प्रयुक्त अभिन्नता दिखाई गई है, इस वाक्य से पञ्चशिखाचार्य ने अविभागापन्न गुणों के स्वरूप निश्चय को ही भोग कहा है। अतः यथोक्त भोग के स्वरूप- निरूपण में यह पञ्चशिखवाक्य प्रमाण है।

शङ्का करते हैं—ताविति। तौ एतौ भोगापवर्गौ—पूर्वोक्त ये भोग तथा अपवर्ग, बुद्धिकृतौ—बुद्धिजन्य हैं और, बुद्धौ एव वर्त्तमानौ-बुद्धि में ही विद्यमान भी हैं तो, पुरुषे—उनका अकारण, एवं अनधिकरण पुरुष में, कथम्-क्यों, व्यपदिश्येते- व्यवहृत होते हैं ? उत्तर देते हैं—यथेति। यथा च-जैसे, जयः पराजयो वा-जय अथवा पराजय, योद्धृषु वर्तमानः—योद्धाओं (सैनिकों) में विद्यमान है परन्तु उसका, स्वामिनि व्यपदिश्यते—स्वामी राजा में व्यपदेश (व्यवहार) होता है, हि-क्योंकि, सः—वह राजा, तत्फलस्य भोक्ता-उस जय अथवा पराजय रूप फल का भोक्ता है, एवम्—वैसे ही, बन्धमोक्षौ—उक्त बन्ध-मोक्ष रूप भोग तथा अपवर्ग यद्यपि, बुद्धौ एव वर्तमानौ—बुद्धि में ही विद्यमान है तथापि, पुरुषे व्यपदिश्यते—बुद्धि का स्वामी पुरुष में उनका व्यपदेश होता है, हि क्योंकि, सः—वह पुरुष, तत्फलस्य भोक्ता इति—उस बन्ध अथवा मोक्ष रूप फल का भोक्ता है। वास्तविक विचार किया जाय तो, बुद्धेः एव—बुद्धि की ही, पुरुषार्थापरिसमाप्तिः—पुरुषार्थ-अपरिसमाप्ति अर्थात् पुरुष के भोग अथवा मोक्ष सम्पादन करने के लिये व्यापार करते ही रहना, बन्धः—बन्ध कहा जाता है और, तदर्थावसायः-सत्त्वपुरुषान्यताख्याति (विवेक ख्याति) की उत्पत्ति होने से उक्त पुरुषार्थ की समाप्ति, मोक्ष इति—मोक्ष कहा जाता है।

उक्त अर्थ को अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—एतेनेति। एतेन—भोगमोक्ष पुरुष में औपचारिक है इस कथन से, ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशाः—ग्रहण (स्वरूपमात्र से अर्थ ज्ञान), धारण (उक्त अर्थ ज्ञान विषयक स्मृति), ऊह (स्मृति पदार्थ गत विशेषों की तर्कना), अपोह (समारोपित पदार्थ का युक्ति से दूर करना), तत्त्वज्ञान (ऊक्त ऊहापोह द्वारा तत्त्व का निश्चय करना), अभिनिवेश

पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः। स हि तत्फलस्य भोक्तेति ॥ १८ ॥

दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—

विशेषाऽविशेषालिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धी-

---

(तत्त्व निश्चयपूर्वक हान अथवा उपादान का ज्ञान); ये सब भी, बुद्धौ वर्त्तमानाः—बुद्धि में ही विद्यमान हैं परन्तु, पुरुषे अध्यारोपितसद्भावाः—पुरुष में, उनका अस्तित्व आरोपित है, हि—क्योंकि, सः—वह पुरुष, तत्फलस्य भोक्तेति—बुद्धिगत फल का भोक्ता है, इस प्रकार दृश्य का स्वरूप निरूपण किया गया। केवल इतना ही नहीं, किन्तु अन्य भी जो इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि गुण हैं वे भी बुद्धि के ही धर्म हैं, पुरुष में तो उनका आरोपमात्र होता है। इति ॥ १८ ॥

पूर्व सूत्र-उक्त दृश्य गुणों के स्वरूप तथा अवान्तर भेद प्रतिपादक अग्रिम सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं—दृश्यानामिति। दृश्यानां तु गुणानाम्—पूर्वोक्त दृश्य रूप सत्त्वादि गुणों के, स्वरूपभेदावधारणार्थम्—अवान्तर भेद प्रतिपादन के लिये, इदम्—इस अग्रिम सूत्र का, आरभ्यते—आरम्भ किया जाता है—विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणीति। विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि—विशेष, अविशेष, लिंगमात्र तथा अलिंग; ये चारों, गुणपर्वाणि—पूर्वोक्त सत्त्वादि तीनों गुणों के पर्व (गांठ) हैं। अर्थात् बांस के दण्ड में जैसे बीच-बीच में पर्व (ग्रन्थि) होते हैं, वैसे ही उक्त तीनों गुणों के विशेषादि चार पर्व हैं। विशेषादि चार विभागों में तीनों गुण विभक्त हैं। विशेष, अविशेष, लिंगमात्र तथा अलिंग; ये चार तीनों गुणों की अवस्थायें हैं।

उनमें से विशेष का परिगणन भाष्यकार करते हैं—तत्रेति। विशेष नाम कार्य का तथा अविशेष नाम कारण का है। तत्र-उक्त चारों में जो, आकाशवाय्वग्न्युदकभूमयः भूतानि—आकाश, वायु, अग्नि, उदक (जल) तथा भूमि रूप पञ्च महाभूत हैं वे, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणाम् अविशेषाणाम्—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धतन्मात्र रूप अविशेषों के, विशेषाः—विशेष हैं। अर्थात् पञ्चतन्मात्रों के पञ्चभूतकार्य हैं। तथेति। तथा—वैसे ही, श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि—श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा और घ्राण रूप जो ज्ञानेन्द्रिय हैं, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि—वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ रूप जो कर्मेन्द्रिय हैं एवं, एकादशं मनः सर्वार्थम्-सर्वार्थ अर्थात् ज्ञानकर्मेन्द्रिय उभय स्वरूप एकादशवां

न्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि। एकादशं मनः सर्वार्थम्। इत्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः।

गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः। षडविशेषाः। तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति।

मन, इति एतानि ये षोडश, अस्मितालक्षणस्य अविशेषस्य—अस्मिता अर्थात् अहङ्कार रूप अविशेष (कारण) के, विशेषाः—विशेष (कार्य) हैं। गुणानामिति। गुणानाम्—सत्त्वादि गुणों का, एषः—यह, षोडशकः—पञ्चभूत तथा एकादश इन्द्रिय रूप षोडशक समुदाय, विशेषपरिणामः—विशेष परिणाम (कार्य) कहा जाता है। अर्थात् पञ्चभूत तथा एकादश इन्द्रिय; ये षोडश पदार्थ सत्त्वादि गुणो के विशेष परिणाम कहे जाते हैं; क्योंकि, ये सब शान्त, घोर तथा मूढ रूप विशेष धर्मों से युक्त हैं।

विशेष रूप पर्व का परिगणन करके अब अविशेष-रूप पर्व का परिगणन भाष्यकार करते हैं—षडिति। षड् अविशेषाः—छः प्रकार के अविशेष रूप पर्व हैं। तद् यथा—और वह जैसे, शब्दतन्मात्रम्—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्रम्–स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्रम्- रूपतन्मात्र,-रसतन्मात्रम्—रसतन्मात्र, च—और, गन्धतन्मात्रम् —गन्धतन्मात्र, इति—इस प्रकार, एकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः—पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर में अनुगत होने से एक लक्षण शब्द, द्विलक्षण स्पर्श, त्रिलक्षण रूप, चतुर्लक्षण रस और पञ्चलक्षण गन्ध है। इस प्रकार शब्दादि पांचो क्रमशः एकात्मक, द्वयात्मक, त्र्यात्मक, चतुरात्मक तथा पञ्चात्मक अविशेष हैं। अर्थात् शब्द से पूर्व अन्य कोई न होने से अननुगत शब्द केवल शब्दात्मक ही है। शब्द स्पर्श में अनुगत होने से स्पर्श द्वयात्मक है, शब्द तथा स्पर्श रूप में अनुगत होने से रूप त्र्यात्मक है, शब्द, स्पर्श तथा रूप रस में अनुगत होने से रस चतुरात्मक है एवं शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस गन्ध में अनुगत होने से गन्ध पञ्चात्मक है, च—और, षष्ठः–छठा, अविशेषः—अविशेष, अस्मितामात्रः—अस्मितामात्र अर्थात् अहङ्कार है, इति—इस प्रकार छः अविशेष हैं। क्योंकि, इन छवों में शान्त, घोर तथा मूढ रूप कोई विशेष धर्म नही रहता है।

ये छः अविशेष किसके परिणाम हैं? ऐसा प्रश्न होने पर भाष्यकार उत्तर देते हैं—एत इति। एते षट्–ये छः, सत्तामात्रस्य आत्मनः महतः—सत्तामात्र

एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति।

प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्ति।

अर्थात् पुरुषार्थ-क्रिया में क्षमतावाला महान् आत्मारूप महत्तत्त्व (बुद्धि) के, अविशेषपरिणामाः—अविशेष नामक परिणाम हैं। यहां महत्तत्त्व को आत्मा कहने से उसमें तुच्छता की व्यावृत्ति हुई एवं सत्तामात्र कहने से विवर्त्तता की व्यावृत हुई, क्योंकि यह महत्तत्त्व प्रकृति का पहला वास्तविक कार्य है। इसी को बुद्धि कहते हैं इसी में शब्दादि भोगरूप तथा विवेकख्याति रूप जितनी क्रियायें हैं सबकी समाप्ति हो जाती है।

उत्पत्ति क्रम का भाष्यकार प्रतिपादन करते हैं—यदिति। यत् तत्—जो वह अविशेषेभ्यः—उक्त षट् अविशेषों से, परम्-प्रथम उत्पन्न होने से पर, लिङ्गमात्रम्—लिंगमात्र, महत्तत्त्वम्—अहङ्कार आदि सकल विकार के आधार रूप महत्तत्त्व नामक बुद्धि है, —तस्मिन्—उस, सत्तामात्रे-सत्तामात्र, महति आत्मनि-महान् आत्मा में (बुद्धि में). एते-ये षट् अविशेष पदार्थ, अवस्थाय-अनागत (लय) अवस्था में रहकर, विवृद्धिकाष्ठाम्-स्थावर-जंगम रूप विवृद्धिकाष्ठा को, अनुभवन्ति-प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार उत्पत्ति-क्रम को प्रतिपादन करके अब लयक्रम को भाष्यकार प्रतिपादन करते हैं—प्रतीति च-और पूर्वोक्त ये छः अविशेष, प्रतिसंसृज्यमानाः—लयोन्मुख होते हुए, तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महति आत्मनि-उसी सत्तामात्र महत्तत्त्व रूप महान् आत्मा में, अवस्थाय-सूक्ष्म-रूप से अवस्थित होते हुए (लीन होते हुए) महत्तत्त्व के साथ ही, यत् तत्-जो वह, निःसत्तासत्तम्-सत्ता और असत्ता इन दोनों धर्मों से रहित, निःसदसत्-कार्यकारणभाव से रहित, निरसत्—आकाश-कुसुम आदि असत् पदार्थ से विलक्षण, अव्यक्तम्-सूक्ष्म होने से इन्द्रिय-विषयता से रहित, अलिङ्गम्-उपादान के अभाव से किसी में लय न होनेवाला, प्रधानम्-प्रधान अर्थात् त्रिगुणसाम्य अवस्थाक प्रकृति है, तत्प्रतियन्ति-उसमें लीन हो जाते हैं।

भाष्य में प्रकृति का विशेषण "निःसत्तासत्तम्" दिया गया है। उसका भाव यह है कि, पुरुषार्थक्रियाक्षमत्व को सत्ता और शशविषाणत्व आदि तुच्छता को असत्ता कहते हैं। ये दोनों ही धर्म प्रकृति में नहीं हैं, क्योंकि, त्रिगुणसाम्यावस्था को

एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामः।

निःसत्तासत्तं चालिङ्गपरिणाम इति। अलिङ्गावस्थायां न पुरु-

प्रकृति कहते हैं। जब तक त्रिगुणसाम्यावस्था रूप में प्रकृति रहती है तब तक उसमें पुरुषार्थ क्रिया की क्षमता नहीं रहती है और जब उक्त गुणों में विषमता आती है, तभी पुरुषार्थक्रिया की क्षमता भी आती है। अतः त्रिगुणसाम्य काल में पुरुषार्थ-संपादन की क्षमता प्रकृति में न होने से एवं शशविषाण के समान प्रकृति तुच्छ न होने से उसमें उक्त क्षमता तथा तुच्छता नहीं है। अतएव प्रकृति "निःसत्तासत्त" है। इसी अवस्थाक प्रकृति में अपना कारण अहङ्कार द्वारा उक्त अविशेष लीन होते हैं। एवं प्रकृति को 'निःससदत्' कहा गया है, जिसका अर्थ कार्यकारणभाव से रहित है। उक्त त्रिगुणसाम्यावस्थाक प्रकृति किसी का सत असत् अर्थात् कार्यकारण नहीं, क्योंकि त्रिगुण स्वरूप होने से किसी का कार्य नहीं और त्रिगुणसाम्यावस्थाक होने से किसी का कारण भी नहीं; क्योंकि, विषम अवस्था में ही प्रकृति कारणभाव को प्राप्त होती है। एवं प्रकृति को "निरसत्" भी कहा गया है, जिसका अर्थ आकाश-कुसुम आदि असत् पदार्थ से विलक्षण है। यदि प्रकृति असत् हो तो आकाश-कुसुम आदि असत् पदार्थों से जैसे किसी की उत्पत्ति नहीं होती है, वैसे ही प्रकृति से विषमकाल में भी किसी की उत्पत्ति नहीं होगी। अतः प्रकृति असत् से विलक्षण मानी गई है।

यथोक्त प्रतिसर्ग का उपसंहार करते हुए अर्थतः लिङ्गमात्र रूप तृतीय पर्व का निरूपण भाष्यकार करते हैं—एष इति। एषः-जिससे पूर्वोक्त षट् अविशेष उत्पन्न होते हैं और जिसमें जाकर लीन होते हैं एवं प्रकृति का प्रथम परिणाम रूप जो यह महत्तत्त्व है वह, तेषाम्-उन तीनों गुणों का, लिङ्गमात्रः-लिंगमात्र नामक तृतीय, परिणामः-परिणाम (पर्व) कहा जाता है। अर्थात् महत्तत्त्व गुणों का लिगमात्र नामक तृतीय पर्व कहा जाता है। भाव यह है कि, पूर्वोक्त षट् अविशेष महत्तत्त्व से उत्पन्न होते हैं और महत्तत्त्व में ही लीन होते हैं। प्रथम अपने कारण में लीन होकर पश्चात् कारण के साथ प्रकृति में लीन होते हैं। विशेष, अविशेष तथा लिंगमात्र रूप तीन पर्वों का निरूपण करके अब भाष्यकार क्रमप्राप्त अलिङ्ग रूप चतुर्थ पर्व का निरूपण करते हैं—निःसत्तासत्तमिति। च-और महत्तत्त्व का कारणभूत, निःसत्तासत्तम्-सत्ता और असत्ता रूप दोनों धर्मों से रहित जो त्रिगुणसाम्यावस्थाक प्रकृति (प्रधान) वह, अलिङ्गपरिणामः-अलिंग नामक चतुर्थ पर्व कहा जाता है। "अलिङ्गपरिणामः" इस समस्त पद में जो परिणाम शब्द है; वह कार्यवाचक नहीं; किन्तु पर्व-वाचक है और पर्व शब्द का अर्थ अवस्थाविशेष है। यह बात सूत्रार्थ के समय कही गई है। अतः प्रकृति गुणों का परिणाम (कार्य) नहीं, किन्तु अवस्थाविशेष

षार्थो हेतुः। नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवति।

नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते। त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति। स चार्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याख्यायते।

है, क्योंकि, आगे भाष्यकार इसी सूत्र के भाष्य में प्रकृति को नित्य कह रहे हैं। अतः तीनों गुणों की अवस्थाविशेष ही प्रकृति है, कार्य नहीं।

सत्त्वादि गुणों की चार अवस्थायें कही गई। उनमें प्रथम जो विशेष, अविशेष तथा अलिंगमात्र ये तीन अवस्थायें हैं, वे पुरुषार्थजन्य होने से अनित्य हैं और चतुर्थी जो प्रकृतिरूप अलिंग अवस्था है वह पुरुषार्थजन्य न होने से नित्य है। इसमें भाष्यकार हेतु देते हैं—अलिंगेति। अलिंगावस्थायाम्—अलिंग अवस्था में, पुरुषार्थः—पुरुषार्थ, हेतुः न-हेतु नहीं है; क्योंकि, नेति। आदौ—प्रथम, अलिंगावस्थायाम्—अलिंग अवस्था में, पुरुषार्थता कारणं न भवति—पुरुषार्थता कारण नहीं है। इति। इसीलिये, तस्याः—उस प्रकृति रूप अलिंग अवस्था का, पुरुषार्थता कारणं न भवति—पुरुषार्थता कारण नहीं है। उपसंहार करते हैं—नासाविति। अतः, असौ—यह अलिंगावस्थाक प्रकृति, न पुरुषार्थकृता—पुरुषार्थजन्य नहीं है, इति—इसीलिये, नित्या आख्यायते नित्य कही जाती है।

भाव यह है कि, त्रिगुणसाम्य अवस्थारूप लिंगावस्था में पुरुषार्थ कारण है। यह बात तब मानी जाती जब उक्त लिंगावस्था शब्दादि उपभोग अथवा सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप पुरुषार्थ को संपादन करती, सो तो उस अवस्था में दोनों में से किसी एक को भी संपादन करती है नहीं, क्योंकि, दोनों में से किसी एक को भी संपादन करने पर साम्य अवस्था ही नहीं रहती है। अतः इस अलिंगावस्था में पुरुषार्थ कारण नहीं होने से त्रिगुण साम्य अवस्था रूप लिंगावस्थाक प्रकृति नित्य है, यह सिद्ध हुआ।

अनित्य अवस्थाओं को कहते हैं—त्रयाणामिति। त्रयाणां तु अवस्थाविशेषाणाम्—लिंगमात्र, अविशेष तथा रूप ये तीनों जो अवस्था-विशेष हैं, उनका, आदौ—उत्पत्ति काल में, पुरुषार्थता कारणं भवति—पुरुषार्थता कारण है, च—और, सः अर्थः—वह उत्पत्ति कालिक पुरुषार्थ, हेतुः निमित्तम् कारणम् भवति—कारण होता है, इति—इस लिये उक्त तीनों अवस्थायें, अनित्या—अनित्य, आख्यायते—कही जाती हैं। यहाँ हेतु शब्द का निमित्त और कारण शब्द से विवरण किया गया है। अतः उनका अलग अर्थ नहीं।

गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते। व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते। यथा देवदत्तो दरिद्राति। कस्मात्। यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति। गवामेव मरणात्तस्य दरिद्रता न स्वरूपहानादिति समः समाधिः।

लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते। क्रमानतिवृत्तेः। तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते। परिणाम-

---

पर्वों के स्वरूप दिखाकर अब गुणों के स्वरूप दिखाते हैं–गुणा इति। सर्वधर्मानुपातिनः–सर्व परिणामों में अनुगत जो, गुणाः–सत्त्वादि गुण हैं वे, न तु–न तो कहीं, प्रत्यस्तमयन्ते–लय होते हैं और, न उपजायन्ते–न उत्पन्न ही होते हैं। गुणान्वयिनीभिः–गुणों से अनुगत, अतीतानागतव्ययागमवतीभिः–भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तथा उत्पत्ति नाश रूप धर्मशील, व्यक्तिभिः एव–महत्तत्त्वादि व्यक्तियों के द्वारा ही, उपजननापायधर्मका इव–उत्पत्ति नाश रूप धर्मशील के समान, प्रत्यवभासन्ते–प्रतीत होते हैं। इसमें दृष्टान्त देते हैं––यथेति। यथा–जैसे लोक में, देवदत्तः––देवदत्त, दरिद्राति–दरिद्र हो रहा है। प्रश्न होता है––कस्मात्–क्यों? उत्तर देते हैं–यतः–क्योंकि, अस्य–इसकी, गावः–गौवें, म्रियन्ते–मर रही हैं। यहां पर, गवाम् एव मरणात्–गौवों के मरने से ही, तस्य–उस देवदत्त में, दरिद्रता–दरिद्रता का व्यवहार होता है, न स्वरूपहानात्–स्वरूप के नाश से नहीं। वैसे ही महत्तत्त्व आदि की उत्पत्ति आदि से गुणों में उत्पत्ति आदि व्यवहार होते हैं। वस्तुतः सत्त्वादि गुण उत्पत्तिनाशशील नहीं हैं। इति–यह, समः–समान, समाधिः–समाधान है। अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त समान ही है।

"सर्ग क्रम नियत है, अनियत नहीं" इस बात को कहते हैं–लिङ्गमात्रमिति। अलिङ्गस्य–अलिङ्ग जो प्रकृति उसका, प्रत्यासन्नम्–अव्यवहित (प्रथम) कार्य, लिंगमात्रम्–महत्तत्त्व है, तत्र–उस प्रकृति में, तत्–वह महत्तत्त्व, संसृष्टम्–अव्यक्त रूप से अविभव्यक्त है, उससे, विविच्यते–विभक्त होता है। क्योंकि, क्रमानतिवृत्तेः–पौर्वापर्य रूप क्रम का कभी भी अतिक्रमण नहीं होने से, अर्थात् सांख्ययोग मत में सत्कार्य वाद के स्वीकार होने से उत्पत्ति से पूर्व प्रकृति में सूक्ष्म रूप से विद्यमान महत्तत्त्व का सृष्टिकाल में आविर्भाव होता है। प्रथम असत् था उसकी उत्पत्ति हुई है ऐसा नहीं। तथेति। तथा–वैसे ही, षट् अविशेषाः–छः अविशेष, लिंगमात्रे–महत्तत्त्व में, संसृष्टाः–सूक्ष्म रूप से स्थित हैं, सृष्टिकाल में उससे, विविच्यन्ते–विभक्त होते हैं,

क्रमनियमात् । तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते । तथा चोक्तं पुरस्तात् ।

न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः । तेषां तु धर्मलक्षणावस्था परिणामा व्याख्यायिष्यन्ते ॥१९॥

क्योंकि, परिणामक्रमनियमात्–कार्य का क्रम नियमित होने से । तथेति । तथा–एवं, तेषु अविशेषेषु—उक्त छः प्रकार के अविशेषों में, भूतेन्द्रियाणि–पञ्चभूत तथा एकादश इन्द्रियों, संसृष्टानि—सूक्ष्म रूप से स्थित हैं, उनसे, विविच्यन्ते–विभक्त होते हैं ।

शङ्का होती है कि, पञ्चभूत तथा एकादश इन्द्रिय रूप विशेष अविशेष से कैसे उत्पन्न होते हैं ? उत्तर देते हैं–तथा चोक्तमिति । तथा च–जैसे अविशेष विशेष उत्पन्न होते हैं वैसा, पुरस्तात् उक्तम्–प्रथम ही (इसी सूत्र के व्याख्यान में ही) कहा गया है । पुनः शङ्का होती है कि, जैसे अलिङ्ग का लिंगमात्र, लिंगमात्र का अविशेष तथा अविशेष का विशेष तत्त्वान्तर परिणाम है, वैसे विशेष का कोई तत्त्वान्तर परिणाम है या नहीं ? । उत्तर देते हैं–नेति । विशेषेभ्यः परम्–विशेषों से आगे, तत्त्वान्तरम्–इनसे विलक्षण तत्त्व, न अस्ति–नहीं है, इति–अतः, विशेषाणाम्—उक्त षोडश विशेषों का, तत्त्वान्तरपरिणामः—अन्य तत्त्वान्तर परिणाम, न अस्ति—नहीं है । इस पर शङ्का होती है कि, तो क्या ये षोडश विशेष अपरिणामी हैं ? यदि ऐसा है तो ये नित्य होने चाहिये । इसका उत्तर देते हैं—तेषामिति । तेषाम् तु–उक्त षोडश विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है किन्तु, धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः–धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम, व्याख्यायिष्यन्ते–अग्रिम विभूति पाद के १३ वें सूत्र पर विस्तार से कहे जायंगे ।

भाव यह है कि, परिणाम दो प्रकार के होते हैं, एक तत्त्वान्तर अर्थात् कारण से विलक्षण और दूसरा अतत्त्वान्तर अर्थात् कारण से अविलक्षण । जैसे अलिंग का लिंगमात्र तत्त्वान्तर परिणाम है, लिंगमात्र का अविशेष तत्त्वान्तर परिणाम है, एवं अविशेष का विशेष तत्त्वान्तर परिणाम है । वैसे विशेषों के जो धर्म, लक्षण तथा अवस्था रूप परिणाम हैं, वे तत्त्वान्तर परिणाम नहीं; किन्तु जो तत्त्व विशेष हैं, वे ही तत्त्व ब्रह्माण्ड के धर्मादि सकल पदार्थ हैं और विशेषों के तत्त्वान्तर परिणाम न होने पर भी उक्त धर्मादि अतत्त्वान्तर परिणाम होने से वे (षोडश विशेष) अपरिणामी भी नहीं; किन्तु परिणामी हैं । अत एव नित्य भी नहीं; किन्तु अनित्य हैं । यह उक्त शङ्का का समाधान हुआ ।

योग मत में छब्बीस तत्त्व माने गए हैं–पुरुष विशेष परमात्मा, पुरुषसामान्य जीवात्मा, प्रधान (प्रकृति) महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय और

पञ्चमहाभूत। उनमें परमात्मा तथा जीवात्मा दृश्य न होने से उनका निरूपण दृश्य निरूपण के प्रकरण में नहीं किया गया है। शेष चौबीस तत्त्व चार विभागों में विभक्त किये गये हैं—विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

कार्य को विकृति और कारण को प्रकृति कहते हैं। स्थूल पञ्चमहाभूत पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन; ये षोडश तत्त्व अहङ्कार आदि छः अविशेष के विकृति हैं, किसी की प्रकृति नहीं; क्योंकि, इनसे कोई तत्त्वान्तर उत्पन्न नहीं होता है। इन षोडश तत्त्वों में शान्त, घोर तथा मूढ रूप विशेष धर्म रहने से एवं एक दूसरे से विशेष अर्थात् व्यावृत्त रहने से ये विशेष कहे जाते हैं।

उनमें इस प्रकार विवेक कर लेना चाहिये कि, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध रूप पञ्चतन्मात्रों से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी रूप स्थूल पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए हैं। अतः पञ्चतन्मात्ररूप प्रकृति के स्थूल पञ्चमहाभूत विकृति हैं। एवं सत्व- प्रधान अहङ्कार से पञ्चज्ञानेन्द्रिय, रजः प्रधान अहङ्कार से पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा सत्व-रज उभय प्रधान अहङ्कार से उभयात्मक मन उत्पन्न हुआ है। अतः अहङ्कार रूप प्रकृति के ये एकादश इन्द्रिय विकृति हैं। इस प्रकार पञ्चतन्मात्र तथा अहङ्कार रूप प्रकृति के पञ्चभूत तथा एकादश इन्द्रिय विकृति हैं। यह बात सिद्ध हुई।

अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र ये छओं तत्त्व महत्तत्व रूप प्रकृति के विकृति और उक्त षोडश विशेषों के प्रकृति है। अतः ये प्रकृति विकृति उभय रूप हैं। इन छओं तत्त्वों में इनका व्यावर्त्तक शान्त, घोर तथा मूढ रूप विशेष धर्म न रहने से ये अव्यावृत्त अर्थात् अविशेष कहे जाते हैं। सांख्यमत में पञ्चतन्मात्र अहङ्कार के विकृति कहे गए हैं, परन्तु उपरोक्त योगभाष्य को देखने से योगमत में महत्तत्व के विकृति हैं। यह बात निश्चित होती है।

"लयं गच्छतीति लिङ्गम्" अर्थात् जो अपने कारण में लीन होता हो वह लिङ्ग कहा जाता है। महत्तत्व (बुद्धि) अपने कारण प्रधान में लीन होता है; अतः वह लिङ्ग कहा जाता है। इसके साथ जो मात्र पद जोड़ा गया है, उससे विशेष तथा अविशेष से इसमें विलक्षणता झलकती हैं। इसीलिये लिङ्गमात्र जो महत्तत्व वह प्रधान का विकृति और अहङ्कार तथा तन्मात्र की प्रकृति होने से प्रकृति-विकृति उभय रूप है।

कार्य कारण में लीन होता है; अतः वह लिङ्ग कहा जाता है। त्रिगुण साम्य अवस्था रूप प्रधान का कोई कारण न होने से वह किसी में लीन नहीं होता है। अतः यह लिंग नहीं, किन्तु अलिंग कहा जाता है। अतएव वह महत्तत्व की प्रकृति तो है, परन्तु किसी को विकृति नहीं।

इस प्रकार मूल प्रकृति ही है विकृति नहीं। महत्तत्त्व, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्र ये सात प्रकृति-विकृति उभय रूप हैं और पञ्चभूत तथा एकादश इन्द्रिय ये सोलह विकृति ही हैं, प्रकृति नहीं। यह सिद्ध हुआ।

विशेष अविशेष, लिंगमात्र तथा अलिंग; ये चारों उक्त सत्त्वादि गुणों के पर्व अर्थात् परिणाम (अवस्थाविशेष) हैं। सत्त्व, रजस्, तमस् इनको गुण, इसलिए कहते हैं कि, ये चेतन के प्रति शेष हैं। शेष, गुण, अप्रधान तथा अङ्ग; ये सब पर्याय शब्द हैं।

भाष्यकार ने "सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति" इस पंक्ति से "योगमत में सत्कार्यवाद है" यह व्यक्त किया है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है— कपाल से घट उत्पन्न होता है। वह नूतन उत्पन्न नहीं होता है, किंतु कपाल में सूक्ष्मरूप से घट विद्यमान था, उसीका आविर्भावमात्र हुआ है। अतः असत् की उत्पत्ति नहीं, किन्तु सत् की उत्पत्ति हुई है। इसीको सत्कार्यवाद कहते हैं।

यदि कहें कि, कपाल में जब प्रथम से ही घट विद्यमान था तो कुलाल का व्यापार व्यर्थ है? क्योंकि, यदि घट कपाल में प्रथम न हो और कुलाल के व्यापार से नूतन उत्पन्न होता हो तब तो कुलाल का व्यापार सार्थक कहा जा सकता है। यह शङ्का समीचीन नहीं; क्योंकि, कुलाल का व्यापार तिरोहित घट को अविर्भाव करके सार्थक है। इसके अतिरिक्त कपाल में असत् घट की उत्पत्ति यदि माना जाय तो तन्तु से भी घट की उत्पत्ति होनी चाहिये? क्योंकि असत्ता दोनों स्थल में समान है।

यदि कहें कि, कार्यमात्र के प्रति प्रागभाव कारण होता है। जहां जिसका प्रागभाव रहता है, वहां से उसकी उत्पत्ति होती है। कपाल में घट का प्रागभाव है; अतः कपाल से घट की उत्पत्ति होती है और तन्तु में घट का प्रागभाव नहीं; अतः तन्तु से घट की उत्पत्ति नहीं होती है। यह समाधान भी समीचीन नहीं; क्योंकि, कपाल में घट का प्रागभाव है और तन्तु में नहीं इसमें कोई प्रमाण नहीं। यदि कहें कि, प्रागभाव फलबलकल्प्य है अर्थात् कपाल से घट की उत्पत्ति देखने से कपाल में घट के प्रागभाव का अनुमान होता है और तन्तु से घट की उत्पत्ति नहीं देखने से वहां उसका अनुमान नहीं होता है।

यह भी समाधान समीचीन नहीं; क्योंकि, जो प्रागभाव घट का कारण माना जाता है, वह उपादान कारण है या निमित्त? यदि उपादान कारण कहें तो शून्यवादापत्ति दोष लागू पड़ेगा; क्योंकि, शून्यवादी भी अभाव को ही उपादान कारण मानते हैं और यदि प्रागभाव को निमित्त कारण कहें तो इसमें विनिगमनाविरह है अर्थात् इसमें एकतर पक्षपातिनी युक्ति का अभाव है। यदि कहें कि, अभाव उपादान कारण है

व्याख्यातं दृश्यम्। अथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः।

यह कहीं नहीं देखा गया है तो अभाव निमित्त कारण है यह कहां देखा गया है? अर्थात् जैसे अभाव उपादान कारण नहीं देखा गया है वैसे ही निमित्त कारण भी तो नहीं देखा गया है? अतएव श्री भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इस वाक्य से अभाव से भाव की उत्पत्ति का निषेध किया है। अतः सत्कार्यवाद ही समीचीन है, असत्कार्यवाद नहीं। यह सिद्ध हुआ। इति दिक् ॥ १९ ॥

भाष्यकार अग्रिम सूत्र की अवतरणिका रचते हैं--व्याख्यातमिति। दृश्यम्-इस प्रकार दृश्य का स्वरूप, व्याख्यातम्—व्याख्यात हुआ, अथ—अब, द्रष्टुः-द्रष्टा रूप पुरुष के, स्वरूपावधारणार्थम्-स्वरूपनिश्चय करने के लिये, इदम्-इस अग्रिम सूत्र का, आरभ्यते-आरम्भ होता है--द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य इति। दृशिमात्रः-वृत्तिज्ञानादि निखिल धर्म से रहित जो दृशिमात्र (चेतनमात्र) अर्थात् ज्ञान-स्वरूप पुरुष है वह, द्रष्टा-द्रष्टा कहा जाता है।

इस पर शङ्का होती है कि, यदि पुरुष ज्ञानस्वरूप है तो "मैं ज्ञानी हूं" इत्यादि प्रतीतियों में ज्ञान का आश्रय होकर क्यों भासता है? इसका उत्तर देते हैं--शुद्ध इति। शुद्धः अपि-वह पुरुष शुद्ध है तो भी अर्थात् वृत्तिज्ञान आदि निखिल धर्म से रहित है तो भी, प्रत्ययानुपश्यः—बुद्धि के साथ अविवेक के कारण बुद्धि में रहने वाले प्रत्यय नामक वृत्ति ज्ञान को अपने में देखनेवाला है। अर्थात् बुद्धि रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित पुरुष अविवेक से बुद्धि को अपना स्वरूप मान लेता है। अतः बुद्धि के धर्म वृत्तिज्ञान को अपने में मान कर ज्ञानाश्रय रूप से प्रतीत होता है। यही बात "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" इस सूत्र पर कही गई है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं--दृशिमात्र इति। दृशिमात्र इति-दृशि-मात्र यह कहने से पुरुष, विशेषणापरामृष्टा-विशेषण रूप धर्म से असंबद्ध, दृक्श-क्तिरेव-दृक्शक्ति ही है, इत्यर्थः-यह अर्थ हुआ। सूत्रगत "दृशिमात्र" इस पद में मात्र ग्रहण का तात्पर्य "दृक्शक्तिरेव" इस पद से दिखाया गया है। अर्थात् पुरुष केवल दृक्शक्ति (ज्ञान स्वरूप) ही है। इसमें कोई विशेषण नहीं है।

शङ्का होती है कि, यदि पुरुष सकल धर्म से असंबद्ध केवल दृक्शक्ति ही है तो उसके साथ असंबद्ध शब्दादि विषय पदार्थ दृश्य नहीं होंगे? क्योंकि, द्रष्टा के साथ असंबद्ध जो पदार्थ वह दृश्य नहीं हो सकता है, यह नियम है। इसका उत्तर भाष्यकार

स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी। स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति।

न तावत्सरूपः। कस्मात्। ज्ञानज्ञातविषयत्वात्परिणामिनी हि बुद्धिः। तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिश्च ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति।

देते हैं—स इति। स पुरुषः-वह चेतन स्वरूप पुरुष, बुद्धेः-बुद्धि रूप दर्पण में, प्रतिसंवेदी-प्रतिबिम्बित है। अर्थात् यद्यपि शब्दादि विषय पदार्थ पुरुष के साथ असंबद्ध हैं, तथापि पुरुषच्छायापन्न बुद्धि के साथ संबद्ध हैं, अतः उनको दृश्य होने में कोई आपत्ति नहीं।

इस पर शङ्का होती है कि—बुद्धि और पुरुष का ऐक्य वास्तविक ही क्यों नहीं माना जाय? इस छायापत्ति से ऐक्य मानने में क्या प्रयोजन? इसका उत्तर देते हैं—स इति। सः-वह पुरुष, बुद्धेः-बुद्धि का, सरूपः-सरूप (समान रूपवाला); न-नहीं है। अर्थात् पुरुष वास्तविक बुद्धिरूप नहीं है। फिर शङ्का होती है कि, जब पुरुष बुद्धि-सरूप नहीं है तो विरूप की छायापत्ति भी तो दुर्घट है?। इसका उत्तर देते हैं—नात्यन्तमिति। अत्यन्तम्-वह पुरुष अत्यन्त, विरूपः-विरूप (विभिन्न रूपवाला) भी, न-नहीं है। अर्थात् जैसे पुरुष बुद्धि का समान रूपवाला नहीं है, वैसे ही अत्यन्त विभिन्न रूपवाला भी नहीं है कि, जिससे उसकी छायापत्ति दुर्घट हो सकती है।

सारूप्य का निषेध करते हैं—न तावदिति। तावत्-प्रथम यह विचार होता है कि, वह पुरुष बुद्धि के, सरूपः-सरूप, न-नहीं है। इसमें कारण पूछते हैं—कस्मादिति। कस्मात्-किस कारण से वह पुरुष बुद्धि के समान रूपवाला नहीं है?। विरूपता में सहेतुक उत्तर देते हैं—ज्ञाताज्ञातेति। हि-क्योंकि, ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्-ज्ञात तथा अज्ञात विषयक होने से, बुद्धि,-बुद्धि, परिणामिनी-परिणामिनी अर्थात् विकारी है। अर्थात् जब यह बुद्धि शब्दादि विषयाकार होती है, तब इसका शब्दादि रूप विषय ज्ञात होता है और जब शब्दादि विषयाकार नहीं होती है, तब शब्दादि विषय अज्ञात होता है। यही (कदाचित् तदाकारता को धारण करना) बुद्धि के परिणामित्व में हेतु है। अतः बुद्धि परिणामिनी है, इसलिये उससे पुरुष विरूप (विभिन्न-रूपवाला) है। इसमें-'बुद्धिः, परिणामिनी, ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्, श्रोत्रादिवत्,' अर्थात् बुद्धि परिणामिनी है, ज्ञात तथा अज्ञात विषयक होने से, श्रोत्रादि के समान, यह अनुमान प्रमाण है। ज्ञाताज्ञातविषयत्व रूप हेतु को स्पष्ट करते हैं—तस्याश्चेति। च-और, तस्याः-उस बुद्धि का, विषयः-विषय जो, गवादिर्घटादिश्च-गो आदि तथा घट आदि पदार्थ है वह, ज्ञातश्चाज्ञातश्च-कभी ज्ञात तथा कभी अज्ञात है, इति-इसलिये यही ज्ञाताज्ञातत्व, परिणामित्वं दर्शयति-बुद्धि के परिणामित्व का अनुमान कराता है।

सदा ज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति। कस्मात्। न हि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्यादगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदा ज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति।

किं च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति।

पुरुषनिष्ठ बुद्धि-वैधर्म्य पुरुष को बुद्धि से विपरीत होने के कारण सिद्ध होता है। इस बात को कहते हैं—सदेति। पुरुषस्य–पुरुषनिष्ठ जो बुद्धि विषयक, सदा ज्ञातविषयत्वम्–सदा ज्ञातविषयता है वह, तु–जो पुरुष को, अपरिणामित्वम्—अपरिणामी, परिदीपयति–झलकाती है। "जब पुरुष सदा ज्ञातविषयक ही है तो वह कभी भी केवली (मुक्त) न होगा" इस आशय से शङ्का करते हैं—कस्मादिति कस्मात्–वह पुरुष सदा ज्ञातविषयक क्यों है? उत्तर देते हैं—न हीति। बुद्धिश्च नाम–बुद्धि, पुरुषविषयश्च– पुरुष का विषय और, अगृहीता च–अगृहीता भी, न हि स्यात्–नहीं हो सकती है, इति–अतः, पुरुषस्य–पुरुष का, सदा ज्ञातविषयत्वम्–सदा ज्ञातविषयत्व, सिद्धम्–सिद्ध हुआ, च–और, ततः–उससे पुरुष में, अपरिणामित्वमिति–अपरिणामित्व भी सिद्ध हुआ। क्योंकि, कदाचित् ज्ञातविषयत्व हो तो पुरुष में परिणामित्व आ सकता है।

भाव यह है कि, बुद्धि पुरुष का विषय भी हो और अगृहीत भी हो। ये दोनों विरोधी बातें बन नहीं सकती हैं। अतः बुद्धि पुरुष का विषय है और गृहीत है, यही कहना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में बुद्धि को विषय करनेवाला पुरुष ज्ञातविषयक है, यह सिद्ध हुआ और सदा ज्ञातविषयक है अर्थात् बुद्धि के समान कदाचित् ज्ञात-विषयक नहीं, किन्तु सदा ज्ञातविषयक है; अत एव अपरिणामी भी सिद्ध हुआ।

पुरुष में जो सदा ज्ञातविषयत्व है वह व्युत्थान अवस्था में है और जब निरोध अवस्था प्राप्त होती है तब बुद्धि तथा अग्रहण का सहभाव संभव होने से पुरुष को केवली (मुक्त) होने में भी कोई आपत्ति नहीं। यह पूर्वोक्त शङ्का का उत्तर हुआ।

इससे पुरुष में अपरिणामित्व बोधक यह अनुमान भी फलित होता है—'पुरुषः, अपरिणामी, सदा संप्रज्ञातव्युत्थानावस्थयोर्ज्ञातविषयत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा श्रोत्रादि'। अर्थात् पुरुष अपरिणामी है, सदा संप्रज्ञात तथा व्युत्थान अवस्था में ज्ञातविषयक होने से, जो उक्त अवस्थाओं में ज्ञातविषयक नहीं होता है, वह अपरिणामी भी नहीं होता है, जैसे श्रोत्रादि।

बुद्धि और पुरुष में दूसरा भी वैषम्य दिखाते हैं—किञ्च, परार्था बुद्धिः, संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति। संहत्यकारित्वात्–क्लेश, कर्म, वासनादि के साथ तथा विषय, इन्द्रियादि के साथ मिल कर पुरुष के लिये भोगमोक्ष संपादन करने से, बुद्धिः परार्था–बुद्धि परार्थ है और, पुरुषः स्वार्थः–पुरुष स्वार्थ है; अतः इन दोनों में वैषम्य

तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति । गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति । अतो न सरूपः । अस्तु तर्हि विरूप इति । नात्यन्तं विरूपः कस्मात् । शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः ।

यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति । तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक

है । इस कथन से यह अनुमान भी फलित होता है—"बुद्धिः, परार्था, संहत्यकारित्वात्, शयनासनादिवत् , यः संहत्यकारी न भवति, स परार्थमपि न भवति, यथा पुरुषः" । अर्थात् बुद्धि परार्थ है, संहत्यकारी - मिलजुल कर कार्य करनेवाली होने से, शयन, आसन आदि के समान, जो संहत्यकारी नहीं होता है, वह परार्थ भी नहीं होता है, जैसे पुरुष । इस अनुमान से बुद्धि में परार्थत्व और पुरुष में स्वार्थत्व सिद्ध होता है । अतः पुरुष बुद्धि से विषम है ।

बुद्धि और पुरुष में अन्य वैषम्य दिखाते हैं— तथेति । तथा–वैसे ही, सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्–शान्त, घोर, मूढाकार से परिणत शान्त, घोर, मूढ पदार्थ विषयक अध्यवसायशील होने से, त्रिगुणा बुद्धिः–बुद्धि त्रिगुणात्मक है और, त्रिगुणत्वात्–त्रिगुण होने से, अचेतना इति–अचेतन है, यह सिद्ध हुआ । और, गुणानां तु–गुणों का तो, उपद्रष्टा पुरुषः–पुरुष उपद्रष्टा मात्र है, अतः–उक्त तीन प्रकार के वैधर्म्य होने से, न सरूपः–बुद्धि के समान रूपवाला नहीं है । अर्थात् बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर पुरुष गुणों को देखता है, परिणत होकर नहीं । अतः पुरुष बुद्धि के समान रूप - वाला नहीं, किन्तु सर्वथा विरूप है ।

अत्यन्त वैरूप्य का निराकरण करने के लिये शङ्का उठाते हैं—अस्तु तर्हीति । तर्हि–जब पुरुष बुद्धि के सरूप नहीं है तो, विरूप इति– अत्यन्त विरूप होगा ? इसका उत्तर देते हैं—नात्यन्तं विरूप इति । अत्यन्तम्–बुद्धि से पुरुष अत्यन्त, विरूपः–विरूप भी, न–नहीं है । प्रश्न करते हैं—कस्मादिति । कस्मात्–किस कारण से पुरुष बुद्धि से अत्यन्त विरूप नहीं है ? । उत्तर देते हैं—शुद्ध इति । असौ–वह पुरुष, शुद्धोऽपि–शुद्ध अर्थात् बुद्धिवृत्ति स्वरूप नहीं है तो भी, प्रत्ययानुपश्यः–बुद्धिवृत्ति स्वरूप से प्रतीत होता है । इसमें हेतु देते हैं—यत इति । यतः–जिस कारण से पुरुष बौद्धं प्रत्ययम्–बौद्ध प्रत्यय अर्थात् बुद्धिवृत्ति को अनुपश्यति–देखता है; इसी कारण से बुद्धि से अत्यन्त विरूप नहीं है ।

फिर शंका करते हैं कि, पुरुष बुद्धिद्रष्टा होने पर भी बुद्धि से अत्यन्त विरूप क्यों नहीं है ? उत्तर देते हैं—तमिति । तम् अनुपश्यन्–उस बौद्ध प्रत्यय को देखते हुए पुरुष, अतदात्मा अपि–बुद्धि सरूप नहीं है तो भी, तदात्मक इव–बुद्धि सरूप के जैसा, प्रत्यवभासते–प्रतिभासित होता है । इसीलिये बुद्धि से अत्यन्त विरूप नहीं

इव प्रत्यवभासते । तथा चोक्तम्—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिर-प्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति ।

तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धि-वृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्य-स्यात्मा भवति ।

कहा जाता है । अतएव "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" इस सूत्र से व्युत्थान काल में पुरुष को वृत्तिसारूप्य कहा गया है । उक्त अर्थ में पञ्चशिखाचार्यकृत वाक्य प्रमाण देते हैं—तथेति । तथा च-इसी प्रकार, उक्तम्-महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है—अपरि-णामिनीति । हि-क्योंकि, यद्यपि, भोक्तृशक्तिः-भोक्तृशक्ति रूप पुरुष, अपरिणामिनी-अपरिणामी, च-तथा, अप्रतिसंक्रमा-किसी विषय के साथ सम्बन्ध न होने से अस-म्बद्ध है तथापि, परिणामिनि अर्थे-परिणामिनी बुद्धि रूप अर्थ में प्रतिबिम्बित होकर तदाकार होने से, प्रतिसंक्रान्ता इव-संबद्ध के जैसा प्रतीत होता हुआ, तद्-वृत्तिम्-उस बुद्धिवृत्ति में, अनुपतति-पड़ता है । अर्थात् जैसे सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होता हुआ जल को सूर्य के समान करता है, वैसे ही पुरुष बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित होता हुआ बुद्धिवृत्ति को पुरुष के समान करता है । च-और, तस्याः-उस, प्राप्तचैत-न्योपग्रहरूपायाः-चैतन्य के उपराग को ग्रहण करनेवाली, बुद्धिवृत्तेः-बुद्धिवृत्ति के, अनुकारमात्रतया-प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने मात्र से, बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि-बुद्धि-वृत्ति से अभिन्न होता हुआ ही ज्ञानवृत्तिः इति आख्यायते-ज्ञान-वृत्ति कहा जाता है । इस पंक्ति से महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने बुद्धिवृत्ति के अनुकारमात्र से पुरुष को द्रष्टा कहा है, स्वरूप से नहीं । अतः पुरुष बुद्धि के सरूप भी नहीं तथा अत्यन्त विरूप भी नहीं, यह सिद्ध हुआ इति ॥ २० ॥

द्रष्टा तथा दृश्य के स्वरूप का निरूपण करके अब स्वस्वमिभाव रूप संबंध के उपयोगी दृश्यनिष्ठ पुरुषार्थता का निरूपण सूत्रकार करते हैं—तदर्थ एव दृश्यस्या-त्मेति । दृश्यस्य—पूर्वोक्त दृश्य का जो, आत्मा—स्वरूप है वह, तदर्थ एव—उस द्रष्टा रूप पुरुष के लिये ही है । भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—दृशिरूपस्येति । दृशिरूपस्य पुरुषस्य—ज्ञानस्वरूप भोक्ता पुरुष की, कर्मरूपताम्—भोग्य रूप विषयता को, आपन्नम्-प्राप्त होनेवाले, दृश्यम्—बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ हैं, इति—अतः, उनका स्वरूप स्वार्थ नहीं किन्तु, तदर्थ एव—पुरुष के भोग तथा अपवर्ग रूप पुरुषार्थ संपादन करने के लिये ही, दृश्यस्य—दृश्य का, आत्मा—स्वरूप, भवति है । अर्थात् बुद्ध्यादि दृश्य पदार्थ जड़ होने से परार्थ हैं, स्वार्थ नहीं ।

तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति।

स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तः। न तु विनश्यति ॥ २१ ॥

सूत्रगत आत्म-पद का अर्थ करते हैं—स्वरूपं भवतीत्यर्थः "आत्मा भवति" इसका, "स्वरूपं भवति" इत्यर्थः—यह अर्थ है। अर्थात् पुरुष के लिये ही दृश्य का स्वरूप है। यह इसका अर्थ है।

भाव यह है कि, सुख तथा दुःख रूप जो दृश्य है वही भोग्य कहा जाता है और सुख तथा दुःख क्रमशः अनुकूल तथा प्रतिकूल रूप है, एवं शब्दादि विषय भी अनुकूल तथा प्रतिकूल रूप ही हैं और अपना विषय आप न होने से अपना स्वरूप किसी को अनुकूल तथा प्रतिकूल नहीं; अतः स्वयं सुखादि दृश्यजात अपना अनुकूल तथा प्रतिकूल तो होगा नहीं और अन्य कोई ऐसा है नहीं, जिसके ये अनुकूल तथा प्रतिकूल होवें; अतः परिशेषात् पुरुष के ही ये अनुकूल तथा प्रतिकूल हैं, यह कहना होगा। अत एव पुरुष के लिये ही दृश्य का स्वरूप है। दृश्य के लिये दृश्य का स्वरूप नहीं, यह कहा गया। जब तक भोग तथा अपवर्ग रूप पुरुषार्थ समाप्त नहीं होता है तब तक दृश्य रूप प्रकृति अपनी प्रवृत्ति करती ही रहती है और जब विवेकख्याति के उदय होने पर यथोक्त पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है तब प्रकृति की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। इसी बात को अग्रिम भाष्य से स्पष्ट करते हैं—तदिति। स्वरूपम्—जो दृश्य का जड स्वरूप, पररूपेण—आत्मरूप चैतन्य से, प्रतिलब्धात्मकम्—अनुभूत हो गया है, तत् तु—वह तो, भोगापवर्गार्थतायां कृतायाम्—पुरुष के भोग तथा अपवर्ग रूप प्रयोजन के समाप्त होने पर फिर, पुरुषेण—पुरुष से, न दृश्यते—देखा नहीं जाता है। अर्थात् विवेकख्याति के उदय होने पर दृश्य का स्वरूप अदृश्य हो जाता है।

भाव यह है कि, सुखदुःखादि आकारवाला जो शब्दादि विषयक अनुभव वह भोग तथा प्रकृतिपुरुष का भेदज्ञान अपवर्ग कहा जाता है। ये दोनों ही दृश्य रूप प्रकृति के प्रयोजन हैं। इन दोनों की सिद्धि अविवेक अवस्थाक जडस्वरूप बुद्धि में पुरुष की छायापत्ति से है। अतः पुरुष के ही कहे जाते हैं। जब पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब अज्ञानकृत जो भोग तथा अपवर्ग वे दोनों ही समाप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन न होने से दृश्य का विलय हो जाता है; क्योंकि, अपवर्ग रूप अन्तिम प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर दृश्य की प्रवृत्ति की संभावना ही नहीं है।

शङ्का रूप से उत्तर सूत्र का अवतरण यहीं से आरम्भ करते हैं—स्वरूपहानादिति। स्वरूपहानात्—सत्त्वपुरुषान्यताख्याति अर्थात् प्रकृतिपुरुष के भेदज्ञान के उदय होने से दृश्य के स्वरूप का हान होने से, अस्य—इस (गुणादि दृश्य) का,

कस्मात्—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

नाशः प्राप्तः—नाश प्रसक्त हुआ। अर्थात् किसी एक पुरुष को विवेक ज्ञान होने पर सकल दृश्य का जब नाश हो गया तब अन्य जो अविवेकी पुरुष हैं उनके भोगमोक्ष का कौन संपादन करेगा? अर्थात् कोई नहीं; अतः एक को विवेक ज्ञान होने पर सबको मोक्ष हो जाना चाहिये? इसका उत्तर देते हैं–न तु विनश्यतीति। न तु विनश्यति—दृश्य रूप प्रकृति तो विनष्ट नहीं होती है।

भाव यह है कि, सांख्ययोग मत में किसी पदार्थ का अत्यन्त नाश नहीं होता है, किन्तु उसका तिरोभावमात्र होता है। अतः दृश्य रूप प्रकृति का भी नाश नहीं होता है; किन्तु उसका तिरोभावमात्र ही होता है। साथ ही यह बात भी है कि, प्रकृति एक और पुरुष अनेक हैं। अतः उन अनेक पुरुषों के प्रति भोगापवर्ग संपादन करनेवाली प्रकृति एक ही है। जिस पुरुष को विवेक ज्ञान हो गया है, उसकी दृष्टि में प्रकृति नष्ट (अदर्शन) हुई है; परन्तु जिनको विवेक ज्ञान नहीं हुआ है, उनकी दृष्टि में प्रकृति विद्यमान है; अतः सबकी मुक्ति नहीं होती है। इस अभिप्राय से "न तु विनश्यति" यह कहा गया है। यह बात अग्रिम सूत्र में स्पष्ट होगी। इति ॥२१॥

शङ्का होती है कि, जब विवेक ज्ञान होने पर दृश्य की प्रतीति नहीं होती है तो उसका नाश ही क्यों नहीं माना जाय? इस आशय से प्रश्न करते हैं—कस्मादिति। कस्मात्–किस कारण से दृश्य का नाश नहीं होता है? इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वादिति। कृतार्थम् प्रति–विवेक ज्ञान युक्त मुक्त पुरुष के प्रति, तत्–वह दृश्य, नष्टम् अपि–नाश (अदर्शन) को प्राप्त होता हुआ भी, अन्यसाधारणत्वात्–विवेकी, अविवेकी सर्व पुरुषों के प्रति साधारण होने से, वह दृश्य, अनष्टम्–अनष्ट अर्थात् नष्ट नहीं हुआ है किन्तु विद्यमान है।

भाव यह है कि, सर्वथा दृश्य का नाश नहीं होता है, किन्तु जब पुरुष की छाया बुद्धि में पड़ती है, तब अविवेक से पुरुष बुद्धिगत सुखदुःखादि को अपने में मान कर सुखी, दुःखी होता रहता है। यही पुरुष का दृश्य का देखना है अर्थात् दृश्य का विद्यमान रहना है। और जब विवेक ज्ञान हो जाता है तब पुरुष बुद्धिगत सुख-दुःखादि को अपने में न मानकर बुद्धि में मानता है। यही पुरुष का दृश्य को नहीं देखना है अर्थात् दृश्य का नष्ट होना है। और वस्तुतः दृश्य का नाश नहीं होता है, किन्तु सर्वदा वह विद्यमान ही रहता है। जैसे लोक में कोई पुरुष अन्ध हो जाता है वह रूप को नहीं देखता है। इससे रूप नष्ट हो गया ऐसा नहीं किन्तु विद्यमान है; क्योंकि, अन्य जो अन्ध नहीं हैं वे उसी रूप को देखते हैं। वैसे ही जिसको विवेक ज्ञान हो

कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् । कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान्पुरुषान्प्रति न कृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभत एव पररूपेणात्मरूपमिति । अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति ।

गया है वह दृश्य को नहीं देखता है। इससे दृश्य नष्ट हो गया ऐसा नहीं किन्तु विद्यमान है। क्योंकि, अन्य पुरुष जिनको विवेक ज्ञान नहीं हुआ है वे उसी दृश्य को देखते हैं।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—कृतार्थमिति । कृतार्थम् एकम् पुरुषम् प्रति—बुद्धि द्वारा जिसका भोगमोक्ष रूप प्रयोजन सिद्ध हो गया है ऐसा एक मुक्त पुरुष के प्रति, दृश्यम् नष्टम् अपि-दृश्य नष्ट हो गया है तो भी अर्थात्, नाशम् प्राप्तम् अपि—नाश को प्राप्त हो गया है तो भी अन्य जो अकृतार्थ पुरुष हैं उनके प्रति, अनष्टम्—नष्ट नहीं हुआ है। क्योंकि तत्—वह दृश्य, अन्यपुरुषसाधारणत्वात्—कृतार्थ, अकृतार्थ रूप दोनों प्रकार के पुरुषों के प्रति साधारण है। कुशलमिति । कुशलं पुरुषं प्रति—विवेकी मुक्त-पुरुष के प्रति, नाशं प्राप्तम् अपि—नाश को प्राप्त हो गया है तो भी, अकुशलान् पुरुषान् प्रति—अविवेकी बद्ध पुरुषों के प्रति; न कृतार्थम्—कृतार्थ नहीं हुआ है अर्थात् भोगमोक्ष रूप प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है; अतः उनके प्रति नष्ट नहीं हुआ है किन्तु विद्यमान है। इति—अतः, तेषाम्—उन अकृतार्थ पुरुषों के, दृशेः कर्मविषयतापन्नम्—ज्ञानरूप कर्म का विषयतापन्न होता हुआ, वह दृश्य, पररूपेण आत्मरूपम् लभते एव—चेतन रूप आत्मा के द्वारा, निजरूप सत्ता को प्राप्त करता ही है। अर्थात् वह दृश्य विद्यमान रहता ही है, नष्ट नहीं हो जाता।

इसी पाद के १७ वें सूत्र पर जो भाष्यकार ने दृग्दर्शनशक्ति को अनादि कहा है उसका स्मरण कराते हैं—अत इति । अतश्च —इसीलिये तो, दृग्दर्शनशक्त्योः—दृक् शक्ति चेतन - पुरुष और दर्शनशक्ति जड - दृश्य इन दोनों को, नित्यत्वात्—नित्य होने से, इन दोनों का, संयोगः—संयोग, अनादिः—अनादि है, इति—ऐसा, व्याख्यातः—१७ वें सूत्र पर व्याख्यान किया गया है। अर्थात् यदि एक मुक्त पुरुष के प्रति कृतार्थ होने से ही दृश्य का नाश हो जाता तो संयोगी के बिना इनका संयोग अनादि नित्य कैसे कहा जाता ?

भाव यह है कि, जैसे प्रकृति एक है, वैसे पुरुष भी एक नहीं किन्तु पुरुष नाना हैं; क्योंकि, पुरुष में नानात्व, जन्ममरण, सुखदुःख तथा बन्धमोक्ष की व्यवस्था से

तथा चोक्तम्—धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग इति ॥ २२ ॥

सिद्ध है; अन्यथा (पुरुष को एक मानने पर) एक को जन्ममरण, सुखदुःख तथा बन्धमोक्ष होने पर सबको जन्ममरण, सुख-दुःख तथा बन्धमोक्ष होना चाहिये। पुरुषएकत्व बोधक श्रुतियों का प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर के साथ विरोध होने से उनका कथञ्चित् देश, काल, विभाग के अभाव होने से गौण अर्थ है। ऐसी स्थिति में पुरुष को एक मानने में कोई प्रमाण नहीं। प्रकृति को एक तथा पुरुष को अनेक साक्षात् श्रुति कहती है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

एकः अजः—एक अजन्मा पुरुष, लोहितशुक्लकृष्णाम्—रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुण स्वरूप, बह्वीः—बहुत, सरूपाः—सरूप (सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका), प्रजाः—प्रजाओं की, सृजमानां—सृष्टि करनेवाली, एकाम् अजाम्—एक अजन्मा प्रकृति को, जुषमाणः—भोगता हुआ, अनुशेते—"मैं सुखी हूँ" "मैं दुःखी हूँ" इस प्रकार अनुताप युक्त होता है और, अन्यः अजः—दूसरा अजन्मा पुरुष, भुक्तभोगाम्—भोगमोक्ष संपादन करके कृतकार्य हुई, एताम्—इस प्रकृति को, जहाति—त्याग कर देता है। इस श्रुति से प्रकृति एक तथा पुरुष अनेक स्पष्ट सिद्ध होता है। एवं मुक्त पुरुष प्रकृति को त्याग देता है तो भी बद्ध पुरुष प्रकृति को भोगता ही रहता है, यह भी सिद्ध हुआ।

इस विषय में महर्षि पञ्चशिखाचार्य का वचन प्रमाण देते हैं—तथेति। तथा चोक्तम्—इसी प्रकार महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है-धर्मिणामिति। धर्मिणाम्—धर्मी स्वरूप सत्त्वादि गुणों का आत्माके साथ, अनादिसंयोगात्—अनादि संयोग होने से, धर्ममात्राणाम् अपि—धर्ममात्र महदादि का भी, अनादिः संयोगः-आत्मा के साथ अनादि काल का संयोग है, अर्थात् प्रकृति पुरुष का संयोग अनादि है, अतः नित्य है।

यद्यपि एक-एक महदादि के साथ पुरुष का संयोग अनादि न होने से उक्त संयोग अनित्य है, तथापि सर्व महदादि के साथ पुरुष का संयोग अनादि है, अतः नित्य है; क्योंकि, प्रवाह रूप से सर्व पदार्थ अनादि हैं। ऐसा कोई समय नहीं कि जिस समय संसार में कोई घट न हो।

महर्षि पञ्चशिखाचार्य के इस वचन से भी यह सिद्ध है कि, दृश्य एक मुक्त पुरुष के प्रति नष्ट हो गया है तो भी अन्य अनेक बद्ध पुरुष के प्रति अनष्ट है। अन्यथा, उक्त संयोग को जो अनादि नित्य कहा गया है, वह अनुपपन्न हो जायगा। इति॥२२॥

संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः। तस्मात्संयोगाद्दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः। या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः।

इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य के स्वरूप कथन के उपरान्त अब उनके संयोग के स्वरूप कथन करने के लिये उत्तर सूत्र की उत्थानिका भाष्यकार करते हैं–संयोगेति। संयोगस्वरूपाभिधित्सया—उक्त संयोग के स्वरूप कथन करने की इच्छा से, इदम् सूत्रम्—यह उत्तर सूत्र, प्रववृते—प्रवृत्त होता है। भाव यह है कि, उक्त द्रष्टृदृश्य के संयोग सामान्यविशेष भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें सामान्य संयोग प्रलयमोक्षादि साधारण होने से हेय रूप संसार का हेतु नहीं; अतः विशेष संयोग के स्वरूप अवधारण करने के लिये उत्तर सूत्र प्रवृत्त होता है—स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोग इति। स्वस्वामिशक्त्योः—स्वशक्ति दृश्य रूप बुद्ध्यादि और स्वामिशक्ति पुरुष के, स्वरूपोपलब्धिहेतुः—स्वरूप की उपलब्धि (ज्ञान) का हेतु जो संबन्ध वह, संयोगः—संयोग कहा जाता है। अर्थात् योग्य होने से उक्त दृश्य स्वशक्ति और भोक्ता होने से पुरुष स्वामिशक्ति कहा जाता है। उन दोनों को क्रमशः भोग्य रूप से और भोक्तृरूप से उपलब्धि का हेतु जो संबन्ध वह विशेष संयोग कहा जाता है और वही यहां हेय रूप संसार का हेतु कहा गया है। जिसको दूसरे शब्द से स्वस्वामिभाव, द्रष्टृदृश्यभाव अथवा भोक्तृभोग्यभाव संबन्ध कह सकते हैं।

भाष्यकार सूत्र का विशदीकरण करते हैं—पुरुष इति। पुरुषः स्वामी—पुरुष जो स्वामी है वह, स्वेन दृश्येन—स्व-स्वरूप अपने बुद्ध्यादि दृश्य के साथ, दर्शनार्थम्—दर्शन के लिये, संयुक्तः—संयुक्त हुआ है। तस्मात् संयोगात्—उस संयोग से, या–जो, दृश्यस्य—दृश्य की, उपलब्धिः—उपलब्धि होती है, सः–वह, भोगः–भोग कहा जाता है। इसी भोग का हेतु जो संयोग वह हेय का हेतु है। और, यातु–जो तो, द्रष्टुः—द्रष्टा रूप पुरुष की, उपलब्धिः—उपलब्धि होती है, सः—वह, अपवर्गः—अपवर्ग (मोक्ष) कहा जाता है। अर्थात् दृश्य की उपलब्धि भोग और द्रष्टा की उपलब्धि मोक्ष कहा जाता है। यहां इतनी विशेषता और भी समझनी चाहिये कि, भोग का हेतु उक्त संयोग है और अपवर्ग का हेतु उक्त संयोग का वियोग है।

भाव यह है कि, पुरुष के लिये होने से बुद्ध्यादि दृश्य स्वशक्ति और बुद्ध्यादि दृश्य जन्य भोगमोक्ष रूप उपकार का भाजन होने से पुरुष स्वामिशक्ति है। इन दोनों शक्तियों का स्वस्वामिभाव प्रयुक्त अनादि संयोग से अविवेक द्वारा जो सुखदुःखादि

दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम्।

दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम्। नात्र दर्शनं मोक्षकारणम्। अदर्शनाभावादेव बन्धाभावः स मोक्ष इति।

विषयों का अनुभव रूप दृश्य की उपलब्धि वह भोग और विवेक द्वारा दृश्य से भिन्न जो पुरुष के अपने रूप की यथार्थ उपलब्धि (ज्ञान) वह अपवर्ग (मोक्ष) है। यही सुखदु:खादि साक्षात्कार रूप भोग स्वरूप उपलब्धि है, जो उक्त स्वस्वामिभाव सम्बन्ध प्रयुक्त संयोग से जन्य है। अतः दृश्य स्वरूप उपलब्धि का हेतु जो स्वस्वामिशक्तियों का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध वह संयोग है और यही संयोग हेय रूप संसार का हेतु है, यह निष्पन्न हुआ।

शङ्का होती है कि, जब यह हेय रूप संसार का हेतु उक्त संयोग अनादि है तो इसका नाश तो होगा नहीं तो मोक्ष कैसे होगा ?। इसका उत्तर देते हैं—दर्शनेति। संयोगः— यह प्रकृतपुरुष का संयोग, दर्शनकार्यावसानः—विवेकख्याति के उदय पर्यन्त ही है। अर्थात् हेय रूप संसार का हेतुभूत पूर्वोक्त संयोग अनादि होता हुआ भी अनन्त नहीं किन्तु सान्त है। क्योंकि, विवेकख्याति के उदय होने पर नष्ट हो जाता है, इति— अतः, दर्शनम्—विवेक ज्ञान, वियोगस्य—उक्त संयोग के वियोग का, कारणम्—कारण, उक्तम् - कहा गया है।

फिर शङ्का होती है कि, उक्त संयोग दर्शनकार्यावसान क्यों है ?। इसका उत्तर देते हैं— दर्शनमिति। दर्शनम्— विवेकज्ञान, अदर्शनस्य—अविवेक रूप अज्ञान का, प्रतिद्वन्द्वी—विरोधी है, इति—अतः, अदर्शनम्—अविवेक रूप अज्ञान, संयोग-निमित्तम्—उक्त संयोग का निमित्त, उक्तम्—कहा गया है। अर्थात् उक्त प्रकृति-पुरुष का संयोग अविवेक-मूलक होने से उसका विरोधी विवेक ज्ञान के उदय होने पर वह रहता नहीं है किन्तु नष्ट हो जाता है; क्योंकि, जैसे संयोग का विरोधी वियोग है वैसे ही संयोग का कारण अविवेक का विरोधी वियोग का कारण विवेक ज्ञान है। अतः बाधक वियोग का कारण विवेक ज्ञान उत्पन्न होने पर बाध्य संयोग का कारण अविवेक नष्ट होने से संयोग भी नष्ट हो जाता है। तत्पश्चात् मोक्ष हो जाता है।

उक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं— नात्रेति। अत्र—यहां सांख्ययोग मत में, दर्श-नम्—विवेक ज्ञान, मोक्षकारणम्—मोक्ष का साक्षात् कारण, न—नहीं है। क्योंकि— अदर्शनाभावादिति। अदर्शनाभावादेव— विवेक ज्ञान द्वारा अज्ञान रूप अविवेक के अभाव होने से ही जो, बन्धाभावः—जन्म-मरण रूप बन्ध का अभाव होता है, सः—वही, मोक्षः—मोक्ष है, इति—यह सिद्धान्त है।

इस पर शङ्का होती है कि, जब विवेक ज्ञान अविवेक का ही विरोधी होने से अविवेक का ही नाशक है तो बन्ध की निवृत्ति किससे होती है ?, इसका उत्तर देते

दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनं ज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम् ।

किं चेदमदर्शनं नाम किं गुणानामधिकारः ।

आहोस्विद्दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः । स्वस्मिन्दृश्ये विद्यमाने यो दर्शनाभावः ।

हैं—दर्शनस्येति । दर्शनस्य भावे–विवेक ज्ञान के उदय होने पर, बन्धकारणस्य अदर्शनस्य-बन्ध का कारण अज्ञान रूप अविवेक का, नाशः–नाश हो जाता है, इत्यतः–इसीलिये, दर्शनम् ज्ञानम्–विवेक ज्ञान, कैवल्यकारणम्—मोक्ष का कारण, उक्तम्–कहा गया है । वस्तुत: विवेक ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं; क्योंकि, बुद्ध्यादि से विविक्त आत्मा का स्वरूपावस्थान ही योगमत में मोक्ष कहा गया है । अतः उसका साधन विवेक ज्ञान नहीं, किन्तु अविवेक की निवृत्ति का साधन है ।

भाव यह है कि, आत्मा स्वरूप से बद्ध नहीं, किन्तु नित्य मुक्त है । उसमें अविवेक से बन्ध प्रतीत होता है । अतः बुद्ध्यादि से विविक्त (भिन्न) अपने शुद्ध रूप में अवस्थान का नाम ही उसका मोक्ष है, इस स्वरूपावस्थान रूप मोक्ष का साधन विवेक ज्ञान नहीं किन्तु अविवेक रूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति ही उक्त मोक्ष का साधन है और अविवेक की निवृत्ति का साधन विवेक ज्ञान है । इस प्रकार विवेक ज्ञान परम्परा मोक्ष का साधन है, साक्षात् नहीं । अतः अविवेक रूप बन्ध की निवृत्ति अभाव रूप होने से और अभाव अधिकरण स्वरूप होने से एवं उसका अधिकरण आत्मा नित्य होने से तत्स्वरूप मोक्ष विवेक ज्ञान से जन्य नहीं, किन्तु नित्य है । यह सिद्ध हुआ ।

दर्शन, विद्या तथा विवेक ज्ञान ये एक ही अर्थ के वाचक हैं । एवं अदर्शन, अविद्या तथा अविवेक ये भी एक ही अर्थ के वाचक हैं । विद्या अविद्यानिवृत्ति द्वारा मोक्ष का कारण है, यह कहा गया । इसी प्रसंग से यहां अविद्या का स्वरूप-निर्धारण करने के लिये आठ विकल्प भाष्यकार करते हैं—किञ्चेति । इदम्–ज्ञान से जिसका अभाव होता वह, अदर्शनम् नाम–अज्ञान, किञ्च–क्या है ? अर्थात् अविद्या का स्वरूप क्या है ? किमिति । गुणानाम्—प्रकृति पुरुष के अविवेक प्रयुक्त सत्त्वादि गुणों का, अधिकारः–कार्यारम्भण सामर्थ्य ही अविद्या है, किम्—क्या ? यह प्रथम विकल्प का स्वरूप है ।

द्वितीय विकल्प का स्वरूप दिखाते हैं—आहोस्विदिति । आहोस्वित्—अथवा, दृशिरूपस्य स्वामिनः–दृशिरूप स्वामी के लिये, दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्य—शब्दादि विषय तथा प्रकृति पुरुष का भेद दिखाया है जिसने ऐसा प्रधान रूप चित्त का जो, अनुत्पादः–अनुत्पाद अर्थात् उत्पन्न न होना वही अविद्या है क्या ? इसी को स्पष्ट करते हैं-स्वस्मिन्–शब्दादि विषय तथा प्रकृति पुरुष के भेद रूप अपने में, दृश्ये

किमर्थवत्ता गुणानाम् । अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धास्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् । किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः ।

यत्रेदमुक्तं प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकारणादप्रधानं

विद्यमाने–दृश्य के विद्यमान रहने से, यः–जो, दर्शनाभावः–ज्ञान का अभाव है वह भी अविद्या कहा जा सकता है। क्योंकि, तब तक प्रधान चेष्टा करता रहता है जब तक शब्दादि विषय तथा प्रकृति पुरुष का भेद-ज्ञान निष्पन्न नहीं होता है और जब ये दोनों कार्य निष्पन्न हो जाते हैं तब निवृत्त हो जाता है। अतः उक्त ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व जो अज्ञान वही अविद्या है क्या ? यह द्वितीय विकल्प का स्वरूप है।

तृतीय विकल्प का स्वरूप दिखाते हैं–किमिति। गुणानाम्–सत्त्वादि गुणों की, अर्थवत्ता–भोगापवर्ग रूप प्रयोजनवत्ता ही अविद्या है, किम्–क्या ? अर्थात् सिद्धान्त में सत्कार्यवाद के स्वीकार होने से भावी भोगापवर्ग रूप अर्थ अज्ञात रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः उनका जो तात्कालिक अज्ञान वही अविद्या है क्या ? यह तृतीय विकल्प का स्वरूप है।

चतुर्थ विकल्प का स्वरूप दिखाते हैं–अथेति। अथ–अथवा, जो प्रलय काल में, स्वचित्तेन सह–अपने आश्रय चित्त के सहित, निरुद्धा–प्रधान साम्य-अवस्था को प्राप्त, स्वचित्तस्य–अपने आश्रय चित्त का, उत्पत्तिबीजम्—उत्पत्ति का बीज है वही, अविद्या–अविद्या है ?। अर्थात् जो चित्त सहित प्रकृति में लीन है और चित्त की उत्पत्ति का कारण है एवं विपर्यय ज्ञान की वासना रूप है वही अविद्या है ? यह चतुर्थ विकल्प का स्वरूप है।

पञ्चम विकल्प का स्वरूप दिखाते हैं–किमिति। किम्–क्या, स्थितिसंस्कारक्षये–स्थितिसंस्कार के क्षय होने पर जो, गतिसंस्काराभिव्यक्तिः–गतिसंस्कार की अभिव्यक्ति होती है वही अविद्या है ? अर्थात् प्रधान में दो प्रकार के संस्कार रहते हैं, एक स्थिति संस्कार और दूसरा गतिसंस्कार। उनमें जो स्थितिसंस्कार है वह प्रलयकालिक साम्य-अवस्था का कारण है और जो गतिसंस्कार है वह महत्तत्त्व आदि सकल विकारों का कारण है। विकारों का आरम्भ ही संसार का आरम्भ है, जो अविद्याजन्य है ? अतः संसार का कारण उक्त प्रलय-कालिक संसार का क्षय और सृष्टि-कालिक संस्कार का उदय ही अविद्या है ? यह पञ्चम विकल्प का स्वरूप है।

प्रधान में जो यथोक्त प्रलयसृष्टि के हेतु दो प्रकार के संस्कार माने गए हैं, उनके सद्भाव में महर्षि पञ्चशिखाचार्य की अनुमति प्रदर्शित करते हैं—यत्रेति। यत्र–प्रधाननिष्ठ स्थितिसंस्कार तथा गतिसंस्कार के विषय में, इदम्–इस प्रकार महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी, उक्तम्–कहा है—प्रधानमिति। प्रधानं स्थित्या एव वर्त्तमानम्–यदि प्रधान सदा स्थिति रूप से ही विद्यमान रहे तो, विकाराकारणात्–महत्तत्त्व आदि

स्यात्। तथा गत्यैव वर्त्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्। उभयथा चास्य वृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा। कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानचर्चः।

दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके। प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिरिति श्रुतेः सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक्प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति सर्वकार्य-

---

विकारों का कारण न होने से, अप्रधानं स्यात्-अप्रधान (अकारण) हो जायगा? अर्थात् कारण नहीं माना जायगा! तथा-वैसे ही, गत्यैव वर्त्तमानम्-यदि वह सदा गति रूप से ही विद्यमान रहे तो भी, विकारनित्यत्वात्-उक्त महत्तत्त्वादि विकारों के नित्य होने से, अप्रधानं स्यात्-अप्रधान हो जायगा! च-और यदि, उभयथा-स्थिति तथा गति रूप दोनों प्रकार की, अस्य-इस प्रधान की, वृत्तिः-संस्कार रूप वृत्ति होती है तभी यह प्रधान, प्रधानव्यवहारं लभते-प्रधान व्यवहार (कारणव्यवहार) को प्राप्त होता है, अन्यथा न-अन्यथा नहीं, कल्पितेषु-नैयायिक आदि विभिन्न वादियों से कल्पित, कारणान्तरेषु अपि-परमाणु आदि अन्य कारणों में भी, एषः-यह, समानचर्चः-समान विचार है। अर्थात् जैसे प्रधान कारणवाद में प्रधाननिष्ठ स्थिति, गति रूप दो संस्कार माने गए हैं, वैसे ही परमाणु आदि कारणवाद में भी परमाणु आदि कारणनिष्ठ स्थिति, गति रूप दो संस्कार मानने पड़ेंगें! अन्यथा, परमाणु आदि यदि सदा स्थित ही रहेंगे तो कार्य उत्पन्न न करने से अकारण कहे जायंगे और यदि सदा गति ही करते रहेंगे तो कार्य नित्य होने से अकारण कहे जायंगे। अतः यथोक्त दोनों ही संस्कार कारण में मानने पड़ेंगे, तभी वे कारण कहे जा सकते हैं। इस महर्षि पञ्चशिखाचार्य के कथन से यथाक्रम प्रलयसृष्टि के हेतुभूत स्थिति-गति रूप उभय संस्कार सिद्ध हैं।

षष्ठ विकल्प का स्वरूप दिखाते हैं-दर्शनशक्तिरिति। एके-कोई, इति-यह कहते हैं कि, दर्शनशक्तिरेव-ज्ञानशक्ति ही, अदर्शनम्-अविद्या है। इसमें श्रुति प्रमाण देते हैं—प्रधानस्य-प्रधान की, प्रवृत्तिः-प्रवृत्ति, आत्मख्यापनार्था-अपने स्वरूप-ख्यापन के लिये है। क्योंकि, जब तक प्रधान की प्रवृत्ति नहीं होती है, तब तक प्रधान के स्वरूप का परिचय नहीं होता है! यह श्रुति आत्मख्यापनार्थ प्रधान की प्रवृत्ति होती है, यह कहती है। परन्तु अशक्त की प्रवृत्ति असम्भव होने से शक्त की ही प्रवृत्ति होती है, यह कहना होगा। इससे यह अर्थात् सिद्ध हुआ कि प्रधान प्रवृत्ति से पूर्व प्रवृत्ति का प्रयोजक दर्शनशक्ति ही अविद्या है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं— सर्वबोध्यबोधसमर्थः पुरुषः—यद्यपि सर्व पदार्थ के जानने में पुरुष समर्थ है,

करणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति ।

उभयस्याप्यदर्शनं धर्मं इत्येके । तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति । तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनेवादर्शनमवभासते ।

दर्शनं ज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति । इत्येते शास्त्रगता

तथापि, प्रवृत्तः प्राक्-प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व, सर्वकार्यकरणसमर्थं दृश्यम्-सर्व कार्य को करने में समर्थ जो दृश्य उसको, न पश्यति—जानता नहीं है, तदा न दृश्यते—उस समय (प्रधान प्रवृत्ति से पूर्व) पुरुष द्वारा दृश्य नहीं देखा जाता है और जब सशक्त प्रधान की प्रवृत्ति होती है तब दृश्य देखा जाता है। अतः प्रधान-निष्ठ दर्शनशक्ति ही अविद्या है, यह सिद्ध हुआ।

इस दर्शनशक्ति को प्रकृतिपुरुष उभयाश्रय मानकर सप्तम विकल्प का स्वरूप दिखाते हैं—उभयस्येति। एके—कोई एक, इति—यह कहते हैं कि, उभयस्य अपि—प्रकृतिपुरुष इन दोनों में भी जो, अदर्शनम्—अदर्शन, धर्मः—धर्म है वही अविद्या है। अर्थात् सर्व बोध में समर्थ भी पुरुष है तो भी असंग होने से प्रधान-प्रवृत्ति से पूर्व दृश्य को देखता नहीं है। अतः यह एक अदर्शन पुरुषनिष्ठ है, एवं सर्व कार्य करण समर्थ भी दृश्य रूप प्रकृति है, तो भी प्रधान-प्रवृत्ति से पूर्व वह पुरुष द्वारा देखी नहीं जाती है। अतः यह दूसरा अदर्शन दृश्यनिष्ठ है। इस प्रकार पुरुष तथा प्रकृति उभय-निष्ठ जो अदर्शन वही अविद्या है, यह किसी का कहना है। इसी को उक्त भाष्य द्वारा स्पष्ट करते हैं-तत्र—उक्त दोनों अदर्शनों में, इदम्—यह जो प्रथम अदर्शन है वह, दृश्यस्य—जड रूप दृश्य का, स्वात्मभूतमपि-अपना स्वरूप है तो भी, पुरुषप्रत्ययापेक्षम्—चेतन रूप पुरुष-छाया की अपेक्षा से, दर्शनम् दर्शन, दृश्यधर्मत्वेन—दृश्यधर्म रूप से, भवति-प्रतीत होता है, अर्थात् अदर्शन धर्म रूप बुद्धि (जड होने से अज्ञान स्वरूप) अविवेक से दर्शन धर्म रूप होकर भासती है। तथा—वैसे ही, अदर्शनम्-दूसरा अदर्शन, पुरुषस्य-पुरुष का, अनात्मभूतमपि—अपना स्वरूप नहीं है तो भी, दृश्यप्रत्ययापेक्षम्—बुद्धि रूप दृश्य की अपेक्षा से, पुरुषधर्मत्वेन इव—पुरुष का अपने स्वरूप के समान, अवभासते—प्रतीत होता है। अर्थात् दर्शन रूप पुरुष अविवेक से अदर्शन रूप धर्मवाला होकर भासता है। इस प्रकार प्रकृतिपुरुष उभयनिष्ठ जो अदर्शन वही अविद्या है। यह किसी का मत है।

अब अन्तिम अष्टम विकल्प का स्वरूप दिखाते हैं—दर्शनमिति। केचित्—कोई, दर्शनं ज्ञानमेव-शब्दादि विषयक जो दर्शन रूप ज्ञान वही, अदर्शनम्—

विकल्पाः । तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम् ॥ २३ ॥

यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

अविद्या है, इति-ऐसा, अभिदधति-कहते हैं। क्योंकि, यह (शब्दादि विषयक ज्ञान) द्रष्टृदृश्य संयोग का हेतु है और जो प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान है वह अविद्या नहीं; क्योंकि, वह (प्रकृतिपुरुष का भेदज्ञान) उक्त द्रष्टृदृश्य संयोग का हेतु नहीं, प्रत्युत नाशक है। उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—इतीति। इति—इस प्रकार, एते—इतने (आठ प्रकार के) अविद्या के स्वरूप निरूपण में, शास्त्रगताः—शास्त्रगत, विकल्पाः—विकल्प हैं।

अन्य विकल्प सर्व पुरुष साधारण होने से प्रत्येक पुरुष में जो भोगवैचित्र्य देखे जाते हैं वे असंगत हो जायेंगे। अतः स्वाभिमत चतुर्थ विकल्प को स्वीकार करते हुए अन्य विकल्पों में भाष्यकार दूषण देते हैं—तत्रेति। तत्र—उक्त अविद्या के विषय में, एतत् विकल्पबहुत्वम्—यह विकल्प बहुत्व (भेद की अधिकता), सर्वपुरुषाणाम्—सर्व पुरुषों के, गुणानां संयोगे—सत्त्वादि गुणों के साथ संयोग में, साधारणविषयम्—साधारण विषयक है। अर्थात् अविद्या के ये सातों लक्षण उसी अविद्या में घटते हैं, जो प्रकृतिपुरुष के संयोग द्वारा निखिल जगत् का हेतु हैं और जो अविद्या प्रत्येक पुरुष के साथ बुद्धि - संयोग द्वारा सुख-दुःख भोग - वैचित्र्य का हेतु है उसमें नहीं। अतः ये असाधारण लक्षण नहीं किन्तु साधारण हैं।

भाव यह है कि, संयोग दो प्रकार का है, एक प्रकृतिपुरुष का और दूसरा बुद्धिपुरुष का। जो प्रकृतिपुरुष का संयोग है वह निखिल संसार का हेतु है और जो बुद्धि पुरुष का संयोग है वह प्रत्येक पुरुष के सुख-दुःख बन्धमोक्ष का हेतु है। उनमें प्रथम संयोग का हेतु जो अविद्या उसके ये सातों लक्षण हैं, द्वितीय संयोग का हेतु जो अविद्या उसके नहीं। इति ॥ २३ ॥

चतुर्थ विकल्प का निर्धारण करने के लिए भाष्यकार निम्नलिखित पदों को सूत्र के साथ जोड़ते हुए सूत्र का उल्लेख करते हैं—यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः-तस्य हेतुरविद्येति। यस्तु—जो तो, प्रत्यक्चेतनस्य—आन्तर चेतनों का, स्वबुद्धिसंयोगः—अपनी-अपनी बुद्धि के साथ संयोग है, तस्य—उस (दृग्दृश्य संयोग) का जो, हेतुः—कारण है वह, अविद्या—अविद्या कही जाती है। अर्थात् प्रत्येक चेतन का प्रत्येक बुद्धि के साथ जो एक दूसरे से विलक्षण सुख-दुःखादि भोग का जनक असाधारण संयोग उसका जो हेतु वह अविद्या कही जाती है।

विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः। विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति साधिकारा पुनरावर्त्तते।

शङ्का होती है कि, विपर्यय ज्ञान को अविद्या कहते हैं। उसका हेतु भोगापवर्ग के समान स्वबुद्धिसंयोग है' क्योंकि, असंयुक्त बुद्धि में उक्त मिथ्या ज्ञान रूप अविद्या की उत्पत्ति असंभव है। अतः अविद्या का हेतु दृग्दृश्यसंयोग है ऐसा प्रतीत होता है; तो उक्त संयोग का हेतु अविद्या कैसे? इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं—विपर्ययेति। विपर्ययज्ञानवासना—मिथ्या ज्ञान की जो वासना वह अविद्या कही जाती है अर्थात् यद्यपि मिथ्या ज्ञान रूप अविद्या का हेतु उक्त संयोग है तथापि मिथ्या ज्ञान की वासना रूप जो अविद्या उसका हेतु नहीं; प्रत्युत मिथ्या ज्ञान की वासना उक्त संयोग का हेतु है। इससे "मिथ्या ज्ञान रूप अविद्या पुरुष - संयुक्त बुद्धिजन्य है और सृष्टि के आदि काल में बुद्धि भी नहीं, तो तज्जन्य अविद्या के अभाव होने से संसार कैसे उत्पन्न हुआ?" इस शंका की भी व्यावृत्ति हो गई। क्योंकि, मिथ्या ज्ञान अविद्या नहीं, किन्तु उसकी वासना अविद्या है और वह प्रलय काल में भी प्रधान में स्थित है। अतः सृष्टि के आदि काल में भी उक्त वासना रूप अविद्या के विद्यमान रहने से संसार की उत्पत्ति में कोई आपत्ति नहीं। जिस प्रकार की वासना से वासित प्रधान होता है, उसी प्रकार की पुरुषसंयोगिनी बुद्धि को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार पूर्व के अनन्त सर्गों में भी अनादि वासना रूप अविद्या के विद्यमान रहने से नूतन सृष्टि की उत्पत्ति में कोई अनुपपत्ति नहीं।

प्रलयकाल में वासनारूप अविद्या के विद्यमान रहने से ही पुरुष मुक्त होने नहीं पाता है। इस बात को कहते हैं-विपर्ययेति। च-और, बुद्धिः—बुद्धि जिस काल में, विपर्ययज्ञानवासनावासिता—उक्त अविद्या रूप मिथ्याज्ञान की वासना से वासित (युक्त) होती है उस काल में, पुरुषख्यातिम्—विवेकख्याति रूप अन्तिम कार्यनिष्ठाम्-कर्तव्यनिष्ठा को, न प्राप्नोति-प्राप्त नहीं होती है' किन्तु, साधिकारा-कार्यारम्भण में समर्थ होने से प्रकृति में लीन है तो भी, पुनः-फिर सर्ग काल में उत्थित होकर, आवर्त्तते—आवृत्तिशील हो जाती है (पुरुष के साथ पुनः जुड़ जाती है)। अर्थात् प्रलयकाल में बुद्धि वासनायुक्त होने से विवेकख्याति को उत्पन्न नहीं करती है। अतः पुरुष मुक्त होने नहीं पाता है किन्तु जब उनके कर्म भोगोन्मुख होते हैं तब फिर बुद्धि भोग संपादन करने लगती है।

जिस काल में बुद्धि उक्त पुरुषख्याति रूप अन्तिम कार्यनिष्ठा को प्राप्त होती है उस काल में बन्ध के कारण विपर्यय ज्ञान वासना के अभाव होने से फिर आवृत्ति-

सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसानां कार्यनिष्ठां प्राप्नोति । चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्त्तते । अत्र कश्चित्पण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति—

मुग्धया भार्ययाभिधीयते–पण्डकार्यपुत्र, अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाम नाहमिति । स तामाह–मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति । तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा ।

शील नहीं रहती है । इस बात को कहते हैं—सेति । और जो बुद्धि, पुरुषख्यातिपर्यवसानाम् कार्यनिष्ठाम्–विवेकख्याति रूप अन्तिम कर्त्तव्य-निष्ठा को, प्राप्नोति–प्राप्त हो जाती है, सा तु–वह तो, निवृत्तादर्शना–तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्या निवृत्त होने से, चरिताधिकारा–समाप्ताधिकार होती हुई, बन्धकारणाभावा–उस काल में बन्ध के कारण न रहने से, पुनः न आवर्त्तते–फिर आवृत्तिशील नहीं रहती है, अर्थात् फिर पुरुष के साथ भोग देने के लिये जुटती नहीं है । अभिप्राय यह है कि, अपर-वैराग्य से विवेकख्याति की उत्पत्ति, उसके बाद सपरिवार अविद्या का नाश, तत्पश्चात् पर-वैराग्य से विवेकख्याति का भी नाश होने पर स्वरूपावस्थान रूप मोक्ष होता है ।

विवेकख्याति से कैवल्य प्राप्ति होती है, इस पर जो किसी का आक्षेप है, उसके निराकरण करने की इच्छा से भाष्यकार उस (आक्षेप) का स्वरूप प्रथम उद्धृत करते हैं–अत्रेति । अत्र–विवेकज्ञान से कैवल्य प्राप्ति होती है इस विषय में, कश्चित्–कोई नास्तिक, पण्डकोपाख्यानेन–पण्डक अर्थात् नपुंसक उपाख्यान के द्वारा, उद्घाटयति–आक्षेप का उद्घाटन करता है अर्थात् उपहास करता है—मुग्धयेति । मुग्धया भार्यया–कोई मुग्धा (भोलीभाली) स्त्री अपने नपुंसक पति से, अभिधीयते–कहती है कि, पण्डकार्यपुत्र ! हे नपुंसक आर्यपुत्र ! अपत्यवती में भगिनी–मेरी बहिन जब पुत्रवाली है तो, अहं किमर्थं नाम न–मैं भी किस कारण से पुत्रवाली न होऊं अर्थात् मेरे लिये आप पुत्र उत्पादन करें ? स इति । सः ताम् आह–इस पर वह नपुंसक पति अपनी मुग्धा स्त्री से कहता है कि–मृतः अहम्–मरने के बाद मैं, ते–तुम्हारे लिये, अपत्यम् उत्पादयिष्यामि–पुत्र उत्पन्न करूंगा । दार्ष्टान्त में साम्य दिखाते हैं–तथेदमिति । तथा–वैसे ही, इदम् विद्यमानम् ज्ञानम्—यह विवेकज्ञान विद्यमान रहता हुआ जब, चित्तनिवृत्ति न करोति–चित्त को निवृत्त नहीं कर सकता है अर्थात् कैवल्य प्राप्त नहीं करा सकता है तो, विनष्टं करिष्यति–विनष्ट होकर अर्थात् ज्ञानप्रसादमात्र पर-वैराग्य द्वारा संस्कार सहित निरुद्ध होकर

तत्राचार्यदेशीयो वक्ति—ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः। अदर्शनकारणाभावाद् बुद्धिनिवृत्तिः। तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्त्तते। तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः।

किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः ॥ २४ ॥

करेगा, इति इस पर, का प्रत्याशा–आशा ही क्या है? अर्थात् विद्यमान रहकर जब विवेकज्ञान मोक्ष नहीं दे सकता है तो नष्ट होने के बाद देगा, इसमें आशा ही क्या है? क्योंकि, जिसके रहने पर जो होवे वह उसका कार्य कहा जाता है और जिसके न रहने पर जो होवे वह उसका कार्य नहीं कहा जाता है। अतः कारणता के ग्राहक इस अन्वय व्यतिरेक के व्यभिचार होने से विवेकज्ञान मोक्ष का कारण नहीं। यह आक्षेप का स्वरूप सिद्ध हुआ।

इस शङ्का का एकदेशी के मत से परिहार करते हैं—तत्रेति। तत्र–इस विषय में आचार्यदेशीयः—आचार्य एकदेशी यह, वक्ति–कहते हैं कि (ननु–एकदेशी के मत का सूचक यह ननु शब्द है; क्योंकि, मुख्य समाधान आगे करने वाले हैं), बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः—बुद्धि की निवृत्ति ही मोक्ष है और, अदर्शनकारणाभावात्–अविद्या रूप अपने कारण के अभाव से, बुद्धिनिवृत्तिः—बुद्धि की निवृत्ति होती है, च–और, तत्–वह, बन्धकारणम् अदर्शनम्—बन्ध का कारण अविद्या, दर्शनात् निवर्त्तते—विवेकख्याति रूप विद्या से निवृत्त होती है। अर्थात् विवेकख्याति के उदय होने पर अविद्या निवृत्त होती है और अविद्या के निवृत्त होने पर बुद्धि निवृत्त होती है और बुद्धि की निवृत्ति ही तो मोक्ष है। इस प्रकार विवेकख्याति परम्परा से ही अविद्या तथा बुद्धि की निवृत्ति द्वारा मोक्ष का हेतु है, साक्षात् नहीं। अतः विवेकख्याति नष्ट होने पर भी परम्परा कारण होने से मोक्ष का हेतु हो सकती है। अत एव यथोक्त पण्डक-उपाख्यान से उपहास की यहां प्रसक्ति नहीं; क्योंकि, पिता पुत्र के प्रति साक्षात् कारण होता है, परम्परा नहीं और विवेकख्याति मोक्ष के प्रति परम्परा कारण है, साक्षात् नहीं, अतः विषम दृष्टान्त है।

अब स्वमतसे (सिद्धान्त-मत से उक्त शङ्का का परिहार करते हैं—तत्रेति। तत्र—इस विषय में, सिद्धान्त मत यह है कि, चित्तनिवृत्तिरेव–चित्त की निवृत्ति ही, मोक्षः–मोक्ष है तो समझ नहीं पड़ता है कि, किमर्थम्–किस कारण से, अस्य—इस नास्तिक को, अस्थाने एव—व्यर्थ ही, मतिविभ्रमः—मतिविभ्रम हुआ है!।

भाव यह है कि, यदि हम विवेकख्याति को चित्तनिवृति रूप मोक्ष के प्रति साक्षात् कारण कहते होवें तो उक्त नास्तिक का उपालम्भ संगत कहा जा सकता था, सो तो

हेयं दुःखमुक्तम्। हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्। अतः परं हानं वक्तव्यम्—

हम ऐसा कहते हैं नहीं; किन्तु विवेकख्याति पराकाष्ठा को प्राप्त होती हुई एवं निरोध समाधि की भावना के प्रकर्ष से धीरे-धीरे चित्तनिवृत्ति करती हुई, पुरुषस्वरुपावस्थान रूप मोक्ष के प्रति उपयोगिनी हो जाती है, ऐसा कहते हैं। जो साक्षात् हेतु होता है वह विद्यमान रहकर ही कार्य संपादन करता है और जो परम्परा हेतु होता है उसको विद्यमान रहने की आवश्यकता नहीं, किन्तु जिसके द्वारा वह कार्य करता है उसको उत्पादन करके नष्ट होने पर भी कार्य हो जाता है।

एकदेशी ने बुद्धिनिवृत्ति और सिद्धान्ती ने चित्तनिवृत्ति को मोक्ष कहा है। इनमें विलक्षणता केवल इतनी ही है कि, बुद्धि के दो परिणाम हैं, भोग और विवेकख्याति। इन दोनों की समाप्ति होने पर परिणाम रहित बुद्धि स्वरूप से विद्यमान रहने पर भी निवृत्त ही कही जाती है और स्वरूप से भी निवृत्त हो जाने का नाम चित्तनिवृत्ति है। चित्तनिवृत्ति होने पर पुरुष स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है। एतावता चित्तनिवृत्ति को मोक्ष कहा गया है। वस्तुतस्तु—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते॥ वा. पु. ५९·३०

इस वाक्य से जो शास्त्र के अर्थ को जान कर उसके अनुसार स्वयं आचरण करता हुआ दूसरों को आचार में लगावे वह आचार्य कहा जाता है। और "ईषद् अपरिसमाप्त आचार्य इत्याचार्यदेशीयः" इस व्युत्पत्ति से उक्त आचार्य पद को प्राप्त होने में जिसको कुछ विलम्ब है वह आचार्यदेशीय कहा जाता है। यहां आचार्यदेशीय शब्द का प्रयोग करके यह भाव व्यक्त किया गया है कि, इस तुच्छ शङ्का का उत्तर जो पूरा आचार्य नहीं है वह भी दे सकता है। जो पूरे आचार्य हैं वे उत्तर देवें, इसमें कहना ही क्या है?। इति॥ २४॥

संसार, संसारहेतु, मोक्ष तथा मोक्षोपाय रूप व्यूहचतुष्टयों में व्यूहद्वय का निरूपण करके क्रमप्राप्त मोक्षरूप तृतीय व्यूह का निरूपण करने के लिए अग्रिम सूत्र की पातनिका भाष्यकार रचते हैं—हेयमिति। इस प्रकार, हेयम् दुःखम् उक्तम्—हेय जो दुःख वह कहा गया, च—और, सनिमित्तम् संयोगाख्यम् हेयकारणम् उक्तम्—निमित्त सहित बुद्धिपुरुष का संयोग जो हेय का कारण है वह भी कहा गया; अतः, परम् हानम् वक्तव्यम—इसके पश्चात् हान (मोक्ष) कहना चाहिये। इसके लिये अग्रिम सूत्र उतरता है—तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यमिति। तदभावात्—उस पूर्वोक्त अविद्या के अभाव अर्थात् नाश होने से, संयोगाभावः-हेय दुःख का

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः । एतद्धानम् । तद्दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः । दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानम् । तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

हेतु बुद्धिपुरुष के संयोग का जो अभाव अर्थात् नाश वह, हानम्—हान अर्थात् मोक्ष कहा जाता है, तत्—यह हान ही, दृशेः—दृशिरूप पुरुष का, कैवल्यम्—कैवल्य अर्थात् मोक्ष कहा जाता है।

सूत्र का विवरण भाष्यकार करते हैं—तस्येति। तस्य अदर्शनस्य—उस अविद्या रूप अदर्शन के, अभावात्—नाश होने से, बुद्धिपुरुषसंयोगाभावः—बुद्धि और पुरुष के संयोग का अभाव रूप जो, आत्यन्तिकः बन्धनोपरमः—आत्यन्तिक संसार बन्धन का उपरम (नाश), इति—यह बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव का, अर्थः—अर्थ है। एतत्—यह बन्धनोपरम, हानम्—हान अर्थात् मोक्ष कहा जाता है। तत्—वह बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव रूप हान, दृशेः—ज्ञानस्वरूप पुरुष को, कैवल्यम्—कैवल्य अर्थात्, पुरुषस्य अमिश्रीभावः—पुरुष का अमिश्रीभाव रूप, गुणैः पुनः असंयोगः—गुणों के साथ फिर संयोग न होना है, इति—यह कैवल्य शब्द का, अर्थः—अर्थ है। दुःखकारणनिवृत्तौ—जन्ममरण रूप दुःख का कारण अविद्या की निवृत्ति होने पर जो, दुःखोपरमः—उसका (अविद्या) कार्य उक्त दुःख की निवृत्ति वह, हानम्—हान अर्थात् मोक्ष कहा जाता है। तदा—उस अवस्था में, पुरुषः—पुरुष, स्वरूपप्रतिष्ठः—स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है, इति—यह बात, उक्तम्—पूर्व अनेक स्थलों में कही गई है।

यद्यपि प्रलय काल में भी बुद्धिपुरुष के संयोग का अभाव हो जाता है, तथापि वह अभाव पुरुषार्थ नहीं; क्योंकि, उस समय बुद्धिपुरुष के संयोग का कारण अविद्या विद्यमान है। अतः प्रलय की अवधि समाप्त होने पर फिर संसार होता है और विवेक ज्ञान के उदय होने के पश्चात् अविद्या के नाश होने पर जो बुद्धिपुरुष के संयोग का अभाव होता है वह आत्यन्तिक अभाव कहा जाता है और वही पुरुषार्थ है। इस बात को भाष्यकार ने "आत्यन्तिको बन्धनोपरमः" इस शब्द से व्यक्त किया है। अन्य अर्थ सुगम है। इति ॥ २५ ॥

इस प्रकार व्यूह त्रय का निरूपण करके अब हानोपाय रूप चतुर्थ व्यूह का निरूपण करने के लिये भाष्यकार सूत्र का अवतरण करते हैं—अथेति। अथ—हान रूप तृतीय

अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय इति—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः । सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते । यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं संपद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति । सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।

व्यूह के निरूपण के अनन्तर, हानस्य–हान की, प्राप्त्युपायः–प्राप्ति का उपाय, कः–कौन है ? इति–इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर अग्रिम सूत्र प्रस्तुत होता है–विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इति । अविप्लवा–मिथ्याज्ञान रूप विप्लव से रहित जो; विवेकख्यातिः–प्रकृति-पुरुष का भेद-ज्ञान (प्रकृति से भिन्न रूप करके पुरुष का साक्षात्कार) वह, हानोपायः–संसार निवृत्ति रूप हान का उपाय (साधन) है । अर्थात् शास्त्र से प्रथम जो विवेकज्ञान उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय जन्य न होने से परोक्ष उत्पन्न होता है, अपरोक्ष नहीं । अतः वह अपरोक्ष रूप अविद्या निवृत्ति करने में असमर्थ होने से सविप्लव कहा जाता है । अतएव वह उक्त हान का उपाय नहीं कहा जाता है, और जब समाधि का विशेष अभ्यास किया जाता है तब वही विवेकज्ञान साक्षात्कार रूप से परिणत हो जाता है । यही साक्षात्कार रूप विवेकज्ञान अविप्लवा विवेकख्याति कहा जाता है । अतः यही अविद्या निवृत्ति द्वारा संसार निवृत्ति रूप हान का उपाय कहा जाता है ।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—सत्त्वेति । सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः–बुद्धिसत्त्व रूप प्रकृति तथा पुरुष का जो भेदज्ञान वह, विवेकख्यातिः–विवेकख्याति कहा जाता है । सा–वह विवेकख्याति जो, अनिवृत्तमिथ्याज्ञाना–मिथ्याज्ञान सहित होती है, तु–तो, प्लवते–विप्लव को प्राप्त होती है, अर्थात् अविद्या को निवृत्त किये बिना ही नष्ट हो जाती है । यदा–जिस अवस्था में वह, मिथ्याज्ञानम्–मिथ्याज्ञान, दग्धबीजभावम्–दग्धबीजभाव होता हुआ, वन्ध्यप्रसवम्–वन्ध्यप्रसव को, संपद्यते–प्राप्त हो जाता है, तदा–उस अवस्था में, विधूतक्लेशरजसः—राजस क्लेश से रहित, परे वैशारद्ये–पर वैशारद्य प्राप्ति पूर्वक, परस्यां वशीकारसंज्ञायाम्–पर वशीकार संज्ञा में, वर्त्तमानस्य–स्थित हुआ चित्त का, विवेकप्रत्ययप्रवाहः–विवेक ज्ञान का प्रवाह, निर्मलः–विशुद्ध, भवति–हो जाता है । सा अविप्लवा विवेकख्यातिः–वह उक्त विप्लवरहित विवेक ज्ञान, हानोपायः–मोक्ष का उपाय (साधन) है क्योंकि, ततः–उसके पश्चात्,

ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः। सप्तधेत्यशुद्ध्यावरणम-

---

मिथ्याज्ञानस्य-मिथ्याज्ञान का, दग्धबीजभावोपगमः-दग्धबीजभाव की प्राप्ति होती है, च-और, पुनः-उसके पश्चात्, अप्रसवः-अप्रसव होता है, इति-इस प्रकार, एषः-वह, मोक्षस्य—मोक्ष का, मार्गः—मार्ग, हानस्य-हान अर्थात् मोक्ष का, उपायः—उपाय है, इति—यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि, यद्यपि पूर्व सूत्र में अविद्या की निवृत्ति से मोक्ष की प्राप्ति कथन करने से अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष का साधन प्रतीत होता है, विवेक ज्ञान नहीं; तथापि संसार का हेतु अविद्या की निवृत्ति में विवेक ज्ञान हेतु होने से विवेक ज्ञान को मोक्ष का उपाय कहा गया है, अर्थात् विवेक ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं किन्तु अविद्या की निवृत्ति द्वारा कारण है, ऐसा समझना चाहिये। इति ॥ २६ ॥

विवेकख्यातिनिष्ठ योगी को जिस प्रज्ञा (बुद्धि) की प्राप्ति होती है उसका भेद निरूपण सूत्रकार करते हैं—तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञेति। तस्य—जिसको विवेकख्याति उत्पन्न हुई है उस योगी को जो, प्रान्तभूमिः-सर्व की अपेक्षा उत्कृष्ट अवस्थावाली, प्रज्ञा-प्रज्ञा प्राप्त होती है वह विषय के भेद से, सप्तधा-सात प्रकार की है अर्थात् योगाभ्यास से पूर्व व्युत्थान काल में रजोगुण-तमोगुण की अधिकता से चित्त में जो अशुद्धि से आवरण रूप मल था, उसकी योगाभ्यास से निवृत्ति होने पर राजस-तामस प्रयुक्त जो नूतन व्युत्थानप्रत्यय की उत्पत्ति होने वाली थी, उसकी भी निवृत्ति होने से विवेकख्यातिनिष्ठ योगी को निम्नलिखित सात प्रकार की प्रज्ञा प्राप्त होती है।

सूत्र का विवरण करते हुए भाष्यकार क्रमशः उन सातों प्रकार की प्रज्ञाओं को दिखाते हैं—तस्येति। तस्य इति-"तस्य" इस पद से, प्रत्युदितख्यातेः-उत्पन्न विवेकख्याति योगी का, प्रत्याम्नायः-परामर्श है। अर्थात् सूत्रगत 'तस्य' पद से जिसको विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह योगी लिया जाता है, विवेकख्याति नहीं; क्योंकि, "तस्य" यह पुलिंग का रूप है और विवेकख्याति स्त्रीलिंग है। यद्यपि "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" इस पूर्व सूत्र में "हानोपायः" यह शब्द पुलिंग है। इसके "तस्य" पद से परामर्श की सम्भावना हो सकती है तथापि उसका (हानोपाय का) अर्थ विवेकख्याति ही है, जो प्रज्ञा रूप है। और प्रज्ञा को प्रज्ञा प्राप्ति होती है, यह कहना समीचीन नहीं; क्योंकि, प्रज्ञा को प्रज्ञा प्राप्त नहीं होती है किन्तु योगी

लापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति ।

तद्यथा—(१) परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति (२) क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति । (३) साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम् । (४) भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति । एषा चतुष्टयी कार्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः ।

को प्रज्ञा प्राप्त होती है । अतः "तस्य" पद से विवेकज्ञानयुक्त योगी का ही परामर्श मानना समीचन है । अतएव आगे चल कर भाष्यकार "प्रज्ञा विवेकिनो भवति" यह कहने वाले हैं ।

"सप्तधेति" यह इतना अंश सूत्र का व्याख्यान करने के लिए प्रतीक निर्देश है । चित्तस्य-उस योगी के चित्त के, अशुद्ध्यावरणमलापगमात्-रजोगुण, तमोगुण के आधिक्य प्रयुक्त अशुद्धि से जो आवरण रूप मल थे, उसका अपगम अर्थात् अभाव होने से प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति-राजस-तामसप्रयुक्त अग्रिम नूतन व्युत्थानप्रत्यय की उत्पत्ति न होने पर, विवेकिनः—विवेकख्यातिनिष्ठ योगी को, सप्तप्रकारैव प्रज्ञा भवति—सात प्रकार की ही प्रज्ञा (बुद्धि) उत्पन्न होती है ।

उसी सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा को दिखाते हैं—तद्यथा—प्रथम—परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति । तद्यथा-वह जैसे, हेयम्-परिणामदुःखतादि से युक्त समस्त संसाररूप हेय को मैंने, परिज्ञातम्-भलीभांति जान लिया है, पुनः-अब, अस्य-इस विषय में अन्य, परिज्ञेयम्-जानने योग्य, न अस्ति-नहीं रहा है ।

द्वितीय—क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति । हेयहेतवः-हेय के हेतुभूत निखिल अविद्यादि क्लेश मेरे, क्षीणाः-क्षीण हो चुके हैं, पुनः-अब, एतेषाम्-इनमें कोई, क्षेतव्यम्-क्षय करने योग्य, न अस्ति- नहीं रहा है ।

तृतीय—साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम् , । निरोधसमाधिना-असंप्रज्ञात समाधि के द्वारा मैंने, हानम्-संसार निवृत्ति रूप हान को, साक्षात्कृतम्-प्रत्यक्ष कर लिया है, अब कुछ जानने के लिये शेष नहीं रहा है ।

चतुर्थ-भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति । विवेकख्यातिरूपः-विवेकख्याति रूप, हानोपायः-मोक्ष का उपाय मैंने, भावितः-निष्पादन कर लिया है । अब कुछ निष्पादन करने के लिये शेष नहीं रहा है । एषा चतुष्टयी कार्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः । एषा-यह, चतुष्टयी-चार प्रकारवाली, कार्या-प्रयत्न साध्य, प्रज्ञायाः विमुक्तिः-प्रज्ञा की समाप्ति है; अर्थात् चित्त के गुणाधिकार की समाप्ति नहीं, किन्तु प्रज्ञा की समाप्ति है ।

चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी । (५) चरिताधिकारा बुद्धिः । (६) गुणा गिरिशिखरतटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति । न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति ।

(७) एतस्यामवस्थायां गुणसंबन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति । एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः

प्रयत्न साध्य चार प्रकारवाली प्रज्ञाविमुक्ति का निरूपण करके अब अप्रयत्न साध्य (स्वतःसिद्ध होनेवाली) तीन प्रकारवाली चित्तविमुक्ति का निरूपण करते हैं—चित्तविमुक्तिस्तु त्रयीति । त्रयी–आगे की जो तीन प्रकारवाली प्रज्ञा है वह, तु–तो, चित्तविमुक्तिः–चित्त की विमुक्ति है अर्थात् चित्त के अधिकार की समाप्ति है, प्रज्ञा की नहीं । भाव यह है कि, प्रयत्न साध्य पूर्वोक्त चार प्रकारवाली प्रज्ञा का लाभ होने पर यह तीन प्रकारवाली प्रज्ञा स्वतः लब्ध हो जाती है । इसके लिये अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं ।

पञ्चम—चरिताधिकारा बुद्धिः । बुद्धिः–मेरी बुद्धि भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ को संपादन करके, चरिताधिकारा–समाप्त अधिकारवाली हो चुकी है ।

षष्ठ—गुणा गिरिशिखरतटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति । नचैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति । गिरिशिखर-तटच्युताः ग्रावाणः इव–गिरि के शिखर से पड़े हुए पाषाण के समान, निरवस्थानाः–निराधार तथा, स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः–अपने कारण प्रकृति में प्रलय के अभिमुख, गुणाः–ये सत्त्वादि तीनों गुण, तेन सह–उस चित्त के साथ ही, अस्तं गच्छन्ति–अस्त को प्राप्त हो चुके हैं । प्रयोजनाभावात्–प्रयोजन (फल) के अभाव से, प्रविलीनानाम् एषाम्–अत्यन्त लीन हुए इन गुणों की, पुनः–फिर, उत्पादः—उत्पत्ति, न च अस्ति—नहीं है ।

सप्तम—एतस्यामवस्थायां गुणसंबन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति । एतस्याम् अवस्थायाम्– इस अवस्था में, गुणसंबन्धातीतः–उक्त सत्त्वादि गुणों के संबन्ध से रहित, स्वरूपमात्रज्योति–चेतन मात्र ज्योति-स्वरूप; अमलः-निर्मल हुआ, पुरुषः–पुरुष, केवली इति–केवली (सर्व संबन्ध रहित) तथा जीवन्मुक्त कहा जाता है ।

इस अवस्था में पुरुष जीवित होता हुआ भी कुशल तथा मुक्त कहा जाता है । इस बात को कहते हैं—एतामिति । एताम्–इस, सप्तविधाम्–सात प्रकारवाली

कुशल इत्याख्यायते । प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति ॥ २७ ॥

प्रान्तभूमिप्रज्ञाम्—सर्वापेक्षा उत्कृष्ट अवस्थावाली प्रज्ञा को, अनुपश्यन्—देखता हुआ, पुरुषः—योगी, कुशलः—कुशल है, इति आख्यायते—ऐसा कहा जाता है। अनौपचारिक (मुख्य) मुक्तता का प्रतिपादन करते हैं—प्रतिप्रसव इति। चित्तस्य प्रतिप्रसवेऽपि-प्रधान में चित्त के लय होने पर भी गुणातीतत्वात्-गुणातीत होने से योगी, मुक्तः कुशलः भवति। मुक्त तथा कुशल हो जाता है। अर्थात् जैसे निरोधसमाधि द्वारा चित्त के लय प्रयुक्त गुणातीत होने से योगी मुक्त कहा जाता है, वैसे ही इस प्रान्तभूमि प्रज्ञावाला योगी भी मुक्त ही कहा जाता है। विशेषता केवल इतनी ही है कि, चित्तप्रलयवाला योगी विदेहमुक्त और उक्त प्रज्ञावाला योगी जीवन्मुक्त है।

तत् शब्द प्रकरणस्थ परामर्शक तथा बुद्धिस्थ परामर्शक हुआ करता है। जैसे "स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजः" इस श्लोक में स्थित "स" यह प्रथमान्त तत्शब्द प्रकरण में स्थित शिशुपाल का परामर्शक है और "हरिः ॐ तत् सत्" इस वाक्य में स्थित तत्शब्द बुद्धि में स्थित ब्रह्म का परामर्शक है। वैसे ही प्रकृत सूत्र में स्थित "तस्य" यह षष्ठ्यन्त तत्शब्द भी बुद्धि में स्थित विवेकख्यातियुक्त योगी का परामर्शक है। अतः उस योगी को सात प्रकारवाली प्रान्तभूमि प्रज्ञा प्राप्त होती है, यह सूत्र का अर्थ निष्पन्न हुआ।

विज्ञानभिक्षु ने इस बात को न समझते हुए "तस्य" पद पूर्वसूत्रस्थ हानोपाय का परामर्शक माना है और कहा है कि,यद्यपि पूर्वसूत्रगत विवेकख्याति स्त्रीलिंग है। अतः "तस्य" पद उसका परामर्शक नहीं हो सकता है तथापि उसी सूत्र में स्थित "हानोपाय" पद पुंलिंग है। अतः उसका परामर्शक हो सकता है। अतः हानोपाय अर्थात् मोक्ष का साधन जो विवेकख्याति है उसको सात प्रकारवाली प्रान्तभूमि प्रज्ञा प्राप्त होती है, ऐसा कहा है, सो भाष्यविरुद्ध होने से उपेक्षणीय है। क्योंकि, भाष्यकार ने 'तस्य' पद का विवरण "प्रत्युदितख्यातेः" ऐसा किया है, जिसका बहुव्रीहि समास के अनुसार "उदय हुई है विवेकख्याति जिस योगी को" यह अर्थ होता है। अतः विवेकख्यातियुक्त योगी को उक्त सात प्रकारवाली प्रान्तभूमि प्रज्ञा प्राप्त होती है, यह अर्थ समीचीन है और हानोपाय रूप विवेकख्याति प्रज्ञा रूप होने से प्रज्ञा को प्रज्ञा प्राप्त होती है। यह कहना असंगत भी है, एवं "सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति" इस पंक्ति से भाष्यकार ने स्पष्ट ही कहा है कि, सात प्रकारवाली प्रज्ञा विवेकी योगी को प्राप्त होती है। अतः विज्ञानभिक्षु ने भाष्य विचारे बिना ही अर्थ का अनर्थ किया है, यह कहना

सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति । न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा-विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि ।

तेषामनुष्ठानात्पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः । तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः । यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते

अनुचित नहीं । इससे श्रीवाचस्पतिमिश्रकृत व्याख्यान ही समुचित है, यह सिद्ध हुआ इति ॥ २७ ॥

इस प्रकार चारों व्यूहों का निरूपण करके संप्रति विवेकख्याति के उपाय निरूपण करने के लिये भाष्यकार सूत्र का अवतरण करते हैं—सिद्धेति । विवेकख्यातिः सिद्धा भवति सति–पूर्वोक्त प्रान्तभूमिप्रज्ञारूप विवेकख्याति सिद्ध (प्राप्त) होने पर ही, हानोपाय इति–हान का उपाय रूप बन सकती है । च–और, साधनम् अन्तरेण सिद्धिः न–साधन के बिना उक्त विवेकख्याति की सिद्धि (प्राप्ति) नहीं हो सकती है, इति–अतः जिन साधनों के अनुष्ठान से विवेकख्याति सिद्ध होती है उन साधनों का प्रतिपादन करने के लिये, एतत्–इस अग्रिम सूत्र का, आरभ्यते–आरम्भ होता है–योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेरिति । योगाङ्गानुष्ठानात्–वक्ष्यमाण यमनियमादि योग के आठों अंगों के अनुष्ठान से, अशुद्धिक्षये–रजोगुण-तमोगुण प्रयुक्त विपर्ययज्ञान रूप अविद्यादि क्लेश तथा शुक्ल कृष्णादि कर्मरूप अशुद्धि के क्षय होने पर, आविवेकख्यातेः–विवेकख्याति के उदय पर्यन्त, ज्ञानदीप्तिः–यथार्थ ज्ञान रूप विवेकख्याति की अभिव्यक्ति होती है ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हुए वक्ष्यमाण यमनियमादि साधन विवेकख्याति के प्रति जिस प्रकार के कारण बनते हैं उसको विशद करते हैं—योगेति । अभिधायिष्यमाणानि योगाङ्गानि अष्टौ—वक्ष्यमाण यमनियमादि योग के अंग आठ हैं, तेषाम् अनुष्ठानात्–उनके अनुष्ठान करने से, पञ्चपर्वणः विपर्ययस्य अशुद्धिरूपस्य–पूर्वोक्त पांच पर्ववाला मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याज्ञान-उपलक्षित पुण्यपाप रूप अशुद्धि का, क्षयोनाशः—क्षय अर्थात् नाश होता है । तत्क्षये—और उस अशुद्धि के क्षय होने पर, सम्यग्ज्ञानस्य—यथार्थ ज्ञान की, अभिव्यक्तिः—अभिव्यक्ति होती है । यथा यथा साधनानि अनुष्ठीयन्ते—जैसे जैसे साधनों का अनुष्ठान होता है, तथा तथा

तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते । यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते । सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्यातेः ।

आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः । योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम् । यथा परशुश्छेद्यस्य । विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणम्— यथा धर्मः सुखस्य । नान्यथा कारणम् । कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति । नवैवेत्याह । तद्यथा—

अशुद्धिः तनुत्वम् आपद्यते —वैसे वैसे यथोक्त अशुद्धि तनुता (क्षीणता) को प्राप्त होती जाती है । च-और, यथा यथा क्षीयते -जैसे जैसे अशुद्धि क्षीण होती जाती है, तथा तथा—वैसे वैसे, क्षयक्रमानुरोधिनी—क्षयक्रम के अनुरोध (अपेक्षा) करनेवाली, ज्ञानस्य-ज्ञान की, दीप्तिः अपि —दीप्ति भी, विवर्धते —वृद्धि को प्राप्त होती जाती है । सा खलु-वही, एषा वृद्धिः-यह ज्ञान की वृद्धि, प्रकर्षम् अनुभवति सति-उत्कर्ष को अनुभव करती हुई, आविवेकख्यातेः-विवेकख्याति के उदय पर्यन्त उन्नति को प्राप्त होती ही रहती है । "आविवेकख्यातेः" इस पद का विवरण "आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः" इतना अंश है । अर्थात् सत्त्वादि गुण तथा पुरुष इन दोनों के स्वरूप के विज्ञान पर्यन्त वह ज्ञान की वृद्धि प्रकर्षता को अनुभव करती हुई उन्नति को प्राप्त होती ही रहती है ।

अनेक प्रकार के कारण देखे जाते हैं । उनमें योग के अंगों का अनुष्ठान विवेकख्याति के प्रति किस प्रकार के कारण हैं, इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिये भाष्यकार आगे की पंक्ति लिखते हैं—योगेति । यथा—जैसे, परशुः—कुठार, छेद्यस्य-छेद्य काष्ठादि के, वियोगकारणम् —वियोग का कारण है, वैसे ही, योगाङ्गानुष्ठानम्-यमनियमादि योग के अङ्गों का अनुष्ठान भी, अशुद्धेः—अशुद्धि के वियोग का कारण है और, विवेकख्यातेस्तु—विवेकख्याति का तो, यथा—जैसे, धर्मः—धर्म, सुखस्य-सुख प्राप्ति का कारण है, वैसे ही, प्राप्तिकारणम्—प्राप्ति का कारण है । अर्थात् एक ही योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धि के वियोग और विवेकख्याति की प्राप्ति इन दोनों का कारण है, न अन्यथा कारणम्—इससे अन्य प्रकार का कारण योगाङ्गानुष्ठान नहीं है ।

"नान्यथा" इस पद के द्वारा प्रतिषेध श्रवण से प्रश्न उठता है कि-कतीति । शास्त्रे—शास्त्र में, एतानि कत च कारणानि—ये कितने प्रकार के कारण, भवन्ति—होते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—नवैवेति । नव एव इति आह—नव प्रकार के ही कारण शास्त्रकारों ने कहा है । उन्हीं नव कारणों को कारिका (श्लोक) द्वारा संग्रह करके दिखावे हैं-तद्यथा—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥ इति।

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति ज्ञानस्य। स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता शरीरस्येवाहार इति। अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम्।

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥ इति ॥

तत् यथा—वे जैसे, उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः—उत्पत्तिकारण, स्थितिकारण, अभिव्यक्तिकारण, विकारकारण, प्रत्ययकारण, आप्ति (प्राप्ति) कारण, वियोगान्यत्वधृतयः— वियोगकारण, अन्यत्वकारण तथा धृतिकारण। इस प्रकार, कारणं नवधा स्मृतम्—कारण नव प्रकार के शास्त्र में कहे गए हैं।

इन नवों कारणों को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

प्रथम—तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति ज्ञानस्य। तत्र—उन नवों कारणों में उत्पत्तिकारणम्—उत्पत्ति कारण का जैसे—ज्ञानस्य—ज्ञान का, मनो भवति—मन होता है।

द्वितीय—स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता, शरीरस्येवाहार इति। स्थितिकारणम्—स्थिति का कारण। जैसे—शरीरस्य आहार इव—शरीर की स्थिति का कारण आहार है वैसे ही, मनसः—मन की स्थिति का कारण, पुरुषार्थता—पुरुषार्थता है। अर्थात् जैसे शरीर की स्थिति का कारण आहार होता है, वैसे ही मन की स्थिति का कारण भोग-अपवर्ग रूप पुरुषार्थ होता है। क्योंकि, मन तभी तक स्थित रहता है जब तक भोग-अपवर्ग रूप पुरुषार्थ समाप्त नहीं होता है और जब भोग-अपवर्ग रूप पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है तब यह (मन) प्रकृति में लीन हो जाता है। अतः मन की स्थिति का कारण पुरुषार्थता कही गई है।

तृतीय—अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम्। अभिव्यक्तिकारणम्—अभिव्यक्ति का कारण, यथा—जैसे, रूपस्य—रूप अभिव्यक्ति का, आलोकस्तथा रूपज्ञानम्—आलोक (प्रकाश) तथा रूप का ज्ञान है। अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का निमित्त इन्द्रिय द्वारा अथवा स्वतः विषयनिष्ठ प्राकट्य रूप संक्रिया अभिव्यक्ति कही जाती है, जिसको सांख्ययोग मत में पौरुषेय बोध तथा न्यायमत में अनुव्यवसाय ज्ञान कहते हैं। रूप की प्राकट्य रूप अभिव्यक्ति में यद्यपि चक्षु इन्द्रिय निमित्त है तथापि अन्धकार में रूप की अभिव्यक्ति नहीं होने से आलोक भी रूप अभिव्यक्ति का कारण है, एवं रूप के साथ आलोक सहकृत चक्षु सन्निकृष्ट होने पर भी

विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्। यथाग्निः पाक्यस्य।

प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः।

जबतक रूपाकार वृत्तिज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तबतक रूप की उक्त प्राकट्य रूप (पौरुषेय बोधरूप) अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतः रूपज्ञान भी रूप की अभिव्यक्ति में कारण है। जिस (रूप का वृत्ति ज्ञान) को न्यायमत में व्यवसाय ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार रूप के पौरुषेय बोध रूप अभिव्यक्ति का आलोक तथा रूपज्ञान कारण है, यह सिद्ध हुआ।

चतुर्थ-विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्, यथाग्निः पाक्यस्य। विकारकारणम् यथा—विकार का कारण जैसे, मनसः—मन के विकार का कारण, विषयान्तरम्—ध्येय से अन्य स्त्री आदि विषय और, पाक्यस्य-कठिन अवयववाले तण्डुल (चावल) आदि पाक्य पदार्थ के शिथिल अवयव रूप विकार का कारण, अग्निः—अग्नि है। अर्थात् जैसे मृकण्डु आदि समाहित मनवाले ऋषियों का भी मन प्रम्लोचा आदि अप्सराओं को देखकर विकृत हुआ था और फलादि विकार का कारण आतप आदि तो प्रसिद्ध ही है। अतः मन के विकार का कारण स्त्री आदि तथा फलादि पाक्य के विकार का कारण अग्नि आदि है, यह सिद्ध हुआ।

पंचम-प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्रत्ययकारणम्—प्रत्यय अर्थात् ज्ञान, उसका कारण जैसे, अग्निज्ञानस्य—प्रथम से ही विद्यमान अग्नि के ज्ञान का, धूमज्ञानम्—धूम का ज्ञान कारण है। अर्थात् कार्य के ज्ञान से कारण का ज्ञान, व्याप्य के ज्ञान से व्यापक का ज्ञान, तथा कल्पक के ज्ञान से कल्प्य का ज्ञान होता है; अतः ज्ञान का कारण ज्ञान है, यह सिद्ध हुआ।

षष्ठ-प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः। प्राप्तिकारणम्-प्राप्ति का कारण जैसे, विवेकख्यातेः-विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण, योगाङ्गानुष्ठानम्-योग के यमनियमादि अङ्गों का अनुष्ठान है; क्योंकि, योग के अङ्गों के अनुष्ठान करने से विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है।

भाव यह है कि, कारण में जो कार्य उत्पन्न करने की स्वाभाविकी शक्ति वह प्राप्ति कही जाती है और उसका किसी अपवाद से जो प्रतिबन्ध (रुकावट) होता है वह अप्राप्ति कहा जाता है—जैसे जल में निम्न प्रदेश की तरफ गमन करने की जो स्वाभाविकी शक्ति है, वह प्राप्ति कही जाती है और उसका प्रतिबन्ध सेतु (बांध) द्वारा होता है; अतः वह प्रतिबन्ध अप्राप्ति कहा जाता है। जब किसी साधन से सेतु का अपनयन (अभाव) कर दिया जाता है तब जल में जो निम्न प्रदेश की तरफ गमन

वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः।

अन्यत्वकारणं यथा—सुवर्णस्य सुवर्णकारः। एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये।

करने की स्वाभाविकी शक्ति विद्यमान थी वह फिर अपना निम्न प्रदेश की तरफ गमन करना रूप कार्य करने लगती है तब यह कहा जाता है कि, जल में निम्न प्रदेश की तरफ गमन करने की शक्ति प्राप्त हुई है। वस्तुतः यह स्वाभाविकी शक्ति प्रथम से ही विद्यमान है अपवाद के कारण रुक गई थीं, सो अपवाद के दूर होने पर चालू हुई है। वैसे ही प्रकाशशील बुद्धिसत्त्व में विवेकख्याति उत्पन्न करने की स्वाभाविकी शक्ति, है; परन्तु तमोगुण रूप अपवाद के कारण रुक गई है। जब योगाङ्ग के अनुष्ठान द्वारा उस तमोगुण रूप अपवाद का अपनयन हो जाता है, तब विवेकख्याति की उत्पत्ति हो जाती है, तब यह कहा जाता है कि, योगांग के अनुष्ठान से विवेकख्याति की उत्पत्ति (प्राप्ति) हुई है। वस्तुतः बुद्धिसत्त्व में विवेकख्याति की उत्पत्ति करने की स्वाभाविकी शक्ति प्रथम से ही विद्यमान है। योगांग के अनुष्ठान से तो उसका अपवाद तमोगुण का अपनयन मात्र हुआ है। अतः इस प्रकार की प्राप्ति का कारण योगांगानुष्ठान है, यह सिद्ध हुआ। यही बात "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्" (यो. सू. ४—३) इस सूत्र पर कही जायगी।

सप्तम-वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः। वियोगकारणम्—वियोग का कारण जैसे, अशुद्धेः—पूर्वोक्त अशुद्धि का, तदेव—वही पूर्वोक्त योगाङ्गानुष्ठान है। इसका विशेष व्याख्यान "योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम्, यथा परशुश्छेद्यस्य" इस पंक्ति पर हो चुका है।

अष्टम-अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः। एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्यामूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये। अन्यत्वकारणं यथा—अन्यत्व का कारण जैसे, सुवर्णकारः—सुवर्णकार, सुवर्णस्य—सुवर्ण का है। अर्थात् सुवर्णकार कटक, कुण्डल आदि निर्माण द्वारा सुवर्ण के अन्यत्व का कारण है; क्योंकि, कारण रूप सुवर्ण पिण्ड के आकार से कटक-कुण्डल आदि कार्य का आकार अन्य है, जिसको करनेवाला सुवर्णकार हैं। यद्यपि स्वभिमतसत्कार्यवाद में सुवर्ण रूप कारण से कटक-कुण्डल आदि कार्य अन्य नहीं, किन्तु कारण रूप ही हैं, तथापि लोकदृष्टि से कार्य को भिन्नाभिन्न स्वरूप मान कर यत्किञ्चित् भेदविवक्षा से सुवर्ण से कटक-कुण्डल आदि कार्य को अन्य समझना चाहिये। एवम्—इसी प्रकार, एकस्य स्त्रीप्रत्ययस्य—एक ही स्त्री ज्ञान का, मूढत्वे अविद्या—मूढता में अविद्या कारण है, दुःखत्वे द्वेषः—दुःखता में द्वेष कारण है,

धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम्। तानि च तस्य। महाभूतानि शरीराणाम्। तानि च परस्परं सर्वेषाम्। तैर्यग्योनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादिति।

सुखत्वे रागः—सुखता में राग कारण है और, माध्यस्थ्ये तत्त्वज्ञानम्—मध्यस्थता में तत्त्वज्ञान कारण है। अर्थात् एक ही स्त्री को देखकर कामुक अज्ञानी पुरुष अप्राप्त होने से "हाय मैं कितना अभागा हूँ, मुझे यह स्त्री नहीं मिलती है" ऐसा कहता हुआ मोहित होता है, सपत्नी (सौतिन) द्वेष से दुःखी होती है, पति राग से सुखी होता है और तत्त्वज्ञानी पुरुष स्त्री के शरीर को त्वक्, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि आदि का समूह एवं स्थान बीजादि से अशुचि जानकर वैराग्य रूप मध्यस्थता को प्राप्त होता है। इस प्रकार एक ही स्त्रीविषयक ज्ञान के मूढत्व, दुःखत्व, सुखत्व तथा उदासीनत्व रूप अन्यत्व का क्रमशः अविद्या, द्वेष, राग तथा माध्यस्थ्य कारण होने से ये सब अन्यत्व के कारण हैं, यह सिद्ध हुआ।

नवम—धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम्। तानि च तस्य। महाभूतानि शरीराणाम्। तानि च परस्परं सर्वेषाम्। तैर्यग्योनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादिति। इन्द्रियाणां धृतिकारणं शरीरम्—इन्द्रियों के धृति (धारण) का कारण शरीर है, च-और, तस्य तानि-शरीर के धृति के कारण इन्द्रिय हैं। इस प्रकार परस्पर इनका विधार्यविधारकभाव संबन्ध है। शरीराणां महाभूतानि—शरीरों के धृति के कारण महाभूत हैं, च—और, सर्वेषां परस्परं तानि—सर्व भूतों के परस्पर धृति के कारण वे सर्व शरीर हैं। इस प्रकार इनका भी परस्पर विधार्यविधारकभाव संबन्ध है। च—एवं, परस्परार्थत्वात्—आधाराधेय न होने पर भी परस्पर एक दूसरे की धृति के लिये उपकारी होने से, तैर्यग्योनमानुषदैवतानि—तिर्यक्, मनुष्य तथा देवों के शरीर धृति के कारण हैं। अतः इनका भी इस प्रकार परस्पर विधार्यविधारकभाव है।

भाव यह है कि, इन्द्रियों के बिना शरीर तथा शरीर के बिना इन्द्रियां रह नहीं सकती हैं। अतः इनका परस्पर विधार्यविधारकभाव संबन्ध होने से एक दूसरे की धृति का कारण है। इस कथन से शरीर के प्रत्येक अंगों को परस्पर विधार्यविधारकभाव संबन्ध होने से एक दूसरे की धृति का कारण है, ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार पञ्चमहाभूत शरीर के कारण तथा आधार होने से ये (पञ्चमहाभूत) भी शरीर की धृति के कारण हैं। एवं आकाश आदि पञ्चभूतों में से पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर में अनुगत होने से पृथिवी में पांच, जल में चार, अग्नि में तीन, तथा वायु में दो भूतों के अनुगत होने से, इनका विधार्यविधारकभाव संबन्ध है। अतः ये एक

एवं नव कारणानि। तानि च यथासंभवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि। योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति ॥२८॥

तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—

यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

दूसरे की धृति के कारण हैं। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर पशु पक्षी आदि के शरीर के उपयोगी है और पशु पक्षी आदि के शरीर मनुष्यों के शरीर के उपयोगी हैं। मनुष्य-शरीर से किये हुए यज्ञ, बलिदान आदि देवशरीर के उपयोगी हैं तथा देव-शरीर से की हुई वृष्टि आदि मनुष्यशरीर के उपयोगी हैं। अतः सर्व शरीर परस्पर किसी न किसी प्रकार एक दूसरे के उपकारक हैं। इसलिये इनका विधार्यविधारकभाव संबन्ध होने से ये भी एक दूसरे की धृति के कारण हैं।

एवं नव कारणानि, तानि च यथासम्भवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि। एवम्—इस प्रकार, नव—नव प्रकार के, कारणानि—कारण हैं, तानि च—ये नव प्रकार के कारण, पदार्थान्तरेषु अपि—अन्य पदार्थों में भी, यथासम्भवम्—जहां जिसका सम्भव हो, योज्यानि—ऊहापोह करके यथोक्त कार्यकारणभाव की योजना कर लेनी चाहिये। योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति। तु—किन्तु, योगाङ्गानुष्ठानम्–प्रकृत में योग के अंगों का अनुष्ठान, द्विधा एव—दो प्रकार से ही, कारणत्वम्—कारणभाव को, लभते—प्राप्त होता है, अर्थात् योगाङ्गानुष्ठान विवेक-ख्याति की प्राप्ति और अशुद्धि के वियोग का ही कारण है, इति–यह सिद्ध हुआ इति ॥ २८ ॥

भाष्यकार सूत्र का अवतरण करते हैं—तत्रेति। तत्र योगाङ्गानि—न्यून अधिक संख्या का निरास करने के लिये सूत्रकार द्वारा योग के अंगों का, अवधार्यन्ते—अवधारण किया जाता है—यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि इति। यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा संप्रज्ञात-समाधि ये, अष्टौ–आठ असंप्रज्ञात-समाधि के, अङ्गानि—अंग हैं। यम, नियम आदि आठों के पृथक् पृथक् नाम निर्देश करने से ये आठों योग के अवश्य अंग हैं और "अष्टौ" कहने से सूत्रोक्त यमादि आठ ही योग के अंग हैं, अधिक नहीं, यह सिद्ध हुआ। यद्यपि प्रथम पाद में अभ्यास, वैराग्य तथा श्रद्धा-वीर्य आदि भी योग के अंग कहे गये हैं। अतः आठ ही योग के अंग हैं यह कहना समुचित

यथाक्रममेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः ॥ २९ ॥

तत्र—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

नहीं तथापि उनका यथायोग्य इन्हीं आठों में अन्तर्भाव होने से आठ ही योग के अंग हैं, अधिक नहीं। क्योंकि अभ्यास का समाधि में, वैराग्य का नियमान्तर्गत सन्तोष में और श्रद्धा आदि का यथायोग्य तप आदि में अन्तर्भाव है, एवं पूर्वोक्त परिकर्मों का धारणा आदि तीन में अन्तर्भाव है।

यहां समाधि पद से संप्रज्ञात योग का ग्रहण है। अतः संप्रज्ञातसमाधि अंग और असंप्रज्ञात समाधि अंगी है। निदिध्यासन संप्रज्ञात-समाधि ही है, पृथक् नहीं। अतः उसकी योगांगों में पृथक् गणना नहीं की गई है और श्रवण, मनन विवेक ज्ञान के हेतु हैं, समाधि के अंग नहीं। अतः योगांगों में उनकी भी गणना नहीं की गई है। अन्य किसी के अधीन न होने से यम का निर्देश प्रथम किया गया है और यम के बिना नियम असंभव होने से यम के पश्चात् नियम का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार उत्तर-उत्तर आसन आदि पूर्व-पूर्व नियमादि कारण सापेक्ष होने से उनका यथाक्रम उल्लेख किया गया है।

सूत्र में यमादि का कथन नाममात्र किया गया है। इनका क्रमशः विवरण अग्रिम सूत्रों के भाष्य में किया जायगा। इस बात को भाष्यकार कहते हैं—यथाक्रमेति। एषाम्-इन यम, नियमादि का, अनुष्ठानम्—अनुष्ठान, च और, स्वरूपम् स्वरूप, यथाक्रमम्—क्रमानुसार, वक्ष्यामः—कहेंगे। इति ॥ २९ ॥

यमनियमादि योगांगों का नाममात्र उल्लेख करके यम के स्वरूप-निर्देशक सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं—तत्रेति। तत्र-यमनियमादि योग के अंगों में से प्रथम निर्दिष्ट यम का स्वरूप सूत्रकार दिखाते हैं—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः इति। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, यमाः—ये पांच यम कहे जाते हैं। अर्थात् यमनियमादि योगांगों में प्रथम निर्दिष्ट जो यम है वह अहिंसादि भेद से पांच प्रकार का है। "यम उपरमे" धातु से यम शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ उपरम अर्थात् अभाव होता है। प्रकृत में हिंसा, मिथ्या, स्तेय, मैथुन तथा परिग्रह का क्रमशः अभाव (विरोधी) रूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप उपरम यम शब्द का अर्थ है।

तत्राऽहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते ।

तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते । तथा चोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृते-

---

इन पांचों में प्रथम उद्दिष्ट अहिंसा का स्वरूप भाष्यकार दिखाते हैं—तत्रेति । तत्र-पांच प्रकार के यमों में जो, सर्वथा—सर्व प्रकार से, सर्वदा—सर्व काल में, सर्वभूतानाम्—सर्व प्राणियों का, अनभिद्रोहः—द्रोह न करना वह, अहिंसा—अहिंसा कहा जाता है । अर्थात् मन, वचन तथा काय से क्रमशः अनिष्टचिन्तन, परुषभाषण तथा ताडन आदि द्वारा किसी प्राणी को पीडा पहुंचाना हिंसा कहा जाता है । इससे विपरीत सर्वप्रकार से सर्वकाल में किसी प्राणी को पीडा न पहुंचाना अद्रोह रूप अहिंसा कहा जाता है । उक्त प्रकार की अहिंसा की स्तुति करते हैं—उत्तरे चेति । उत्तरे च यमनियमाः—अहिंसा से उत्तर के जो यमनियमादि योगांग हैं वे, तन्मूलाः—अहिंसा-मूलक हैं ! क्योंकि, तत्सिद्धिपरतया एव-कार्यरूप में अहिंसा की सिद्धिपरक ही, तत्प्रतिपादनाय—अहिंसा का प्रतिपादन करने के लिये वे (उत्तर के यमादि), प्रतिपाद्यन्ते-प्रतिपादन किये जाते हैं ।

भाव यह है कि, अन्य योगांगों का अनुष्ठान अहिंसा को निर्मल तथा पुष्ट करने के लिये है । अतः अहिंसामूलक कहने से अहिंसा उन (अन्य योगांगों) की उत्पत्ति का कारण नहीं, प्रत्युत अहिंसा की ही उत्पत्ति का कारण अन्य योगांग हैं । क्योंकि, जैसे जैसे यमनियमादि का अनुष्ठान किया जाता है वैसे वैसे अहिंसा सिद्ध होती हुई निर्मल तथा पुष्ट होती जाती है । अतः अहिंसा के ज्ञान बिना यमनियमादि का अनुष्ठान निष्फल होने से अहिंसा ज्ञान द्वारा यमनियमादि का हेतु होने से अर्थात् उत्पत्ति में नहीं किन्तु ज्ञप्ति में हेतु होने से अहिंसामूलक यमनियमादि कहे गये हैं ।

इसी अर्थ को निम्नलिखित पंक्ति से स्पष्ट करते हैं—तदिति । तत्—उस अहिंसा को, अवदातरूपकरणाय एव-निर्मल करने के लिये ही अन्य यमनियमादि, उपादीयन्ते-ग्रहण किये गए हैं, अर्थात् यदि उत्तर के यमनियमादि का अनुष्ठान नहीं किया जायगा तो अहिंसा अनुष्ठित होने पर भी असत्यादि द्वारा मलिन हो जायगी । अतः अहिंसा की शुद्धि के लिये अग्रिम सत्यादि का अनुष्ठान कर्तव्य है । इस कथन में आगमिकों की संमति प्रदर्शित करते हैं—तथेति । तथा च उक्तम्—इसी प्रकार महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है—स खलु अयम् ब्राह्मणः—जो यह मुमुक्षु ब्राह्मण, यथा यथा—जैसे जैसे यमनियमादि, व्रतानि—व्रतों का, बहूनि—

भ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।

सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे ।

यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्च । परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति ।

बहुत, समादित्सते—संपादन (अनुष्ठान) करता है, तथा तथा–वैसे वैसे, प्रमादकृतेभ्यः हिंसानिदानेभ्यः–प्रमाद से किये हुए हिंसा के कारण मिथ्याभाषण आदि से, निवर्त्तमानः–निवृत्त होता हुआ, ताम् एव अवदातरूपाम्–उसी शुद्ध रूप, अहिंसाम्—अहिंसा को, करोति—करता है।

अहिंसा के स्वरूप निर्देश करने के पश्चात् क्रमप्राप्त सत्य के स्वरूप का निर्देश करते हैं—सत्यमिति । वाङ्मनसे—वाणी तथा मन का जो, यथार्थे—यथार्थत्व वह, सत्यम्—सत्य कहा जाता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं–यथेति । यथा दृष्टम्—जैसा प्रत्यक्षप्रमाण रूप इन्द्रियों से प्रत्यक्ष किया हो, यथानुमितम्—जैसा तर्क से अनुमान किया हो और, यथा श्रुतम्—जैसा आगम से सुना हो, तथा—वैसा ही यदि, मनः–मन, च–और, वाक्–वाणी भी हो तो वह वाणी सत्य कही जाती है। अर्थात् जैसा मन में समझता हो वैसा ही यदि अन्य के प्रति वाणी बोली गई हो तो वह वाणी सत्य कही जाती है। इसी को मन वाणी की एकरूपता कहते हैं। मन में कुछ अन्य हो और वाणी से कुछ अन्य बोलता हो तो वह सत्य नहीं इस बात को कहते हैं—परत्रेति । वाक्–जो वाणी, परत्र–अन्य पुरुष के चित्त में। स्वबोधसंक्रान्तये—अपने चित्त में जैसा ही बोध है वैसा ही बोध उत्पादन करने के लिये, उक्ता—उच्चरित हुई हो, सा यदि—वह यदि, वञ्चिता न भवेत्—अन्य को वञ्चना करनेवाली न हो, वा—और, भ्रान्ता—विपरीत बोधजनक न हो, वा–एवं, प्रतिपत्तिवन्ध्या—निरर्थक अर्थात् बोध उत्पादन करने में असमर्थ न हो तो वह सत्य कही जाती है।

अपने चित्त में इन्द्रियादि-जन्य जो बोध उत्पन्न हुआ हो उससे अन्य प्रकार के बोध अन्य के चित्त में उत्पादन करने के लिए जो वाक्य उच्चरित हुआ हो वह सत्य नहीं। जैसे द्रोणाचार्य ने जब युधिष्ठिर से पूछा कि, 'हे सत्यधन ! क्या अश्वत्थामा मरा ?', तब युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि—"अश्वत्थामा हतः"- अर्थात् अश्वत्थामा मर गया, यह युधिष्ठिर का वाक्य सत्य नहीं; क्योंकि. युधिष्ठिर के चित्त में जो इन्द्रियजन्य बोध था वह हस्तिहनन विषयक था और द्रोणाचार्य के चित्त में युधिष्ठिर के

एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्।

तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः

वाक्य से जो बोध उत्पन्न हुआ वह उनके पुत्रहनन विषयक बोध उत्पन्न हुआ। अतः इस प्रकार का बोध-जनक जो युधिष्ठिर का वाक्य वह वञ्चनाजनक होने से सत्य नहीं। और मिथ्या (भ्रान्ति) ज्ञानजनक जो वाक्य वह सत्य नहीं, यह बात तो लोक में प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार आर्यों के प्रति म्लेच्छादि उच्चरित वाक्य यथार्थ होने पर भी वह सत्य नहीं; क्योंकि, वह प्रतिपत्तिवन्ध्य अर्थात् उन पर आर्यों की श्रद्धा न होने से बोध उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। अतएव भाष्यकार ने कहा कि, जो वञ्चित, भ्रान्त तथा प्रतिपत्तिवन्ध्य नहीं वह वाक्य सत्य कहा जाता है।

अब जो वाक्य सत्य होने पर भी अन्य के अपकार-मूलक हो वह सत्य नहीं, किन्तु सत्याभास है। इस बात को कहते हैं—एषेति। एषा—इस प्रकार का वाक्य भी यदि, सर्वभूतोपकारार्थम्—सर्व प्राणियों के उपकार के लिये, प्रवृत्ता—प्रवृत्त (उच्चरित) होता हुआ, न भूतोपघाताय—किसी प्राणी के अपघात के लिये न हो तो सत्य कहा जाता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं—यदीति। यदि च—और यदि, एवम्—इस प्रकार यथार्थ, अभिधीयमाना अपि—कथ्यमान भी वाक्य, भूतोपघातपरा एव स्यात्—प्राणियों के अपकारपरक ही हो तो वह, सत्यं न भवेत्—सत्य नहीं होता है किन्तु उससे, पापम् एव भवेत्—पाप ही होता है। अर्थात् सत्य होने पर भी पापजनक होने से मिथ्या के तुल्य है। तेन पुण्याभासेन—उस पुण्य के समान प्रतीयमान, पुण्यप्रतिरूपकेण—पुण्य के सदृश वाक्य से वक्ता, कष्टम्—दुःखात्मक, तमः—नरक को, प्राप्नुयात्—प्राप्त होगा। अर्थात् उस पुण्याभास वाक्य से जैसे अपकृत पुरुष को कष्ट होगा, वैसे ही उच्चारण करनेवाले पुरुष को भी अवश्य कष्ट होगा। तस्मात्—इससे, परीक्ष्य—परीक्षा करके, सत्यम्—जो सत्य, सर्वभूतहितम्—प्राणिमात्र का हितकर हो उसको, ब्रूयात्—बोले, यह निष्कर्ष हुआ। अत एव भगवान् मनु ने अनिष्टकारक सत्य भाषण का निषेध किया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

अर्थात् सत्य बोले तो प्रिय (सुखजनक) हो तो बोले, अप्रिय (दुःखजनक) सत्य हो तो उसको न बोले; क्योंकि, उससे वक्ता का ही अनिष्ट होता है। इसी अभिप्राय से धर्मशास्त्र में कहा है कि, अपनी अथवा किसी अन्य की यदि प्राणरक्षा होती हो तो मिथ्या-भाषण से पाप नहीं होता है—

स्वीकरणम् । तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति ।

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ ३० ॥

प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च ।

स्तेय के अभाव को अस्तेय कहते हैं, जिसको लोक में चोरी कहते हैं और अभाव-निरूपण भावनिरूपण के अधीन होता है । अतः भाष्यकार स्तेयनिरूपण-पूर्वक अस्तेय का निरूपण करते हैं—स्तेयमिति । अशास्त्रपूर्वकम्—शास्त्र-उक्त विधि के बिना, परतः-किसी अन्य के, द्रव्याणाम्-द्रव्यों का, स्वीकरणम्-ग्रहण करना, स्तेयम्-स्तेय कहा जाता है । पुनः-और, तत्प्रतिषेधः-उसका प्रतिषेध (अभाव) अस्पृहा-रूपम्—मन से भी अन्य के द्रव्य के ग्रहण करने की इच्छा का अभावरूप, अस्तेयम्-अस्तेय कहा जाता है । अर्थात् अन्य के द्रव्य हाथ से ग्रहण करने की तो बात क्या, मन से भी ग्रहण करने की इच्छा का अभाव को अस्तेय कहते हैं । इस बात को भाष्य-कार ने "अस्पृहारूपम्" शब्द से सूचित किया है ।

क्रम-प्राप्त ब्रह्मचर्य के स्वरूप को दिखाते हैं—ब्रह्मचर्यमिति । गुप्तेन्द्रियस्य उपस्थस्य—गुह्य इन्द्रिय जो उपस्थ है उसका जो, संयमः-संयम (निग्रह) उसको, ब्रह्मचर्यम्-ब्रह्मचर्य कहते हैं । यहां पर "उपस्थेन्द्रिय" शब्द अन्य इन्द्रियों का भी उपलक्षक है । अन्यथा, संयत गुह्य इन्द्रियवाला पुरुष भी स्त्रीसम्बन्धी दृष्टिपात, अङ्ग-स्पर्श तथा वार्तालाप आदि करने पर भी ब्रह्मचारी कहा जायगा और ऐसे पुरुष ब्रह्म-चारी तो कहे जाते नहीं हैं । क्योंकि—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

इस वचन के द्वारा महर्षि दक्षमुनि ने आठ प्रकार के मैथुन से रहित को ब्रह्मचर्य का लक्षण कहा है । अतः अन्य सर्व इन्द्रियों के निरोधपूर्वक गुह्य-इन्द्रिय के संयम का नाम ब्रह्मचर्य है, यह सिद्ध हुआ ।

अब अन्तिम अपरिग्रह का स्वरूप दिखाते हैं—विषयाणामिति । विषयाणाम्-विषयों में अर्जन-दोष, रक्षण-दोष, क्षय-दोष, संग-दोष तथा हिंसा-दोष देखने से उनका जो, अस्वीकरणम्-अस्वीकार वह, अपरिग्रहः-अपरिग्रह कहा जाता है । इति एते यमाः-ये पांच यम कहे जाते हैं ।

यद्यपि अस्तेय शब्द से ही विषयों का अस्वीकार सिद्ध है । अतः सूत्र में अपरिग्रह पद का ग्रहण निरर्थक प्रतीत होता है तथापि अस्तेय पद से चोरी का निषेध और

ते तु—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

अपरिग्रह पद से दान लेने का भी निषेध किया गया है। अथवा अस्तेय पद से शास्त्र-विधि से प्राप्त द्रव्य के स्वीकार करने में दोषाभाव कहा गया है और अपरिग्रह पद से शास्त्रविधि से प्राप्त द्रव्यों में उक्त दोष जान कर यथाशक्य उनका भी त्याग करने का उपदेश दिया गया है। अतः दोनों पद सार्थक हैं।

विषयासक्ति को संग कहते हैं और वह दोषरूप इसलिये है कि, विषयों में आसक्ति होने पर भोग-विषयक प्रबल इच्छा जागरूक होती है और भोगाभ्यास से विषयों में अधिक राग बढ़ता है एवं इन्द्रियों में भोगोपयोगिनी प्रबल शक्ति बढ़ती है। किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाये बिना भोग-संभव नहीं और पीडा पहुँचाना ही तो हिंसा है। अतएव हिंसा दोषरूप कही गई है। बिना परिश्रम से प्राप्त अशास्त्रीय विषय निन्दित अर्जन होने से दोष रूप स्पष्ट ही है। और शास्त्रीय विषय भी अर्जन, रक्षण करने में क्लेशप्रद एवं क्षय-काल में अत्यन्त दुःखप्रद होने से दोष रूप कहा गया है। अतः उन सर्व का अस्वीकार रूप अपरिग्रह योगियों के लिये विधान किया गया है। इति ॥ ३० ॥

इस प्रकार सामान्य रूप से यमों का स्वरूप निरूपण किया गया। अब जिस प्रकार के यम योगियों को उपादेय हैं उस प्रकार के यम का स्वरूप निरूपण करनेवाले सूत्र के साथ "ते तु" इतना अंश जोड़ते हुए भाष्यकार सूत्र का उल्लेख करते हैं—ते तु–जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतमिति। जातिमत्स्यत्वादि, देश-तीर्थादि। यद्यपि काल तथा समय ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं तथापि नियत तथा अनियत के भेद से दो प्रकार के काल हैं। उनमें काल शब्द से चतुर्दशी तथा पुण्य दिवस आदि नियत काल का ग्रहण है और समय शब्द से ब्राह्मण-भोजन आदि अवसर रूप अनियत काल का ग्रहण है, ऐसा विवेक कर लेना चाहिये।

सूत्रार्थ—ते तु–वे पूर्वोक्त पांच यम जब, जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः—जाति रूप अवच्छेद (विभाग) से रहित, देश रूप अवच्छेद से रहित, काल रूप अवच्छेद से रहित, तथा समय रूप अवच्छेद से रहित होते हैं तब, सार्वभौमाः—सर्व अवस्था में विदित (व्यभिचार रहित) होने के कारण सार्वभौम, महाव्रतम्—महाव्रत नाम से व्यवहृत होते हैं।

तत्राऽहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यबन्धकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा ।

सैव देशावच्छिन्ना । न तीर्थे हनिष्यामीति । सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति । सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति ।

जाति-देश आदि से अनवच्छिन्न (रहित) अहिंसा, सत्य आदि यम योगियों को उपादेय हैं, जो अभाव रूप हैं और अभावज्ञान में प्रतियोगिज्ञान अपेक्षित है । अभाव रूप जाति-देश आदि से अनवच्छिन्न अहिंसा, सत्य आदि के प्रतियोगी भावरूप जाति, देश आदि से अवच्छिन्न अहिंसा-सत्य आदि हैं । अतः जाति-देश आदि से अवच्छिन्न अहिंसा-सत्य आदि का स्वरूप दिखाते हुए भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—तत्रेति । तत्र—जात्यवच्छिन्न, देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न तथा समयावच्छिन्न रूप चार प्रकार को अहिंसा में जो, मत्स्यबंधकस्य—मत्स्यबन्धक (मछली पकड़नेवाला) की मत्स्येषु एव हिंसा न अन्यत्र—मत्स्य विषयक ही हिंसा है, अन्य विषयक नहीं वह, जात्यवच्छिन्ना अहिंसा—जात्यवच्छिन्ना अहिंसा कही जाती है । क्योंकि, उसका संकल्प है कि, मत्स्य को ही मारूंगा, अन्य को नहीं ।

सैवेति । सा एव—वही मत्स्यबन्धक की अहिंसा जब, तीर्थे न हनिष्यामि—"मैं मत्स्यों को भी तीर्थ में नहीं मारूगा", इति—इस प्रकार के संकल्पपूर्वक होती है अर्थात् तीर्थ अतिरिक्त अन्य देश में होती है तब, देशावच्छिन्ना—देशावच्छिन्न कही जाती है । क्योंकि, वह मत्स्यों को भी तीर्थरूप देश में नहीं मारता है ।

सैवेति । सा एव—वही मत्स्यबन्धक की जाति, देश मिलित अहिंसा जब, न चतुर्दश्यां न पुण्ये अहनि हनिष्यामि—मत्स्य को भी तीर्थ अतिरिक्त देश में भी न चतुर्दशी को और न किसी पुण्य दिन में मारूँगा इति- इस प्रकार के संकल्पपूर्वक होती है तब, कालावच्छिन्ना—कालावच्छिन्न कही जाती है । क्योंकि, वह मत्स्य को भी तीर्थ अतिरिक्त देश में भी चतुर्दशी तथा किसी पुण्य दिन में नहीं मारता है ।

सैवेति । सा एव—वही, त्रिभिः उपरतस्य—तीन प्रकार की हिंसा से रहित पुरुषकर्तृक अहिंसा जब, देवब्राह्मणार्थे हनिष्यामि अन्यथा न—देवता अथवा ब्राह्मण के लिए ही हिंसा करूंगा, अन्यथा नहीं करूंगा, इति—इस प्रकार के संकल्पपूर्वक होती है तब, समयावच्छिन्ना—समयावच्छिन्न कही जाती है । क्योंकि, वह यद्यपि देवता अथवा ब्राह्मण के लिये हिंसा होती है तथापि अन्य किसी प्रकार की हिंसा

यथा च क्षत्त्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति । एभिर्जातिदेश-कालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्यु-च्यन्ते ॥ ३१ ॥

नहीं होती है। इसी समयावच्छिन्न अहिंसा का दूसरा उदाहरण देते हैं—यथा चेति। यथा च—और जैसे, क्षत्त्रियाणाम्—क्षत्त्रियकर्तृक, युद्धे एव हिंसा—युद्ध में ही हिंसा होती है, अन्यत्र न—अन्य स्थल में नहीं, यह भी समयावच्छिन्न अहिंसा कही जाती है। क्योंकि, वे युद्ध के समय ही हिंसा करते हैं, अन्य समय नहीं।

पूर्वोक्त चार प्रकार की अहिंसा सावच्छिन्न है अर्थात् यत्किञ्चित् हिंसा रूप अव-च्छेद से युक्त है। क्योंकि, अमुक जाति, अमुक देश, अमुक समय में हिंसा होती है और जो किसी जाति की, किसी देश में, किसी काल में तथा किसी समय में भी हिंसा नहीं होती है वह अहिंसा अनवच्छिन्न कही जाती है और यही सार्वभौम महाव्रत शब्द से व्यवहृत है और यही-योगियों को उपादेय है। इस बात को भाष्यकार कहते हैं—एभिरिति। एभिः जातिदेशकालसमयैः—इन जाति, देश, काल तथा समय रूप, अनवच्छिन्नाः-अवच्छेद (विभाग) से रहित जो, अहिंसादयः—अहिंसादि (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह) हैं वे सर्वथा एव—सर्वथा ही अर्थात् सर्व जाति, सर्वदेश, सर्वकाल, तथा सर्व-प्रयोजन विशेष परित्यागपूर्वक, परि-पालनीयाः—परिपालन करने योग्य है अर्थात् योगियों को किसी प्रकार की हिंसा करना कर्तव्य नहीं।

अब सूत्र के तात्पर्य रूप अर्थ को स्पष्ट करते हैं—सर्वभूमिष्विति। सर्व-भूमिषु—सर्वभूमियों में, सर्वविषयेषु—सर्व विषयों में, सर्वथा एव-सर्व प्रकार से ही, अविदितव्यभिचाराः-व्यभिचार रहित जो अहिंसा आदि वे ही, सार्वभौमाः-सर्वभूमि में होनेवाले, महाव्रतम् इति उच्यन्ते—महाव्रत इस नाम से कहे जाते हैं। केवल अहिंसा ही नहीं किन्तु सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप यम भी जात्यादि अवच्छिन्न तथा तदनवच्छिन्न के भेद से दो दो प्रकार के हैं। जैसे-प्राण-त्राण से अन्यत्र मिथ्या भाषण न करना सावच्छिन्न और सर्वथा मिथ्याभाषण न करना अनव-च्छिन्न सत्य कहा जाता है। दुर्भिक्ष के बिना चोरी न करना सावच्छिन्न और दुर्भिक्ष में भी चोरी न करना अनवच्छिन्न अस्तेय कहा जाता है। ऋतुकाल से अन्य काल में स्त्रीग-मन न करना सावच्छिन्न और सर्वकाल में स्त्रीगमन न करना अनवच्छिन्न ब्रह्मचर्य कहा जाता है। और वृद्ध माता, पिता आदि के पालन करने के लिये ही प्रतिग्रह-ग्रहण

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। संतोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वं च जिघत्सापिपासे

करना सावच्छिन्न और कभी भी प्रतिग्रह ग्रहण न करना अनवच्छिन्न अपरिग्रह कहा जाता है। उनमें अनवच्छिन्न अहिंसादि जो महाव्रत हैं वे ही योगियों के उपादेय हैं, सावच्छिन्न नहीं; यह सिद्ध हुआ। इति ॥ ३१ ॥

सूत्रकार यमों का स्वरूप कथन करके संप्रति क्रमप्राप्त नियमों का स्वरूप कथन करते हैं—शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा इति। शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि–शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान के भेद से पांच प्रकार के नियम हैं।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं— तत्रेति। तत्र–बाह्य तथा आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार के शौचों में, मृज्जलादिजनितम्–मृत्तिका, जल तथा गोमय आदि जन्य, च–और, मेध्याभ्यवहरणादि–हित, मित तथा मेध्य (पवित्र) भोजन जन्य जो शौच होता है वह, बाह्यम्–बाह्य शौच कहा जाता है, अर्थात् मृत्तिका, जल तथा पञ्चगव्य आदि से शरीर का प्रक्षालन तथा हित (कटु, आम्लादि रहित सात्त्विक), मित (अर्द्धभाग), मेध्य भोजन से उदर का प्रक्षालन होता है। ये दोनों बाह्य शौच कहे जाते हैं। आभ्यन्तरमिति। चित्तमलानाम्–प्रथम पाद के ३३ वें सूत्र से प्रतिपादित मैत्र्यादि भावना द्वारा चित्त के मद, मान, असूया आदि मलों का, आक्षालनम्– प्रक्षालन करना, आभ्यन्तरम्–आभ्यन्तर शौच कहा जाता है।

इस प्रकार बाह्य, आभ्यन्तर द्विविध शौच का निरूपण करके संप्रति सन्तोष का निरूपण करते हैं—

सन्तोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सेति। संनिहितसाधनात्–निकट विद्यमान भोगसाधन पदार्थ से, अधिकस्य–अधिक एवं अनुपयुक्त अन्य पदार्थों की, अनुपादित्सा–उपादान (ग्रहण) करने की इच्छा का अभाव, सन्तोषः–संतोष कहा जाता है। अर्थात् प्रारब्धवश प्राप्त योग-उपयोगी पदार्थ से अधिक पदार्थ विषयक इच्छा रूप चित्तवृत्ति के अभाव को सन्तोष कहते हैं।

संप्रति तप का स्वरूप निर्देश करते हैं—तप इति। द्वन्द्वसहनम्–द्वन्द्व का सहन करना, तपः–तप कहा जाता है। च–और, द्वन्द्वम्–द्वन्द्व, जिघत्सापिपासे–क्षुधा-

शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च।

व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तापनादीनि।

पिपासा, शीतोष्णे-शीत उष्ण, स्थानासने-स्थान (खडा ही रहना), आसन (बैठा ही रहना), च-और, काष्ठमौनाकारमौने-काष्ठमौन (मौन रहना हो तो हस्तादि चेष्टा रूप संकेत द्वारा भी अपने अभिप्राय को प्रगट न करना), आकारमौन (वाणी मात्र का निरोध करना और संकेत से अपने अभिप्राय को प्रकाश करते रहना) कहा जाता है। च-और, एषाम्-उक्त इन द्वन्द्व धर्मों को सहन करने के लिये, यथायोगम्-यथायोग (जिससे शरीर पर खराब असर न पड़े), कृच्छ्रचान्द्रायण-सान्तापनादीनि-कृच्छ्र, चान्द्रायण तथा सान्तापन आदि, व्रतानि-व्रत हैं।

इन व्रतों का संक्षेप में स्पष्टीकरण इस प्रकार है--तीन दिन तक केवल प्रातःकाल में ही कुक्कुट-अण्ड परिमित छब्बीस ग्रास, तीन दिन तक केवल सायंकाल में ही उतना ही (कुक्कुट-अण्ड) परिमित बत्तीस ग्रास एवं तीन दिन तक विना याचना से प्राप्त उतना ही (कुक्कुट अण्ड) परिमित चौबीस ग्रास का आहार लेना और तीन दिन तक उपवास करना, इसको कृच्छ्र व्रत कहते हैं।

शुक्लपक्ष की प्रतिपद् से प्रारम्भ करे। जैसे जैसे चन्द्रमा की कला वृद्धि को प्राप्त होती जाय, वैसे वैसे मयूर-अण्ड परिमित एक एक ग्रास को बढ़ाते जाय अर्थात् प्रतिपद को एक ग्रास, द्वितीया को दो ग्रास, तृतीया को तीन ग्रास; इस प्रकार बढ़ाते बढ़ाते पूर्णिमा को पंद्रह ग्रास भोजन करे और कृष्णपक्ष की प्रतिपद् को उतना ही (मयूर-अण्ड) परिमित चौदह ग्रास, द्वितीया को तेरह ग्रास, तृतीया को बारह ग्रास; इस प्रकार एक एक ग्रास घटाते जाय। अमावस्या को उपवास करे इसको चान्द्रायण व्रत कहते हैं।

प्रथम दिवस आहारान्तर का परित्यागपूर्वक आठ मासा ताम्रवर्णा गो का मूत्र, सोलह मासा श्वेतवर्णा गो का गोमय (गोबर), बारह माषा काञ्चनवर्णा गो का दुग्ध, दश माषा नीलवर्णा गो का घृत; इन सबसे अर्द्ध परिमाण कुश और जल; सब मिला कर पान करे। द्वितीय दिन उपवास करे, इसको सान्तपन व्रत कहते हैं।

आदि पद से एकादशी व्रत आदि प्रसिद्ध व्रतों का ग्रहण है। दशमी को एक बार भोजन करे, सूर्य - अस्त के समय दन्तधावन करे, एकादशी को उपवास करे और द्वादशी को एक ही बार भोजन अर्थात् पारणा करे, इसको एकादशी व्रत कहते हैं। इन व्रतों से उक्त द्वन्द्व धर्म सहन करने की शक्ति बढ़ती है।

स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।

शय्याऽऽसनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥

यत्रेदमुक्तम्–ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च (यो. सू. १।२९) इति॥ ३२॥

स्वाध्याय का स्वरूप दिखाते हैं—स्वाध्यायेति। मोक्षशास्त्राणाम्–उपनिषद् तथा गीता आदि मोक्षप्रतिपादक आध्यात्मिक शास्त्रों का पठन-पाठन, वा–अथवा, प्रणवजपः—प्रणव अर्थात् ओंकार का जप करना, स्वाध्यायः—स्वाध्याय कहा जाता है।

इदानीं ईश्वरप्रणिधान का स्वरूप दिखाते हैं—ईश्वरेति। तस्मिन् परमगुरौ—उस परमगुरु परमात्मा में, सर्वकर्मार्पणम्–सर्व क्रियाओं को अर्पण करना, ईश्वरप्रणिधानम्-ईश्वर-प्रणिधान कहा जाता है। इसका विशेष विवरण "ईश्वर-प्रणिधानाद्वा" इस सूत्र पर हो चुका है। ईश्वरप्रणिधान का फल कथन करते हैं—शय्येति। जो योगी शय्याऽऽसनस्थः–शय्या तथा आसन पर स्थित हुआ, अथ एवं, पथि व्रजन्–मार्ग में चलता हुआ, वा–अथवा, स्वस्थः–एकान्त में स्वस्थ होता हुआ और, परिक्षीणवितर्कजालः-वक्ष्यमाण हिंसादि तथा संशयविपर्यय से रहित हुआ ईश्वर-प्रणिधान करता है वह, संसारबीजक्षयम् ईक्षमाणः–प्रतिदिन संसार के बीज अविद्यादि के क्षय का अनुभव करता हुआ, नित्यमुक्तः–नित्यमुक्त होता हुआ, अमृतभोगभागी स्यात्–जीवन्मुक्ति के विलक्षण नित्यसुख को अनुभव करता है। इस कथन में सूत्रकार की संमति प्रदर्शन करते हैं-यत्रेति। यत्र–इस विषय में सूत्रकार ने भी, इदम्–यह, उक्तम्–कहा है—"ततः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च" यो. सू. १-२९। इति। ततः–उस ईश्वरप्रणिधान से, प्रत्यक्चेतनाऽधिगमः–आत्मसाक्षात्कार, च–और, अन्तरायाऽभावः अपि–विघ्नों का अभाव भी होता है। अर्थात् ईश्वरप्रणिधान का आत्मसाक्षात्कार रूप फल जैसे उक्त श्लोक द्वारा भाष्यकार ने दिखाया है, वैसे ही उक्त सूत्र द्वारा सूत्रकार ने भी दिखाया है। अतः योगी को ईश्वरप्रणिधान अवश्य करना चाहिये, यह सिद्ध हुआ। इति॥ ३२॥

"श्रेयांसि बहुविघ्नानि" श्रेष्ठ कार्य बहुत विघ्नों से ग्रसित होते हैं, इस वचन के अनुसार कल्याण-साधक अहिंसादि यमनियम भी यदि किसी विघ्न से ग्रसित होने लगे तो प्रतिपक्षभावना (विघ्नविरोधी भावना) द्वारा उन (विघ्नों) की निवृत्ति करे।

एतेषां यमनियमानाम्—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन्हनिष्याम्यहमपकारिणमनृतमपि वक्ष्यामि द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति । एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान्भावयेत् । घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः ।

इस प्रकार के उपदेशक सूत्र की अवतरणिका रूप कुछ अंश को भाष्यकार सूत्र के साथ संयोजित करते हैं—एतेषां यमनियमानाम्--वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनमिति । एतेषां यमनियमानाम्-इन पूर्वोक्त यमनियमों का, वितर्कबाधने-अहिंसा आदि के विरोधी तर्क रूप हिंसा तथा मिथ्याभाषणादि से बाध प्राप्त होने पर, प्रतिपक्षभावनम्-हिंसा आदि में दोषदृष्टि रूप हिंसा आदि के विरोधी विचार का अवलम्बन करे ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—यदेति । यदा-जब, अस्य ब्राह्मणस्य-इस ब्राह्मण (ब्राह्मण से उपलक्षित ब्रह्मजिज्ञासु योगी) के चित्त में, हिंसादयो वितर्का जायेरन्-हिंसा तथा मिथ्याभाषण आदि वितर्क रूप व्यवसाय इस प्रकार का उत्पन्न होवे कि— अपकारिणम् अहम् हनिष्यामि-इस अपकारी (वैरी) का मैं अवश्य हनन करूंगा, इसको हानि पहुँचाने के लिये, अनृतम् अपि वक्ष्यामि-मिथ्याभाषण भी करूंगा, अस्य द्रव्यम् अपि स्वीकरिष्यामि—इसका द्रव्य भी स्वीकार (अपहरण) करूंगा, च-और, अस्य दारेषु व्यवायी भविष्यामि-इसकी स्त्री का व्यवायी भी होऊँगा अर्थात् इसकी स्त्री के साथ पशुधर्म का आचरण भी करूंगा, एवञ्च, अस्य परिग्रहेषु स्वामी भविष्यामि-इसके परिगृहीत धन का स्वामी भी होऊंगा, इति—इत्यादि । तब, एवमिति । एवम्-इस प्रकार के, अतिदीप्तेन-अतिप्रदीप्त, उन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेण—कुमार्ग की तरफ प्रवहनशील वितर्क रूप ज्वर से, बाध्यमानः—बाध्यमान होता हुआ हिंसादि में प्रवृत्त न होकर, तत्प्रतिपक्षान् भावयेत्-उसकी प्रतिपक्षभावना अर्थात् निम्नलिखित विरोधी विचार करे ।

उसी प्रतिपक्षभावना को दिखाते हैं-घोरेष्विति । घोरेषु संसाराङ्गारेषु-इस घोर संसार रूप अङ्गार में, पच्यमानेन मया-निरन्तर पच्यमान (दह्यमान) मैंने,

स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान्पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत् । यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति । एवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् ॥ ३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

सर्वभूताभयप्रदानेन—सर्व प्राणियों को अभय प्रदान के लिये किसी प्रकार, योगधर्मः शरणं उपागतः—अहिंसा, सत्य आदि रूप योगधर्म के शरण का लाभ किया है । सः खलु अहम्—वही मैं, तत् त्यक्त्वा—उस योगधर्म अहिंसादि को त्याग कर पुनः तान् वितर्कान् आददानः-फिर उन योगविरोधी हिंसादि रूप वितर्कों को ग्रहण करता हुआ, श्ववृत्तेन तुल्यः-श्वान के आचरण के समान आचरण करने वाला हो जाऊंगा, इति भावयेत्-इस प्रकार की भावना करे । क्योंकि—यथेति । यथा-जैसे, श्वा-कुक्कुर, वान्तावलेही-वमन किये हुए पदार्थ को चाटने वाला होता है, तथा-वैसे ही पुरुष भी, त्यक्तस्य पुनः आददानः-त्याग किये हुए हिंसादि पदार्थ को फिर ग्रहण करता हुआ श्वान समान होता है । इति-यह बात लोक में प्रसिद्ध है ।

प्रकृत सूत्र से प्रतिपादित विपक्षभावना का अन्यत्र भी अतिदेश कहते हैं—एवमादीति । एवम् आदि–'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्" इत्यादि, सूत्रान्तरेषु अपि–अग्रिम आसन, प्राणायाम आदि नियम प्रतिपादक अन्य सूत्रों में भी, योज्यम्-योजना कर लेनी चाहिये । जैसे-यदि मैं आसनादि त्याग कर उक्त वितर्कों को ग्रहण करूंगा तो आरूढ-पतित कहाऊंगा, इत्यादि । इति ॥ ३३ ॥

संप्रति पूर्वोक्त प्रतिपक्षभावना में हेतु कथन करते हुए तथा वितर्कों के स्वरूप-प्रकार, कारण धर्म तथा फल-भेद कथन करते हुए सूत्रकार प्रतिपक्षभावना का स्वरूप कथन करते हैं—वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनमिति । हिंसादयः-हिंसा, अनृत, स्तेय, स्त्रीगमन तथा परिग्रह रूप जो, वितर्काः-क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के विरोधी हैं वे, दुःखाज्ञानानन्तफलाः—दुःख तथा अज्ञान रूप अनन्त फल के ही देनेवाले हैं और सुख तथा ज्ञान रूप फल के देनेवाले नहीं हैं, इति प्रतिपक्षभावनम्—इस प्रकार के विचार का नाम प्रतिपक्षभावना है । ये उक्त हिंसादि अपने किये हुए ही दुःखरूप फल देते हैं, ऐसा नहीं किन्तु—कृतका-

तत्र हिंसा तावत्—कृताकारिताऽनुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेन, क्रोधेनापकृतमनेनेति, मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति।

लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं

कारितानुमोदिताः-कृत-स्वयं किये हुए, कारित—प्रेरणा द्वारा अन्य से कराये हुए तथा, अनुमोदित—"हाँ, तुमने इसको मारने का जो विचार किया है वह अच्छा है" इस प्रकार की अनुमति द्वारा अनुमोदन किये हुए भी दुःखफलक हैं। वे यथोक्त हिंसादि, लोभक्रोधमोहपूर्वकाः—कहीं लोभपूर्वक अर्थात् मांस, चर्म तथा शृङ्गादि विषयक लोभ-जन्य, कहीं क्रोधपूर्वक अर्थात् "मेरा इसने बहुत अपकार किया, अतः मैं भी इसका अपकार अवश्य करूंगा" इस प्रकार का विचार-जन्य क्रोध और कहीं मोह-पूर्वक अर्थात् "बलिदान देने से धर्म होगा" इस प्रकार अधर्म में धर्मबुद्धि रूप मोह (अविद्या) से जन्य होते हैं। और वे लोभ, क्रोध तथा मोह भी, मृदुमध्याधि-मात्राः—मृदु, मध्य तथा अधिमात्र के भेद से तीन तीन प्रकार के हैं। इस प्रकार सूत्र-रीति से सत्ताइस प्रकार की हिंसा है और भाष्य-रीति से असंख्य हिंसा है। सूत्र में "हिंसादयः" इस पद से वितर्कों का स्वरूप कथन, "कृतकारितानुमोदिताः" इस पद से प्रकार कथन, "लोभक्रोधमोहपूर्वकाः" इस पद से कारण कथन, "मृदुमध्याधि-मात्राः" इस पद से धर्म कथन तथा "दुःखाज्ञानानन्तफलाः" इस पद से फल कथन किया गया है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं–तत्रेति। तत्र–हिंसा, असत्य, स्तेय, स्त्रीगमन तथा परिग्रहों में, तावत्–प्रथम जो, हिंसा–हिंसा है वह, कृतकारितानुमोदिताः इति त्रिधा–कृत, कारित तथा अनुमोदित के भेद से तीन प्रकार की है। एकैकेति। एका एका पुनः त्रिधा–कृत, कारित तथा अनुमोदित रूप तीन प्रकार की हिंसाओं में फिर प्रत्येक तीन तीन प्रकार की हैं। मांसचर्मार्थेन लोभेन–मांस तथा चर्म के लिये लोभज-न्य, अपकृतम् अनेन इति क्रोधेन–इसने मेरा अपकार किया है अतः मैं भी इसका अवश्य अपकार करूंगा, इस प्रकार के क्रोधजन्य, धर्मो मे भविष्यति इति मोहेन–बलि-दान देनेसे धर्म होगा, इस प्रकार के मोहजन्य। इस प्रकार कृत हिंसा-लोभ, क्रोध, मोह-जन्य, कारित हिंसा-लोभ, क्रोध, मोहजन्य और अनुमोदित हिंसा भी लोभ-क्रोध-मोह-जन्य होने से नव प्रकार की हिंसा सिद्ध हुई। लोभेति। लोभक्रोधमोहाः–लोभजन्य, क्रोधजन्य तथा मोहजन्य जो नव प्रकार की हिंसा हैं वे, मृदुमध्याधिमात्राः—मृदु, मध्य तथा अधिमात्र के भेद से, पुनः त्रिविधाः—और भी तीन-तीन प्रकार की है। एवमिति। एवम्—इस प्रकार, हिंसायाः—हिंसाओं के, सप्तविंशतिः भेदाः—

सप्तविंशतिभेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिविधाः—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया। प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति।

एवमनृतादिष्वपि योज्यम्। ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। दुःखमज्ञानं चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्ष-

---

सत्ताईस भेद, भवन्ति—होते हैं। मृदुमध्येति। मृदुमध्याधिमात्राः—मृदु, मध्य तथा अधिमात्र रूप सत्ताईस प्रकार की जो हिंसायें हैं वे, पुनः त्रिविधाः—और भी मृदु, मध्य तथा तीव्र के भेद से तीन तीन प्रकार की हैं। जैसे—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। मृदुमृदु, मध्यमृदु तथा तीव्रमृदु; मृदुमध्य, मध्यमध्य तथा तीव्रमध्य; एवं मृदुतीव्र, मध्यतीव्र तथा अधिमात्र तीव्र। एवमिति। एवम्—इस प्रकार, एकाशीतिभेदाः—एकाशी भेदवाली, हिंसा—हिंसा, भवति—है।

सेति। पुनः सा—और भी वह हिंसा, प्राणभृद्भेदस्य—प्राणियों के भेद, असंख्येयत्वात्—असंख्येय होने से, नियमविकल्पसमुच्चयभेदात्—नियम, विकल्प और समुच्चय के भेद से, असंख्येया—असंख्येय है। "मत्स्य की ही हिंसा करूंगा, अन्य की नहीं" यह नियम, "दो में से एक की ही किसीकी हिंसा करूंगा" यह विकल्प और "सर्व प्राणियों की हिंसा करूंगा" यह समुच्चय समझना चाहिये।

हिंसा के भेद का अनृत आदि में भी अतिदेश करते हैं—एवमिति। एवम्—इसी प्रकार, अनृतादिषु अपि—अनृतादि में भी, अर्थात् अनृत, स्तेय, व्यभिचार तथा परिग्रह आदि में भी, योज्यम्—योजना कर लेनी चाहिये, अर्थात् जैसे हिंसा असंख्येय है, वैसे ही अनृतादि भी असंख्येय हैं। ते खल्विति। ते खलु अमी वितर्काः—वे ही ये वितर्क, दुःखाज्ञानानन्तफलाः—दुःख तथा अज्ञान रूप अनन्त (असंख्य) फल के देनेवाले हैं, इति—इस प्रकार के विचार का नाम, प्रतिपक्षभावनम्—प्रतिपक्षभावना है। प्रतिपक्षभावना करने में हेतु बताते हैं—दुःखमिति। दुःखम्—दुःख, च—और अज्ञानम्—अज्ञान रूप, अनन्तम्—असंख्य, फलम्—फल हैं, येषाम्—जिन वितर्कों का, इति—इस प्रकार के विचार का नाम, प्रतिपक्षभावनम्—प्रतिपक्षभावना है। अर्थात् हिंसा आदि वितर्क, दुःख तथा अज्ञान रूप असंख्य फल के हेतु होने से निम्नलिखित विचार द्वारा हिंसा आदि विप-

भावनम्। तथा च हिंसकस्तावत्प्रथमं वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति। ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति। ततो जीवितादपि मोचयति।

ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति। दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति। जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्त्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वान् कथंचिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथंचित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति।

यक विचार को दूर करना चाहिये। उसी विचार के आकार को दिखाते हैं—तथा चेति। तथा च तथाहि—प्रतिपक्षभावना का आकार इस प्रकार का है कि, हिंसकः तावत् प्रथमम्—हिंसक पुरुष सबसे प्रथम, वध्यस्य–वध्य पशु के, वीर्यम्—यज्ञस्तम्भ आदि में बांध कर सामर्थ्य को, आक्षिपति–नाश करता है। ततश्चेति। ततश्च–उसके पश्चात्, शस्त्रादिनिपातेन—खड्ग आदि शस्त्र-निपात द्वारा उस पशु को, दुःखयति–दुःख प्रदान करता है। तत इति। ततः—उसके अनन्तर उस पशु को, जीवितात् अपि–जीवन से भी, मोचयति–विमोचित कर देता है अर्थात् प्राण हरण कर लेता है। तत इति। ततः वीर्याक्षेपात्–पशु के वीर्य का नाश करने से, अस्य–इस हनन करनेवाले पुरुष के, चेतनाचेतनम् उपकरणम्–स्त्री, पुत्रादि चेतन तथा गृहक्षेत्रादि अचेतन रूप सुख के साधन, क्षीणवीर्यं भवति–क्षीणवीर्यवाले हो जाते हैं। अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जो किसी को दुःख देता है उसके स्त्री, धन, पुत्रादि नष्ट हो जाते हैं। दुःखेति। दुःखोत्पादात्–शस्त्रादि निपात द्वारा पशु को दुःख देने से स्वयं भी पुरुष, नरकतिर्यक्प्रेतादिषु–नरक, तिर्यक् तथा प्रेत आदि योनियों में, दुःखम् अनुभवति—दुःख का अनुभव करता है। जीवितेति। जीवितव्यपरोपणात्—पशु के जीवन-मोचन करने से अर्थात् प्राण हरण करने से पुरुष भी, प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्त्तमानः–क्षण क्षण दुःसाध्य रोग से पीड़ित होता हुआ मरण अवस्था को प्राप्त हुआ, मरणम् इच्छन् अपि—मरण की इच्छा करता है तो भी, दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्—दुःख रूप फल अवश्य भोगने योग्य होने से, कथञ्चित् एव उच्छ्वसिति—किसी प्रकार से ऊर्ध्व श्वास लेता हुआ जीवन धारण करता है। यदि चेति। च–और, यदि कथञ्चित्—जो कभी, पुण्यावापगता हिंसा भवेत्—अङ्गीभूत प्रधान पुण्य के अनुष्ठान से हिंसाजन्य पाप थोड़ा निवृत्त हो जाय तो, तत्र सुखप्राप्तौ–उस पुण्य के फलभूत स्वर्गादि प्राप्त होने पर, अल्पायुः भवेत्–अल्पायु तथा दुःखी होता है। अर्थात् उस पाप के कारण पूरा सुख भोगने नहीं

एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासंभवम् । एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत ॥ ३४ ॥

प्रतिपक्षभावनाहेतोर्हेया वितर्का यदाऽस्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति । तद्यथा—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥३५॥

सर्वप्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

पाता है । एवमिति । एवम्–इसी प्रकार, अनृतादिषु अपि–मिथ्याभाषण आदि में भी, यथासंभवम्–यथायोग्य दुःखफलकत्व की, योज्यम्–योजना कर लेनी चाहिये । अर्थात् जैसे हिंसा-जन्य पाप से उक्त प्रकार का महादुःख होता है, वैसे ही मिथ्याभाषण, चोरी, व्यभिचार तथा परिग्रह-जन्य पाप से भी महादुःख होता है । उपसंहार करते हैं—एवमिति । एवम्–इस प्रकार, वितर्काणाम्–हिंसादि वितर्कों के, अमुम् एव अनुगतम् अनिष्टम् विपाकम् भावयन्—यही अनुगत अनिष्ट फल की भावना करता हुआ पुरुष पुनः, वितर्केषु–वितर्कों में, मनः न प्रणिदधीत–अपने मन को न लगावे किन्तु यथोक्त प्रतिपक्ष भावना द्वारा इनका परित्याग करता रहे, यह सिद्ध हुआ । इति ॥ ३४ ॥

भाष्यकार अग्रिम सूत्र का अवतरण करते हैं—प्रतिपक्षेति । यदा–जब, अस्य–इस योगी के, प्रतिपक्षभावनाहेतोः—प्रतिपक्षभावना रूप हेतु से, हेयाः वितर्काः—हेय रूप उक्त हिंसादि वितर्क, अप्रसवधर्माणः स्युः–अप्रसवधर्मी अर्थात् दग्ध-बीज के तुल्य हो जाते हैं, तदा–तब, योगिनः तत्कृतम् ऐश्वर्यम्–योगियों को जो यमादि कृत ऐश्वर्य प्राप्त होता है वह, सिद्धिसूचकम्–यमादि की सिद्धि का सूचक, भवति–होता है । तद्यथा-और वह जैसे—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग इति । अहिंसाप्रतिष्ठायाम्–योगियों की अहिंसा-विषयक स्थिति होने पर, तत्सन्निधौ–उस योगी के निकट आने पर नैसर्गिक विरोधी प्राणियों का भी, वैरत्यागः–परस्पर का वैर अर्थात् विरोध निवृत्त हो जाता है । अर्थात् जिस योगी की पूर्वोक्त जात्यादि अनवच्छिन्न अहिंसा में निष्ठा हो जाती है उसके समीप में आये हुए स्वाभाविक विरोधशील अश्व-महिष, मूषक, मार्जार, सर्प तथा नकुल आदि प्राणी भी मित्रभाव को प्राप्त हो जाते हैं ।

इसी बात को भाष्यकार निम्न लिखित पदों को सूत्र के अन्त में सम्मिलित करते हुए स्पष्ट करते हैं—सर्वेति । सर्वप्राणिनाम्–पूर्वोक्त अश्व, महिष आदि सर्व प्राणियों

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः। स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति। अमोघास्य वाग्भवति ॥ ३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

का वैरत्याग, भवति-हो जाता है। भाव यह है कि, जब अपने पास में आये हुए स्वाभाविक विरोधी प्राणी भी अपना परस्पर का वैरभाव त्याग करें तब योगी को यह जानना चाहिये कि, अब मैं अहिंसानिष्ठ हो गया हूँ। इति ॥ ३५ ॥

संप्रति सूत्रकार "वाक्सिद्धि सत्यभाषणनिष्ठा का सूचक है" इस बात को कहते हैं—सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वमिति। सत्यप्रतिष्ठायाम्-सत्य-विषयक प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर, क्रियाफलाश्रयत्वम्-शुभाशुभ क्रिया-जन्य धर्माधर्म तथा उसका फल स्वर्ग-नरकादि का आश्रय योगी हो जाता है। अर्थात् आशीर्वाद द्वारा पापी पुरुष को धार्मिक तथा स्वर्गादि फल प्राप्त कराने में समर्थ हो जाता है।

इसी अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—धार्मिक इति। सत्य-भाषणनिष्ठ योगी यदि किसी पापी पुरुष को कहे कि-"धार्मिकः भूयाः" तू धार्मिक हो जा तब, इति-इस प्रकार कहने पर, वह, धार्मिकः भवति-धार्मिक हो जाता है और यदि किसीको यह कहे कि "स्वर्गं प्राप्नुहीति" स्वर्ग प्राप्त करो तो वह, स्वर्गं प्राप्नोति-स्वर्ग को प्राप्त हो जाता है। अधिक कहां तक कहा जाय, अस्य वाक्-इस योगी की वाणी, अमोघा भवति-सफल होती है। भाव यह है कि, जिस योगी का दिया हुआ शाप तथा आशीर्वाद सफल हो वह (योगी) सत्यनिष्ठ है, ऐसा जानना चाहिये। यद्यपि सत्यभाषणनिष्ठ योगी का जैसे आशीर्वाद सफल होता है वैसे ही शाप भी सफल होता है तथापि वह (सत्यनिष्ठ योगी) किसीको जल्दी शाप नहीं देता है; क्योंकि, जैसे वह सत्यभाषणनिष्ठ है वैसे ही अहिंसानिष्ठ भी है और शाप से पूर्वोक्त दुःखप्रद हिंसा होती है। इति ॥ ३६ ॥

संप्रति सूत्रकार "रत्न-प्राप्ति अस्तेयप्रतिष्ठा का सूचक है" इस बात को कहते हैं—अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानमिति। अस्तेयप्रतिष्ठायाम्-अस्तेय-विषयक प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर, सर्वरत्नोपस्थानम्-सर्व प्रकार के रत्नों की उपस्थिति होती है। अर्थात् अस्तेयनिष्ठ योगी के पास सब देश, देशान्तरों से हीरा, मोती आदि अमूल्य रत्न प्राप्त होते हैं।

सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

यस्य लाभादप्रतिघान्गुणानुत्कर्षयति । सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ ३९ ॥

इसी अर्थ को भाष्यकार संक्षेप से स्फुट करते हैं–सर्वेति । अस्य–इस अस्तेयनिष्ठ योगी के समीप में, सर्वदिक्स्थानि रत्नानि–सर्व दिशाओं में स्थित अर्थात् सर्व दिशा - विदिशाओं में उत्पन्न हीरक तथा मुक्ताफल आदि अमूल्य रत्न, उपतिष्ठन्ते–उपस्थित होते हैं । भाव यह है कि, जब सर्व तरफ से योगी के पास अमूल्य द्रव्य विशेष प्रमाण में प्राप्त होने लगे तब जानना चाहिये कि, ये योगी पूर्ण रूप से अस्तेयनिष्ठ हो चुके हैं । इति ॥ ३७ ॥

संप्रति सूत्रकार ब्रह्मचर्य - प्रतिष्ठा का लक्षण बताते हैं—ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभ इति । ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्–ब्रह्मचर्यविषयक प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर, वीर्यलाभः-सर्व प्रकार की शक्तिविशेष का लाभ प्राप्त होता है । अर्थात् जो योगी पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन कर देता है, उसको इस प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है कि, जिसके प्रभाव से अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करके स्वयं सिद्ध होता हुआ अपने शिष्यों को भी समाधिनिष्ट तथा ज्ञानी बना सकता है ।

इसी बात को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—यस्येति । यस्य लाभात्–जिस ब्रह्मचर्यनिष्ठा के लाभ से, अप्रतिघान् गुणान्–प्रतिघात रहित (अप्रतिहत) ज्ञानादि गुणों को, उत्कर्षयति–बढ़ाता है, च–और, सिद्धः-स्वयं सिद्ध होता हुआ, विनेयेषु–विनय आदि गुण युक्त शिष्यों में भी, ज्ञानम् आधातुम्–ज्ञान धारण करने के लिये, समर्थो भवति–समर्थ होता है । भाव यह है कि जब योगी में अणिमादि ऐश्वर्य तथा शिष्यों को ज्ञान-उपदेश करने का सामर्थ्य देखने में आवे तब जानना चाहिये कि, इस योगी को ब्रह्मचर्यनिष्ठा प्राप्त हुई है । इस भाष्य से यह सिद्ध हुआ कि, जो ब्रह्मचर्यनिष्ठावाला पुरुष नहीं है वह उपदेश करने में समर्थ नही । अर्थात् उपदेश से मोक्ष–उपयोगी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है । इति ॥ ३८ ॥

संप्रति सूत्रकार अपरिग्रहनिष्ठा का लक्षण निर्देश करते हैं—अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः । अस्य भवतीति । "अस्य भवति" इतना अंश भाष्यकार ने सूत्र के अन्त में जोड़ा है । अपरिग्रहस्थैर्ये–अपरिग्रह विषयक स्थिरता (निष्ठा) प्राप्त होने

अस्य भवति। कोऽहमासं कथमहमासं किंस्विदिदं कथंस्विदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते। एता यमस्थैर्ये सिद्धयः ॥३९॥

नियमेषु वक्ष्यामः—

पर, जन्मकथन्तासंबोधः-भूत, वर्त्तमान, भावि जन्म तथा कथन्ता अर्थात् किम्-प्रकारता का जिज्ञासामात्र से स्वरूपतः तथा प्रकारतः, संबोधः-साक्षात्कार, अस्य भवति-इस अपरिग्रहनिष्ठ योगी को होता है। अर्थात् स्वरूप-विषयक जिज्ञासा होने पर स्वरूप-विषयक और प्रकार-विषयक जिज्ञासा होने पर प्रकार-विषयक साक्षात्कार होता है।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—क इति। अहम् कः आसम्-मैं कौन था, अर्थात् इससे अव्यवहित पूर्व जन्म में कौन था? यह भूतकालिक स्वरूप-विषयक जिज्ञासा है, अहम् कथम् आसम्-मैं किस प्रकार से स्थित था? यह भूतकालिक प्रकार-विषयक जिज्ञासा है, इदम् किंस्वित्-यह शरीर क्या है, अर्थात् यह वर्त्तमानकालिक शरीर भूतों का कार्य है, या भूतों का समूह है, या भूतों से अन्य है? यह वर्त्तमानकालिक शरीर की स्वरूप-जिज्ञासा विषयक है, इदम् कथंस्वित्-यह शरीर किस प्रकार से स्थित है? यह वर्त्तमानकालिक शरीर की प्रकार विषयक - जिज्ञासा है, एवं के वा भविष्यामः-अथवा भावि अनन्त जन्मों में हम कौन होंगे? यह भविष्यत्-कालिक स्वरूपविषयक जिज्ञासा है, कथं वा भविष्यामः-किस प्रकार से स्थित होंगे? यह भविष्यत्कालिक प्रकार-विषयक जिज्ञासा है, इति एवम्- इस प्रकार की, अस्य-इस अपरिग्रहनिष्ठ योग को, पूर्वान्तपरान्तमध्येषु-भूतभविष्यद्-वर्त्तमान-विषयक, आत्मभावजिज्ञासा-आत्मा के शरीरादि-संबन्ध-विषयक जिज्ञासा उत्पन्न मात्र से अन्य साधन की अपेक्षा विना, स्वरूपेण-स्वभाव से ही स्वरूप-विषयक साक्षात्कार रूप ज्ञान, उपावर्त्तते-उदय हो जाता है।

यमनिष्ठा-प्रयुक्त सिद्धि निरूपण का उपसंहार करते हैं-एता इति। एताः सिद्धयः-ये पूर्वोक्त पांच प्रकार की सिद्धियां, यमस्थैर्ये-यम विषयक स्थिरता प्राप्त होने पर प्राप्त होती हैं। इति ॥ ३९ ॥

यम-निष्ठावाले योगियों को जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनका स्वरूप - निरूपण के उपरान्त अब नियम - निष्ठावाले योगियों को जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनके स्वरूप-निरूपण की प्रतिज्ञा भाष्यकार करते हैं—नियमेष्विति। नियमेषु-नियमनिष्ठ योगियों को जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनका क्रम अब, वक्ष्यामः-कहेंगे—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति । किञ्च परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन्कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ ४० ॥

कश्च—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्ग इति । शौचात्–पूर्णतया शौच के अनुष्ठान से, स्वाङ्गजुगुप्सा–अपने शरीर के अंगों में ग्लानि उत्पन्न होती है तथा, परैः असंसर्गः–अन्य पुरुष के संसर्ग का अभाव हो जाता है । अर्थात् मलिन अथवा शुद्ध किसी भी व्यक्ति को स्पर्श करने का भी मन नहीं होता है ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं— स्वाङ्ग इति । स्वाङ्गे जुगुप्सायाम्–अपने शरीर के अंगों में ग्लानि उत्पन्न होने पर, शौचम् आरभमाणः–शौच का आरम्भ करने पर भी, कायावद्यदर्शी–काय-दोषदर्शी अर्थात् शरीर को शुद्ध न जानता हुआ, कायानभिष्वङ्गी–शरीर विषयक अध्यास रहित, यतिः–संन्यासी, भवति–हो जाता है । किञ्च–केवल इतना ही नहीं किन्तु, परैः असंसर्गः–अन्य के संसर्ग से रहित हो जाता है । इसमें हेतु देते हैं–कायेति । मृज्जलादिभिः आक्षालयन् अपि–मृत्तिका तथा जलादि से प्रक्षालन करने पर भी, कायशुद्धिम् अपश्यन्–शरीर को शुद्ध न जान कर, कायस्वभावावलोकी–शरीर के स्वभाव को जानता हुआ जो पुरुष, स्वम् कायम् अपि जिहासुः–अपने शरीर को भी त्याग करने की इच्छा करता है वह, अत्यन्तम् एवमप्रयतैः परकायैः–अत्यन्त अपवित्र अन्य के शरीरों से, कथम्–कैसे, संसृज्येत–संसर्ग करेगा ? अर्थात् कदापि नहीं करेगा । यह हुआ बाह्य शौचनिष्ठा का फल । अर्थात् जब पूर्वोक्त सिद्धि देखी जाय तब जानना चाहिये कि, इस योगी को बाह्य शौचनिष्ठा प्राप्त हुई है । इति ॥ ४० ॥

इस प्रकार बाह्य - शौच की सिद्धि-सूचक फल का निरूपण करके संप्रति आन्तर-शौच की सिद्धिसूचक फल का निरूपण करते हैं— किञ्च–सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च, भवन्तीति वाक्यशेष इति । किञ्च–केवल इतना ही नहीं किन्तु शौचनिष्ठा का और भी फल है । जैसे—सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य ऐकाग्र्य, इन्द्रिय-जय तथा आत्मदर्शनयोग्यता रूप; ये पांच फल होते हैं ।

भवन्तीति वाक्यशेषः। शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं तत ऐकाग्र्यं तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥ ४१ ॥

संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

तथा चोक्तम्—

भाष्यकार फलक्रम का निर्देश करते हैं—शुचेरिति। शुचेः-पूर्वोक्त मैत्री आदि भावना से रागादि निवृत्ति द्वारा, सत्त्वशुद्धिः-चित्तसत्त्व में शुद्धि अर्थात् निर्मलता प्राप्त होती है। तत इति। ततः-सत्त्वशुद्धि प्राप्त होने से, सौमनस्यम्-स्फटिक समान स्वच्छता प्राप्त होती है। तत इति। ततः-सौमनस्य प्राप्त होने से, ऐकाग्र्यम्-एकाग्रता प्राप्त होती है। तत इति। ततः- एकाग्रता प्राप्त होने से, इन्द्रियजयः-इन्द्रियवश्यता प्राप्त होती है। ततश्चेति। च-और, ततः-इन्द्रियजय प्राप्त होने से, आत्मदर्शनयोग्यत्वम्-आत्मसाक्षात्कार की योग्यता, बुद्धिसत्त्वस्य-चित्तसत्त्व में, भवति-प्राप्त होती है। इतीति। इति एतत्-इस प्रकार का फल, शौचस्थैर्यात्-शौचनिष्ठा से प्राप्त होता है, इति अधिगम्यते-यह प्रतीत होता है। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार शौचनिष्ठा का परिचायक है। अतः आत्मसाक्षात्कार इच्छुक पुरुष को सदा बाह्य तथा आन्तर शौच संपादन करते रहना चाहिये, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ ४१ ॥

सूत्रकार सन्तोष निष्ठा सूचक सिद्धि का उल्लेख करते हैं—सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभ इति। सन्तोषात्-सन्तोषनिष्ठा प्राप्त होने पर, अनुत्तमः-जिससे अन्य कोई उत्तम न हो ऐसा, सुखलाभः-सुख का लाभ होता है। यही बात राजा ययाति ने अपने पुत्र पुरु के प्रति यौवन-अर्पण करते समय कही है—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।
तां तृष्णां सन्त्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते ॥
म० भा० आदि प० ८५-१४

या दुर्मतिभिः दुस्त्यजा—जो दुष्ट बुद्धिवाले पुरुषों के द्वारा दुस्त्यज अर्थात् त्याग करना कठिन है और, या जीर्यताम् न जीर्यति—जो शरीर के जीर्ण होने पर भी आप जीर्ण नहीं होती है, ताम् तृष्णाम् संत्यजन् प्राज्ञः—उस तृष्णा का त्याग करता हुआ विद्वान्, सुखेन एव अभिपूर्यते-सुख से ही परिपूर्ण हो जाता है।

इसी बात को भाष्यकार दिखाते हैं—तथेति। तथा च—जैसा सूत्रकार ने कहा है, वैसा ही स्मृति में भी, उक्तम्-कहा है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ इति ॥ ४२ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम्। तदावरणमलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या। तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥ ४३ ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्। इति ॥ ४२ ॥

मनु० अ० २

लोके-इस लोक में, यच्च-जो, कामसुखम्-कामयमान स्रक् - चन्दन - वनितादि पदार्थ जन्य सुख है, च-और स्वर्ग में यत्-जो अमृतपान तथा अप्सरासंभोग जन्य, दिव्यम् महत् सुखम्-दिव्य महत् सुख है, एते-ये दोनों प्रकार के सुख मिलकर भी, तृष्णाक्षयसुखस्य-तृष्णाक्षयसुख की अर्थात् सन्तोष सुख की, षोडशीं कलाम्-षोडशी (सोलहवीं) कला के, न अर्हतः-योग्य भी नहीं हो सकते हैं। अर्थात् रुपये में एक आना भर भी नहीं हो सकते हैं। भाव यह हैं कि, अनुत्तम सुख के लाभ होने पर जानना चाहिये कि, सन्तोषनिष्ठा पूर्णतया प्राप्त हुई है। इति ॥ ४२ ॥

सूत्रकार तपोनिष्ठासूचक सिद्धि का उल्लेख करते हैं—कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस इति। तपसः-तप का अनुष्ठान करते करते तपोनिष्ठा प्राप्त होने पर, अशुद्धिक्षयात्-तमोगुण-प्रयुक्त अशुद्धि-नामक आवरण रूप मल के क्षय होने से, कायेन्द्रियसिद्धिः-शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—निर्वर्त्यमानमिति। निर्वर्त्यमानम् तपः एव-निर्वर्त्यमान अर्थात् अनुष्ठीयमान तप ही, अशुद्ध्यावरणमलम्-तमोगुण-प्रयुक्त अशुद्धि नामक आवरण रूप मल को, हिनस्ति-नाश करता है। तदिति। तत् आवरणमलापगमात्-उस आवरण रूप मल के दूर होने से, अणिमाद्या-अणिमा, लघिमा आदि, कायसिद्धिः-शरीर संबन्धी सिद्धियां, तथा-और, दूराच्छ्रवणदर्शनाद्या-दूर से श्रवण, दर्शन आदि, इन्द्रियसिद्धिः-इन्द्रिय संबन्धी सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इस प्रकार कायेन्द्रियसिद्धि तपः-स्थिरता का सूचक है, यह सिद्ध हुआ। भाव यह है कि, अशुद्धि नाम अधर्म का है, जो तामस-गुण कहा जाता है और वही अणिमादि शक्ति का आवरक है। जब पूर्णतया तप के अनुष्ठान से उक्त अशुद्धि का

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये-चास्य वर्तन्त इति ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥ ४५ ॥

क्षय होता है तब अणिमादि शक्तियां स्वतः प्रादुर्भूत हो जाती हैं। अणिमादि सिद्धियां विभूतिपाद में कही जायंगी। इति ॥ ४३ ॥

सूत्रकार संप्रति स्वाध्यायसिद्धि का जो सूचक है, उसको कहते हैं—स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग इति। स्वाध्यायात्-स्वाध्यायनिष्ठा प्राप्त होने से अर्थात् वेदादि शास्त्र का तथा प्रणव आदि भगवान् के पवित्र नामों के जप रूप स्वाध्यायशील होने से, इंष्टदेवतासंप्रयोगः-अपने अभिमत देवता का साक्षात्कार (दर्शन) होता है।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—देवा इति। देवा ऋषयः सिद्धाश्च-जिन देवता, ऋषि तथा सिद्धों का योगी दर्शन करना चाहे वे देव, ऋषि तथा सिद्ध पुरुष, स्वाध्यायशीलस्य-स्वाध्यायशील योगी को, दर्शनं गच्छन्ति-प्रत्यक्षीभूत होते हैं अर्थात् दर्शन देते हैं, च-और, अस्य-इस योगी के, कार्ये-कार्य में, वर्त्तन्ते-वर्त्तते हैं अर्थात् जिस कार्य के लिये योगी प्रार्थना करता है उसी कार्य को देवता, ऋषि तथा सिद्ध पुरुष संपादन कर देते हैं। भाव यह है कि, जब देवता, ऋषि तथा सिद्ध पुरुष दर्शन देकर योगी का कार्य संपादन करने लग जांय तब जानना चाहिये कि, इस योगी की स्वाध्यायनिष्ठा पूर्ण रूप से संपन्न हो चुकी है। इति ॥ ४४ ॥

संप्रति सूत्रकार ईश्वरप्रणिधानसूचक सिद्धि का निरूपण करते हैं—समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानादिति। ईश्वरप्रणिधानात्—ईश्वरप्रणिधान से अर्थात् सर्व कर्मों को ईश्वरार्पण करने से, समाधिसिद्धिः—संप्रज्ञातसमाधि की सिद्धि होवी है।

भाष्यकार संक्षेप से सूत्रार्थ करते हैं—ईश्वरेति। ईश्वरार्पितसर्वभावस्य—जिसने अपने सर्व कर्मों को ईश्वर में अर्पण कर दिया है ऐसे योगी को, समाधिसिद्धिः—इस प्रकार की समाधिसिद्धि अर्थात् समाधिप्रज्ञा प्राप्त होती है कि, यया—जिसके द्वारा, देशान्तरे—देशान्तर में, देहान्तरे—देहान्तर में, च—और, कालान्तरे—कालान्तर में विद्यमान, सर्वम् ईप्सितम्—सर्व अभीष्ट पदार्थों को, अवि-

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः । आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र–

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

तथम् जानाति—यथार्थ रूप से जानता है । अर्थात् ईश्वरप्रणिधानजन्य समाधिप्रज्ञा से त्रैकालिक पदार्थ विषयक ज्ञान योगी को प्राप्त होता है । इसी अर्थ को और भी स्पष्ट करते हैं—तत इति । ततः—ईश्वरप्रणिधान से, अस्य—इस योगी की, प्रज्ञा—समाधिप्रज्ञा, यथाभूतम्—यथाभूत अर्थ को, प्रजानाति—जानती है । अर्थात् देशान्तरीय, कालान्तरीय सर्व पदार्थ को प्रत्यक्ष रूप से प्रकाश करती है ।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा संप्रज्ञातसमाधि; ये आठ असंप्रज्ञातसमाधि के अङ्ग हैं । इनमें भी प्रथम के सात अङ्ग और आठवाँ सम्प्रज्ञात अङ्गी है । इनमें पांच प्रकार के नियम कहे गए हैं, जिनमें एक ईश्वरप्रणिधान है, जिससे यहां सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि कह रहे हैं । इस पर आशङ्का होती है कि, जब एक ही ईश्वरप्रणिधान से सम्प्रज्ञातसमाधि रूप अङ्गी का लाभ हो जाता है तो यम, ईश्वरप्रणिधान से शेष बचे हुए चार प्रकार के नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान; ये सात अङ्ग व्यर्थ हैं ! इसका समाधान यह है कि, ये सात ईश्वर प्रणिधान के उपयोगी होने से व्यर्थ नहीं किन्तु सार्थक हैं, अर्थात् ईश्वरप्रणिधान द्वारा ये सात सम्प्रज्ञातसमाधि के अङ्ग हैं, साक्षात् नहीं । उनमें पांच प्रकार के यम तथा ईश्वरप्रणिधान से शेष बचे हुए चार प्रकार के नियम अहिंसादि अशुद्धि क्षय द्वारा अर्थात् अदृष्ट रूप फल सम्पादन द्वारा और आसनादि द्वन्द्व-निवृत्ति द्वारा अर्थात् दृष्टरूप फल सम्पादन द्वारा ईश्वरप्रणिधान के उपयोगी हैं, ऐसा विवेक कर लेना चाहिये । इति ॥ ४५ ॥

उत्तर सूत्र का अवतरण करते हुए भाष्यकार आसनादि-निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—उक्ता इति । तत्र–इस प्रकार, सिद्धिभिः सह–सिद्धियों के सहित, यमनियमाः-यम - नियमउक्ताः–कहे गए । संप्रति क्रमप्राप्त आसनादीनि–आसनादि को, वक्ष्यामः कहेंगे । तत्र–उनमें—स्थिरसुखमासनमिति । स्थिरसुखम्–"आस्यते आस्ते वा अनेन इति आसनम्" इस व्युत्पत्ति से जिसके द्वारा स्थिरता तथा सुख पुरुष को प्राप्त हो वह, आसनम्–आसन कहा जाता है । अर्थात् निम्नलिखित पद्मासन आदि आसनों में से जिसके द्वारा स्थिरता तथा सुख पुरुष को प्राप्त हो उसी आसन का उपयोग योगी को करना चाहिये । उन आसनों के कतिपय भेद भाष्यकार दिखाते हैं—तदिति। तद् यथा–और वह जैसे—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान, स्थिरसुख, च– और यथासुख, इति एवम् आदीनि–इत्यादि नामों से प्रसिद्ध बहुत से आसन हैं । जैसे—

तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि ॥ ४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

भवतीति वाक्यशेषः ।

पद्मासन–बांईं जांघ के ऊपर दाहिने पैर को रखना, एवं दाहिनी जांघ के ऊपर बांयें पैर को रखना, दहिने हाथ को पीठ की तरफ फिरा कर बांईं जांघ पर स्थित दाहिने पैर के अंगूठा को पकड़ना, एवं बांयें हाथ को पीठ की तरफ फिरा कर दाहिनी जांघ पर स्थित बांयें पैर के अंगूठा को पकडना, हृदय के चार अंगुल के बीच में चिबुक अर्थात् दाढ़ी के अग्रभाग को रखना और नासिका के अग्रभाग को निरीक्षण करते हुए स्थित रहना, इसको पद्मासन कहते हैं।

वीरासन–एक पैर को पृथिवी पर रखना और दूसरे पैर के घुटने को मोड़ कर उसके ऊपर रखते हुए स्थित रहना - इसको वीरासन कहते हैं।

भद्रासन–दोनों पैर के तलियों को अण्डकोष के पास संपुटित करके रखना और उसके ऊपर दोनों हाथ को संपुटित करके स्थित रहना, इसको भद्रासन कहते हैं।

स्वस्तिकासन–बांये पैर को मोड़ कर दाहिनी जांघ और ऊरु के बीच में स्थापन करना एवं दाहिने पैर को मोड़ कर बांईं जांघ और ऊरु के बीच में स्थापन करना, इसको स्वस्तिकासन कहते हैं।

इसी प्रकार अन्य भी दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान, स्थिरसुख तथा यथासुख आदि आसन समझना चाहिये। विस्तार के भय से उनका उल्लेख नहीं किया जाता है।

स्थिरसुखासन–इनमें से जिस प्रकार से स्थित रहने से योगी को स्थिरता तथा सुख की सिद्धि हो वही आसन "स्थिरसुखासन" कहा जाता है और वही भगवान सूत्रकार को संमत है एवं उसीका विवरण भगवान् भाष्यकार ने "यथासुखम्" शब्द से किया है। अतः उसी आसन का सेवन योगियों को करना चाहिये। इति ॥ ४६ ॥

आसन का स्वरूप निरूपण करके संप्रति उसके साधन का निरूपण सूत्रकार करते हैं–प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्यामिति। भवतीति वाक्यशेषः। प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्–शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को शिथिल (न्यून) करने से तथा अनन्त नामक नागनायक भगवान् शेषनाग विषयक चित्त एकतान (एकाग्र) करने से आसन सिद्ध, भवति–होता है।

प्रयत्नोपरमात्सिध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ॥ ४७ ॥

ततो द्वंद्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४८ ॥

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—प्रयत्नेति । प्रयत्नोपरमात्-शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को उपरम करने से अर्थात् रोकने से , आसनम् सिध्यति-आसन सिद्ध होता है, येन नाङ्गमेजयो भवति-जिससे शरीर के अवयवों में कम्पन नहीं होता है, वा-अथवा, अनन्ते समापन्नं चित्तम्-स्थिरतरफणमण्डलधृतब्रह्माण्ड अनन्त नामक नागनायक भगवान् शेष में एकतानता को प्राप्त हुआ चित्त, आसनम् निर्वर्त्तयति-आसन को निष्पादन करता है ।

भाव यह है कि, शरीर विधारक स्वाभाविक चेष्टा को प्रयत्न कहते हैं और स्थिर-सुख का हेतु आसन कहा जाता है, जिसका प्रयत्न कारण नहीं; प्रत्युत आसन नियम का नाशक होने से विरोधी है । साथ ही प्रयत्न को यदि आसन का हेतु मानें तो वह स्वभावसिद्ध होने से उसके लिये उपदेश व्यर्थ है । अतः प्रयत्न-शैथिल्य के लिये आसन-इच्छुक योगी को सदा प्रयास करते रहना चाहिये । क्योंकि, प्रयत्न-शैथिल्य ही आसन का हेतु है, प्रयत्न नहीं । एवं एकाग्रता का हेतु ध्यान, ध्यान का हेतु स्थिरता और स्थिरता का हेतु आसन है । अतः स्थिरता के हेतु जो आसन उसकी सिद्धि के लिये किसी स्थिर पदार्थ का चिन्तन अपेक्षित है । सबसे अधिक स्थिर पदार्थ भगवान् अनन्त (शेषनाग) हैं; क्योंकि, उनके सहस्रफणों पर ब्रह्माण्ड स्थित है । वे सबसे अधिक स्थिरपदार्थ न हों तो उनके फणों पर स्थित ब्रह्माण्ड भी स्थिर नहीं रह सकता है । अतः अत्यन्त स्थिर भगवान् अनन्त में चित्त को एकतान करने से उनकी कृपा से आसन सिद्ध होता है । अतएव आसन-इच्छुक योगियों को अनन्त भगवान् का ध्यान धरना चाहिये, यह सिद्ध हुआ । इति ॥ ४७ ॥

संप्रति सूत्रकार आसन-सिद्धि सूचक चिह्न प्रतिपादन करते हुए आसन-सिद्धि का फल प्रतिपादन करते हैं—ततो द्वन्द्वानभिघात इति । ततः-पूर्वोक्त आसन सिद्ध होने से, द्वन्द्वानभिघातः शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व का अनभिघात होता है अर्थात् शीतोष्णादि द्वन्द्वों से योगी पीडित नहीं होता है किन्तु सहनशील अर्थात् तितिक्षु बन जाता है ।

भाष्यकार संक्षेप से सूत्र का भाव व्यक्त करते हैं—शीतेति । आसनजयात्-आसनजित होने से योगी, शीतोष्णादिभिः द्वन्द्वैः-शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों से, न अभिभूयते-भूअभित अर्थात् पीडित नहीं होता है । भाव यह है कि, द्वन्द्व धर्मों को

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

सत्यासने बाह्यस्य वायोराचमनंश्वासः। कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसरणं प्रश्वासः। तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४९ ॥
स तु—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

सहन करने की नैसर्गिक शक्ति प्राप्त हो तब जानना चाहिये कि, इस अवस्था में यह योगी आसनजित हो गया है। इति ॥ ४८ ॥

आसन के लक्षण, हेतु तथा फल प्रतिपादन करने के उपरान्त संप्रति सूत्रकार क्रमप्राप्त प्राणायाम का सामान्य लक्षण प्रतिपादन करते हैं—तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम इति। तस्मिन् सति–उस पूर्वोक्त आसन के पूर्णतया लाभ होने पर जो, श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः–श्वास, प्रश्वास की स्वाभाविक गति का विच्छेद अर्थात् अभाव वह, प्राणायामः–प्राणायाम कहा जाता है।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—सतीति। सति आसने–आसन सिद्ध होने पर, बाह्यस्य वायोः आचमनम्–बाह्य वायु का भीतर प्रवेश करना, श्वासः–श्वास कहा जाता है और, कौष्ठ्यस्य वायोः निःसरणम्–उदर में स्थित वायु को बाहर निकालना, प्रश्वासः–प्रश्वास कहा जाता है, तयोः गतिविच्छेदः–उन दोनों की जो स्वाभाविक गति का विच्छेद अर्थात्, उभयाभावः–श्वास, प्रश्वास दोनों का अभाव वह, प्राणायामः–प्राणायाम कहा जाता है।

यद्यपि पूरक, कुम्भक तथा रेचक के भेद से तीन प्रकार के प्राणायाम हैं। उनमें पूरक प्राणायाम में श्वास का सद्भाव है, विच्छेद नहीं; एवं रेचक प्राणायाम में प्रश्वास का सद्भाव है, विच्छेद नहीं; केवल कुम्भक प्राणायाम में ही दोनों का विच्छेद है। अतः यह प्राणायाम का लक्षण अव्याप्ति-ग्रस्त प्रतीत होता है, तथापि लौकिक पुरुषों के जो स्वाभाविक एवं अनियमित श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं उनका इन तीनों प्राणायामों में विच्छेद है। अतः उन दोनों में भी लक्षण का समन्वय होने से कोई दोष नहीं। अतएव यह प्राणायाम का सामान्य लक्षण कहा जाता है। इति ॥ ४९ ॥

संप्रति सूत्रकार प्राणायाम के विशेष तीन लक्षण प्रतिपादन करते हैं—स तु–बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म इति। "स तु" इतना अंश सूत्रार्थ स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार ने सूत्र के साथ संमिलित किया है।

यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः । यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः ।

तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति । यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति । त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति ।

स तु-वही पूर्वोक्त प्राणायाम, बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः-बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का है और वह, देशकालसंख्याभिः-बाह्य तथा आभ्यन्तर, देश-क्षणों की इयत्ता का निश्चय रूप काल, एवं श्वास - प्रश्वास की गिनती रूप संख्या; इन तीनों के अभ्यास द्वारा, परिदृष्टः-परीक्षित तथा परिवर्द्धित होता हुआ, दीर्घसूक्ष्मः-दीर्घ तथा सूक्ष्म हो जाता है

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—यत्रेति । यत्र-जिस प्राणायाम में, प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः-प्रश्वास पूर्वक अर्थात् प्रश्वास द्वारा स्वाभाविक प्राण की गति का अभाव होता है सः-वह, बाह्यः-बाह्यवृत्ति अर्थात् रेचक प्राणायाम कहा जाता है । यत्र-जिस प्राणायाम में, श्वासपूर्वको गत्यभावः-श्वास पूर्वक अर्थात् श्वास द्वारा स्वाभाविक प्राण की गति का अभाव होता है, सः-वह, आभ्यन्तरः-आभ्यन्तरवृत्ति अर्थात् पूरक प्राणायाम कहा जाता है और, यत्र-जिस प्राणायाम में, सकृत्प्रयत्नात्-एक ही बार के विधारक प्रयत्न से, उभयाभावः बाह्याभ्यन्तर उभय प्रकार का स्वाभाविक प्राण की गति का अभाव होता है वह, तृतीयः स्तम्भवृत्तिः भवति-तीसरा स्तम्भवृत्ति अर्थात् कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है ।

प्राण की उभय गति के अभाव में दृष्टान्त देते हैं—यथेति । यथा-जैसे, तप्ते उपले न्यस्तं जलम्-तप्त पाषाण अथवा लोह के ऊपर प्रक्षिप्त जल, सर्वतः-सर्व तरफ से, संकोचम् आपद्यते-संकोच को प्राप्त हो जाता है, तथा-वैसे ही, द्वयोः युगपत् गत्यभावः-दृढ प्रयत्न से बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के प्राण की स्वाभाविक गति का एक ही साथ अभाव हो जाता है । अर्थात् शरीर में ही सूक्ष्मीभूत होकर अवस्थित रहता है । नहीं पूरण करता है और नहीं रेचन करता है, जिससे पूरक रेचक कहावे ।

जब योगी प्राणायाम करता है तब रेचक, पूरक, कुम्भक रूप तीनों प्रकार के प्राणायामों की देश, काल, संख्या द्वारा परीक्षा करता है । उसका प्रकार भाष्यकार दिखाते हैं—त्रय इति । एते त्रयः अपि-ये रेचक, पूरक, कुम्भक रूप तीनों प्राणायाम, देशेन् परिदृष्टाः-देश द्वारा परीक्षित होते हैं अर्थात् इनकी देश द्वारा परीक्षा की जाती है । जैसे-इयान् देशः अस्य विषय इति-इतना देश इस प्राणायाम का

कालेन परिदृष्टाः क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः। संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः। एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः। स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः॥ ५०॥

विषय है। कालेनेति। क्षणानाम् इयत्तावधारणेन कालेन–क्षणों की इयत्ता का निश्चय करनेवाले काल द्वारा, अवच्छिन्नाः परिदृष्टाः–विभक्त होते हुए परीक्षित होते हैं अर्थात् इनकी काल द्वारा परीक्षा की जाती है। जैसे–इतनी मात्रा पर्यन्त ये स्थिर रहते हैं। एवं संख्याभिरिति। संख्याभिः परिदृष्टाः–संख्याओं द्वारा परिदृष्ट होते हैं अर्थात् संख्याओं के द्वारा भी इनकी परीक्षा की जाती है। जैसे–एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथमः उद्घातः–इतने श्वासप्रश्वास से इनका प्रथम उद्घात हुआ, तद्वत्–वैसे ही, निगृहीतस्य–स्तम्भित प्राणायाम का, एतावद्भिः द्वितीयः–इतने श्वासप्रश्वास से द्वितीय उद्घात हुआ, एवम् तृतीयः–इसी प्रकार इतने श्वासप्रश्वास से तृतीय उद्घात हुआ। एवमिति। एवं मृदुः–इसी प्रकार यह मृदु प्राणायाम है, एवम् मध्यः–इस प्रकार यह मध्य प्राणायाम है तथा, एवम् तीव्रः–इस प्रकार यह तीव्र प्राणायाम है, इति–इस प्रकार, संख्यापरिदृष्टः–संख्या द्वारा प्राणायाम देखा जाता है। अर्थात् संख्या द्वारा प्राणायाम की परीक्षा होती है। स इति। सः खलु अयम्–वही यह प्राणायाम, एवम् अभ्यस्तः–इस प्रकार अभ्यस्त होता हुआ अर्थात् प्रतिदिन के अभ्यास द्वारा परिवर्धित होता हुआ, दीर्घसूक्ष्मः–दीर्घसूक्ष्म हो जाता है।

भाव यह है कि, जैसे धुना हुआ तूलपुञ्ज (रूई-समूह) प्रसरित होकर दीर्घ तथा सूक्ष्म हो जाता है, वैसे ही यह प्राणायाम भी प्रतिदिन के अभ्यास से देश, काल तथा संख्या वृद्धि द्वारा परिवर्द्धित होता हुआ दीर्घ तथा सूक्ष्म हो जाता है। अत्यन्त निपुणतागम्य होने से यह प्राणायाम सूक्ष्म कहा जाता है, दुर्बलता प्रयुक्त नहीं।

भाव यह है कि, बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति रूप क्रमशः रेचक, पूरक तथा कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का है। इनको अभ्यास द्वारा दीर्घ तथा सूक्ष्म करना योगी का परम कर्तव्य है। क्योंकि, समाधि का प्राणायाम प्रधान साधन है। यह अपूर्ण हो तो समाधि सिद्ध नहीं होती है। अतः इन तीनों को पूर्ण अर्थात् दीर्घ तथा सूक्ष्म करना अत्यावश्यक है। इनकी पूर्णता प्रतिकूल देश तथा स्वल्प काल साध्य नहीं, किन्तु जहां पवन भी प्रवेश न कर सके ऐसा देश तथा दीर्घ काल साध्य है। ये तीनों दीर्घ तथा सूक्ष्म हुए या नहीं, इसकी परीक्षा देश, काल तथा संख्या द्वारा होती है। रेचक-प्राणायाम की देश द्वारा परीक्षा। जैसे—पवनरहित देश में नासिका के अग्रभाग से प्रादेशमात्र परिमित देश में तूल अर्थात्

धुनी हुई रूई को स्थापन करे और देखे कि, इसमें तूल पर्यन्त पवन पहुंचता है या नहीं। जब तूल के हिलने से यह निश्चय हो जाय कि, यहां तक अर्थात् प्रादेशमात्र देश पर्यन्त बाह्यवायु का विषय स्थिर हो गया है, तब वितस्ति पर्यन्त देश में अर्थात् एक बीता भर दूर पर तूल को स्थापन कर परीक्षा करे एवं हस्तपरिमित देश पर तूल को रख कर परीक्षा करे। इस प्रकार जब हस्तपरिमित देश पर्यन्त पवन स्थिर हो जाय तब जानना चाहिये कि, अब रेचक प्राणायाम दीर्घसूक्ष्म हुआ। पूरक प्राणायाम की देश द्वारा परीक्षा। जैसे—पादतल से लेकर मस्तक पर्यन्त पिपीलिका सदृश स्पर्श की तरफ लक्ष्य रखता रहे। जब नाभिचक्र देश पर्यन्त जाकर पवन स्थिर हो जाय तब जानना चाहिये कि, अब पूरक प्राणायाम दीर्घसूक्ष्म हुआ है। एवं कुम्भक प्राणायाम की भी देश द्वारा परीक्षा कर लेनी चाहिये। क्योंकि, रेचक तथा पूरक के जो बाह्याभ्यन्तर देश हैं, वही प्राण के विलय होने से वही दोनों समुचित देश कुम्भक का विषय है। अतः इसकी भी दीर्घता तथा सूक्ष्मता का निश्चय उक्त तूल-क्रिया द्वारा तथा उक्त पिपीलिका सदृश स्पर्श द्वारा होता है।

काल द्वारा प्राणायामों की दीर्घसूक्ष्मता की परीक्षा इस प्रकार है कि—निमेष रूप क्रिया से युक्त काल के चतुर्थ भाग को क्षण कहते हैं। और अमुक क्षण तक प्राण की गति को नियमित करना प्राणायाम कहा जाता है। हाथ को जानु के ऊपर से चारों तरफ फिरा कर एक चुटकी बजा देने में जितना काल लगता है उतने काल को मात्रा कहते हैं। उक्त तीनों प्रकार के प्राणायाम जब ३६ छत्तीस मात्रा पर्यन्त स्थिर हो जाते हैं तब जानना चाहिये कि, अब ये प्राणायाम दीर्घसूक्ष्म हो चुके हैं।

संख्या द्वारा उक्त प्राणायामों की दीर्घसूक्ष्मता की परीक्षा इस प्रकार है कि—प्राण को ऊर्ध्वगमन करता हुआ स्थिर होना उद्घात कहा जाता है। द्वादश १२ मात्रा काल-पर्यन्त प्राण स्थिर रहना अर्थात् प्राणायाम सम्पन्न होना प्रथम उद्घात, २४ चौबीस मात्रा कालपर्यन्त प्राण स्थिर रहना द्वितीय उद्घात एवं ३६ छत्तीस मात्रा काल पर्यन्त प्राण का स्थिर रहना तृतीय उद्घात कहा जाता है। एवं १२ बारह मात्रा परिमित मृदु, २४ चौबीस मात्रा परिमित मध्य तथा ३६ छत्तीस मात्रा परिमित तीव्र प्राणायाम कहा जाता है। इतने श्वास-प्रश्वास से इसका प्रथम उद्घात हुआ, इतने श्वास-प्रश्वास से इसका द्वितीय उद्घात हुआ और इतने श्वास-प्रश्वास से इसका तृतीय उद्घात हुआ। इस प्रकार की संख्या द्वारा प्राणायाम की दीर्घसूक्ष्मता की परीक्षा होती है। प्रथम उद्घात में ही मृदुता, द्वितीय में मध्यता तथा तृतीय में तीव्रता समझना चाहिये, अलग नहीं। प्राणायाम का विषय बहुत गहन है; अतः किसी सुयोग्य गुरु के पास रह कर ही इसका अभ्यास करना चाहिये। इति ॥ ५० ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः।

तथाभ्यन्तरविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परि-

---

प्राणायाम के तीन भेद कथन करके संप्रति चतुर्थ भेद सूत्रकार कथन करते हैं— बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ इति। बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी–बाह्यविषय रेचक तथा आभ्यन्तरविषय पूरक, इन दोनों का आक्षेप (उल्लंघन) करनेवाला अर्थात् इन दोनों की अपेक्षा न करनेवाला, चतुर्थः– रेचक, पूरक, कुम्भक रूप तीन प्राणायामों की अपेक्षा यह चतुर्थ प्राणायाम कहा जाता है। अर्थात् कुम्भक प्राणायाम दो प्रकार का है। एक रेचक - पूरक के मध्य में रहनेवाला होने से उनकी अपेक्षा करनेवाला और दूसरा उन दोनों की अपेक्षा न करनेवाला। जो अपेक्षा करनेवाला है वह सहित कुम्भक और जो अपेक्षा न करनेवाला है वह केवल कुम्भक कहा जाता है। एवं सहित कुम्भक देश, काल, संख्या सहित होने से स्वल्प काल स्थायी है और केवल-कुम्भक योगी की स्वेच्छा से सहस्रों संवत्सर दीर्घकाल पर्यन्त स्थायी है। इसी चतुर्थ केवलकुम्भक का लक्षण प्रकृत सूत्र में किया गया है।

भाष्यकार चतुर्थ प्राणायाम का उत्पत्तिक्रम दिखाते हुए सूत्र का व्याख्यान करते हैं—देशेति। देशकालसंख्याभिः–पूर्वोक्त देश, काल, संख्या द्वारा, बाह्यविषय - परिदृष्टः– बाह्य देश में नियमित होता हुआ रेचक, आक्षिप्तः–देश, कालादि के साथ ही उल्लङ्घित होता है। तथा–वैसे ही, आभ्यन्तर - विषयपरिदृष्टः–देश, काल, संख्या द्वारा आन्तर देश में नियमित होता हुआ पूरक भी, आक्षिप्तः–देश, कालादि के साथ ही उल्लङ्घित होता है। उभयथा–दोनों प्रकार से, दीर्घसूक्ष्मः–दो प्रकार का दीर्घसूक्ष्म होता है। क्रमेण भूमिजयात्–अनुक्रम से अर्थात् शीघ्रता से नहीं किन्तु धीरे धीरे भूमिका को जीतने से, तत्पूर्वकः–उक्त दोनों आक्षेप पूर्वक, उभयगत्यभावः– श्वास - प्रश्वास दोनों की गति के अभाव रूप, चतुर्थः प्राणायामः–केवलकुम्भक नामक यह चतुर्थ प्राणायाम है।

इस प्रकार केवलकुम्भक का उत्पत्तिक्रम दिखा कर संप्रति देशादि सहित कुम्भक से अर्थात् मिश्रकुम्भक से केवलकुम्भक का भेद दिखाते हैं—तृतीयस्त्विति। तृतीयः तु– देशादि सहित कुम्भक नामक जो तृतीय प्राणायाम है वह तो, विषयानालोचितः– देश, काल, संख्या द्वारा अनिश्चित, गत्यभावः–स्तम्भवृत्ति, सकृदारब्धः एव–एक

दृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण। भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेषः इति ॥ ५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

ही बार के अभ्यास से निष्पन्न, देशकालसंख्याभिः परिदृष्टः-एवं देश, काल, संख्या के द्वारा नियमित होता हुआ, दीर्घसूक्ष्मः-दीर्घसूक्ष्म होता है। चतुर्थः तु-और देशादि रहित केवलकुम्भक नामक जो चतुर्थ प्राणायाम है वह तो, श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्-पूरकरेचक के देश, काल, संख्या के निश्चय करने के पश्चात्, क्रमेण भूमिजयात्- अनुक्रम से सकल भूमियों को जीतने से, उभयाक्षेपपूर्वकः-पूरक - रेचक दोनों को उल्लंघन करता हुआ, अर्थात् अपेक्षा न करता हुआ, गत्यभावः- स्तम्भवृत्ति रूप है, इति-यह, चतुर्थः-चौथा प्रकार का, प्राणायामः-प्राणायाम है, इति अयम् विशेषः-यही इन दोनों कुम्भकों में विशेषता है। अर्थात् तृतीय स्वल्प - प्रयत्न साध्य है और चतुर्थ बहुप्रयत्न साध्य है। इसके अतिरिक्त और भी सगर्भ, अगर्भ आदि प्राणायाम के भेद हैं, जिनको पुराणादि में देखना चाहिये। इति ॥ ५१ ॥

प्राणायाम के दो प्रयोजन हैं, मलनिवृत्ति और स्थिरता। उनमें मलनिवृत्ति, स्थिरता के उपयोगी होने से अवान्तर प्रयोजन और स्थिरता मुख्य प्रयोजन है। मुख्य प्रयोजन को अग्रिम सूत्र से कहेंगे। संप्रति अवान्तर प्रयोजन को सूत्रकार वर्णन करते हैं—ततः क्षीयते प्रकाशावरणमिति। ततः-प्राणायाम के अनुष्ठान से, प्रकाशावरणम्-प्रकाश - स्वरूप विवेकख्याति का आवरण करनेवाला जो अविद्यादि - क्लेश तथा अविद्यादि - क्लेशजन्य पाप वह, क्षीयते-क्षीणता को प्राप्त होता है, अर्थात् दुर्बलता को प्राप्त होता है।

यद्यपि 'क्षीयते' का अर्थ नाश होना है, दुर्बल होना नहीं; तथापि क्लेश तथा पाप के नाश का कारण तप है, यह प्रथम कह आए हैं। अतः क्षीयते का अर्थ "दुर्बलता को प्राप्त होता है" यह करना पड़ा है। वस्तुतस्तु "संसारनिबन्धनं कर्म प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते" इस प्रकृत सूत्र के भाष्य से यह प्रतीत होता है कि, संसार का कारण जो पापकर्म वह प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल भी होता है और धीरे धीरे नष्ट भी हो जाता है। अतः प्राणायाम के अभ्यास से क्लेश तथा तज्जन्य पाप नष्ट होते हैं, यह अर्थ करना अनुचित नहीं। यदि कहें कि, जब प्राणायाम के अभ्यास से ही पाप का नाश मानेंगे तो तप क्या करेगा? तो इसका समाधान यह है कि, प्राणायाम का अभ्यास भी तो तप ही है। जैसे, शीतोष्णादि

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म।

यत्तदाचक्षते—महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुक्तमिति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते।

द्वन्द्व - धर्म का सहन रूप तप से पाप नष्ट होता है, वैसे ही प्राणायाम के अभ्यास रूप तप से भी पाप नष्ट होता है। अत एव महर्षि पञ्चशिखाचार्य भी प्रकृत सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि—"तपो न परं प्राणायामात्" अर्थात् प्राणायाम से अधिक श्रेष्ठ कोई दूसरा तप नहीं है।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—प्राणायामानिति। प्राणायामान्–उक्त प्राणायामों का, अभ्यस्यतः–अभ्यास करनेवाले, अस्य योगिनः–इस योगी का, विवेकज्ञानावरणीयं कर्म–प्रकाश - स्वरूप विवेकज्ञान का आवरक अविद्यादि - क्लेश तथा तज्जन्य पाप कर्म, क्षीयते– क्षीण हो जाता है। यद्यपि भाष्यकार ने सामान्यतया कर्म का ही उल्लेख किया है, क्लेश का नहीं, तथापि क्लेश की क्षीणता बिना तज्जन्य कर्म की क्षीणता होना असंभव है और प्राणायाम के अनुष्ठान से रागादि क्लेश भी क्षीण होते हैं, यह अनुभवसिद्ध है। अतः प्राणायाम से क्लेशों की भी क्षीणता होती है, यह अर्थ यथार्थ ही है। एवं कर्म शब्द से केवल पापकर्म का ही ग्रहण है, पुण्य का नहीं। क्योंकि, अविद्यादि क्लेशजन्य विशेषतः पाप ही हैं, पुण्य नहीं। अविद्या प्रथम विवेकज्ञान को आच्छादित करती है। पश्चात् पापकर्म में नियुक्त करती है। इस कथन में महर्षि पञ्चशिखाचार्य की संमति प्रदर्शित करते हैं—यदिति। यत्–जो बात यहां कही गई है, तत्–वही महर्षि पञ्चशिखाचार्य भी, आचक्षते–कहते हैं–महामोहमयेनेति। इन्द्रजालेन महामोहमयेन–इन्द्रजाल के समान महामोह रूप अविद्या से, प्रकाशशीलम् सत्त्वम्–प्रकाश स्वरूप चित्तसत्त्व को, आवृत्य–आच्छादन करके, तदेव–वही आवरण, अकार्ये–हिंसादि पाप कर्म में, नियुक्तम्–प्रवृत्त करता है।

शङ्का होती है कि, जब प्राणायाम से ही पाप नष्ट होता है तब तप व्यर्थ है?। इस शङ्का का समाधान करते हैं—तदिति। तत् प्रकाशावरणम् संसारनिबन्धनम् कर्म–वह प्रकाशशील विवेकज्ञान का आच्छादक तथा संसार का कारण जो अविद्या - जन्य पाप रूप कर्म है वह, अस्य–इस योगी का, प्राणायामाभ्यासात–प्राणायाम के अभ्यास से, दुर्वलम् भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते–दुर्वल होता है और प्रतिक्षण क्षीण होता है। अर्थात् जैसे जैसे प्राणायाम का अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे वैसे अवि-

तथा चोक्तम्—तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति ॥ ५२ ॥

किञ्च—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

प्राणायामाभ्यासादेव । प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य (यो० सू० १–३५) इति वचनात् ॥ ५३ ॥

द्यादि क्लेश तथा तज्जनित पाप कर्म दुर्बलता को प्राप्त होता हुआ एक समय समूल नष्ट हो जाता है ।

इस पर भी महर्षि पञ्चशिखाचार्य की अनुमति दिखाते हैं—तथा चोक्तमिति । प्राणायाम के अभ्यास से उक्त क्लेश तथा पापकर्म दुर्बल होता हुआ नष्ट होता है, यह बात जैसे यहां कही गई है वैसे ही महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी कही है—तप इति । प्राणायामात्-प्राणायाम से, परम्-अधिक श्रेष्ठ अन्य कोई, तपः न-तप नहीं है । क्योंकि, ततः-उस (प्राणायाम) से, मलानाम्-अविद्यादि क्लेश तथा तज्जन्य पाप रूप मलों की, विशुद्धिः-विशुद्धि अर्थात् निवृत्ति होती है । च-और, ज्ञानस्य दीप्तिः-ज्ञान की दीप्ति अर्थात् अभिव्यक्ति होती है । इस कथन से महर्षि ने प्राणायाम से ज्ञानावरक मलों की निवृत्ति तथा आवरण की निवृत्ति होने पर ज्ञान की अभिव्यक्ति स्पष्ट किया है । अतः प्राणायाम का सतत अभ्यास परम कर्तव्य है । इसी बात को मनु भगवान् ने भी कहा है—

'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्' । मनुस्मृ० ६–७२ ।

अर्थात् प्राणायाम के द्वारा अविद्यादि क्लेश तथा तज्जन्य पापरूप दोषों का योगी दाह करे । इति ॥ ५२ ॥

प्राणायाम का पापक्षय रूप अवान्तर फल प्रतिपादन करके संप्रति मन की स्थिरता रूप मुख्य फल प्रतिपादक सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं—किञ्चेति । किञ्च-प्राणायाम का और भी फल है-धारणासु च योग्यता मनस इति । "प्राणायामाभ्यासादेव" इतना अंश भाष्यकार ने सूत्र के साथ संमिलित किया है । प्राणायामाभ्यासात् एव-प्राणायाम के अभ्यास से ही, मनसः-मन की, धारणासु-वक्ष्यमाण धारणाओं में, योग्यता-योग्यता प्राप्त होती है । अर्थात् यह प्राणायाम मन को स्थिर करके धारणा विषयक सामर्थ्यवाला कर देता है । यह अर्थ प्रथम पाद के निम्नलिखित सूत्र में स्पष्ट है । इस बात को भाष्यकार कहते हैं—'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' यो० सू० १–३५ इति वचनात् । अर्थात् उक्त सूत्र रूप वचन से यह बात सिद्ध है कि—प्राणायाम मन को स्थिर करके धारणाविषयक सामर्थ्यवाला कर देता है । इति ॥५३॥

अथ कः प्रत्याहारः—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

स्वविषयसंप्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते ।

इस प्रकार यमनियमादि के अनुष्ठान से संस्कृत हुआ पुरुष प्रत्याहार का आरम्भ करता है। उसका लक्षण प्रतिपादक सूत्र को उतारने के लिये भाष्यकार प्रश्न उठाते हैं—अथेति । अथ–प्राणायाम के लक्षण कथन करने के अनन्तर प्रश्न उपस्थित होता है कि, प्रत्याहारः कः–प्रत्याहार कौन है अर्थात् प्रत्याहार का लक्षण किस प्रकार का है? । इस प्रश्न का उत्तर सूत्र से देते हैं—स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार इति । इन्द्रियाणाम्–इन्द्रियों का, स्वविषयासंप्रयोगे–अपने अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर जो, चित्तस्य स्वरूपानुकार इव–चित्त के रूप के समान रूप हो जाना वह, प्रत्याहारः–प्रत्याहार कहा जाता है। अर्थात् इन्द्रियों का व्यापार चित्तके व्यापार के अधीन है जब प्राणायाम के अनुष्ठान से चित्तका व्यापार बंद हो जाता है, तब इन्द्रियों का भी व्यापार बंद हो जाता है। अपने अपने मोहनीय, रञ्जनीय तथा कोपनीय शब्दादि विषयों के साथ उनका संबन्ध बंद हो जाता है। वही चित्तके साथ ही इन्द्रियों का भी विषयसंबन्ध बंद होना प्रत्याहार कहा जाता है क्योंकि, उस समय चित्त के साथ ही इन्द्रियों का भी प्रत्याहरण हो जाता है। इस समय इन्द्रियों को निरोध करने के लिये प्रयत्नान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है। जिस समय चित्त ध्येयाकार को प्राप्त होता है, उस समय इन्द्रिय भी बाह्य विषय तरफ नहीं होती हैं, अर्थात् अननुकार रूप से स्थित रहती हैं, अनुकार रूप से नहीं। अतएव "अनुकार इव" यहां पर इव पद का प्रयोग किया गया है। अर्थात् उस समय इंन्द्रिय अनुकार के जैसे तो स्थित हैं पर अनुकार रूप से नहीं। अभिप्राय यह है कि, चित्त का अनुकरण नहीं करती हैं। अतः यह प्रत्याहार इन्द्रियों का धर्म है, चित्त का नहीं।

भाष्यकार सूत्र का भाव व्यक्त करते हैं—स्वविषयेति । स्वविषयसंप्रयोगाभावे-अपने अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष के अभाव होने पर इन्द्रिय, चित्तस्वरूपानुकार इव–चित्त के रूप के समान रूपवाली होती हैं अर्थात् बाह्यविषय की तरफ नहीं जाती हैं, इति–अतः, चित्तनिरोधे–चित्त के निरोध होने पर, चित्तवत्–चित्त के समान ही, इन्द्रियाणि निरुद्धानि–इन्द्रिय भी निरुद्ध हो जाती हैं, इतरेन्द्रियजयवत् उपायान्तरम् न अपेक्षन्ते । यतमान - संज्ञक वैराग्य काल में एक इन्द्रियनिरोध के उपाय

यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येषः प्रत्याहारः ॥५४॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित् । सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति । अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या । शब्दादिसंप्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये ।

से अतिरिक्त अन्य इन्द्रियनिरोध के उपाय की जैसी अपेक्षा थी, वैसी चित्तनिरोध होने पर इन्द्रियनिरोध के लिये उपायान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है। इस पर दृष्टान्त देते हैं—यथेति। यथा-जैसे, मधुकरराजम् उत्पतन्तम्-मधुकरराज के उड़ने के पीछे, मक्षिकाः उत्पतन्ति-तदनुसारी मक्षिका भी उड जाती हैं और, निविशमानम् अनुनिविशन्ते-बैठने के पीछे वे भी बैठ जाती हैं, तथा-वैसे ही, चित्तनिरोधे-चित्त के निरोध के पीछे, इन्द्रियाणि निरुद्धानि-इन्द्रिय भी निरुद्ध हो जाती हैं। अर्थात् चित्त के व्यापार चालू रहने पर उसके आधीन इन्द्रियों के व्यापार भी चालू रहते हैं और चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। इस अवस्था में इन्द्रियनिरोध के लिये उपायान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है। उपसंहार करते हैं—इतीति। इति एष प्रत्याहारः-इस प्रकार का जो इन्द्रियों का अवस्थाविशेष वह प्रत्याहार कहा जाता है, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ ५४ ॥

संप्रति सूत्रकार प्रत्याहार का फल कथन करते हैं—ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणामिति। ततः-पूर्वोक्त प्रत्याहार के लाभ से, इन्द्रियाणाम्-इन्द्रियों की, परमा—सर्वोत्कृष्ट, वश्यता-वशीकारता प्राप्त हो जाती है। वश्यता इन्द्रियजय को कहते हैं। इस विषय में विभिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत को भाष्यकार दिखाते हैं—शब्दादिष्विति। शब्दादिषु शब्दादि विषयों में, अव्यसनम्—अव्यसन अर्थात् आसक्ति का अभाव, इन्द्रियजयः—इन्द्रियजय है, इति—इस प्रकार, केचित्—कोई आचार्य कहते हैं और युक्ति देते हैं कि—"व्यस्यति एनं श्रेयसः इति व्यसनम् सक्तिः" अर्थात् जो पुरुष को कल्याण से वञ्चित कर दे वह आसक्ति रूप व्यसन कहा जाता है और, अविरुद्धा प्रतिपत्तिः न्याय्या-शास्त्र - अविरुद्ध विषयभोग करना न्याय युक्त है, अर्थात् यह व्यसन नहीं है। अतः इस प्रकार का अव्यसन ही इन्द्रियजय है। यह प्रथम मत का स्वरूप है।

शब्दादीति। स्वेच्छया—अपनी इच्छा से ही, शब्दादिसंप्रयोगः—शब्दादि विषयों के साथ इन्द्रियों का संप्रयोग (सम्बन्ध) होना अर्थात् इन्द्रियपरवश न होना

रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित् चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥ ५५ ॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्-व्यासभाष्ये
द्वितीयः साधनपादः ॥ २ ॥

इन्द्रियजय है, इति—इस प्रकार, अन्ये—अन्य कोई आचार्य कहते हैं। यह द्वितीय मत का स्वरूप है।

रागेति। रागद्वेषाभावे—रागद्वेषाभावपूर्वक, सुखदुःखशून्यम्-सुखदुःख रहित, शब्दादिज्ञानम्—शब्दादि विषयों का ज्ञान होना अर्थात् अनुकूल - प्रतिकूल विषय विषयक रागद्वेषाभावपूर्वक एवं सुखदुःखाभावपूर्वक ज्ञान होना, इन्द्रियजयः—इन्द्रियजय है, इति-इस प्रकार, केचित्—कोई आचार्य कहते हैं। यह तृतीय मत का स्वरूप है।

चित्तेति। चित्तैकाग्र्यात्—चित्त की एकाग्रता होने से, अप्रतिपत्तिः एव—उस (चित्त) के अधीन इन्द्रियों की शब्दादि विषयों में प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव हो जाना ही इन्द्रिय - वश्यता रूप इन्द्रियजय है, इति—इस प्रकार, जैगीषव्य—योगी जैगीषव्य महर्षि कहते हैं। यह चतुर्थ मत का स्वरूप है। यही सूत्रसंमत है और यही (इन्द्रियजय) परमा वश्यता रूप है और पूर्वोक्त तीन मत में जो इन्द्रियजय है वह अपरमा वश्यता रूप है।

इसी चतुर्थ मत को स्वीकार करते हुए भाष्यकार प्रत्याहार के विषय का उपसंहार करते हैं—ततश्चेति। च—और, ततः—पूर्वोक्त तीन प्रकार की इन्द्रिय वश्यताओं की अपेक्षा, इयम् वश्यता तु—यह चतुर्थी इन्द्रियवश्यता तो, परमा—अत्यन्त श्रेष्ठ है, यत्-क्योंकि, चित्तनिरोधे-चित्त के निरोध होने पर उसके अधीन, इन्द्रियाणि निरुद्धानि—इन्द्रियां भी निरुद्ध हो जाती हैं, इतरेन्द्रियवत्—इतर इन्द्रिय के समान अर्थात् यतमान संज्ञक वैराग्य काल में जैसे एक इन्द्रिय को जीतने पर भी अन्य इन्द्रियों को जीतने के लिये उपयान्तर की अपेक्षा करते हैं, वैसे इस इन्द्रिय वश्यता को प्राप्त होने पर, प्रयत्नकृतम् उपायान्तरम् योगिनः न अपेक्षन्ते—पुरुषार्थजन्य अन्य उपायों की योगी अपेक्षा नहीं करते हैं।

भाव यह है कि, अन्य - वश्यता विषय रूप सर्प के सम्बन्धवाली होने से क्लेशरूप विष के संपर्क की शङ्का को दूर नहीं कर सकती है। क्योंकि, विष - विद्या में निपुण

होने पर भी एवं सर्प को वश में कर लेने पर भी पुरुष जैसे सर्प को गोद में लेकर निःशङ्क नहीं सोता है, वैसे ही उक्त तीन प्रकार की वश्यता प्राप्त होने पर भी विषय को भोगते हुए पुरुष क्लेश - शङ्का से मुक्त नहीं हो सकता है और यह जो चतुर्थी वश्यता है वह विषय - संपर्क से सर्वथा रहित होने से निराशङ्क है। अतः परमा है और यही प्रत्याहार का फल है। प्रथम प्राणायाम का अनुष्ठान, उसके पश्चात् चित्त-निरोध, उसके पश्चात् प्रत्याहार का फल परमावश्यता प्राप्त होती है। यह क्रम है। इति ॥ ५५ ॥

श्रीवाचस्पति मिश्र ने 'योगवैशारदी' में निम्नलिखित श्लोक से इस पाद में प्रतिपादित विषयों का संग्रह इस प्रकार किया है—

क्रियायोगं जगौ क्लेशान् विपाकान् कर्मणामिह।
तद्दुःखत्वं तथा व्यूहान् पादे योगस्य पञ्चकम् ॥ इति।

क्रियायोग, क्लेश, कर्मफल, दुःखता तथा व्यूह; ये पांच विषय इस द्वितीय पाद में निरूपण किये गए हैं।

योगभाष्यविवृतौ सरलायां ब्रह्मलीनमुनिना रचितायाम्।
साधनादिविषयेण समेतः पाद एष परिपूर्त्तिमुपेतः ॥

इति श्रीस्वामिब्रह्मलीनमुनिविरचितायां पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यभाषाविवृत्यां
द्वितीयः साधनपादः ॥ २ ॥

अथ विभूतिपादस्तृतीयः

उक्तानि पञ्च बहिरङ्गसाधनानि। धारणा वक्तव्या।

वेणुवादनपरा निजे जने शङ्खवादनपरश्च दुर्जने।
सज्जनावनपरो जनार्दनः सोऽस्तु मे मनसि नन्दनन्दनः॥ १॥
यः प्राच्यपाश्चात्यविचारधाराविद्वेषशान्त्यै सगुणेशवादम्।
हित्वा जगौ निर्गुणवादमेकं श्रीमत्कबीरं तमहं प्रपद्ये॥ २॥

प्रथम तथा द्वितीय पाद में क्रमशः समाधि तथा समाधि के साधनों का निरूपण किया गया है। उनमें श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति के हेतु विभूतियों का निरूपण करना चाहिए, अन्यथा प्रवृत्ति नहीं हो सकती है; अतः विभूति पाद का आरम्भ होता है।

यद्यपि कैवल्य पद प्रतिपादक शास्त्र में सांसारिक फल रूप विभूतियों का निरूपण अनुपयुक्त होने से विभूति पाद का आरम्भ निष्फल है, तथापि विभूतियों के निरूपण से जिज्ञासु को जब यह निश्चय हो जायगा कि, "अनात्म पदार्थ विषयक समाधि से जब निम्न लिखित ऐश्वर्य (विभूति) अवश्य प्राप्त होते हैं, तब पुरुष विषयक समाधि से पुरुषसाक्षात्कार द्वारा कैवल्य पद प्राप्ति भी अवश्य होगा" इस प्रकार के श्रद्धापूर्वक योगाभ्यास में जिज्ञासु जन अवश्य प्रवृत्त होंगे, इसके लिये विभूति पाद का आरम्भ सफल है।

विभूति नाम ऐश्वर्य का है, जिसको योगसिद्धि कहते हैं। जिसके बल से प्राणिगत अभिप्राय का ज्ञान होता है, पशु - पक्षी आदि निखिल प्राणियों की वाणी समझी जाती है, बैठे-बैठे ही अङ्गुलि से चन्द्रसूर्यादि का स्पर्श होता है, जल के समान पृथिवी में गोता लगाया जाता है एवं पृथिवी के समान जल पर गमन किया जाता है, इत्यादि।

"त्रयमेकत्र संयमः" इस अग्रिम सूत्र से धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों के समुदाय को संयम कहेंगे। इस पाद में प्रतिपादित विभूतियां संयम से ही साध्य हैं। अतः समाधि, तत्साधनों में श्रद्धा - पूर्वक प्रवृत्ति के हेतुभूत विभूतियों का साक्षात् साधन होने से संयम, यमादि पांच की अपेक्षा अन्तरङ्ग साधन है। अतएव इन तीनों का द्वितीय पाद में निरूपण न करके इस प्रकृत पाद में निरूपण किया जाता है।

धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीन अन्तरङ्ग साधनों में पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर का कारण है। अतः सर्वप्रथम क्रमप्राप्त धारणा - लक्षण प्रतिपादक सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं—उक्तानि पञ्च बहिरंगसाधनानि, धारणा वक्तव्येति।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥ १ ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

तस्मिन्देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः

पञ्च बहिरङ्गसाधनानि उक्तानि—यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार ये पांच योग के जो बहिरङ्ग साधन हैं उनके लक्षण कहे गए। अत्र, धारणा वक्तव्या—धारणा का लक्षण कहना चाहिये। अतः सूत्रकार धारणा का लक्षण करते हैं—देशबन्धश्चित्तस्य धारणेति। चित्तस्य—चित्त का जो, देशबन्धः—किसी हृदयादि देश - विशेष के साथ सम्बन्ध वह, धारणा—धारणा नामक योग का अङ्ग कहा जाता है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—नाभिचक्र इति। नाभिचक्रे-नाभिचक्र में, हृदयपुण्डरीके-हृदयकमल में, मूर्ध्नि ज्योतिषि-मस्तक में स्थित ज्योति में, नासिकाग्रे-नासिका के अग्र भाग में, जिह्वाग्रे-जिह्वा के अग्र भाग में तथा तालु आदि प्रदेश, इति एवम् आदिषु देशेषु-आदि आन्तर देश रूप विषय में, वा-अथवा, बाह्ये विषये-हिरण्यगर्भ तथा सूर्य आदि बाह्य देश रूप विषय में जो, चित्तस्य-चित्त का, वृत्तिमात्रेण-(बाह्य - विषय में चित्त का साक्षात्सम्बन्ध असंभव होने से) केवल वृत्ति द्वारा, बन्धः-संबन्ध, इति-यह, धारणा-धारणा कही जाती है। अर्थात् बाह्य तथा आभ्यन्तर के स्थूल तथा सूक्ष्म रूप किसी भी विषय में चित्त को बांध देना ही धारणा है। इति ॥ १ ॥

संप्रति सूत्रकार धारणासाध्य जो ध्यान उसका लक्षण करते हैं—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमिति। तत्र-उस यथोक्त हृदयादि देश रूप विषय में जो, प्रत्ययैकतानता-ध्येयाकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता वह, ध्यानम्-ध्यान कहा जाता है। अर्थात् धारणाकाल में जिस नाभिचक्रादि देश में चित्तवृत्ति को लगाया हो उसी देश में चित्तवृत्ति का एकाग्रता को प्राप्त हो जाना ध्यान कहा जाता है।

भाष्यकार सूत्रार्थ स्पष्ट करते हैं—तस्मिन्निति। तस्मिन् देशे-जिस ध्येय के आधार रूप देश में पूर्वोक्त धारणा द्वारा चित्तवृत्ति को लगाया होवे उसी ध्येय के

प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ २ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

आधार रूप देश में जो, ध्येयोवलम्बनस्य प्रत्ययस्य-ध्येय रूप अवलम्बन में चित्त-वृत्ति की, एकतानता-एकाग्रता अर्थात्, प्रत्ययान्तरेण अपरामृष्टः सदृशः प्रवाहः-विजातीय वृत्ति से रहित सजातीय वृत्ति का निरन्तर प्रवाह वह, ध्यानम्- ध्यान कहा जाता है। अर्थात् अन्य विषयक वृत्ति के व्यवधान से रहित जो केवल ध्येय विषयक वृत्ति की स्थिति वह ध्यान कहा जाता है।

यद्यपि सूत्रकार तथा भाष्यकार ने नाभिचक्रादि देश विषयक धारणा ध्यान कहा है, तथापि उक्त देश रूप अधिकरण में परमेश्वर आदि ध्येय विषयक धारणा ध्यान में दोनों महर्षियों का तात्पर्य समझना चाहिये। अर्थात् उस देश का ध्यान नहीं करना चाहिये किन्तु उस देश में स्थित परमेश्वर आदि ध्येय का ध्यान करना चाहिये। अत-एव गरुड पुराण के—

> प्राणायामैर्दशभिर्यावत्कालकृतो भवेत्।
> स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्॥

इस श्लोक में ब्रह्म रूप परमेश्वर विषयक धारणा ध्यान कहा है। एवं भगवान् शङ्कराचार्य ने—

> समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
> संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

इस श्लोक के गीताभाष्य में "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा" इस भगवद् - वाक्य का प्रमाण देते हुए नासिकाग्र देश रूप अधिकरण में आत्म - विषयक ध्यान कहा है। अतः उक्त देश का नहीं किन्तु उक्त देश में चित्तवृत्ति को स्थिर करके शास्त्र - उक्त स्वाभिमत ध्येय का ध्यान करना चाहिये, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ २ ॥

संप्रति सूत्रकार क्रमप्राप्त ध्यानसाध्य समाधि का लक्षण करते हैं—तदेवार्थमात्र-निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिरिति। तद् एव-वही पूर्वोक्त ध्यान जब, अर्थ-मात्रनिर्भासम्-ध्येय स्वरूप मात्र का प्रकाशक एवं, स्वरूपशून्यम् इव-अपने ध्या-नाकार रूप से रहित के जैसा हो जाता है तब, समाधिः-समाधि कहा जाता है।

भाव यह है कि - ध्यान काल में चित्त, चित्तवृत्ति तथा चित्तवृत्ति का विषय; इन तीनों के समुदाय रूप त्रिपुटी, जिसको क्रमशः ध्याता, ध्यान तथा ध्येय कहते हैं, उसका भान होता है; परन्तु जब वही ध्यान अभ्यासवश अपनी ध्यानाकारता को त्याग कर केवल ध्येय रूप से स्थित होता हुआ प्रतिभासित होता है तब समाधि कहा जाता है। जैसे जल में डाला हुआ लवण (नमक) विद्यमान रहता हुआ भी जल रूप हो

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

जाने से लवण रूप से न भास कर केवल जल रूप से भासता है। वैसे ही समाधि - काल में ध्यान विद्यमान रहता हुआ भी ध्येय रूप हो जाने से ध्यान रूप से न भास कर केवल ध्येय रूप से भासता है। यदि समाधि - काल में ध्यान की विद्यमानता न स्वीकार की जाय तो ध्येय का प्रकाश कौन करेगा ? क्योंकि, ध्येय का प्रकाश ध्यान ही करता है। इस बात को सूत्रकार ने "इव" पद से व्यक्त किया है। अर्थात् समाधि - काल में ध्यान विद्यमान होता हुआ भी उसकी प्रतीति न होने से स्वरूपशून्य के जैसा है।

यदि "अर्थमात्रनिर्भासम्" इस पद में मात्र पद का उपादान न करते तो समाधि का लक्षण ध्यान में अतिव्याप्त हो जाता। क्योंकि, ध्यान - काल में त्रिपुटी का भान होने से उसके अन्तर्गत ध्येय का भी भान होता ही है और जब मात्र पद का उपादान करते हैं तो यह अर्थ होता है कि, केवल ध्येय रूप अर्थ का ही जिसमें भान होता हो, उससे अधिक ध्यान आदि का भान नहीं होता हो, उसका नाम समाधि है। ध्यानकाल में ध्येय से अधिक ध्यान का भी भान होने से अतिव्याप्ति नहीं।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—ध्यानमेवेति। यदा—जिस काल में ध्यान, ध्येयाकारनिर्भासं—केवल ध्येयाकार रूप से निरन्तर भासमान एव, ध्येयस्वभावावेशात्—ध्येय के स्वरूप हो जाने से, प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यम् इव—चित्तवृत्त्यात्मक ध्यानस्वरूप से शून्य के समान, भवति—हो जाता है, तदा—उस काल में, ध्यानम् एव—वही पूर्वोक्त ध्यान, समाधिः इति उच्यते—समाधि इस नाम से व्यवहृत होता है। अर्थात् ध्यान की परिपक्व अवस्था ही समाधि कही जाती है।

निम्नलिखित प्रकार से धारणा, ध्यान तथा समाधि में परस्पर भेद और भी इतना समझना चाहिये कि— पांच घड़ी (दो घण्टा) पर्यन्त ध्येय रूप विषय में चित्तवृत्ति को लगा रखना धारणा, साठ घड़ी (चौबीस घण्टा) पर्यन्त एकतान चित्त से ध्येय का चिन्तन करना ध्यान तथा द्वादश दिन पर्यन्त निरन्तर ध्यान को ध्येयाकार कर देना समाधि कही जाती है। यही बात स्कन्दपुराण में भी कही गई है—

धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिकम्।
दिनद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥

अर्थात् ५ नाडिका (घटिका) काल - पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति धारणा, ६० नाडिका काल - पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति ध्यान तथा द्वादश दिन पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति समाधि कही जाती है। यह बारह दिन पर्यन्त जो चित्तवृत्ति की एकाग्रता

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

रूप समाधि है वह पूर्ण समाधि है। वस्तुतः २॥ घटिका पर्यन्त जो चित्तवृत्ति की एकाग्रता वह भी समाधि ही है। अन्यथा, तत्काल में जो अनुभवसिद्ध समाधि सुख वह अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि, उस काल में समाधि बिना समाधि-सुख का लाभ होना असंभव है।

यहां पर इतना विशेष और भी समझना चाहिये कि—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि; ये आठ योग के अंग कहे गए हैं और संप्रज्ञात तथा अप्रसंज्ञात के भेदसे योग दो प्रकार का है। उनमें ये आठों संप्रज्ञात समाधि के ही अंग हैं, असंप्रज्ञात-समाधि के नहीं। यह विषय आगे स्पष्ट होगा।

इस प्रकार समाधि तीन प्रकार की सिद्ध हुई। अष्टांग के अन्तर्गत अंगसमाधि, संप्रज्ञात रूप अंगी समाधि और असंप्रज्ञातसमाधि उनमें अंगसमाधि ध्यान रूपा वृत्ति का ही अवस्थाविशेष है। क्योंकि, "अहं चिन्तयामि देवम्" इस ध्यान रूप वृत्ति के ध्याता, ध्यान तथा ध्येय रूप त्रिपुटी विषय है, और अंगसमाधि का केवल ध्येय मात्र विषय है। इतना ही इन दोनों में भेद है। अतएव यह अंगसमाधि ध्यान का हो अवस्थाविशेष होने से तथा मुख्य संप्रज्ञात समाधि का अंग होने से इनकी समाधि कोटि में गणना न कर संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात दो प्रकार की ही समाधि माना है।

अंगसमाधि और अंगीभूत संप्रज्ञात-समाधि में केवल इतना ही भेद है कि—अंगसमाधि ध्यानवृत्ति रूप केवल समाधि मात्र ही है। वह स्वरूप शून्य के जैसा होने से उसमें ध्येय से अतिरिक्त कोई पदार्थ भासता नहीं है। क्योंकि, वह ज्ञानात्मक प्रकाश रूप नहीं, किन्तु ध्यानात्मक है और अंगीभूत संप्रज्ञात-समाधि काल में ज्ञानात्मक प्रकाश रूप साक्षात्कार के उदय होने से योगी को चिन्तनमात्र से सकल पदार्थ का भान हो जाता है।

एवं संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात समाधि में इतना भेद है कि, संप्रज्ञात-समाधि में निखिल चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता है; किन्तु अनात्मविषयक अनर्थकारिणी वृत्तियों का ही निरोध होता है और असंप्रज्ञात-समाधि में निखिल चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। इति ॥ ३ ॥

धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों का फल अतीत, अनागत आदि पदार्थ विषयक ज्ञान तथा सर्व प्राणियों का भाषा विषयक ज्ञान आदि कहेंगे; परन्तु स्थल-स्थल पर धारणादि प्रत्येक शब्दों के प्रयोग करने में गौरव होगा। अतः लाघव के लिये इन तीनों की तान्त्रिकी परिभाषा सूत्रकार कहते हैं—त्रयमेकत्र संयम इति। एकत्र-एक विषय विषयक जो, त्रयम्-धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों का

तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते । तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

समुदाय वह, संयमः-संयम कहा जाता है अर्थात् संयम शब्द का वाच्यार्थ नहीं, किन्तु योगशास्त्र का पारिभाषिक अर्थ धारणा, ध्यान, समाधि है। अतः आगे जहां कहीं संयम शब्द आवे वहां उसका अर्थ धारणा, ध्यान, समाधि समझना चाहिये। एकत्र शब्द का प्रयोग करके सूत्रकार ने यह व्यक्त किया है कि—जब ये तीनों एक विषय विषयक हों तब इन तीनों का समुदाय संयम कहा जाता है और जब धारणा किसी अन्य विषयक हो और ध्यान तथा समाधि किसी अन्य विषयक हों तब इन तीनों का समुदाय संयम नहीं कहा जाता है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—तदेतदिति। तत् एतत्—सो यह, एकत्र—एकविषयविषयक जो, धारणाध्यानसमाधित्रयम्—धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों का समुदाय वह, संयमः—संयम कहा जाता है। इसीको स्पष्ट करते हैं—एकेति। त्रीणि साधनानि-जब ये धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप तीनों साधन, एकविषयाणि—एक विषयविषयक हों तब, संयम इति उच्यते—संयम इस शब्द से व्यवहृत होते हैं। अर्थात् जिस विषय में प्रथम धारणा की गई हो उसी विषय में यदि ध्यान तथा समाधि भी किये गए हों तब इन तीनों का समुदाय संयम कहा जाता है। धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों के समुदाय का वाचक संयम शब्द है, इस भ्रम को दूर करते हैं—तदिति। तत् अस्य त्रयस्य—सो इन तीनों के समुदाय को, संयम इति—संयम यह, तान्त्रिकी परिभाषा—योगशास्त्र की परिभाषा अर्थात् संकेत है। अर्थात् संयम शब्द का जो धारणाध्यानसमाधि अर्थ है, वह योग-शास्त्र की परिभाषा से है, शक्तिवृत्ति से नहीं। इति ॥ ४ ॥

संप्रति सूत्रकार पूर्वोक्त संयम के अभ्यास का फल कहते हैं—तज्जयात्प्रज्ञालोक इति। तज्जयात्—यथोक्त संयम के जय से, प्रज्ञालोकः-समाधि प्रज्ञा का आलोक होता है। भाव यह है कि, अभ्यास के बल से धारणा, ध्यान तथा समाधि का दृढ-परिपाक हो जाना "संयमजय" कहा जाता है और विजातीय प्रत्यय के अभावपूर्वक केवल ध्येयविषयक शुद्ध सात्त्विक प्रवाह रूप से बुद्धि का स्थिर होना "प्रज्ञालोक" कहा जाता है। तथा च जब उक्त प्रकार का संयमजय हो जाता है तब उसका फल रूप उक्त प्रकार का 'प्रज्ञाऽऽलोक' योगी को प्राप्त होता है, जिसके प्रभाव से योगी को संशय - विपर्ययादि मल शून्य ध्येय तत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार होता है।

तस्य संयमस्य जयात्माधिप्रज्ञाया भवत्यालोको यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा-तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥ ५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—तस्येति। तस्य संयमस्य जयात्—उस संयम के जय से, समाधिप्रज्ञायाः—समाधिजन्य बुद्धि का, आलोकः—आलोक, भवति—होता है। अर्थात् अभ्यास के बल से संयम के दृढ परिपाक होने से योगी की एक प्रकार की ऐसी बुद्धि प्राप्त होती है कि, जिससे ध्येय वस्तु का यथार्थ साक्षात्कार होता है। इसी अर्थ को पुनः स्पष्ट करते हैं—यथा यथेति। यथा यथा—जैसे जैसे, संयमः—संयम (धारणा, ध्यान, समाधि), स्थिरपदो भवति—स्थितिपद (दृढता) को प्राप्त होता है, तथा तथा—वैसे वैसे, समाधिप्रज्ञा—समाधिजन्य बुद्धि, विशारदीभवति—निर्मलता को प्राप्त होती है। अर्थात् सूक्ष्म व्यवहित आदि अर्थ को प्रत्यक्ष करने में समर्थ होती है। इति ॥ ५ ॥

संयम के जय से प्रज्ञालोक रूप फल प्राप्त होता है यह कहा गया। उस पर आशङ्का होती है कि—किस विषय में विनियुक्त संयम का यह फल प्राप्त होता है? इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—तस्य भूमिषु विनियोग इति। तस्य—उस संयम का, भूमिषु—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार रूप योग की भूमि अर्थात् अवस्थाओं में, विनियोगः—विनियोग (सम्बन्ध) है। अर्थात् समाधिपाद में जो ध्येय रूप स्थूल विषय - विषयक सवितर्क, निर्वितर्क तथा उक्त सूक्ष्म - विषय - विषयक सविचार, निर्विचार रूप समापत्ति नामक योग की चार भूमिकायें कही गई हैं, उनमें संयम करने से प्रज्ञालोक रूप फल प्राप्त होता है।

भाष्यकार पूर्वोक्त चार योगभूमियों में उल्लंघन करके नहीं किन्तु क्रमशः संयम का विनियोग प्रतिपादन करते हैं—तस्येति। तस्य जितभूमेः संयमस्य—उस पूर्वोक्त जितभूमिक संयम का, या अनन्तरा भूमिः—जो अव्यवहित अग्रिम अजित भूमि है, तत्र विनियोगः—उसमें विनियोग है। अर्थात् स्थूल ध्येय रूप विषयविषयक सवितर्क नामक समापत्ति रूप प्रथम योगभूमि पर संयम द्वारा विजय प्राप्त होने पर पश्चात् उससे अनन्तर जो निर्वितर्क नामक समापत्ति रूप द्वितीय योगभूमि है उस पर संयम द्वारा विजय प्राप्त करने के लिये अभ्यास करना चाहिये। एवं मध्य की भूमियों को उल्लंघन करके नहीं, किन्तु क्रमशः तृतीय तथा चतुर्थ भूमियों पर विजय प्राप्त करने के लिये अभ्यास करना चाहिये।

न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते। तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः।

इसी अर्थ को हेतु देते हुए भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—नह्यजितेति। हि—क्योंकि, अजिताधरभूमिः—जिसने पूर्व भूमि को नहीं जीता है वह, अनन्तरभूमिम् विलङ्घ्य—उत्तर की मध्य भूमि का उल्लंघन करके, प्रान्तभूमिषु—अन्तिम भूमियों में, संयमम् न लभते—संयम प्राप्त नहीं कर सकता है, अतः अनुक्रम से ही अग्रिम भूमिजय प्राप्त करना चाहिये। अन्यथा प्रज्ञालोक रूप फल की प्राप्ति नहीं होती है। इस बात को कहते हैं—तदभावादिति। च—और उल्लंघित भूमियों में, तदभावात्—उस संयम रूप साधन का अभाव होने से, तस्य—उस अजितपूर्वभूमिक योगी को, प्रज्ञालोकः कुतः—पूर्वोक्त प्रज्ञालोक रूप फल कहां से प्राप्त हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। भाव यह है कि,प्रथम भूमिक समाधि की सिद्धि होने पर द्वितीय की सिद्धि, द्वितीय की सिद्धि होने पर तृतीय की सिद्धि, और तृतीय की सिद्धि होने पर ही चतुर्थ की सिद्धि होती है। तत्पश्चात् प्रज्ञालोक रूप फल प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। अतः तत्कारणीभूत संयम का संबन्ध भी क्रमशः ही होना चाहिये, यह सिद्ध हुआ।

अतएव विष्णुपुराण में तत्तत् आयुध भूषणादि सहित स्थूल भगवद् विग्रह-विषयक समापत्ति सिद्ध होने पर उक्त आयुध - भूषणादि का त्याग द्वारा सूक्ष्म - विषयक समापत्ति का विधान क्रमानुसार ही किया गया है—

ततः शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितं बुधः।
चिन्तयेद् भगवद्‌रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम्॥ १॥
यदा च धारणा तस्मिन् अवस्थानवती ततः।
किरीटकेयूरमुखैर्भूषणै रहितं स्मरेत्॥ २॥
तदेकावयवं देवं सोऽहं चेति पुनर्बुधः।
कुर्यात्ततो ह्यहमिति प्रणिधानपरो भवेत्॥ ३॥

सबसे प्रथम, बुधः—योगी, शङ्खचक्रादि - आयुध तथा किरीटकेयूरादि भूषण सहित भगवान् के रूप का चिन्तन करे, ततः—उसके पश्चात्, शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितम्—शङ्ख; गदा, चक्र तथा शार्ङ्ग आदि आयुध रहित केवल, साक्षसूत्रकम्—अक्ष, सूत्रादि भूषण सहित ही, प्रशान्तम्—प्रशान्त, भगवद्रूपम्—भगवान् के रूप का, चिन्तयेत्—चिन्तन करे, च—और, यदा—जब तस्मिन् धारणा अवस्थानवती—उस रूप में धारणा स्थिरता को प्राप्त हो जाय, ततः—तब, उसको त्याग कर, किरीटकेयूरमुखैः भूषणैः रहितम्—किरीट - केयूर आदि प्रधान भूषणों से रहित केवल भगवान् के

ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः । कस्मात् । तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात् ।

भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः । कथम् ।

शरीरमात्र का, स्मरेत्–चिन्तन करे, तदेकावयवं देवम्–उसके पश्चात् उसको भी त्याग कर केवल भगवान् के मुखारविन्द रूप एक अवयव का ही चिन्तन करे, पुनः–फिर (उसके पश्चात्) उस स्थूल रूप को भी त्याग कर, सोऽहम् इति–"सोऽहम्" "सोऽहम्" इस प्रकार की सूक्ष्म विषयक भावना करे, ततः अहम् इति कुर्यात्–उसके पश्चात् "अहम्" "अहम्" इस प्रकार की अतिसूक्ष्म विषयक भावना करे, इति–इस प्रकार, बुधः-योगी, प्रणिधानपरः-ईश्वर-प्रणिधान में तत्पर, भवेत्–होवे। अर्थात् मध्य भूमिका को उल्लङ्घन करे विना अनुक्रम से ही योगी संयम का अभ्यास करे ।

समाधिपाद के "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इस सूत्र से यह कहा गया है कि–ईश्वरप्रणिधान से ईश्वरकृपा प्राप्त होती है, जिससे शीघ्र समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त होता है । इसका स्मरण भाष्यकार कराते हैं— ईश्वरप्रसादादिति । ईश्वरप्रसादात्–ईश्वर की कृपा से, जितोत्तरभूमिकस्य च–प्रथम से ही जीत लिया है उत्तर भूमि को जिसने ऐसे योगी को, परचित्तज्ञानादिषु अधरभूमिषु–"प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्" इस वक्ष्यमाण सूत्र से बोध्य प्रथम तथा मध्यम की भूमियों में, संयमः न युक्तः–संयम अपेक्षित नहीं है । इसमें हेतु पूछते हैं— कस्मादिति । कस्मात्–जितोत्तरभूमिक योगी को प्रथम तथा मध्यम की भूमियों में संयम अपेक्षित क्यों नहीं है ? सहेतुक उत्तर देते हैं— तदर्थस्येति । तदर्थस्य–उसको उत्तरभूमि विजय रूप प्रयोजन, अन्यतः एव–संयम से अन्य ईश्वरप्रणिधानजन्य ईश्वर-प्रसाद से ही, अवगतत्वात्–सिद्ध होने से पूर्व भूमियों में संयम अपेक्षित नहीं है । अर्थात् पूर्व-पुण्य परिपाक से, महात्माओं की कृपा से अथवा भक्ति से प्रथम-मध्यम भूमियों में संयम किये विना ही उत्तर की चरम-भूमि में चित्तस्थिति का लाभ हो जाता है तो पूर्वभूमियों में संयम का अनुष्ठान व्यर्थ है । क्योंकि, पूर्व - भूमियों में संयम करने का फल जो अन्तिम उत्तर-भूमि का लाभ था सो उसको ईश्वरकृपा से प्रथम से ही सिद्ध है ।

शङ्का होती है कि— यद्यपि शास्त्र से सामान्यतया अवान्तर सर्व भूमि ज्ञात हैं तथापि यह विशेषतया कैसे ज्ञात हो सकता है कि— यह प्रथम भूमि है, यह द्वितीय भूमि है, तथा यह तृतीय भूमि है ? इसका उत्तर देते हैं— भूमेरिति । अस्याः इयम् अन्तरा भूमिः–इस पूर्व भूमि की यह अन्तरा (पश्चात्) भूमि है, इत्यत्र–इसके परिज्ञान में, योग एव उपाध्यायः–योगाभ्यास ही उपाध्याय अर्थात् गुरु है । भाव

एवं ह्युक्तम्—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥ इति ॥६॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं संप्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ॥ ७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

यह है कि, जब पुरुष योग करने लगता है तब इसके पश्चात् क्या करना चाहिये, इस बात का पता स्वयं हो जाता है। इस कथन में प्रमाण पूछते हैं—कथमिति। कथम्-योग ही योग को सिखाता है, इसमें क्या प्रमाण है? उत्तर देते हैं—एवमिति। हि-क्योंकि, एवम्-इसी प्रकार शास्त्रान्तर में कहा है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥

योगः योगेन ज्ञातव्यः-योग, योग के द्वारा ही जानने योग्य है; क्योंकि, योगात् योगः प्रवर्त्तते-योग से ही योग प्रवृत्त (सिद्ध) होता है। यः तु योगेन अप्रमत्तः-जो योगी योग से अप्रमत्त (प्रमाद रहित) है अर्थात् सावधानी के साथ योग करता रहता है, सः चिरम् योगे रमते-वह दीर्घ-काल पर्यन्त योग में रमण करता है अर्थात् समाधि-सुख का अनुभव करता है। भाव यह है कि, योगबल से स्वयं पूर्व-उत्तर भूमि का परिज्ञान हो जाता है। इसमें योगशास्त्र का पूर्वोक्त श्लोक प्रमाण है। इति ॥ ६ ॥

शङ्का होती है कि, पूर्वोक्त यम-नियमादि आठ योग के अविशेष रूप से अंग कहे गए हैं। उनमें धारणादि तीन ही अंगों का उक्त योगभूमियों में विनियोग क्यों? आठों का क्यों नहीं? इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य इति। पूर्वेभ्यः-धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप तीन अंगों से पूर्व के जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार रूप पांच अंग हैं उनसे, त्रयम्-धारणादि तीन अंग समानविषयक होने से, अन्तरङ्गम्-अन्तरंग अंग हैं। अतः इन्हीं तीनों का उक्त योगभूमियों में विनियोग है, पूर्व के यमादि पांचों का नहीं। क्योंकि, वे बहिरंग अंग हैं ॥ ७ ॥

जो साक्षात् अथवा समानविषयक साधन हो वह अन्तरंग साधन कहा जाता है। धारणादि साधनत्रय संप्रज्ञात योग का समानविषयक साधन होने से इसी

तदप्यन्तरङ्ग-साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरङ्गं भवति। कस्मात्। तदभावे भावादिति ॥ ८ ॥

(संप्रज्ञात) का अन्तरंग साधन है, असंप्रज्ञात का नहीं। क्योंकि, धारणादि से असंप्रज्ञात योग-जन्य नहीं; किन्तु धारणादि के निरुद्ध होने के बहुत काल पीछे संप्रज्ञात की पराकाष्ठा रूप एवं ज्ञानप्रसाद रूप जो परवैराग्य है उससे जन्य है, एवं असंप्रज्ञात योग के निर्विषयक होने से उसके साथ धारणादि साधनों का समानविषयत्व भी नहीं है। इसी आशय से सूत्रकार निर्बीज-समाधि (असंप्रज्ञात - समाधि) के धारणादि तीनों साधन बहिरंग साधन हैं, ऐसा कहते हैं—तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्येति। तत् अपि–वह पूर्वोक्त धारणादि साधनत्रय संप्रज्ञात का अंतरंग साधन होने पर भी, निर्बीजस्य–निर्बीज अर्थात् निर्विषयक असंप्रज्ञात - समाधि का, बहिरङ्गम्–बहिरंग साधन ही है, अन्तरंग नहीं।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—तदपीति। तत् साधनत्रयम्–वह धारणा, ध्यान, समाधि रूप तीनों साधन, अन्तरङ्गम् अपि–संप्रज्ञात - समाधि के अन्तरंग साधन होने पर भी, निर्बीजस्य योगस्य–निर्विषयक असंप्रज्ञात समाधि के, बहिरङ्गं भवति–बहिरंग साधन ही है, अन्तरंग नहीं। इसमें शङ्कावादी हेतु पूछते हैं—कस्मादिति। कस्मात्–किस कारण से धारणादि साधनत्रय असंप्रज्ञात समाधि के अन्तरंग साधन नहीं हैं? अर्थात् अन्तरंगत्व का प्रयोजक जब अनन्तरत्व है तो धारणादि साधनत्रय से अनन्तर असंप्रज्ञात - समाधि तो है? फिर साधनत्रय असंप्रज्ञात - समाधि का अन्तरंग साधन क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हैं—तदभाव इति। तदभावे–धारणादि साधनत्रय के अभाव होने पर भी, भावात्–असंप्रज्ञात - समाधि के सत्त्व (विद्यमानत्व) होने से असंप्रज्ञात - समाधि का धारणादि साधनत्रय अन्तरंग साधन नहीं।

भाव यह है कि, साधन वही कहा जाता है, जिसके बिना साध्य सिद्ध न हो। जब धारणादि साधनत्रय के बिना भी असंप्रज्ञात - समाधि उक्त परवैराग्य से सिद्ध होता है तो व्यतिरेक - व्यभिचार होने से धारणादि साधनत्रय को असंप्रज्ञात - समाधि का साधन मानने में घट के प्रति रासभ के समान पञ्चम अन्यथासिद्ध कहा जायगा। इस प्रकार जब धारणादि साधनत्रय असंप्रज्ञात - समाधि का साधन ही सिद्ध नहीं हुआ तो अन्तरंग साधन न हो, इसमें कहना ही क्या है?

इसका विशेष स्पष्टीकरण यह है कि, साधनता का प्रयोजक दो हैं, अनन्तरत्व तथा समान विषयकत्व (जो विषय साध्य का हो वही साधन का भी होना)। उनमें प्रथम तो यहां सूत्रकार को अभिमत है नहीं; क्योंकि, "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इस सूत्र

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्त-परिणामः—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोध-क्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

से ईश्वर - प्रणिधान को संप्रज्ञात-समाधि का साधन माना है, और है वह बहिरंग साधन ही; क्योंकि, "त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः" इस सूत्र से धारणादि तीन ही को अन्तरंग साधन कहा है, ईश्वरप्रणिधान को नहीं। अतः यहां अनन्तरत्व को अन्तरंगत्व का प्रयोजक मानने में ईश्वर - प्रणिधान में अतिप्रसक्ति होगी ? अतः अन्तरंगत्व का प्रयोजक यहां पर द्वितीय समानविषयकत्व ही सूत्रकार को अभिमत है, यह कहना होगा और धारणादि साधनत्रय सविषयक है और असंप्रज्ञात - समाधि में त्रिपुटी का अभाव होने से वह निर्विषयक है। अतः समान विषयक न होने से धारणादि साधनत्रय असंप्रज्ञात - समाधि का अन्तरंग साधन नहीं, किन्तु बहिरंग साधन ही है। अतएव कहा गया "तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य"। और पूर्वोक्त प्रकार से धारणादि साक्षात् अनन्तर भी नहीं। अतः उक्त परवैराग्य ही असंप्रज्ञात-समाधि का अन्तरंग साधन समझना चाहिये, धारणादि साधनत्रय नहीं, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ ८ ॥

निर्बीज समाधि के प्रसंग में "परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्" इस वक्ष्यमाण सूत्र के उपयोगी परिणामत्रय प्रतिपादन की इच्छा से भाष्यकार शङ्का उठाते हैं— अथेति। अथ—इसके अनन्तर यह शंका होती है कि, चलं गुणवृत्तम्—गुणों का स्वभाव चञ्चल है, इति— इस कारण, निरोधचित्तक्षणेषु— जिस काल में त्रिगुणात्मक चित्त निरुद्ध हो जाता है उस काल में भी तो कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता होगा ? अतः, तदा कीदृशः चित्तपरिणामः—उस काल में किस प्रकार का चित्तपरिणाम होता है ? इस शंका का समाधान सूत्र से करते हैं—व्युत्थाननिरोध-संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणाम इति। व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः—व्युत्थानसंस्कार तथा निरोधसंस्कारों का जो क्रमशः, अभिभवप्रादुर्भावौ—अभिभव (तिरोभाव) और प्रादुर्भाव (आविर्भाव) उनके साथ जो, निरोधक्षणचित्तान्वयः—निरोध कालिक चित्त का अन्वय (सम्बन्ध) वह संस्कारशेष रूप, निरोधपरिणामः—निरोध - परिणाम कहा जाता है। अर्थात् निरोध काल में व्युत्थान संस्कारों की अतीतावस्था और परवैराग्य रूप निरोधसंस्कारों की वर्तमानावस्था रूप ही चित्त का परिणाम होता है, यह शंका का समाधान हुआ।

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः। निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः। तयोरभिभवप्रादुर्भावौ।

भाव यह है कि, पूर्वोक्त पञ्चभूमिक चित्त में जो क्षिप्त, मूढ तथा विक्षिप्तभूमिक चित्त वह व्युत्थान कहा जाता है। निरुद्धभूमिक चित्त की अपेक्षा एकाग्रभूमिक चित्त भी व्युत्थान ही कहा जाता है। तात्कालिक चित्त में जितनी वृत्तियां उत्पन्न होती हैं उन सबके संस्कार चित्त में विद्यमान रहते हैं। एवं "निरुध्यतेऽनेनेति निरोधः" इस व्युत्पत्ति से ज्ञानप्रसाद रूप परवैराग्य निरोध कहा जाता है। यह पर-वैराग्य रूप निरोध भी चित्त का ही धर्म होने से तात्कालिक निखिल संस्कार भी चित्त में ही विद्यमान रहते हैं। अतः धर्म रूप व्युत्थान संस्कार तथा निरोधसंस्कारों का धर्मी रूप चित्त ही आश्रय है। निरोधसमाधि काल में अभ्यासवश जैसे जैसे निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव होता जाता है, वैसे वैसे व्युत्थान संस्कारों का तिरोभाव भी होता जाता है। अतः इस प्रकार के दोनों अवस्था के संस्कारों के साथ जो चित्त का धर्मी रूप से अन्वय वह निरोधपरिणाम कहा जाता है। इस अवस्था के चित्त में जो केवल संस्कार ही शेष रहता है, उसी संस्कार रूप से उस समय चित्त परिणत होता रहता है। यह पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर हुआ। अतः व्युत्थान संस्कारों के नाश के लिये अभ्यास द्वारा निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव योगी करे, यह सिद्ध हुआ।

इस पर शंका होती है कि—"कारण कि निवृत्ति (नाश) होने से कार्य की भी निवृत्ति हो जाती है" यह नियम है। अतएव रागादि क्लेश अविद्या-मूलक होने से अविद्या के निवृत्त होने से ही रागादि क्लेश भी निवृत्त हो जाते हैं। रागादि क्लेशों की निवृत्ति के लिये अविद्या निवृत्ति के अति-रिक्त अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती है। वैसे ही व्युत्थानवृत्तिमूलक व्युत्थान संस्कार होने से व्युत्थान-वृत्ति के निरोध होने से ही व्युत्थान संस्कारों का भी निरोध हो सकता है। फिर व्युत्थान संस्कारों के निरोध के लिये निरोध संस्कारों की क्या आवश्यकता है।

भाष्यकार सूत्रार्थ के व्याज से इसका समाधान करते हैं—व्युत्थानेति। व्युत्था-नसंस्काराः—व्युत्थान - कालिक निखिल - संस्कार, चित्तधर्माः—चित्त के धर्म हैं, अर्थात् उनका उपादान कारण चित्त है, ते प्रत्ययात्मकाः न—वे प्रत्ययात्मक नहीं हैं अर्थात् प्रत्ययात्मक जो वृत्ति वह उनका उपादान कारण नहीं है किन्तु निमित्त कारण है, इति-इस कारण, प्रत्ययनिरोधे—वृत्ति के निरोध होने पर भी वे, न निरुद्धाः—निरुद्ध नहीं होते हैं, क्योंकि, उनका उपादान कारण जो चित्त है वह विद्य-मान है। अतः उनके निरोध के लिये निरोधसंस्कारों की आवश्यकता है। निरुद्धेति-

व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते निरोधसंस्कारा आधीयन्ते। निरोधक्षणं चित्तमन्वेति। तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः। तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

जैसे व्युत्थानसंस्कार चित्त के धर्म हैं, वैसे ही, निरुद्धसंस्काराः अपि—निरुद्ध संस्कार भी चित्त के ही धर्म हैं, वृत्ति के धर्म नहीं। अतः वृत्ति रूप निमित्त कारण के निवृत्त होने पर भी चित्त रूप उपादान कारण के विद्यमान रहने पर निरुद्ध संस्कार भी विद्यमान ही रहते हैं। कैवल्यकाल में चित्त के साथ ही निवृत्त होते हैं। तयोरिति। तयोः—उन्हीं दोनों व्युत्थानसंस्कार तथा निरुद्धसंस्कारों का अभ्यास द्वारा क्रमशः, अभिभवप्रादुर्भावौ-ह्रास तथा वृद्धि अर्थात्— व्युत्थानेति। व्युत्थानसंस्काराः हीयन्ते—व्युत्थान-संस्कार तिरोहित होते हैं और निरोधसंस्काराः आधीयन्ते—निरोध-संस्कार प्रादुर्भूत होते हैं। निरोधेति। निरोधक्षणम् चित्तम्—निरोधकालिक चित्त उन दोनों प्रकार के संस्कारों के साथ, अन्वेति—अन्वित होता है। तदेकस्येति। तत्—इस कारण, एकस्य चित्तस्य—एक चित्त का, प्रतिक्षणम् इदम्—प्रत्येक क्षण में जो यह संस्कारान्यथात्वम्—संस्कार का अन्यथा भाव वही, निरोधपरिणामः—निरोधपरिणाम कहा जाता है। तदेति। तदा—निरोध समाधि काल में संस्कारशेषम् चित्तम्—संस्कारशेष ही चित्त रहता है, इति—इस प्रकार, निरोधसमाधौ— निरोध समाधि काल में चित्तपरिणाम किस प्रकार का होता है यह जो प्रश्न किया था वह, व्याख्यातम्—व्याख्यात हुआ, अर्थात् उसका उत्तर हुआ।

भाव यह है कि—कारण दो प्रकार के होते हैं, निमित्त कारण और उपादान कारण। उसमें "निमित्त कारण के निवृत्त होने पर कार्य की भी निवृत्ति होती है।" यह नियम नहीं; किन्तु "उपादान कारण के निवृत्त होने पर कार्य की भी निवृत्ति होती है" यह नियम है। अन्यथा यदि निमित्त कारण के निवृत्त होने पर भी कार्य की निवृत्ति मानेंगे तो तन्तुवाय के निवृत्त होने पर पट की भी निवृत्ति होनी चाहिये और ऐसा होता तो नहीं है? अतः "निमित्त कारण के निवृत्त होने पर कार्य की निवृत्ति नहीं," किन्तु 'उपादान कारण के निवृत्त होने पर कार्य की भी निवृत्ति होती है" यही नियम है। प्रकृत में दृष्टान्तीभूत रागादि का उपादान कारण अविद्या है; अतः अविद्या के निवृत्त होने पर रागादि की भी निवृत्ति हो जाती है और दार्ष्टान्त में व्युत्थान-संस्कारों का उपादान कारण वृत्ति नहीं; किन्तु चित्त है, जो (चित्त) उस काल में भी विद्यमान है। अतः निमित्त कारण वृत्ति के निवृत्त होने पर भी उपादान कारण चित्त के विद्यामान रहने से व्युत्थानसंस्कार भी विद्यमाम ही रहते हैं अत एव

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्॥ १०॥

निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोऽभिभूयत इति॥ १०॥

उनकी निवृत्ति के लिये निरोधसंस्कारों की आवश्यकता है, यह द्वितीय शङ्का का समाधान हुआ। इति॥ ९॥

प्रश्न होता है कि—बलवान् निरोधसंस्कार के अभ्यास से व्युत्थानसंस्कार का सर्वथा अभिभव होने पर किस प्रकार का चित्तपरिणाम होता है? इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारादिति। तस्य—उस निरोध अवस्थाक चित्त की, संस्कारात्—निरोधसंस्कार के अभ्यास से, प्रशान्तवाहिता—व्युत्थान-संस्काररूप मल से रहित निरोधसंस्कारपरम्परामात्रवहनशील स्थिति होती है। अर्थात् उस काल में विमल निरोधसंस्कार धाराप्रवाहरूप से चित्तपरिणाम होता है यह उक्त प्रश्न का उत्तर हुआ।

इस प्रश्न पर होता है कि—पूर्वोक्त प्रशान्तवाहिता रूप विशेष निरोधसंस्कार-पटुता की अपेक्षा क्यों है, संस्कारसामान्य की ही अपेक्षा क्यों नहीं? इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं—निरोधेति। चित्तस्य—निरोध अवस्थाक चित्त को, प्रशान्त-वाहिता—पूर्वोक्त प्रशान्तवाहिता रूप, निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा भवति—निरोधसंस्कार के अभ्यास की जो पटुता (दृढता) उसकी अपेक्षा होती है। अर्थात् सामान्य निरोधसंस्कार से कार्य सिद्ध नहीं होता है, किन्तु विशेष प्रबल निरोधसंस्कार की अपेक्षा होती है। अन्यथा—तदिति। तत्संस्कारमान्द्ये—अभ्यास की मन्दता प्रयुक्त निरोधसंस्कार की मन्दता रहने पर, व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण—अनादि काल से अभ्यस्त व्युत्थान अवस्था के प्रबल संस्कार के द्वारा, निरोधधर्मः संस्कारः—निरोध अवस्था के दुर्बल संस्कार, अभिभूयते—तिरस्कृत (नष्ट) हो जाता है। अतः इस अवस्था में भी निरोधसंस्कार की पटुता के लिये प्रबल अभ्यास योगी को करते रहना चाहिये, यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि, यद्यपि व्युत्थानसंस्कार की अपेक्षा निरुद्धसंस्कार प्रबल है तथापि अभ्यास चालू न रहने पर इसमें मन्दता आ जाती है। इस अवस्था में व्युत्थान-संस्कार इसको दबा देते हैं। अतः इस अवस्था में भी अभ्यास चालू ही रखना चाहिये। इति॥ १०॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सर्वार्थता चित्तधर्मः । एकाग्रताऽपि चित्तधर्मः । सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः । एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः । तयो धर्मित्वेनानुगतं चित्तम् । तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त नवम सूत्र से असंप्रज्ञात-समाधि काल में होनेवाला निरोध परिणाम का स्वरूप और दशम सूत्र से उस निरोधपरिणाम का फल दिखाया गया । संप्रति निम्नलिखित सूत्र से संप्रज्ञातसमाधि काल में होनेवाला समाधिपरिणाम को दिखाते हैं—सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणाम इति । चित्तस्य—चित्त की, सर्वार्थतैकाग्रतयोः—विक्षिप्तता तथा एकमात्रविषयता का जो अनुक्रम से क्षयोदयौ—तिरोभाव तथा आविर्भाव होना वह, समाधिपरिणामः—समाधिपरिणाम कहा जाता है । अर्थात् चित्त के धर्म जो सर्वार्थता तथा एकाग्रता उन दोनों का यथाक्रम से जो क्षय तथा उदय अर्थात् व्युत्थान का तिरोभाव तथा एकाग्रता का आविर्भाव होना वह समाधिपरिणाम कहा जाता है ।

सर्वार्थता का अत्यन्त नाश शीघ्र एक ही बार के प्रयत्न से नहीं हो जाता है, किन्तु कालक्रम के अनुसार धीरे धीरे प्रथम तिरोभाव उसके पश्चात् अत्यन्त नाश होता है । इस बात को व्यक्त करते हुए भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—सर्वार्थतेति । सर्वार्थता चित्तधर्मः—सर्वार्थता अर्थात् अनेकाग्रता चित्त का धर्म है । एकाग्रता अपि चित्तधर्मः—एकाग्रता भी चित्त का ही धर्म है । सर्वार्थतायाः—सर्वार्थता का, क्षयः तिरोभावः इत्यर्थः—क्षय अर्थात् सत् का अत्यन्त नाश नहीं, किन्तु तिरोभाव अर्थ है । एवं, एकाग्रतायाः—एकाग्रता का, उदयः आविर्भावः इत्यर्थः—उदय अर्थात् असत् की उत्पत्ति नहीं किन्तु सत् का ही आविर्भाव अर्थ है । तयोः—उन दोनों धर्मों के साथ, धर्मित्वेन—धर्मिरूप से, चित्तम् अनुगतम्—चित्त अनुगत है । अर्थात् उक्त संस्कारों के अभिभव प्रादुर्भाव के साथ जैसे चित्त अन्वित है, वैसे ही इन दोनों के साथ भी अन्वित है । तत् इदम् चित्तम्—सो यह चित्त, अपायोपजनयोः—तिरोभाव आविर्भाव रूप, स्वात्मभूतयोः—अपने स्वरूप, धर्मयोः—उक्त धर्मों में, अनुगतम्—अन्वित होता हुआ जो, समाधीयते—समाहित होता है, सः—वह, चित्तस्य—चित्त का, समाधिपरिणामः—समाधिपरिणाम कहा जाता है ।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्तः उत्तरस्तत्सदृश उदितः। समाहितचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवाऽऽसमाधिभ्रेषादिति ।

निरोधपरिणाम और समाधिपरिणाम में केवल इतना ही भेद है कि—निरोधपरिणाम में व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव और निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव होता है और समाधिपरिणाम में उक्त संस्कारों का कारण व्युत्थान संस्कारों का नहीं, किन्तु व्युत्थान का ही क्षय और निरोधसंस्कारों का नहीं, किन्तु एकाग्रता रूप धर्म का उदय होता है। भाव यह है कि—प्रथम संप्रज्ञातसमाधि काल में व्युत्थान का तिरोभाव और एकाग्रता का आविर्भाव किया जाता है और असंप्रज्ञातसमाधि काल में निरोधसंस्कारों के आविर्भाव द्वारा व्युत्थानसंस्कारों का तिरोभाव किया जाता है। इति ॥ ११ ॥

संप्रति सूत्रकार संप्रज्ञातसमाधि की दृढ अवस्था का निरूपण करते हुए एकाग्रतापरिणाम का स्वरूप दिखाते हैं—ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम इति। पुनः—उसके पश्चात्, ततः—पूर्वोक्त विक्षिप्तता का निःशेष रूप से क्षय होने से जो, शान्तोदितौ—अतीत तथा वर्त्तमान (विनष्ट तथा उत्पद्यमान), तुल्यप्रत्ययौ—निरन्तर समानविषयक वृत्तिद्वय का तुल्य होना वह, चित्तस्य—चित्त का, एकाग्रतापरिणामः—एकाग्रतापरिणाम कहा जाता है। अर्थात् सजातीय एक एक वृत्ति नष्ट होती जाती है और सजातीय अन्य अन्य वृत्ति उत्पन्न होती जाती है। इस प्रकार का उस काल में जो चित्त का परिणाम वह एकाग्रतापरिणाम कहा जाता है।

भाष्यकार समाधिनिष्पत्ति को दिखाते हुए सूत्र का व्याख्यान करते हैं—समाहितचित्तस्येति। समाहितचित्तस्य—समाधि में आरूढ चित्त का, पूर्वप्रत्ययः शान्तः—पूर्व के प्रत्यय (वृत्ति) उदय होकर शान्त (नष्ट) होता है। पश्चात्, तत्सदृशः उत्तरः—उसके सदृश ही उत्तर का प्रत्यय, उदितः—उत्पन्न होता है, विलक्षण नहीं। समाहितेति। समाहितचित्तम्—समाधि में आरूढचित्त रूप धर्मी, पुनः तथा एव—फिर उसी प्रकार धारावाहिक एकाग्र सन्तान रूप जो, उभयोः—दोनों शान्त तथा उदित प्रत्यय रूप धर्म उनके साथ, आसमाधिभ्रेषात्—समाधिभ्रंश पर्यन्त अर्थात् जब तक व्युत्थान प्राप्त न हो तब तक, अनुगतम्—अनुगत अर्थात् अन्वित होता है। अर्थात् जैसे निरोध परिणाम - कालिक - चित्त व्युत्थानसंस्कार तथा निरोध संस्कारों के साथ अन्वित होता है। एवं जैसे समाधिपरिणामकालिक चित्तव्युत्थान तथा एकाग्रता के साथ अन्वित होता है। वैसे ही एकाग्रतापरिणामकालिक चित्त भी शान्त

स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

तथा उदित वृत्तियों के साथ अन्वित होता है। यही दोनों के साथ अन्वित होना उस चित्त का तात्कालिक परिणाम है।

"आसमाधिभ्रेषात्" इस पद के उपादान से भाष्यकार ने यह व्यक्त किया है कि-यह एकाग्रतापरिणाम तभी तक विद्यमान रहता है जब तक योगी समाधिस्थ रहता है और जब समाधि से योगी का उत्थान होता है तब विक्षेपप्रत्यय का भी पुनः उदय हो जाता है।

स इति। सः खलु अयम्-वही यह यथाक्रम पूर्व, उत्तर, शान्त, उदित सदृश प्रत्यय रूप धर्मों के साथ अन्वय होना, धर्मिणः चित्तस्य-धर्मी रूप चित्त का, एकाग्रतापरिणामः-एकाग्रतापरिणाम कहा जाता है।

समाधिपरिणाम और एकाग्रतापरिणाम में इतना भेद है कि—संप्रज्ञातसमाधि के प्रथम क्षण में व्युत्थानप्रत्यय उदय होकर जब शान्त हो जाता है, तब द्वितीय क्षण में एकाग्रता रूप प्रत्यय उदय होता है। इस प्रकार पूर्व का व्युत्थानप्रत्यय और उत्तर का एकाग्रता प्रत्यय दोनों परस्पर विलक्षण हैं, तुल्य नहीं। क्योंकि, पूर्व का व्युत्थानप्रत्यय शान्त हुआ है, वह विक्षेप रूप है और उत्तर का एकाग्रता रूप प्रत्यय जो उदय हुआ है, वह निरोध रूप है। इस प्रकार विक्षेप की शान्ति और निरोध की उत्पत्ति रूप जो चित्त का परिणाम वह समाधिपरिणाम कहा जाता है। और संप्रज्ञातसमाधि काल में ही दृढ अभ्यास के बल से जब पूर्वोक्त विक्षेपप्रत्यय का अत्यन्त अभाव हो जाता है तब निरन्तर प्रतिक्षण निरोधप्रत्यय ही उदय होता है। इस अवस्था में प्रथम क्षण में उदय होकर शान्त हुआ जो प्रत्यय वह भी निरोध रूप है और द्वितीय क्षण में उदय हुआ जो प्रत्यय वह भी निरोध रूप ही है। एवं द्वितीय क्षण में उदय होकर शान्त हुआ जो प्रत्यय वह भी निरोध रूप है और तृतीय क्षण में उदय हुआ जो प्रत्यय वह भी निरोध रूप ही है। इस प्रकार जितने प्रत्यय उदय हो होकर शान्त होते वे सब निरोध रूप ही होते हैं। अतः इस अवस्था में पूर्वोत्तर में दोनों प्रत्यय तुल्य हैं, विलक्षण नहीं। इस प्रकार निरोधप्रत्यय की ही शान्ति और निरोधप्रत्यय की ही जो उत्पत्ति रूप चित्त का परिणाम वह एकाग्रतापरिणाम कहा जाता है। ये दोनों परिणाम संप्रज्ञातसमाधि काल में ही होते हैं, असंप्रज्ञातसमाधि काल में नहीं। क्योंकि, असंप्रज्ञातसमाधिकालिक चित्त में कोई भी प्रत्यय उदय नहीं होता है। संस्कार ही शेष रहता है। अतः उस अवस्था में निरोधपरिणाम होता है। इस प्रकार विवेक कर लेना चाहिये।

एकाग्रता द्वादशगुणा धारणा, धारणा द्वादशगुण ध्यान, ध्यान द्वादशगुण समाधि और समाधि द्वादशगुण संप्रज्ञात योग कहा जाता है। इतना और भी विशेष समझना

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

चाहिये। अतः व्युत्थान कालिक विक्षेप की निवृत्ति के लिये असंप्रज्ञात योग का सतत अभ्यास योगी करता रहे। संप्रज्ञात योग की प्राप्ति से ही अपने को कृतकृत्य मान न बैठे, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ १२ ॥

संप्रति सूत्रकार प्रसंग से तथा "परिणामत्रयसंयमात्" इस आगामी सूत्र के उपयोगी "चित्त के सदृश सर्व पदार्थ परिणामी हैं" इस अर्थ को बोधन करने के लिये भूतेन्द्रियादि पदार्थों में भी तीन प्रकार के परिणाम का अतिदेश करते हैं—एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याता इति। एतेन—इस पूर्वोक्त चित्त के परिणाम कथन करने से ही, भूतेन्द्रियेषु—भूत तथा इन्द्रियों में भी, धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम, व्याख्याताः—व्याख्यात हुए। अर्थात् चित्त के पूर्वोक्त तीन प्रकार के परिणाम कथन करने से ही भूतादि सर्व पदार्थों के भी उक्त तीन प्रकार के परिणाम सिद्ध हुए। यद्यपि सूत्रकार ने शब्द से इन तीन प्रकार के परिणामों का निर्देश नहीं किया है, तथापि निरोधपरिणाम के कथन से सूचित किया है, ऐसा समझना चाहिये।

भाव यह है कि—चित्त है धर्मी और व्युत्थानसंस्कार तथा निरोधसंस्कार हैं धर्म। धर्मी - रूप चित्त के विद्यमान रहते ही जो धर्म रूप व्युत्थानसंस्कारों का तिरोभाव और निरोधसंस्कारों का आविर्भाव वह निरोधपरिणाम कहा जाता है। और धर्मी के विद्यमान रहते ही जो पूर्व धर्म का तिरोभाव और उत्तर धर्म का आविर्भाव वह धर्मपरिणाम कहा जाता है। अतः निरोधपरिणाम का जो अर्थ है वही धर्मपरिणाम का भी अर्थ होने से निरोधपरिणाम के कथन से ही धर्मपरिणाम भी कथित हो गया।

चित्त धर्मी है और निरोधसंस्कार उसका धर्म है, यह कहा गया। जब तक निरोधसंस्कार रूप धर्म का आविर्भाव नहीं हुआ है तब तक वह अनागत लक्षणवाला, और उसका आविर्भाव हो जाता है तब वह वर्त्तमान लक्षणवाला, एवं जब वह नष्ट हो जाता है तब अतीत लक्षणवाला कहा जाता है। निरोधसंस्कार रूप धर्म को अनागत काल के त्यागपूर्वक वर्तमान काल का लाभ होना लक्षणपरिणाम कहा जाता है। अनागतकाल का त्याग पूर्वधर्म का तिरोभाव रूप है और वर्तमानकाल का लाभ उत्तरधर्म का आविर्भाव रूप है। अतः निरोध परिणाम का जो अर्थ है वही लक्षणपरिणाम का भी अर्थ होने से निरोधपरिणाम के कथन से ही लक्षणपरिणाम भी कथित हो गया।

जब योगी समाधिस्थ होता है तब व्युत्थानसंस्कार अपने वर्त्तमान लक्षण को त्यागकर अतीत लक्षण को प्राप्त होता है और निरोधसंस्कार अनागतलक्षण को त्याग

एतेन पूर्वोक्तेन चित्तरिपणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः। तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः।

कर वर्तमानलक्षण को प्राप्त होता है। इसी प्रकार आगे जो व्युत्थानसंस्कार उत्पन्न होगा तो वह अनागतलक्षण को त्याग कर वर्तमानलक्षण को प्राप्त होगा इत्यादि।

लक्षणपरिणाम सूक्ष्म तथा स्थूल के भेद से दो प्रकार का है। व्युत्थान संस्कारों की वर्तमानता-दशा में निरोधसंस्कारों की जो अनागतता-दशा वह निरोधसंस्कारों का सूक्ष्मलक्षणपरिणाम और व्युत्थानसंस्कारों की अतीता-दशा में जो निरोधसंस्कारों की वर्तमानता दशा वह निरोधसंस्कारों का स्थूल लक्षणपरिणाम कहा जाता है।

जैसे चित्त रूप धर्मी का निरोधसंस्कार रूप धर्मपरिणाम एवं निरोधसंस्कार रूप धर्म का वर्तमान-दशा रूप लक्षणपरिणाम होता है, वैसे ही वर्तमानता-दशा रूप लक्षण का अवस्थापरिणाम भी होता है। निरोधसंस्कारों की वर्तमानता-दशा में जो निरोधसंस्कारों की प्रबलता और व्युत्थानसंस्कारों की दुर्बलता वह अवस्थापरिणाम कहा जाता है। यहां भी व्युत्थानसंस्कारों की जो दुर्बलता वह तिरोभाव रूप है और निरोधसंस्कारों की जो प्रबलता वह आविर्भाव रूप है। अतः निरोधपरिणाम का जो अर्थ है वही अवस्था परिणाम का भी अर्थ होने से निरोधपरिणाम के कथन से ही अवस्थापरिणाम भी कथित हो गया। अत एव सूत्रकार ने कहा कि, चित्त के निरोधपरिणाम के व्याख्यान से ही भूतेन्द्रियादि निखिल पदार्थों में भी धर्मलक्षण अवस्थापरिणाम व्याख्यात हुए।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—एतेनेति। एतेन पूर्वोक्तेन—इस पूर्वोक्त धर्मलक्षणावस्थारूपेण—धर्म, लक्षण तथा अवस्था रूप, चित्तपरिणामेन—चित्त के परिणाम कथन करने से, भूतेन्द्रियेषु—भूत तथा इन्द्रियों में भी, धर्मपरिणामः—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणामः—लक्षणपरिणाम, च—और, अवस्थापरिणामः—अवस्थापरिणाम, उक्तः वेदितव्यः—उक्त हुआ ऐसा समझना चाहिये।

शङ्का होती है कि—सूत्रकार ने "व्युत्थाननिरोध" इत्यादि पूर्वोक्त नवम सूत्र से तो चित्तपरिणाम का ही कथन किया है, धर्म लक्षण तथा अवस्था - परिणाम का नहीं; फिर यहां प्रकृत सूत्र से चित्तपरिणाम के व्याख्यान से इनका भी व्याख्यान हो गया, ऐसा क्यों कह रहे हैं?

इसका समाधान करते हैं—तत्रेति। तत्र—"व्युत्थाननिरोध" इत्यादि पूर्वोक्त नवम सूत्र में, व्युत्थाननिरोधयोः धर्मयोः—व्युत्थानधर्म और निरोधधर्मों का जो, अभिभवप्रादुर्भावौ—अभिभव और प्रादुर्भाव कहा गया है वही, धर्मिणि—धर्मी में

लक्षणपरिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः ।

स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो

भी, धर्मपरिणामः–धर्मपरिणाम कहा गया है । अर्थात् उसी कथन से चित्तपरिणाम का धर्म, लक्षण, अवस्था रूप से तीन विभाग भी सूचित किये हैं ।

भाव यह है कि– यद्यपि सूत्रकार ने पूर्वोक्त नवम सूत्र में शब्द से धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम रूप विभाग का कथन नहीं किया है तथापि व्युत्थानात्मक पूर्वधर्म का तिरोभावपूर्वक जो निरोधात्मक उत्तर धर्म का प्रादुर्भाव रूप निरोधपरिणाम का कथन किया है, उसीसे धर्म, लक्षण तथा अवस्था - परिणाम का भी स्वरूप तथा विभाग का सूचन हो गया है । क्योंकि, चित्त रूप धर्मी के विद्यमान रहते हुए ही जो पूर्व के व्युत्थान धर्म का तिरोभाव और उत्तर के निरोधधर्म का आविर्भाव रूप निरोधपरिणाम का कथन किया है; वही तो धर्म, लक्षण, अवस्थापरिणाम कहा जाता है । अतः इसीसे इन तीनों परिणामों का भी व्याख्यान हो गया ऐसा समझने में कोई कठिनाई नहीं ।

इस धर्मपरिणाम का सूचन करने से धर्म में रहनेवाला लक्षण-परिणाम भी सूचित हुआ है । इस बात को कहते हैं—लक्षणेति । यहां पर "लक्ष्यते भिद्यतेऽनेनेति लक्षणम्" इस व्युत्पत्ति से लक्षण शब्द भेद करानेवाला कालवाचक है । क्योंकि, लक्षण रूप काल से लक्षित जो वस्तु वह अन्य वस्तु से भिन्न होकर बोधित होती है । इसी प्रकार अध्व शब्द भी यहां अनागत, वर्तमान तथा अतीत रूप कालवाचक ही है, तथाच—त्रिभिः अध्वभिः–तीन प्रकार के भेद करानेवाला अनागत, वर्त्तमान तथा अतीत रूप काल से युक्त जो, त्रिलक्षणः–तीन प्रकार का प्रादुर्भूत धर्म रूप, निरोधः–निरोध वह, लक्षणपरिणामः–लक्षणपरिणाम कहा जाता है । अर्थात् विद्यमान धर्म को अनागतादि काल के त्यागपूर्वक जो वर्त्तमानादि काल का लाभ होना वह लक्षण-परिणाम कहा जाता है । यहां विद्यमान धर्म निरोधसंस्कार है, जो अनागतता को त्याग कर वर्त्तमानता का लाभ रूप लक्षणपरिणाम को प्राप्त हुआ है । इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं—स इति । सः खलु–वही निरोध प्रादुर्भाव काल में, प्रथमम् अनागतलक्षणम्–अध्वानम् हित्वा–सर्वप्रथम अनागतरूप काल को त्याग करके, धर्मत्वम् अनतिक्रान्तः–सिद्धान्त में सत्कार्यवाद का स्वीकार होने से अपने धर्मत्व को अतिक्रमण न करता हुआ, अर्थात् निरोधचित्त का धर्म विद्यमान रहता हुआ, वर्त्तमानलक्षणम् प्रतिपन्नः–वर्त्तमान स्वरूप को प्राप्त होता है, अर्थात् निरोध नष्ट नहीं होता है, किन्तु जो निरोध अनागत था वही इस समय वर्त्तमान (अर्थक्रिया करने में समर्थ) हो जाता है ।

वर्त्तमानलक्षणं प्रतिपन्नः। यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः। एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा।

न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः। तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं वर्त्तमानलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्। एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा।

इसी वर्त्तमान निरोध को अतीत अनागत निरोध से पृथक् करके दिखाते हैं— यत्रेति। यत्र–जिस काल में, अस्य–इस वर्त्तमान निरोध की, स्वरूपेण–स्व - उचित अर्थक्रियाकारी (अर्थसिद्धि के अनुकूल क्रिया करनेवाला) रूप से, अभिव्यक्तिः– उपलब्धि होती है, अर्थात् अतीत तथा अनागत निरोध अर्थ को सिद्ध नहीं करता है, किन्तु वर्त्तमान निरोध ही अर्थ को सिद्ध करता है। इतना ही अतीत अनागत निरोध से वर्त्तमान निरोध में भेद है। वर्त्तमान निरोध की अनागत निरोध की अपेक्षा द्वितीयता प्रतिपादन करते हैं—एष इति। एषः–यह, अस्य–इस वर्त्तमान निरोध का अनागत की अपेक्षा, द्वितीयः अध्वा–द्वितीय काल कहा जाता है। अर्थात् निरोध का प्रथम काल अनागत और द्वितीय काल वर्त्तमान कहा जाता है। सिद्धान्त में सत्कार्यवाद के स्वीकार होने से असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश नहीं माना जाता है। इस बात को फिर दिखाते हैं—न चेति। यह वर्त्तमानकालिक निरोध रूप धर्म का जो लक्षणपरिणाम है वह, अतीतानागताभ्याम् लक्षणाभ्याम्–अतीतलक्षणपरिणाम तथा अनागतलक्षणपरिणाम से, वियुक्तः न च–रहित नहीं है, किन्तु उन दोनों के सहित ही है। अर्थात् अनागतलक्षणपरिणाम के नष्ट होने पर वर्त्तमानलक्षणपरिणाम उत्पन्न होता है। और वर्त्तमानलक्षणपरिणाम के नष्ट होने पर अतीत लक्षणपरिणाम उत्पन्न होता है ऐसा नहीं; किन्तु उक्त अनागत ही वर्त्तमान और उक्त वर्त्तमान ही अतीत भाव को प्राप्त होता है, यह सिद्धान्त है। अनागत निरोध के वर्त्तमानता रूप द्वितीय अध्वा को दिखा कर वर्त्तमान व्युत्थान के अतीतता रूप तृतीय अध्वा को दिखाते हैं—तथेति। तथा–वैसे ही, त्रिभिः अध्वभिः युक्तम्–तीन प्रकार के भेद करानेवाले काल से युक्त, त्रिलक्षणम् व्युत्थानम्-तीन प्रकार के व्युत्थान, वर्त्तमानलक्षणम् हित्वा–वर्त्तमान रूप काल को त्याग करके, धर्मत्वम् अनतिक्रान्तम्–अपने धर्मत्व को अतिक्रमण न करता हुआ, अतीतलक्षणम् प्रतिपन्नम्–अतीत स्वरूप को प्राप्त होता है। इस अतीत अवस्थाक निरोध की, अनागत तथा वर्त्तमान अवस्थाक निरोध की अपेक्षा तृतीय अवस्था कहते हैं—एष इति। एषः-यह, अस्य–इस अतीत निरोध का अनागत तथा

न चानागतवर्त्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तम् । एवं पुनर्व्युत्थानमुपसंपद्यमानमनागतलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्त्तमानलक्षणं प्रतिपन्नम् ।

यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापारः । एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा ।

वर्त्तमान की अपेक्षा, तृतीयः अध्वा–तीसरा काल है, अर्थात् निरोध का प्रथम काल अनागत, द्वितीय काल वर्त्तमान तथा तृतीय काल अतीत कहा जाता है।

पूर्ववत् सिद्धान्त में सत्कार्यवाद के स्वीकार होने से असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश नहीं होता है। इस बात का स्मरण कराते हैं—न चेति। यह अतीत कालिक निरोध रूप धर्म का जो लक्षणपरिणाम है वह, अनागतवर्त्तमानाभ्यां लक्षणाभ्याम्–अनागत लक्षणपरिणाम तथा वर्त्तमानलक्षणपरिणाम से, वियुक्तम् नच–रहित नहीं है; किन्तु इन दोनों के सहित ही है। अर्थात् अनागत तथा वर्त्तमान के नष्ट होने पर अतीतलक्षणपरिणाम उत्पन्न होता है ऐसा नहीं, किन्तु अनागत ही वर्त्तमान होते हुए अतीत भाव को प्राप्त होता है। इस प्रकार निरोधकाल में व्युत्थान तथा निरोध के लक्षण-परिणाम दिखा कर संप्रति व्युत्थान काल में भी उन (व्युत्थान तथा निरोध) के क्रमशः लक्षणपरिणाम दिखाते हैं—एवमिति। एवम् पुनः-इसी प्रकार फिर, व्युत्थानम्-व्युत्थान भी, उपसंपद्यमानम्–प्रादुर्भूत होता हुआ, अनागतलक्षणम् हित्वा–अनागत रूप काल को त्याग करके, धर्मत्वम् अनतिक्रान्तम्–सिद्धान्त में सत्कार्यवाद के स्वीकार होने से अपना धर्मत्व को अतिक्रमण न करता हुआ, वर्त्तमानलक्षणम् प्रतिपन्नम्–वर्त्तमान स्वरूप को प्राप्त होता है। अर्थात् व्युत्थान भी नष्ट नहीं हो जाता है; किन्तु जो व्युत्थान आनागत था वही इस समय वर्त्तमान भाव को प्राप्त (अर्थक्रिया करने में समर्थ) हो जाता है।

वर्त्तमान व्युत्थान को अतीत अनागत व्युत्थान से पृथक् करके दिखाते हैं—यत्रेति। यत्र–जिस काल में, अस्य–इस वर्तमान कालिक व्युत्थान का, स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्याम्–स्वरूप की उपलब्धि रहने पर ही, व्यापारः–अर्थक्रिया का संपादन करना रूप व्यापार होता है, अर्थात् अतीत अनागत काल में व्युत्थान अर्थक्रिया रूप व्यापार करने में समर्थ नहीं होता है; किन्तु वर्त्तमान काल में ही उक्त व्यापार करने में समर्थ होता है। वर्तमान व्युत्थान की अनागत व्युत्थान की अपेक्षा द्वितीयावस्था प्रतिपादन करते हैं --एष इति। एषः–यह, अस्य–इस वर्तमान रूप व्युत्थान का अनागत की अपेक्षा, द्वितीयः अध्वा–द्वितीय काल (अवस्था) कहा जाता है। अर्थात् व्युत्थान रूप पदार्थ का प्रथम काल (अवस्था) अनागत और द्वितीय काल वर्तमान

न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तमिति ।

एवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति । तथावस्थापरिणामः ।
तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थान-
संस्कारा इति ।

कहा जाता है । सत्कार्यवाद के नियमानुसार व्युत्थान के वर्तमानलक्षणपरिणाम काल में अतीतलक्षणपरिणाम तथा अनागतलक्षणपरिणाम की विद्यमानता दिखाते हैं—न चेति । यह व्युत्थान रूप धर्म का जो वर्तमानलक्षणपरिणाम वह, अतीतानागता-भ्याम् लक्षणाभ्याम्—अतीतलक्षणपरिणाम तथा अनागतलक्षणपरिणाम से, वियुक्तम् न च—रहित नहीं है; किन्तु उन दोनों के सहित ही है । अर्थात् अनागत नष्ट होकर वर्तमान और वर्तमान नष्ट होकर अतीत होता है ऐसा नहीं; किन्तु अनागत ही वर्त-मान और वर्तमान ही अतीत होता है ।

यहां "एवं व्युत्थानम्" इस पंक्ति में "एवम्" पद के उपादान से भाष्यकार ने निरोध के जैसे अतीत रूप तृतीय अध्वा (अवस्था) है, वैसे ही व्युत्थान के भी अतीत रूप तृतीय अध्वा समझना चाहिये ऐसा बोधन किया है । अर्थात् अनागत की अपेक्षा वर्त्तमान जैसे द्वितीय अध्वा है, वैसे ही अनागत तथा वर्त्तमान की अपेक्षा अतीत भी तृतीय अध्वा कहा जाता है । एवं निरोध के जैसे तीन अध्वा हैं वैसे ही व्युत्थान के भी तीन अध्वा समझना चाहिये । साथ ही यह समझना चाहिये कि, यह अतीत रूप तृतीय अध्वा भी अनागत वर्त्तमान रूप प्रथम द्वितीय अध्वा से रहित नहीं किन्तु तत्स-हित ही है । अतः भाष्यकार के कथन में न्यूनता नहीं ।

यह व्युत्थाननिरोधपरिणामचक्र अपवर्ग पर्यन्त चालू रहता है । इस बात को संक्षेप से प्रतिपादन करते हैं—एवमिति । एवम् पुनः निरोधः—इस प्रकार फिर निरोध और, एवम् पुनः व्युत्थानम्—इस प्रकार फिर व्युत्थान, इति—इस प्रकार निरोध के पश्चात् व्युत्थान और व्युत्थान के पश्चात् निरोध रूप व्युत्थाननिरोधपरिणामचक्र कैवल्य पर्यन्त सतत चालू ही रहता है । यद्यपि निरोधसमाधि काल में निरोध-लक्षणपरिणाम ही है, व्युत्थानलक्षणपरिणाम नहीं; तथापि आहारविहारार्थ जब समाधि से उत्थान होता है तब व्युत्थानलक्षणपरिणाम समझना चाहिये । इस प्रकार चित्त का धर्मपरि-णाम तथा धर्म का लक्षणपरिणाम दिखा कर संप्रति क्रमप्राप्त लक्षण का अवस्थापरि-णाम दिखाते हैं—तथेति । तथा—वैसे ही, अवस्थापरिणामः—अवस्थापरिणाम भी समझना चाहिये । तत्र निरोधक्षणेषु—उस निरोधसमाधि काल में, निरोधसंस्काराः बलवन्तः—निरोधसंस्कार बलवान् और, व्युत्थानसंस्काराः दुर्बलाः—व्युत्थानसंस्कार दुर्बल, भवन्ति—होते हैं । अर्थात् जब निरोधसमाधि की वर्त्तमान अवस्था होती है

एष धर्माणामवस्थापरिणामः। तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां त्र्यध्वनां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इति।

एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते। चलं च गुणवृत्तम्। गुणस्वाभाव्यं तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति।

तब जो निरोधसंस्कारों की प्रबलता और व्युत्थान संस्कारों की दुर्बलता रूप तारतम्य अवस्था होती है, वही अवस्था अवस्थापरिणाम कही जाती है। उपसंहार करते हैं—एष इति। एषः–यही निरोधसंस्कारों की प्रबलता और व्युत्थानसंस्कारों की दुर्बलता रूप, धर्माणाम्–निरोध धर्मों का, अवस्थापरिणामः–अवस्थापरिणाम कहा जाता है।

इस प्रकार परिणामत्रय का व्याख्यान करके संप्रति संबन्धी के भेद से परिणामों का भेद है, वास्तविक नहीं; इस बात का निर्धारण कराते हैं—तत्रेति। तत्र–इन तीन प्रकार के परिणामों में, धर्मिणः–सत् रूप से विद्यमान चित्त रूप धर्मी का, धर्मैः–क्रमशः व्युत्थान निरोध का तिरोभाव आविर्भावात्मक धर्म रूप से, परिणामः–परिणाम होता है, अर्थात् धर्मी का धर्म रूप संबन्धी के भेद से परिणाम होता है, वास्तविक नहीं। त्र्यध्वनाम् धर्माणाम–अनागत, वर्तमान तथा अतीत रूप तीन अध्ववाले उक्त निरोध धर्मों का, लक्षणैः–अनागत का तिरोभाव और वर्तमान का आविर्भाव-आत्मक लक्षण रूप से, परिणामः–परिणाम होता है। अर्थात् धर्मों का लक्षण रूप संबन्धी के भेद से परिणाम होता है, वास्तविक नहीं। और, लक्षणानाम् अपि–उक्त लक्षणों का भी, अवस्थाभिः–निरोध की वर्तमानदशा में निरोधसंस्कारों की प्रबलता और व्युत्थानसंस्कारों की दुर्बलतात्मक अवस्था रूप से, परिणामः–परिणाम होता है। अर्थात् लक्षणों के अवस्था रूप संबन्धी के भेद से परिणाम होता है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार धर्म लक्षण अवस्था रूप संबन्धी के भेद से परिणामभेद है, वास्तविक नहीं, यह सिद्ध हुआ।

यह धर्म लक्षण अवस्था परिणाम किसी समय होता है, किसी समय नहीं, ऐसा नहीं; किन्तु निरन्तर चालू ही रहता है। इस बात को कहते हैं—एवमिति। एवम्–इस प्रकार धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः–धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम से, शून्यम्–रहित, क्षणम् अपि–एक क्षण भी, गुणवृत्तम्–सत्त्वरजस्तम रूप गुणों के व्यापारवाले पदार्थ, न अवतिष्ठते–नहीं रहते हैं; किन्तु जितने भी त्रिगुणात्मक पदार्थ हैं वे सब प्रतिक्षण परिणाम को ही प्राप्त होते रहते हैं। यह पूर्वोक्त धर्म लक्षण अवस्था रूप परिणाम सदा चालू रहते हैं, इसमें हेतु देते हैं—चलञ्चेति। च–क्योंकि, गुणवृत्तम्–व्यापारशील सत्त्वादि गुणों का स्वभाव ही, चलम्–चञ्चल है।

एतेन भूतेन्द्रियादिषु धर्मधर्मिभेदात् त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः। परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः। धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्चयत इति।

तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्त्तमानस्यैवाऽध्वस्वतीतानागतवर्त्तमानेषु

अतः त्रिगुणात्मक सर्व पदार्थ निरन्तर परिणाम को ही प्राप्त होते रहते हैं। गुणस्वभाव की चञ्चलता में प्रमाण देते हैं—गुणेति। गुणानाम्–सत्त्वादि गुणों के, प्रवृत्तिकारणम् तु–प्रवृत्ति (चञ्चलता) का कारण तो, गुणस्वाभाव्यम्–गुणों की स्वभावता ही है, इति–इस प्रकार पूर्वाचार्यों ने, उक्तम्–कहा है। अर्थात् जैसे मुख्य नृपादि स्वामी के लिये गौण भृत्यादि का व्यापार सतत चालू रहना स्वभाव ही है, वैसे ही मुख्य पुरुष रूप स्वामी के लिये गौण सत्त्वादि का व्यापार भी सतत चालू रहना स्वभाव ही है। इसी पूर्वोक्त तीन प्रकार के चित्तपरिणाम को सूत्रकार ने भूतेन्द्रियादि सकल पदार्थों में अतिदेश किया है। इस बात का स्मरण कराते हैं—एतेनेति। एतेन–इस चित्तपरिणाम के कथन से, भूतेन्द्रियादिषु–भूत तथा इन्द्रियादि निखिल पदार्थों में; धर्मधर्मिभेदात्–धर्म तथा धर्मी के भेद से अर्थात् धर्मधर्मी का आश्रय करके, त्रिविधः–तीन प्रकार का, परिणामः–परिणाम, वेदितव्यः–जानना चाहिये। अर्थात् भूत पृथिव्यादि धर्मियों का गोघटादि रूप धर्मपरिणाम, गोघटादि धर्मों का अतीत, अनागत, वर्तमान रूप लक्षणपरिणाम और वर्त्तमानलक्षणापन्न गोघटादि का बाल्य, कौमार, यौवन तथा वार्धक्य रूप अवस्थापरिणाम समझना चाहिये। इसी प्रकार इन्द्रियादि धर्मियों का भी नीलपीतादि का आलोचन (ज्ञान) रूप धर्म - परिणाम, नीलादि आलोचन धर्म का वर्तमानतादि लक्षणपरिणाम और वर्तमानलक्षण रत्नादि आलोचन का स्फुटत्व, अस्फुटत्वादि अवस्थापरिणाम समझना चाहिये।

यह भूतेन्द्रियपरिणाम जब धर्मी में और धर्म लक्षण अवस्था में परस्पर भेद का आश्रय किया जाय तब समझना चाहिये और जब अभेद का आश्रय किया जाय तब नहीं। इस बात को कहते हैं—परमार्थत इति। परमार्थतस्तु–वास्तविक रूप से विचार किया जाय तो, एकः एव परिणामः–धर्मी का धर्म रूप एक ही परिणाम है। इसमें हेतु देते हैं—धर्मीति। हि–क्योंकि, धर्मिस्वरूपमात्रः धर्मः–धर्मी के स्वरूपमात्र ही धर्म होता है, तत्त्वान्तर नहीं, एषा–यह धर्म लक्षण तथा अवस्था के द्वारा इनका भिन्न भिन्न व्यवहार होता है, इति–अतः धर्म को धर्मी स्वरूप मानने पर भी व्यवहार-सांकर्य रूप दोष नहीं।

शङ्का होती है कि- धर्म तथा धर्मी को एक मानने पर जैसे घटशरावादि धर्मों में "यह घट है" "यह शराव है" इत्यादि अन्यथात्व (भिन्नता) देखा जाता है, वैसे ही

भावान्यथात्वं भवति न तु द्रव्यान्यथात्वम्। यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति।

अपर आह—धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्। पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येनैव परिवर्तेत यद्यन्वयी स्यादिति।

मृत्तिकादि धर्मी में भी अन्यथात्व देखा जाना चाहिये ? इसका समाधान दृष्टान्त द्वारा करते हैं—तत्रेति। यथा—जैसे, सुवर्णभाजनस्य-सुवर्ण भाजन (पात्र) का, भित्त्वा—भेदन करके (गला के), अन्यथाक्रियमाणस्य-अन्यथा करने से, भावान्यथात्वम् भवति—अन्यथात्व मात्र होता है, अर्थात् केवल कुण्डल, कटकादि आकार तथा "यह कुण्डल है" "यह कटक है" इत्यादि व्यवहारमात्र का भेद होता है और सुवर्ण, असुवर्ण (सुवर्ण से भिन्न रजतादि) नहीं हो जाता है। वैसे ही, तत्र धर्मिणि—उस मृत्तिकादि धर्मी में, वर्त्तमानस्य धर्मस्य एव-अनागत रूप से रहा हुआ जो घटादि धर्म उसीका, अतीतानागतवर्तमानेषु अध्वसु—अतीत अनागत तथा वर्तमान रूप काल में, भावान्यथात्वम् भवति—भाव की ("यह घट है" "यह शराव है" इस व्यवहार की) भिन्नता ही होती है। अर्थात् केवल घटादि आकार तथा "यह घट है" इस व्यवहार का ही भेद होता है और, द्रव्यान्यथात्वम् न—द्रव्य की भिन्नता नहीं होती है अर्थात् मृत्तिका, अमृत्तिका (मृत्तिका से भिन्न जलादि) नहीं हो जाती है। अत एव धर्म धर्मी को एक मानने पर भी धर्मान्यथात्व ही देखा जाता है और धर्मी अन्यथात्व नहीं, यह उक्त शङ्का का समाधान हुआ।

यहां पर एकान्तवादी बौद्ध ने धर्मपरिणाम वाद में जो दोष का उद्भावन किया है उसका निराकरण करने के लिये उस दोष का उत्थापन करते हैं—अपर आहेति। अपरः—अपर एकान्तवादी बौद्ध, इति आह—ऐसा कहता है कि—पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्—पूर्वतत्त्व का अतिक्रमण न करने से, अर्थात् मृत्तिकादि धर्मी नष्ट होकर घटादि धर्म नूतन उत्पन्न होता है ऐसा न मानने से, धर्मी मृत्तिकादि कारण रूप धर्मी, धर्मानभ्यधिकः—घटादि कार्य रूप धर्म से अनतिरिक्त (अभिन्न) ही है। अर्थात् पूर्व तत्त्व मृत्तिकादि रूप धर्मी से उत्तर तत्त्व घटादि रूप धर्म अलग तत्त्व न मानने से मृत्तिकादि घटादि से अतिरिक्त नहीं किन्तु घटादि रूप ही कहना होगा ? इसीका विवरण करते हैं—पूर्वापरावस्थाभेदम्—पूर्वापर के अतीतादि अवस्थाभेद में, अनुपतितः—अनुगत धर्मी, यदि अन्वयी स्यात्—यदि सर्व धर्मों में अन्वयी होगा तो, कौटस्थ्येन एव परिवर्तेत—कूटस्थ रूप से ही रहेगा, अर्थात् जैसे चितिशक्ति सर्व अवस्थाभेद में अनुगत होने से कूटस्थ नित्य है, वैसे ही यदि मृत्तिकादि धर्मी सर्व अवस्थाभेद में

अयमदोषः । कस्मात् । एकान्ततानभ्युपगमात् । तदेतत् त्रैलोक्य-व्यक्तेरपैति ।

नित्यत्वप्रतिषेधात् । अपेतमप्यस्ति । विनाशप्रतिषेधात् ।

अनुगत माना जायगा तो उनको भी कूटस्थ नित्य मानना पड़ेगा, और यह बात योग-मत में स्वीकार नहीं । क्योंकि, योगमत में चितिशक्ति से अतिरिक्त कोई पदार्थ कूटस्थ नित्य नहीं माना जाता है ।

भाव यह है कि-क्षणिकवाद को एकान्तवाद कहते हैं । इस मत में मृत्तिकादि सर्व धर्मी क्षणिक होने से अर्थात् उत्तर काल में विद्यमान न रहने से उत्तरान्वयी नहीं माने जाते हैं और स्थायिवाद को धर्मपरिणाम वाद कहते हैं । इस मत में मृत्तिकादि धर्मी विद्यमान रहते हुए घटादि धर्म रूप से परिणत होते हैं । अतः मृत्तिकादि धर्मी उत्तर काल में विद्यमान रहने से घटादि धर्मों में अन्वयी माने जाते हैं । इस बात को सहन न करते हुए एकान्तवादी शङ्का करते हैं कि—यदि धर्मी का सर्वकाल तथा सर्व अवस्था में अन्वय माना जायगा तो मृत्तिकादि धर्मी को सदा विद्यमान रहने से चितिशक्ति (चेतन) के समान कूटस्थनित्यता आ जायगी ? जो आपको स्वीकार नहीं । क्योंकि, आपके मत में चितिशक्ति के सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ कूटस्थ नित्य है नहीं ? इसका समाधान करते हैं—अयमदोष इति । अयम् अदोषः-यह एकान्तवादी का दिया हुआ कूट-स्थनित्यता रूप दोष हमारे मत में लागू नहीं पडता है । इसमें हेतु पूछते हैं—कस्मा-दिति । कस्मात्-किस कारण से यह दोष लागू नहीं पड़ता हैं ? हेतु देते हैं—एका-न्ततेति । एकान्ततानभ्युपगमात्-मृत्तिकादि धर्मी को चितिशक्ति के समान एका-न्तनित्यता अर्थात् अपरिणामी नित्यता के अस्वीकार होने से पूर्वोक्त दोष लागू नहीं पड़ता है ।

भाव यह है कि—चितिशक्ति जैसे अत्यन्त नित्य अर्थात् अपरिणामी नित्य है, वैसे मृत्तिकादि धर्मी अत्यन्त नित्य अर्थात् अपरिणामी नित्य नहीं किन्तु—तदेतदिति । तत् एतत् त्रैलोक्यम्-मृत्तिकादि तो क्या तीनों लोकों के जितने पदार्थ हैं वे सब, व्यक्तेः अपैति-व्यक्ति से अपगत होते हैं अर्थात् परिणाम (नाश) को प्राप्त होते हैं । अतः नाश होने के पश्चात् अर्थक्रिया के योग्य न रहने से अत्यन्त नित्य नहीं । इसमें हेतु देते हैं—नित्यत्वेति । नित्यत्वप्रतिषेधात्-मृत्तिकादि में प्रमाण द्वारा नित्यत्व का निषेध होने से अर्थात् नाश होने के पश्चात् किसी प्रमाण द्वारा घटादि नहीं देखे जाने से वे अत्यन्त नित्य नहीं ।

शङ्का होती है कि—द्रव्यमात्र की एकान्तनित्यता जब प्रमाणसिद्ध नहीं तो वे शशविषाण के समान एकान्त अनित्य होंगे ? इसका उत्तर देते हैं—अपेतमिति ।

संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति ।
लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽना-

अपेतम् अपि अस्ति-पूर्वोक्त सकल पदार्थ अतीत अवस्था से युक्त भी हैं, अर्थात् पूर्वोक्त मृत्तिकादि धर्मी अत्यन्त अलीक नहीं हैं; किन्तु नाश काल में वर्तमान अवस्था को त्याग कर अतीत अवस्था को प्राप्त हुए हैं। अतः शशविषाण के समान अत्यन्त अनित्य भी नहीं। इसमें हेतु देते हैं—विनाशेति। विनाशप्रतिषेधात्-प्रमाण द्वारा मृत्तिकादि पदार्थ में विनाश (तुच्छत्व) का निषेध होने से वे शशविषाण के समान एकान्त अनित्य भी नहीं।

भाव यह है कि - जो शशविषाणादि अलीक पदार्थ हैं वे कभी भी अर्थक्रिया करते नहीं देखे जाते हैं। अतः वे एकान्ततः तुच्छ रूप अनित्य पदार्थ माने जाते हैं और उनसे अतिरिक्त जो मृत्तिकादि त्रैलौकिक पदार्थ हैं वे वर्तमान काल में अर्थक्रिया करते देखे जाते हैं। अतः वे शशविषाण के समान एकान्ततः तुच्छ रूप अनित्य पदार्थ नहीं। एवं मृत्तिकादि त्रैलौकिक पदार्थ नष्ट अर्थात् वर्तमान अवस्था को त्याग कर अतीत अवस्था को प्राप्त हुए भी देखे जाते हैं। अतः वे चितिशक्ति के समान एकान्त नित्य पदार्थ भी नहीं; किन्तु कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य पदार्थ माने जाते हैं। अर्थात् शशविषाण की अपेक्षा नित्य और चितिशक्ति की अपेक्षा अनित्य माने जाते हैं। अतः मृत्तिकादि धर्मी एकान्ततः नित्य न होने से उनमें चितिशक्ति के समान कूटस्थनित्यता की आपत्ति नहीं, यह पूर्वोक्त शङ्का का समाधान हुआ।

शङ्का होती है कि - मृत्तिकादि धर्मी जब अतीत काल में विद्यमान हैं तब उनकी उपलब्धि (ज्ञान) क्यों नहीं होती है? अब इसका समाधान करते हैं—संसर्गादिति। संसर्गात् च-संसर्ग होने से अर्थात् अपने कारण में लय होने से, अस्य-इस मृत्तिकादि त्रैलौकिक पदार्थों की, सौक्ष्म्यम्-सूक्ष्मता है, च-और, सौक्ष्म्यात्-सूक्ष्मता होने से उनकी, अनुपलब्धिः-अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) होती है, अभाव रूप होने से नहीं, इति-ऐसा समझना चाहिये।

भाव यह है कि—यद्यपि सकल पदार्थ अतीत काल में अत्यन्त नष्ट नहीं होते हैं किन्तु कारण में लय होने से विद्यमान ही रहते हैं। अतः उनका प्रत्यक्ष होना चाहिये तथापि अत्यन्त सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहने से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। एतावता (उपलब्धि न होने से) उनको क्षणिक मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार धर्मपरिणाम का समर्थन करके संप्रति लक्षणों के परस्पर अनुगमन रूप से लक्षणपरिणाम का समर्थन करते हैं—लक्षणेति। लक्षणपरिणामः-लक्षण परिणाम का समर्थन इस प्रकार है कि—अध्वसु-भूत, भविष्यत् वर्तमान रूप

गतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथाऽनागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथा वर्तमानो वर्तमान-लक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति।

यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति। अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसंकरः प्राप्नोतीति

कालत्रय में, वर्तमानः-मृत्तिकादि धर्मी में विद्यमान, अतीतः धर्मः-अतीत अर्थात् नष्ट हुआ घटादि धर्म, अतीतलक्षणयुक्तः-अतीत लक्षण से युक्त है तो भी, अनागतवर्तमानाभ्याम् लक्षणाभ्याम्-अनागत तथा वर्तमान लक्षणों से, अवियुक्तः-संयुक्त ही है, वियुक्त नहीं। तथेति। तथा—वैसे ही, उत्पत्ति से पूर्व मृत्तिकादि धर्मी में, अनागतः-अनागत रूप से विद्यमान घटादि धर्म, अनागतलक्षणयुक्तः-अनागत लक्षण से युक्त है तो भी, वर्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्याम्-वर्तमान तथा अतीत लक्षणों से, अवियुक्तः-संयुक्त ही है, वियुक्त नहीं। तथेति। तथा-वैसे ही उत्पत्ति काल में मृत्तिकादि धर्मी में, वर्त्तमानः-वर्तमान रूप से विद्यमान घटादि धर्म, वर्त्तमानलक्षणयुक्तः-वर्तमान लक्षण से युक्त है तो भी, अतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्याम्- अतीत तथा अनागत लक्षणों से, अवियुक्तः—संयुक्त ही है, वियुक्त नहीं, इति-ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् वर्त्तमानादि एक एक अवस्था से युक्त घटादि अतीत, अनागत रूप दूसरी दो अवस्थाओं से भी युक्त है, ऐसा समझना चाहिये।

इस पर शङ्का होती है कि— वर्त्तमानलक्षणयुक्त घटादि में अतीत, अनागत लक्षणों का अनुभव न होने से उनका सद्भाव कैसे माना जाय ? इसका समाधान लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा करते हैं—यथेति। यथा- जैसे, पुरुषः-कोई पुरुष, एकस्याम् स्त्रियाम्-किसी एक स्त्री में, रक्तः-रागवाला है, इससे, शेषासु-अन्य स्त्रियों में, विरक्तः भवति-राग रहित है, इति न- ऐसा नहीं किन्तु रागयुक्त ही है। वहां इतना विशेष है कि— जिस स्त्री में राग है उसमें राग वर्त्तमानलक्षण (अवस्था) वाला है और अन्य स्त्रियों में किसी में अतीत लक्षणवाला और किसी में अनागत लक्षणवाला है। वैसे ही जिस काल में घटादि वर्त्तमानलक्षणवाला है, उस काल में अतीत लक्षणवाला तथा अनागत लक्षणवाला नहीं है, ऐसा नहीं किन्तु इन दोनों लक्षणों से युक्त ही है।

भाव यह है कि—यद्यपि मृत्तिकादि धर्मी में वर्त्तमानलक्षण से युक्त घटादि धर्म अतीतादि अन्य दो लक्षणों से युक्त है, ऐसा अनुभव का नहीं होता है, तथापि अनुभव अभाव प्रमाणसिद्ध वस्तु का अपलाप नहीं कर सकता है। क्योंकि, शशविषाणादि असत्

परैर्दोषश्चोद्यत इति । तस्य परिहारः—धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यम् । सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यो न वर्त्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम् ।

की उत्पत्ति नहीं देखी जाने से वस्तु की उत्पत्ति ही उसके सद्भाव में प्रमाण है । अतः अतीतादि लक्षणों की उत्पत्ति देखी जाने से उनका सद्भाव अवश्य मानना चाहिये, यह शङ्का का समाधान हुआ ।

यहां पर किसी वादी ने जो दोष का उद्भावन किया है, उसका उत्थापन करते हैं—अत्रेति । अत्र लक्षणपरिणामे-इस प्रकृत लक्षणपरिणाम में, सर्वस्य-अनागतादि सर्व का, सर्वलक्षणयोगात्-वर्त्तमानादि सर्व लक्षणों से युक्त होने से, अध्वसंकरः प्राप्नोति-अनागतादि में वर्तमानादि व्यवहार रूप कालसांकर्य दोष प्राप्त होता है,इति-इस प्रकार, परैः-किसी शंकावादी द्वारा, दोषः चोद्यते-दोष का उद्भावन किया जाता है । अर्थात् यदि परस्पर विरुद्ध वर्तमानादि तीनों लक्षणों का एक ही काल में तथा एक ही वस्तु में अनुगत होना माना जायगा तो जिस काल में "घटो वर्तमानः" (घट वर्तमान अवस्थावाला है) यह व्यवहार होता है, उसी काल में "घटोऽतीतः" (घट अतीत अवस्थावाला है) "घटोऽनागतः" (घट अनागत अवस्था वाला है) यह व्यवहार भी होना चाहिये और ऐसा तो होता नहीं है ? अतः वर्तमान लक्षण अतीतादि लक्षणों से अवियुक्त है, यह कहना समुचित नहीं । और यदि अनुक्रम से वर्तमानादि लक्षणों की उत्पत्ति मानेंगे तो असत् की उत्पत्ति रूप दोष लागू पडेगा ? अतः वर्तमानलक्षण मात्र ही सर्व वस्तु है, पूर्व तथा उत्तर काल में उसका अभावमात्र है, अभाव के प्रतियोगी होने से अतीत अनागत व्यवहार होता है, यही मानना उचित है । तस्येति । तस्य-इस दोष का, परिहारः-परिहार करते हैं—धर्माणामिति । धर्माणाम्-धर्मों में, धर्मत्वम्-धर्मपना, अप्रसाध्यम्- साधने योग्य नहीं है । क्योंकि घटादि पदार्थ धर्म हैं, यह बात प्रथम ही सिद्ध कर चुके हैं । अतः अब उसको सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं । सति च धर्मत्वे-और जब घटादि पदार्थ में धर्मत्व सिद्ध हो चुका तब उन धर्मों में, लक्षणभेदः अपि वाच्यः-लक्षण भेद भी कहना ही चाहिये । अर्थात् जो धर्म रूप घटादि पदार्थ हैं उनमें अनागत, वर्तमान तथा अतीत लक्षण (अवस्था) भी होनी ही चाहिये, वर्तमानसमये एव-वर्तमान काल में ही, अस्य-इस घटादि का, धर्मत्वम् न-अस्तित्व है ऐसा नहीं किन्तु तीनों कालों में इनका अस्तित्व है । अतः केवल वर्त्तमान काल में ही पदार्थ हैं, यह वैनाशिक आदि का मत समीचीन नहीं । हि-क्योंकि, एवम्-इस प्रकार केवल वर्त्तमान काल में ही धर्मत्व (पदार्थ की सत्ता) स्वीकार करने पर, क्रोधकाले रागस्य असमुदाचारात्-जिस समय क्रोध उत्पन्न होता है उस समय राग का आविर्भाव न होने से, चित्तम् राग-

एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात्क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति।

किञ्च, त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति संभवः। क्रमेण

धर्मकम् न स्यात्–चित्त राग धर्मवाला न होगा, किन्तु राग रहित ही होगा तो चित्त में शशविषाण के समान असत् जो राग वह क्रोध के उत्तर काल में उत्पन्न न होगा, परन्तु ऐसा होता तो नहीं है। अतः तीनों कालों में पदार्थनिष्ठ धर्मत्व (अस्तित्व) स्वीकार करना चाहिये।

भाव यह है कि - राग और क्रोध ये दोनों परस्पर विरोधी हैं; अत एव एक समय में दोनों की प्रतीति नहीं होती है। यदि क्रोधकाल में अनागतलक्षणवाला राग न माना जायगा तो क्रोध के उत्तर काल में जो राग देखा जाता है, वह नहीं देखा जाना चाहिये? क्योंकि, जैसे शशविषाणादि असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है, वसे ही क्रोध काल में वादी अभिमत असत् राग की क्रोध के उत्तर काल में जो उत्पत्ति देखी जाती है वह नहीं देखी जानी चाहिये और देखी तो जाती है? अतः क्रोध काल में जो राग अनागत लक्षणवाला विद्यमान था, वही क्रोध के उत्तर काल में वर्त्तमान लक्षणवाला उत्पन्न हुआ है, यह मत स्वीकार करना चाहिये। इतना ही नहीं, किन्तु सत् का विनाश न होने से राग के उत्तर काल में जब क्रोध उत्पन्न होता है तब राग अतीत लक्षणवाला है, यह मत भी स्वीकार करना चाहिये। इसी प्रकार केवल राग ही नहीं; किन्तु घटादि सभी धर्म अनागत, वर्तमान तथा अतीत अवस्थावाले हैं, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार धर्मों में लक्षणत्रय का व्यवस्थापन करके संप्रति उन लक्षणों में सांकर्य (कालसांकर्य) दोष का परिहार करने के लिये प्रश्न उपस्थित करते हैं—किञ्चेति। च–और, किम्–अध्वसंकर दोष जो दिया था उसका परिहार क्या हुआ? उत्तर देते हैं—त्रयाणामिति। त्रयाणाम् लक्षणानाम्–अतीत, अनागत, वर्तमान रूप तीनों लक्षणों का, युगपत्–एक ही काल में तथा, एकस्याम् व्यक्तौ–एक ही चित्तवृत्ति रूप व्यक्ति में, संभवः नास्ति–अभिव्यक्ति नहीं होती है, तु–किन्तु, क्रमेण–क्रम से, स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य–जो अपने बोधक से बोध्य होता है उसीकी, भावः भवेत्–अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् जिसका अभिव्यञ्जक रहता है उसी की अभिव्यक्ति होती है और जिसका अभिव्यञ्जक नहीं रहता है उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है, इति–ऐसा समझना चाहिये।

भाव यह है कि - वादी ने जो दोष दिया था कि, वर्त्तमान लक्षण को यदि अतीत, अनागत लक्षणों से युक्त मानेंगे तो "वर्तमानो घटः" इस व्यवहार काल में "अतीतो घटः" "अनागतो घटः" यह व्यवहार भी होना चाहिये? इत्यादि। उसका समाधान यह हुआ कि, वर्तमान काल में वर्तमान लक्षण युक्त घटादि का अभिव्यञ्जक इन्द्रिय-

तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावो भवेदिति।

उक्तं च रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते। सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते।

तस्मादसंकरः। यथा रागस्यैव क्वचित्समुदाचार इति न तदानी-

सन्निकर्षादि विद्यमान है। अतः उसकी अभिव्यक्ति होती है और अतीत - अनागत लक्षण युक्त घटादि का वर्तमान काल में अभिव्यञ्जक कोई है नहीं। अतः वे विद्यमान भी हैं तो भी उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतः वर्तमान काल में "वर्तमानो घटः" यही व्यवहार होता है और "अतीतोघटः" "अनागतो घटः" यह व्यवहार नहीं होता है। साथ ही यह भी समझना चाहिये कि, विशेष के साथ विरोध होता है, सामान्य के साथ नहीं। वर्तमान काल में वर्तमानलक्षण विशेष है और अतीत-अनागत लक्षण सामान्य हैं। अतः एक काल में तीन लक्षण मिल कर रह सकते हैं; परन्तु व्यवहार उक्त युक्ति से विशेष का ही होता है, सामान्य का नहीं। अतः व्यवहार के अभाव से वस्तु का अभाव मानना उचित नहीं।

"अव्यक्त अतीत अनागत लक्षणों का व्यक्त वर्त्तमानलक्षण के साथ विरोध नहीं है" इस कथन में महर्षि पञ्चशिखाचार्य के वाक्य प्रमाण देते हैं—उक्तमिति। उक्तम् च-इसी बात को महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है—रूपातिशयेति। रूपातिशयाः-धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ज्ञान, अज्ञान, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य रूप अष्ट रूपों का अतिशय (विशेष), च-और, वृत्त्यतिशयाः-सुखदुःख आदि वृत्तियों का अतिशय (विशेष), परस्परेण-परस्पर एक दूसरे का विरुध्यन्ते-विरोध करते हैं, तु-किन्तु, सामान्यानि-सामान्य, अतिशयैः सह-अतिशय (विशेष) के साथ, प्रवर्त्तन्ते-रहते हैं, अर्थात् विशेष का विशेष के साथ विरोध होता है, सामान्य के साथ नहीं, यह नियम है। अतः विशेष वर्त्तमानलक्षण का सामान्य अतीत - अनागत लक्षणों के साथ विरोध न होने से एक साथ रह सकते हैं, यह सिद्ध हुआ।

उपसंहार करते हैं—तस्मादसंकर इति। तस्मात्-यथोक्त कारण से,असंकरः-असंकर है अर्थात् अध्वसांकर्य दोष नहीं है। इसमें दृष्टान्त देते हैं—यथेति। यथा-जैसे, रागस्य एव-उदाहृत विशेष राग की ही, क्वचित्-किसी स्त्री में, समुदाचारः-अभिव्यक्ति होती है, इति-इससे, तदानीम् अन्यत्र अभावः न-उस समय अन्य स्त्री में राग का अभाव नहीं है। अर्थात् जिस समय एक किसी स्त्रीविषयक राग देखा जाता है, उस समय अन्य स्त्रीविषयक राग नहीं है ऐसा नहीं, किन्तु-अपितु वह, केवलम् सामान्येन समन्वागतः-केवल सामान्य रूप से अनुगत है, इति-अतः, तदा-एक किसी स्त्रीविषयक रागकाल में, तत्र-जिस स्त्री में राग देखा जाता है उस

मन्यत्राभावः। किन्तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः। तथा लक्षणस्येति।

न धर्मी त्र्यध्वा। धर्मास्तु त्र्यध्वानः। ते लक्षिता अलक्षिताः।

स्त्री में, तस्य भावः अस्ति–अन्य स्त्रीविषयक राग का अस्तित्व है, परन्तु इतना विशेष है कि, जो राग देखा जाता है वह वर्तमान लक्षणवाला तथा विशेष है और जो नहीं देखा जाता है वह अनागत लक्षणवाला अथवा अतीत लक्षणवाला सामान्य है। अतः अभिव्यक्ति न होने से उसका अभाव नहीं समझना चाहिये।

दृष्टान्त निदर्शन करके उसकी दार्ष्टान्तिक में योजना करते हैं—तथा लक्षणस्येति। तथा–वैसे ही, लक्षणस्य इति–लक्षण को भी समझना चाहिये। अर्थात् जैसे वर्तमान राग के साथ अतीत, अनागत राग विद्यमान है, वैसे ही वर्तमान लक्षण के साथ अतीत, अनागत लक्षण भी विद्यमान है। मृत्तिकादि धर्मियों का घटादि धर्मरूप से, घटादि धर्मों का अनागतादि लक्षण रूप से, तथा अनागतादि लक्षणों का प्राबल्य-दौर्बल्य अवस्थारूप से परिणाम होता है, यह बात पूर्व कही गई है। इसको न समझ कर किसीको ऐसी भ्रान्ति न हो जाय कि–धर्मपरिणाम जैसे धर्मियों का होता है, वैसे ही प्रकृत लक्षणपरिणाम भी धर्मियों का होता है। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—न धर्मीति। धर्मी त्र्यध्वा न–मृत्तिकादि धर्मी अनागत, वर्तमान तथा अतीत रूप तीन लक्षणवाले नहीं हैं, तु–किन्तु, धर्माः त्र्यध्वानः–घटादि धर्म उक्त तीन लक्षणवाले हैं। अर्थात् लक्षणपरिणाम केवल धर्म का ही होता है, धर्मी का नहीं। क्योंकि, घटादि धर्म ही तत्तत् अवस्था को प्राप्त होते हुए अन्य अवस्थावाले से ही भिन्न रूप होकर बोधित होते हैं, मृत्तिकादि धर्मी से नहीं। क्योंकि, मृत्तिकादि धर्मी सर्व अवस्थाओं में अनुगत है। इतना ही धर्मपरिणाम से लक्षणपरिणाम में विशेष (भेद) है कि, धर्मपरिणाम धर्मी का होता है और लक्षणपरिणाम धर्मी का नहीं होता है।

इस प्रकार लक्षणपरिणाम का समर्थन करके संप्रति अवस्थापरिणाम का समर्थन करने के लिये धर्मों में ही अध्वत्रय का योग है, इस बात को स्पष्ट करते हैं—ते लक्षिता इति। ते–वे घटादि धर्म, लक्षिताः–अभिव्यक्त अर्थात् वर्तमान और, अलक्षिताः–अनभिव्यक्त अर्थात् अनागत तथा अतीत अवस्थावाले हैं। तत्र–उनमें, लक्षिताः–जो लक्षित हैं वे, ताम् ताम् अवस्थाम्–तत्तत् नव, पुराण तथा बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य आदि अवस्था को, प्राप्नुवन्तः–प्राप्त होते हुए, अर्थात् "यह नया है, पुराना नहीं" "यह बाल है, युवा नहीं" "यह युवा है, बाल नहीं" इत्यादि एक दूसरे से भिन्नता को प्राप्त होते हुए, अवस्थान्तरतः प्रतिनिर्दिश्यन्ते–अवस्था के भेद

तत्र लक्षितास्तां तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्तेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशका चैकस्थाने।

यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति

से भिन्न भिन्न रूप से व्यवहृत होते हैं, द्रव्यान्तरतः न–द्रव्य के भेद से नहीं अर्थात् मृत्तिकादि धर्मी के भेद से नहीं। सारांश यह है कि, पूर्व आदि अवस्था के बीतने पर उत्तर अवस्था को प्राप्त होना अवस्थापरिणाम कहा जाता है। प्रकृत में व्युत्थान संस्कारों के बीतने पर निरोध संस्कारों को प्राप्त होना यही अवस्थापरिणाम है।

धर्मी के भेद न होने पर भी निमित्त के भेद से भिन्न व्यवहार होता है। इस अर्थ में लौकिक दृष्टान्त देते हैं— यथैकेति। यथा–जैसे, एका रेखा–एकत्व बोधक अङ्कविशेष, शतस्थाने शतम्–शत (सौ) के स्थान में अर्थात् शून्यद्वय युक्त होने पर शत, एक नहीं, दशस्थाने दश–दश के स्थान में अर्थात् एक शून्ययुक्त होने पर दश, शत नहीं, च–और, एकस्थाने एका–एक के स्थान में अर्थात् शून्य रहित होने पर एक, इत्यादि स्थान रूप निमित्त के भेद से भेद वाली हो जाती है, वास्तविक नहीं। इसीकी विशेष पुष्टि करने के लिये दूसरा लौकिक दृष्टान्त देते हैं— यथेति। च–और, यथा–जैसे, एकत्वे अपि–एकत्व संख्यावाली रहने पर भी, स्त्री–स्त्री, माता च दुहिता च स्वसा च इति–माता, पुत्री तथा भगिनी इत्यादि क्रमशः पुत्र, पिता, भ्राता आदि संबन्धी रूप निमित्त के भेद से भेदवाली हो जाती है। इसी प्रकार मृत्तिकादि धर्मी एकत्व संख्यावाले रहने पर भी अवस्था रूप निमित्त के भेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। वस्तुतः धर्मी भिन्न नहीं, किन्तु सब अवस्थाओं में एक ही है।

अवस्थापरिणाम में बौद्धों ने जो दूषण दिया है उसका उत्थापन करते हैं—अवस्थेति। अवस्थापरिणामे–प्रकृत अवस्थापरिणाम में, कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः–कूटस्थनित्यत्व दोष का प्रसङ्ग, कैश्चित्–किसीने, उक्तः–कहा है। अर्थात् आप पुरुष के अतिरिक्त किसी पदार्थ में कूटस्थनित्यता नहीं मानते हैं, पर अवस्थापरिणाम को स्वीकार करने पर धर्म, धर्मी, लक्षण तथा अवस्था इन चारों को कूटस्थनित्य मानना पड़ेगा, ऐसा किसी बौद्ध ने दूषण दिया है। उसमें हेतु पूछते हैं—कथमिति। कथम्–किस कारण से दूषण दिया है? हेतु देते हैं—अध्वनो व्यापारेणेति। अध्वनः–अनागतादि काल को, व्यापारेण–घट के जलाहरण रूप व्यापार से, व्यवहितत्वात्–व्यवहित होने से। अर्थात् उत्पत्ति नाश से नहीं किन्तु क्रिया रूप निमित्त से ही अनागतादि अवस्थावाला घट में भेद स्वीकार करने से घटनिष्ठ कूटस्थनित्यता दोष का प्रसङ्ग

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चिदुक्तः। कथम्। अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात्।

यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदानागतो यदा करोति तदा वर्त्तमानो यदा कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामव-

---

होता है। क्योंकि, आपका यह सिद्धान्त है कि–यदा–जिस काल में, धर्मः–मृत्पिण्ड में विद्यमान घट रूप धर्म, स्वव्यापारम् न करोति-अपना जलाहरण रूप व्यापार नहीं करता है, तदा अनागतः–उस काल में अनागत कहा जाता है, यदा करोति–जिस काल में करता है, तदा वर्त्तमानः–उस काल में वर्त्तमान कहा जाता है और, यदा कृत्वा निवृत्तः–जिस काल में करके निवृत्त होता है, तदा अतीतः–उस काल में अतीत कहा जाता है, इति एवम्–इस प्रकार, धर्मधर्मिणोः–मृद्घटादि धर्मधर्मी में, लक्षणानाम्–अनागतादि लक्षणों में, च–और, अवस्थानाम्–नया, पुराना तथा बाल्यादि अवस्थाओं में, कौटस्थ्यम्-कूटस्थता रूप दोष, प्राप्नोति–प्राप्त होता है, इति परैः दोषः उच्यते–इस प्रकार बौद्धों ने दोष का उद्भावन किया है। क्योंकि, जब अनागत, वर्त्तमान तथा अतीत रूप तीनों काल में घट विद्यमान है तो चेतन के समान कूटस्थ-नित्य होना ही चाहिये ! ऐसा उनका कहना है। उस दोष का परिहार करते हैं—नाऽसाविति। असौ दोषः न–जो सर्व पदार्थों में कूटस्थनित्यता रूप दोष बौद्धों ने दिया है वह हमारे मत में नहीं है, कस्मात् क्योंकि, गुणिनित्यत्वे अपि–प्रधान (प्रकृति) रूप गुणी के नित्य होने पर भी, गुणानाम्–सत्त्वरजस्तमरूप गुणों के, विमर्दवैचित्र्यात्–न्यूनाधिकभाव रूप विचित्रता होने से, अर्थात् यद्यपि प्रधानादि कारण तथा महत्तत्त्वादि यावत् कार्य की सर्वदा विद्यमानता है तथापि प्रधानादि निष्ठ सत्त्वादि गुणों की न्यूनाधिकभाव रूप विचित्रता से तथा महत्तत्त्वादि यावत् कार्य का आविर्भावतिरोभाव रूप परिणाम होने से वे कूटस्थनित्य नहीं कहे जा सकते हैं।

भाव यह है कि—सर्वदा विद्यमान रहने से ही कूटस्थनित्य नहीं कहा जाता है; किन्तु अपरिणामी रूप से सर्वदा एकरस रहने से कूटस्थनित्य कहा जाता है। यह लक्षण केवल पुरुष में ही घट सकता है। क्योंकि, वह अपरिणामी रूप से सर्वदा एकरस है और प्रधान तथा तत्कार्य महत्तत्त्वादि में यह लक्षण नहीं घट सकता है। क्योंकि, वे अपरिणामी रूप से सर्वदा एकरस नहीं। गुणी जो प्रधान वह यद्यपि नित्य है तथापि कूटस्थनित्य नहीं। क्योंकि, उसके सत्त्वादि गुणों की विमर्दविचित्रता से अर्थात् उसके सत्त्वादि गुणों में न्यूनाधिकभाव होने से वह एकरस नहीं, किन्तु परिणामी है। एवं महत्तत्त्वादि यावत् कार्य में भी यह लक्षण नहीं घट सकता है। क्योंकि, वे सर्वदा विद्य-

स्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते। नाऽसौ दोषः। कस्मात्। गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात्।

यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनाम्। तस्मिन्विकारसंज्ञेति।

मान रहते हैं तो भी तत्तत् रूप से उनका आविर्भावतिरोभाव होता रहता है। अतः वे सब भी परिणामी होने से कूटस्थनित्य नहीं।

पूर्वोक्त विमर्द की विचित्रता ही विकार की विचित्रता में हेतु है। इस बात को प्रकृति तथा विकृति में दिखाते हैं—यथेति। यथा— जैसे, शब्दादीनाम् गुणानाम् अविनाशिनाम्-शब्दादि तन्मात्र रूप अविनाशी का, संस्थानम् आदिमत् धर्ममात्रम् विनाशि-पृथिव्यादि पञ्चभूत तिरोभावी धर्ममात्र तथा विनाशी कहा जाता है। एवम्-वैसे ही, सत्त्वादीनाम् गुणानाम् अविनाशिनाम्-सत्त्वादिगुणरूप अविनाशी का, लिङ्गम् आदिमत् धर्ममात्रम् विनाशि-महत्तत्त्व, तिरोभावी धर्ममात्र तथा विनाशी कहा जाता है। तस्मिन् विकारसंज्ञा इति—उसी पञ्चभूत तथा महत्तत्त्व में परिणाम व्यवहार होता है। यहां पर विनाशी शब्द से तिरोभावी और अविनाशी शब्द से कार्य की अपेक्षा अतिरोभावी का ग्रहण है। और सब सुगम है।

भाव यह है कि–जैसे आविर्भावतिरोभावशील पृथिव्यादि पञ्चभूत शब्दादि तन्मात्र का कार्य होने से पृथिव्यादि पञ्चभूत की अपेक्षा शब्दादिपञ्चतन्मात्र अतिरोभावी कहा जाता है, कूटस्थनित्य होने से नहीं। एवं आविर्भावतिरोभावशील महत्तत्त्व प्रधान का कार्य होने से महत्तत्त्व की अपेक्षा प्रधान अतिरोभावी कहा जाता है, कूटस्थनित्य होने से नहीं। इसी प्रकार जितने भी कारण हैं वे सब अपने कार्य की अपेक्षा धर्मी-रूप मृत्तिकादि कारण अतिरोभावी कहे जाते हैं, कूटस्थनित्य होने से नहीं। प्रकृत में वर्तमानलक्षण घटरूप धर्म की अपेक्षा अनागतलक्षण घटरूप धर्मी अतिरोभावी और अतीतलक्षण घटरूप धर्म की अपेक्षा वर्तमानलक्षण घटरूप धर्मी अतिरोभावी समझना चाहिये। और चितिशक्ति किसी की अपेक्षा से नहीं; किन्तु स्वभाव से ही कूटस्थनित्य है। इस प्रकार विमर्द की विचित्रता विकार को विचित्रता में सर्वत्र हेतु समझना चाहिये। चितिशक्ति में विमर्द की विचित्रता नहीं। अतः विकार की विचित्रता भी नहीं।

इस प्रकार शास्त्रसिद्ध विकृति तथा प्रकृति को उदाहरण रूप से दिखाकर संप्रति धर्म लक्षण तथा अवस्था-परिणाम की विचित्रता का हेतु गुणविमर्दविचित्रता है, इस अर्थ में विकृति में ही लोकसिद्ध उदाहरण देते हैं—तत्रेदमिति। तत्र इदम् उदा-

तत्रेदमुदाहारणं मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसंपद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति। घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्त्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणतः परिणमते। घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति। धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति।

एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति। त एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून्विशेषा-

---

हरणम्-उक्त अर्थ में यह उदाहरण है कि, मृद्धर्मी--मृत्तिकारूप धर्मी, पिण्डाकारात् धर्मात्-प्रथम के पिण्डाकाररूप धर्म से, धर्मान्तरम् उपसंपद्यमानः-धर्मान्तर को प्राप्त होता हुआ, धर्मतः परिणमते-धर्मरूप से परिणत होता है, जिसका स्वरूप, घटाकार इति-घटाकार है। घटाकार इति। घटाकारः-वह घटाकार, अनागतम् लक्षणम् हित्वा-अनागत लक्षण को त्याग कर, वर्त्तमान लक्षणम् प्रतिपद्यते-वर्त्तमान लक्षण को प्राप्त होता है। इति-यह, लक्षणतः प्ररिणमते—लक्षण रूप से परिणत होता है। घट इति। घटः-वह घट, प्रतिक्षणम्-प्रत्येक क्षण में, नवपुराणताम् अनुभवन्-नवीनता तथा पुराणता को अनुभव करता हुआ (प्राप्त होता हुआ), अवस्थापरिणामम् प्रतिपद्यते इति-अवस्थापरिणाम को प्राप्त होता है। यह नियम नहीं कि, केवल लक्षणों का ही अवस्थापरिणाम होता है; किन्तु सभी धर्म, लक्षण तथा अवस्था में अवस्था व्यवहार देखने से एक ही अवस्थापरिणाम सर्व साधारण है। इस बात को कहते हैं-धर्मिण इति। धर्मिणः अपि-धर्मी का भी, धर्मान्तरम् अवस्था-धर्मान्तर अवस्था तथा, धर्मस्य अपि—धर्म का भी, लक्षणान्तरम् अवस्था-लक्षणान्तर अवस्था होती है, इति अतः एकः एव द्रव्यपरिणामः—एक ही द्रव्य परिणाम, भेदेन उपदर्शितः इति-भिन्न रूप से दिखाया गया है। इससे धर्मी तथा धर्मादि सकल पदार्थ का अवस्था-परिणाम होता है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार मृद्घटादि धर्मिधर्म में परिणामत्रय को दिखा कर भूत - इन्द्रियादि में भी उसका अतिदेश का स्मरण कराते हैं—एवमिति। एवम्-इसी प्रकार परिणामत्रय की, पदार्थान्तरेषु अपि-भूत - इन्द्रिय तथा प्रकृति आदि सर्व पदार्थों में भी योज्यम् इति-योजना कर लेनी चाहिये। त एत इति। ते एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः-ये पूर्वोक्त धर्म - लक्षण तथा अवस्था - परिणाम, धर्मिस्वरूपम् अनतिक्रान्ताः-धर्मी के स्वरूप को अतिक्रमण न करते हुए धर्मी में विद्यमान रहते हैं। अर्थात् इन

नभिप्लवते । अथ कोऽयं परिणामः । अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति ॥ १३ ॥

तत्र—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

तीनों परिणामों में धर्मी अनुगत रहता है। अतः ये धर्मी को छोड़ कर नहीं रहते हैं, इति-अतः, एकः एव परिणामः-धर्मधर्मी के अभेद होने से एक ही धर्मीरूप परिणाम, अमून् सर्वान् विशेषान्-इन सर्व विशेषों को (परिणामों को), अभिप्लवते-प्राप्त होता है। अर्थात् धर्मी को छोड़ कर धर्म न रहने से धर्म-धर्मी में अभेद माना जाता है। अत एक ही धर्मिपरिणाम सर्व परिणाम को प्राप्त होता है।

सूत्रस्थ परिणाम पद का प्रश्नपूर्वक व्याख्यान करते हैं—अथेति। अथ-यह सब होने के बाद यह प्रश्न उठता है कि-अयम् परिणामः कः-यह परिणाम क्या है? अर्थात् परिणाम परिणाम कहते आते हैं, पर परिणाम शब्द का अर्थ क्या है ? इसके उत्तर में परिणाम का व्यापक लक्षण करते हैं—अवस्थितस्येति। अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ-विद्यमान द्रव्य के पूर्वधर्म की निवृत्ति होने पर, धर्मान्तरोत्पत्तिः-उत्तर धर्म की जो उत्पत्ति वह, परिणामः इति-परिणाम कहा जाता है। जैसे पिण्डाकार से विद्यमान मृत्तिका रूप द्रव्य के पिण्ड - रूप पूर्व - धर्म की निवृत्ति होने पर घट - रूप उत्तर - धर्म की जो उत्पत्ति वह परिणाम कहा जाता है, इति-यह निष्कर्ष हुआ।

भाष्यस्थ शङ्कावादी "पर" शब्द का अर्थ "बौद्ध" है, इस प्रकार व्याख्याकारों ने किया है। उसीके आधार से मैंने भी उसका अर्थ 'बौद्ध' ही किया है। वस्तुतः बौद्धमत से पूर्व भी यह मत विद्यमान था और बौद्धों ने इसको अपनाया था। अतः पीछे से इसको बौद्ध - मत लोग कहने लगे। इति ॥ १३ ॥

संप्रति भाष्यकार ने जिस धर्मी का तीन प्रकार का परिणाम कहा है उसीके लक्षण प्रतिपादक सूत्र को "तत्र" इतना अंश पूर्ण करके पढते हैं—शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मीति। तत्र—उन धर्मधर्मियों में, शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती—शान्त (अतीत), उदित (वर्त्तमान) तथा अव्यपदेश्य (भविष्यत्) धर्मों (कार्यों) में जो अनुपाती (अनुगत) हो वह, धर्मी-धर्मी कहा जाता है। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान रूप अवस्थावाले सकल कार्यों में सर्वदा अनुगत जो कारण वह धर्मी कहा जाता है।

"धर्मोऽस्यास्तीति धर्मी" अर्थात् धर्म जिसका हो वह धर्मी कहा जाता है। इस विग्रह में धर्मी शब्द में रहा हुआ जो धर्म शब्द उसका अर्थज्ञान बिना धर्मी शब्द के

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः । स च फलप्रसवभेदानुमितसद्भाव एकस्यान्योन्यस्यान्यश्च परिदृष्टः ।

अर्थज्ञान होना अशक्य है, अतः भाष्यकार प्रथम धर्म शब्द का अर्थज्ञान कराते हैं—योग्यतेति। धर्मिणः-मृत्तिका आदि द्रव्यरूप धर्मी में अव्यक्तरूप से रही हुई जो योग्यतावच्छिन्ना शक्तिः एव-चूर्ण पिण्ड तथा घटादि निर्माण की योग्यतारूप शक्ति वही, धर्मः—धर्म कहा जाता है। उक्त योग्यतारूप शक्ति के सद्भाव में प्रमाण दिखाते हैं—स चेति। स च—और वह योग्यतारूप धर्म, फलप्रसवभेदानुमितसद्भावः—फल की उत्पत्ति के भेद से अनुमित सद्भाव वाला है, च—एवं, अन्योऽन्यस्य एकस्य—चूर्ण पिण्डादि अन्योन्य एक का, अन्यः परिदृष्टः—अन्य रूप से देखा गया है। अर्थात् एक धर्मी के एक ही धर्म नहीं किन्तु अनेक हैं। उन सर्व की योग्यता शक्ति एक ही है। वह कारण में रही हुई कार्य निर्माण की योग्यता शक्ति यद्यपि प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है, तथापि वह कार्य लिङ्गक अनुमान से जानने योग्य है।

भाव यह है कि—यद्यपि मृत्तिकादि कारण में घटादि उत्पत्ति की योग्यतारूप शक्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुभूत नहीं है, तथापि कार्य की उत्पत्ति में जो यह नियम देखने में आता है कि, घट की उत्पत्ति मृत्तिका से ही होती है, तन्तु से नहीं। और पट की उत्पत्ति तन्तु से ही होती है मृत्तिका से नहीं। इसी नियम से अनुमान होता है कि, मृत्तिका में घट की उत्पत्ति की ही योग्यतारूप शक्ति है, पट की उत्पत्ति की नहीं एवं तन्तु में पट की उत्पत्ति की ही योग्यतारूप शक्ति है, घट की उत्पत्ति की नहीं। इसी प्रकार सर्वत्र कारण में कार्य निर्माण की योग्यतारूप शक्ति का अनुमान करना चाहिये। सो यह कारण में कार्य-उत्पत्ति की योग्यतारूपशक्ति एकही प्रकार की है ऐसा नहीं; किन्तु अनेक प्रकार की है। जैसे मृत्तिकारूप कारण में चूर्ण, पिण्ड, घट तथा जलाहरणादि रूप अनेक कार्य उत्पन्न होते देखे जाते हैं। अतः अनुमान होता है कि, मृत्तिका में उक्त चूर्णादि अनेक कार्य की उत्पति की योग्यतारूप शक्ति है। एवं सर्वत्र अनेक शक्ति समझना चाहिये।

शङ्का होती है कि—"मृत्तिकादि जो कारण वह धर्मी और घटादि जो कार्य वह धर्म" इतना ही कहना उचित है. फिर मृत्तिकादि कारण में जो घटादि निर्माण की योग्यता वह धर्म है, इतनी दूर योग्यता पर्यन्त धावन करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि—तीनों कालों में मृत्तिका धर्मी है, यह सूचन करने के लिए योग्यता पर्यन्त धावन करने की आवश्यकता पड़ी। अर्थात् मृत्तिका रूप धर्मी के एक घटरूप ही धर्म नहीं किन्तु चूर्ण, पिण्ड, घट तथा जलाहरणादि अनेक धर्म हैं।

तत्र वर्त्तमानः स्वव्यापारमनुभवन्धर्मो धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेशेभ्यश्च भिद्यते। यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्कोऽसौ केन भिद्येत।

तत्र ये खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति, तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः।

चूर्ण काल में चूर्ण वर्त्तमान और पिण्डादि अनागत हैं, पिण्ड काल में चूर्ण अतीत पिण्ड वर्त्तमान और घटादि अनागत हैं, इत्यादि। यदि एक घट को ही मृत्तिका का धर्म मानें तो घटकाल में ही मृत्तिका धर्मी कहला सकती है, अन्य काल में नहीं। और जब योग्यता को धर्म कहते हैं तब जिस काल में उनमें से कोई एक कार्य उत्पन्न नहीं हुआ है अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हुआ है, उस काल में भी उसकी उत्पत्ति की योग्यता मृत्तिका में है। अतः तीनों कालों में मृत्तिका धर्मी है, यह सिद्ध होता है। इसके लिये योग्यता पर्यन्त धावन करने की आवश्यकता हुई है। यह उक्त शङ्का का समाधान हुआ।

उनमें व्यक्त जो वर्त्तमान मृत्पिण्ड है उसका भूतभविष्यत् मृच्चूर्ण, मृद्घट से भेद तथा अव्यक्त भूतभविष्यत् मृत्पिण्ड का भेदाभाव प्रतिपादन करते हैं—तत्रेति। तत्र—उन भूतभविष्यत् वर्तमान रूप तीन प्रकार के धर्मों में जो, वर्त्तमानः धर्मः—वर्तमान रूप धर्म है वह, स्वव्यापारम् अनुभवन्—अपने व्यापार को अनुभव करता हुआ अर्थात् अपने अर्थक्रिया को संपादन करता हुआ, शान्तेभ्यः च अव्यपदेश्येभ्यः धर्मान्तरेभ्यः—भूत तथा भविष्यत् रूप धर्मान्तर से, भिद्यते—भेद को प्राप्त होता है। तु—किन्तु यदा—जिस काल में (शान्त तथा अव्यपदेश्य अवस्था में), सामान्येन समन्वागतः भवति—सामान्य रूप से (अनभिव्यक्त रूप से) धर्मी में लीन होता है तदा—उस काल में, धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्—धर्मी के स्वरूप ही होने से कः असौ केन भिद्येत—कौन यह धर्म किससे भेद को प्राप्त होवे अर्थात् किसीसे नहीं।

इस प्रकार धर्मों के भेद के साधन का प्रतिपादन करके उस भेद का विभाग तथा पूर्वापरभाव का प्रतिपादन करते हैं—तत्रेति। तत्र उनमें, ये खलु धर्मिणः धर्माः—जो धर्मी के धर्म हैं वे, शान्ताः उदिताः च अव्यपदेश्याः इति—अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत् के भेद से तीन प्रकार के हैं। तत्र शान्ता इति। तत्र—उन अतीतादि धर्मों में, ये व्यापारान् कृत्वा उपरताः ते शान्ताः—जो अपने व्यापारों को करके उपरत हुए हैं वे शान्त (अतीत) कहे जाते हैं। सव्यापारा उदिताः। सव्यापाराः उदिताः—जो अपना व्यापार कर रहे हैं वे उदित (वर्त्तमान) कहे जाते हैं। ते चेति ते च अनागतस्य लक्षणस्य समनन्तराः—और वे वर्त्तमान - धर्म, अनागत - अव-

सव्यापारा उदिताः। ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तराः। वर्त्तमानस्यानन्तरा अतीताः। किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्त्तमानाः। पूर्वपश्चिमताया अभावात्। यथानागतवर्त्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य।

तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः। तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्त्तमानस्येति। अथाव्यपदेश्याः के।

स्थाक धर्म से पश्चाद्भावी हैं, अर्थात् अनागत - धर्म के बाद वर्त्तमान - धर्म उत्पन्न होते हैं। वर्तमानस्येति। वर्तमानस्य अनन्तराः अतीताः—और जो वर्त्तमान धर्म के पश्चाद्भावी हैं वे अतीत कहे जाते हैं।

शङ्का करते हैं—किमर्थमिति। अतीतस्य अनन्तराः वर्त्तमानाः किमर्थम् न भवन्ति—अतीत के पश्चात् वर्त्तमान किस कारण से नहीं होते हैं ? अतीत के पीछे वर्त्तमान को न होने में हेतु देते हैं—पूर्वेति। पूर्वपश्चिमतायाः अभावात्—अतीत और वर्त्तमान में पूर्वता और पश्चिमता की उपलब्धि (प्रतीति) न होने से अतीत-रूप धर्म के पश्चात् वर्त्तमानरूप धर्म नहीं होते हैं। अनुपलब्धि को ही दिखाते हैं—यथेति। यथा—जैसे, अनागतवर्त्तमानयोः—अनागत और वर्तमान धर्मों की, पूर्वपश्चिमता—पूर्वता और पश्चिमता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है, एवम् अतीतस्य न—वैसे अतीत और वर्त्तमान धर्मों की नहीं प्रतीति होती है। अर्थात् अनागत के बाद वर्त्तमान उत्पन्न होता है, यह तो देखा जाता है पर अतीत के बाद वर्त्तमान उत्पन्न होता है, यहाँ नहीं देखा जाता है।

उपसंहार करते हैं—तस्मादिति। तस्मात्—इस कारण से (अतीत के पीछे वर्त्तमान का अनुभव न होने से), अतीतस्य समनन्तरः न अस्ति-वर्त्तमान की अपेक्षा अतीतनिष्ठ पूर्वत्व रूप समनन्तर नहीं है। तदिति। तत्—इस कारण से, अनागत एव—प्रागभाव स्थानीय अनागत ही, वर्त्तमानस्य समनन्तरः भवति—वर्त्तमान से समनन्तर अर्थात् पर की अपेक्षा अव्यवहित पूर्व होता है, अतीत नहीं, इति—यह सिद्ध हुआ। यदि अतीत के पश्चात् वर्त्तमान माना जाय तो घट नष्ट होने के पश्चात् "सोऽयं घटः" वह यह घट है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होनी चाहिये और होती तो नहीं है ? अतः अतीत के पश्चात् वर्त्तमान नहीं होता है। इससे (अतीत के पीछे वर्त्तमान निरास करने से) "अविद्यादि क्लेशों के नष्ट होने पर पुनः वर्त्तमान मानने से मुक्तात्मा को पुनः संसारापत्ति होगी" यह शङ्का भी निरस्त हो गई।

भूत तथा वर्त्तमान धर्मों (पदार्थों) का व्याख्यान करके संप्रति भविष्यत् (अनागत) धर्मों का व्याख्यान करने के लिये शङ्का उठाते हैं—अथेति। अथ—भूत तथा

सर्वं सर्वात्मकमिति। यथोक्तम्—जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्। तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकम्।

वर्त्तमान धर्मों का व्याख्यान करने के अनन्तर शङ्का होती है कि, अव्यपदेश्याः के—अव्यपदेश्य पदार्थ (भविष्यत् धर्म) कौन हैं? अर्थात् भूत धर्मों का अनुभव उत्पन्न होकर नष्ट होने से उनका स्मरण होता है और वर्त्तमान धर्मों का अनुभव हो रहा है। अतः इन दोनों प्रकार के धर्मों के अस्तित्व में शङ्का नहीं हो सकती है; परन्तु भविष्यत् धर्मों के अव्यपदेश्य होने के कारण (उनका व्यपदेश न हो सकने के कारण) उनके अस्तित्व में शङ्का हो सकती है कि, भविष्यत् धर्म कौन हैं? उत्तर देते हैं—सर्वमिति। सर्वम्-सर्व धर्म, सर्वात्मकम् इति-सर्वात्मक अर्थात् सर्वशक्तियुत हैं। अर्थात् सकल परिणामी पदार्थ में रही हुई जो कार्य उत्पन्न करने की पूर्वोक्त योग्यता शक्ति वही अव्यपदेश्य (अनागत) पदार्थ है। सर्व वस्तु सर्वात्मक है अर्थात् सर्व वस्तु सर्व कार्य उत्पत्ति की योग्यता शक्ति से युक्त है और वही (कार्य उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान योग्यता शक्ति) अनागत पदार्थ है, इस अर्थ में पूर्वाचार्यों की सम्मति दिखाते हैं—यथोक्तमिति। यथा उक्तम्-जैसा कि, पूर्वाचार्यों ने भी कहा है—जलभूम्योः-जल और भूमि (पृथिवी) का, परिणामिकम्-परिणाम, रसादिवैश्वरूप्यम्-रसगन्धादि का सर्वात्मक वैचित्र्य, स्थावरेषु-तरु, गुल्मादि (वृक्ष, लता आदि) वनस्पतियों के फलपुष्पादि में, दृष्टम्-देखा गया है। तथा-वैसे ही, स्थावराणाम्-स्थावरों का परिणाम, जङ्गमेषु-मनुष्य, पश्वादि सकल प्राणी रूप जङ्गमों में और, जङ्गमानाम्-उक्त जङ्गमों का परिणाम, स्थावरेषु-उक्त स्थावरों में देखा जाता है। भाष्यकार हेतुघटित वाक्य द्वारा उपसंहार करते हैं—एवमिति। एवम्-इस प्रकार, जात्यनुच्छेदेन-जलत्वपृथिवीत्वादि जाति प्रत्यभिज्ञायमान रूप से अनुच्छेद होने से अर्थात् "वही जलत्व है" "वही पृथिवीत्व है" इस प्रकार की जातिविषयक प्रत्यभिज्ञा का उच्छेद नहीं होने से, सर्वम्-सर्व वस्तु, सर्वात्मकम्-सर्व स्वरूप है।

भाव यह है कि—वृक्ष, लता आदि वनस्पतियों के पुष्प, फल, पत्र, मूल आदि में जो रस, गन्ध आदि का एक दूसरे से वैलक्षण्य देखने में आता है वह जल तथा पृथिवी का ही परिणाम है। अन्यथा असत् की उत्पत्ति प्रमाणविरुद्ध होने से उक्त वृक्षादि के पुष्पादि में रसादि की उपलब्धि बाधित हो जायगी। अतः जल तथा पृथिवी में सूक्ष्मरूप से विद्यमान जो रसगन्धादि वह पुष्पादि में स्थूल रूप से आविर्भूत होता है। इसी प्रकार स्थावरों का परिणाम जङ्गमों में और जङ्गमों का परिणाम

देशकालाकारनिमित्तापबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति।

स्थावरों में देखने में आता है। उदाहरणार्थं द्राक्षादि उत्तम फल के भक्षण से जो पुरुष में विलक्षण सौन्दर्य संपत्ति प्राप्त होती है वह जङ्गमों में स्थावरों का परिणाम और रुधिरसेचन से दाडिमफल (अनारफल) का ताडफल सदृश बड़ा आकार प्राप्त होता है। वह स्थावरों में जङ्गमों का परिणाम है। इसी प्रकार सर्व पदार्थों में सर्वविकारजननशक्ति की योग्यता समझनी चाहिये। इस पूर्वाचार्य के कथन से यह सिद्ध हुआ कि, पुष्पफलादि में स्थूल रूप से प्रतीयमान जो रसगन्धादि उसकी जो जल तथा पृथिवी में विकारजननशक्ति की योग्यता वही अव्यपदेश्य धर्म (भविष्यत् पदार्थ) कहा जाता है।

"सर्वं सर्वात्मकम्" यह कहा गया। उस पर शङ्का होती है कि—जब सर्व कारण सर्व की उत्पत्ति शक्ति से युक्त हैं तो सर्व वस्तु से सर्व काल में तथा सर्वदेश में सर्व कार्य की अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) होनी चाहिये ? क्योंकि, अविकल कारण के नियत पूर्व रहने पर कार्य के न होने में कोई कारण नहीं ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—देशकालेति। देशकालाकारनिमित्तापबन्धात्—देश, काल, आकार तथा निमित्त रूप सहकारी कारण के संबन्ध के अभाव से, समानकालम्—एक ही काल में, आत्मनाम्—सर्व पदार्थों की, अभिव्यक्तिः न खलु—अभिव्यक्ति नहीं होती है।

भाव यह है कि—यद्यपि सर्वकारण सर्वात्मक हैं, तथापि इतने ही से कार्य की अभिव्यक्ति नहीं होती है; किन्तु वह यथोक्त देश, काल, आकार तथा निमित्त रूप सहकारी कारण की अपेक्षा करता है। जब उक्त देशकालादि की प्राप्ति होती है तब कार्य की अभिव्यक्ति होती है और जब उक्त देशकालादि की प्राप्ति नहीं होती है तब कार्य की अभिव्यक्ति नहीं होती है। जैसे भूमि कुमकुम (केसर) का कारण है तथापि वह काश्मीर देश रूप सहकारी कारण की अपेक्षा करती है। अतः काश्मीर देश में ही कुमकुम की अभिव्यक्ति होती है, अन्य पाञ्चालादि देश में नहीं। पृथिवी धान्य का कारण है तथापि वह वर्षाऋतु-कालरूप सहकारी कारण की अपेक्षा करती है। अतः वर्षाऋतु में ही धान्य की अभिव्यक्ति होती है, अन्य ग्रीष्मादि ऋतुओं में नहीं। मृगी बालक (अपने बच्चों के प्रसव) का कारण है, तथापि वह आकाररूप सहकारी कारण की अपेक्षा करती है। अतः अपने आकार के समान आकारवाले बालक को ही प्रसव करती है, मनुष्याकारवाला बालक को नहीं। अर्थात् मृगी मृग को ही प्रसव करती है, मनुष्य को नहीं। एवं प्राणी सुखदुःख का कारण है, तथापि वह पुण्यपापात्मक निमित्त रूप सहकारी कारण की अपेक्षा करता है। अतः पुण्यात्मा सुख को ही प्राप्त

य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी । यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः । कस्मात् ।

अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत ।

होता है, दुःख को नहीं । और पापी दुःख को ही प्राप्त होता है, सुख को नहीं । इस प्रकार उक्त देश-कालादि सहकारी कारण के अभाव होने से सर्ववस्तु से सर्वदेश तथा सर्वकाल में सर्वकार्य की अभिव्यक्ति नहीं होती है । यह उक्त शङ्का का समाधान हुआ ।

इस प्रकार धर्मों का विभाग करके संप्रति "उन धर्मों में जो अनुगत वह धर्मी कहा जाता है" इस अर्थ को कथन करते हैं—य इति । यः-जो, एतेषु अभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेषु-इन पूर्वोक्त अभिव्यक्त, अनभिव्यक्त घटादि सर्व धर्मों में, अनुपाती-अनुगत एवं, सामान्यविशेषात्मा-सामान्य धर्मी तथा विशेष धर्म एतत् उभय रूप, सः-वह (मृत्तिकादि), अन्वयी धर्मी-अन्वयी धर्मी कहा जाता है । इस प्रकार अनुभवसिद्ध सर्वानुगत स्थायी धर्मी पदार्थ को दिखा कर संप्रति इसको न माननेवाले तथा क्षणिक विज्ञानमात्र चित्त (बुद्धि) को आत्मा माननेवाले जो बौद्ध उसके मत में जो समाधिपाद के "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" १—३२ इस सूत्र पर अनिष्ट प्रसंग (दोष) दिया गया है उसका स्मरण कराते हैं—यस्येति । यस्य तु-जिसके मत में तो, इदम्-यह चित्त, धर्ममात्रम्-केवल धर्ममात्र, निरन्वयम् एव-निर्धर्मक ही माना जाता है, तस्य-उनके मत में, भोगाभावः-भोगाभाव रूप अनिष्ट प्रसंग लागू पड़ता है, कस्मात्-क्योंकि, अन्येन विज्ञानेन-अन्य विज्ञान के द्वारा अर्थात् अन्य क्षणिक विज्ञान स्वरूप चित्त रूप आत्मा के द्वारा, कृतस्य कर्मणः-किये हुए कर्म के फल का, अन्यत्-अन्य विज्ञान स्वरूप आत्मा, भोक्तृत्वेन कथम् अधिक्रियेत-भोक्ता रूप से कैसे अधिकृत होगा ? अर्थात् पूर्व क्षण के क्षणिक विज्ञान स्वरूप चित्त (बुद्धि) रूप आत्मा, जिसने कर्म किया था वह उसी क्षण में उस कर्म के फल को भोगे बिना ही नष्ट हो गया और उत्तर क्षण के उक्त आत्मा, जिसने कर्म किया ही नहीं था वह उत्तर क्षण में उस कर्म के फल को कैसे भोगेगा ? क्योंकि, अन्य के किये हुए कर्म का फल अन्य नहीं भोगता है, यह नियम है । अन्यथा अकृत-अभ्यागम तथा कृतविप्रणाश रूप दोष प्रसक्त होता है । अतः एक स्थायी धर्मी पदार्थ आत्मा मानना चाहिये, जो पूर्व काल में कर्म करता है और उत्तर काल में उसका फल भोगता है ।

तत्स्मृत्यभावश्च नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति ।

वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते । तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥ १४ ॥

क्षणिकविज्ञानवाद में दूसरा दूषण देते हैं— तदिति । च–और, तत् स्मृत्यभावः–पूर्व–अनुभूत पदार्थ की स्मृति का अभावरूप दूसरा अनिष्ट प्रसंग लागू पड़ता है। क्योंकि, अन्यदृष्टस्य–अन्य के अनुभव किये हुए पदार्थ का, अन्यस्य–अन्य को, स्मरणम्–स्मरण, न अस्ति–नहीं होता है, इति–यह निश्चित नियम है । अर्थात् यदि धर्म से अतिरिक्त स्थायी धर्मी पदार्थ नहीं माना जाय तो स्मृति की उत्पत्ति नहीं होगी। क्योंकि, जिसने अनुभव किया था वह क्षणिक होने से पूर्व क्षण में ही नष्ट हो गया और उत्तर क्षण में उत्पन्न हुआ जो अन्य आत्मा, जिसने अनुभव नहीं किया था तो उसको स्मरण कैसे होवेगा ? क्योंकि, यह नियम है, कि अन्य अनुभूत पदार्थ का स्मरण अन्य को नहीं होता है।

स्थायी धर्मी पदार्थ न मानने पर तीसरा दूषण देते हैं— वस्त्विति । च–और, वस्तुप्रत्यभिज्ञानात्–पूर्व - अनुभूत पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा होने से, स्थायी धर्मी पदार्थ स्वीकार करना चाहिये । क्योंकि, यः स्थितः अन्वयी धर्मी–जो स्थिर तथा उत्तर ज्ञान के साथ अन्वयी धर्मी है वह, धर्मान्यथात्वम् अभ्युपगतः–धर्म रूप से अन्यथाभाव को प्राप्त होता हुआ, प्रत्यभिज्ञायते–प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का विषय होता है, उसका अपलाप करना उचित नहीं है । अर्थात् यदि स्थायी आत्मा न माना जायगा तो प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष जो होता है वह नहीं होगा; क्योंकि, जिसने प्रत्यक्ष अनुभव किया है उसको प्रत्यभिज्ञा होती है, अन्य को नहीं । क्षणिकविज्ञानवाद में प्रत्यक्ष अनुभव करने वाला आत्मा तो रहा नहीं तो प्रत्यभिज्ञा किसको होगी ? अर्थात् किसी को नहीं ।

स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में इतना भेद है कि—स्मृति केवल संस्कारजन्य ही है और प्रत्यभिज्ञा संस्कार तथा इन्द्रिय उभयजन्य है । स्मृति अनुभव भिन्न है और प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षात्मक अनुभव रूप है । एवं स्मृति का आकार "सा मे माता" है और प्रत्यभिज्ञा का आकार "सोऽयं देवदत्तो यो मथुरायां दृष्टः" है । ये दोनों पूर्वापर स्थायी धर्मी में होते हैं, धर्ममात्र क्षणिक में नहीं । क्योंकि, जैसे देवदत्त का देखा हुआ पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा यज्ञदत्त को नहीं होती है, वैसे ही आत्मा को क्षणिक मानने पर पूर्व आत्मा का देखा हुआ पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा उत्तर आत्मा को नहीं होनी चाहिये । उपसंहार करते हैं—तस्मादिति । तस्मात्–इससे, इदम् धर्ममात्रम् निरन्वयम् न–यह चित्त धर्ममात्र निरन्वय (अननुगत) नहीं है, इति–यह सिद्ध हुआ । इति ॥ १४ ॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति ।

तद्यथा चूर्णमृत्पिण्डमृद्घटमृत्कपालमृत्कणमृदिति च क्रमः । यो

शङ्का होती है कि–यद्यपि इस प्रकार धर्म से अतिरिक्त धर्मी पदार्थ सिद्ध होता है, तथापि उस धर्मी का एक ही परिणाम होना चाहिये, अनेक नहीं । क्योंकि, एक धर्मी का एक ही परिणाम होना नियम है । अन्यथा एक धर्मी का एक से अधिक जितने परिणाम माने जायंगे उन सब में आकस्मिकत्वापत्ति (बिना कारण से कार्य होना रूप) दोष लागू पड़ेगा ? इस शङ्का का समाधान सूत्रकार करते हैं—क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुरिति । परिणामान्यत्वे—परिणामों की अन्यता में अर्थात् एक धर्मी के अनेक परिणाम होने में, क्रमान्यत्वम्–पिण्ड, घट आदि का पूर्वापरीभाव रूप क्रमों की अन्यता (अनेकता), हेतुः–हेतु है, अर्थात् एक धर्मी के अनेक परिणाम होने में अनेक क्रम रूप क्रिया हेतु है । भाव यह है कि–यद्यपि एक धर्मी का एक ही परिणाम देखा गया है तथापि जब सहकारी कारण का क्रिया में भेद होता है तब परिणामों में भी भेद हो जाया करता है । अतः आकस्मिकत्वापत्ति दोष नहीं । क्योंकि, अनेक क्रम (क्रिया) रूप कारण से अनेक परिणाम (कार्य) होते हैं, आकस्मिक नहीं ।

भाष्यकार आशङ्कापूर्वक सूत्र का व्याख्यान करते हैं—एकस्येति । एकस्य धर्मिणः एकः एव परिणामः–एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है, इति प्रसक्ते–इस प्रकार की आशङ्का की प्रसक्ति (प्राप्ति) होने पर, क्रमान्यत्वम्–वक्ष्यमाण क्रम के भेद, परिणामान्यत्वे–परिणाम के भेद में, हेतुः भवति–हेतु होता है, इति–यह उक्त आशङ्का का समाधान है । अर्थात् यद्यपि एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है तथापि क्रम के भेद से परिणाम में भी भेद हो जाया करता है । तत् यथा–और वह जैसे—चूर्णमृत् पिण्डमृद् घटमृत् कपालमृत् कणमृदिति च क्रमः । घट उत्पत्ति काल में प्रथम मृत्तिका का, चूर्णमृत्–चूर्ण रूप से परिणाम होता है, उसके अनन्तर, पिण्डमृत्–पिण्ड रूप से परिणाम होता है, उसके अनन्तर, घटमृत्–घट रूप से परिणाम होता है और घट के लय काल में, कपालमृत्–कपाल रूप से परिणाम होता है, उसके अनन्तर, कणमृत्–कणरूप से परिणाम होता है, इति च क्रमः–इस प्रकार मृत्तिका रूप धर्मी का परिणामक्रम है । चूर्णमृत् पिण्डमृत् इत्यादि प्रत्येक चूर्णादि शब्द के साथ मृत् शब्द का प्रयोग करके यह सूचन किया है कि, प्रत्येक चूर्णादि में एक ही मृत्तिका रूप धर्मी अनुगत है ।

यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः ।

पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः । लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वर्तमानभावः क्रमः । तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावः क्रमः । नातीतस्यास्ति क्रमः । कस्मात् । पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वम् । सा तु नास्त्यतीतस्य । तस्माद्द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः ।

भाव यह है कि—एक ही मृत्तिका का चूर्णाकार, पिण्डाकार, घटाकर, कपालाकार तथा कणाकार आदि अनेक परिणाम होते हैं । यह परिणाम-परंपरा सर्व को प्रत्यक्ष होती है । क्योंकि, चूर्ण तथा पिण्ड का जो आनन्तर्य रूप क्रम वह अन्य है, पिण्ड तथा घट का जो आनन्तर्य रूप क्रम वह अन्य है, घट तथा कपाल का जो आनन्तर्य रूप क्रम वह अन्य है एवं कपाल तथा कण का जो आनन्तर्यरूप क्रम वह भी अन्य है । इस प्रकार का जो क्रमों का भेद वह सर्व को प्रत्यक्ष ही है । यह क्रमभेद परिणामभेद का कारण है । क्रम का लक्षण करते हैं—यो यस्येति । यः धर्मः यस्य धर्मस्य समनन्तरः—जो धर्म जिस धर्म के अनन्तर होता है, सः तस्य क्रमः—वह धर्म उस धर्म का क्रम कहा जाता है । जैसे, पिण्डः प्रच्यवते—पिण्ड प्रच्युत (नष्ट) होता है और, घटः उपजायते—घट उत्पन्न होता है, इति—इस प्रकार का जो क्रम वह, धर्मपरिणामक्रमः—धर्म-परिणामक्रम कहा जाता है । अर्थात् पिण्डरूप धर्म से अनन्तर घटरूप धर्म के होने से घट पिण्ड का क्रम कहा जाता है । इसी प्रकार सर्वत्र धर्म परिणामक्रम समझना चाहिये । चूर्ण-पिण्ड तथा घटादि का जो परिणामक्रम दिखाया गया है वह धर्मपरिणामक्रम कहा जाता है ।

धर्मपरिणामक्रम को दिखा कर संप्रति लक्षणपरिणामक्रम को दिखाते हैं—लक्षणेति । घटस्य—घट का, अनागतभावात्—अनागतभाव से, वर्त्तमानभावः क्रमः—वर्तमानभाव जो क्रम है वह, लक्षणपरिणामक्रमः—लक्षणपरिणाम क्रम कहा जाता है । तथा—वैसे ही, पिण्डस्य—पिण्ड का, वर्त्तमानभावात्—वर्त्तमानभाव से, अतीतभावः क्रमः—अतीतभाव जो क्रम है वह भी लक्षणपरिणामक्रम ही कहा जाता है । नातीतस्येति । अतीतस्य क्रमः न अस्ति—अतीत का क्रम नहीं होता है । कस्मात्—क्योंकि, पूर्वपरतायाम् सत्याम् समनन्तरत्वम्—पूर्वता तथा परता के रहने पर अनन्तरत्व रूप क्रम होता है । सा तु अतीतस्य नास्ति—परता रहने पर भी वह पूर्वता तो अतीत में है नहीं । तस्मात् द्वयोः एव लक्षणयोः क्रमः—इससे अनागत और वर्त्तमान इन दोनों ही लक्षणों का क्रम होता है, अतीत का नहीं ।

तथावस्थापरिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते। सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति।

धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति।

भाव यह है कि—जहां दो पदार्थ होते हैं, वहां एक पूर्व और दूसरा पर होता है। पर की अपेक्षा पूर्व में पूर्वता और पूर्व की अपेक्षा पर में परता होती है। वहां क्रम हुआ करता है। जैसे अनागत और वर्त्तमान रूप दो लक्षण हैं। उनमें वर्त्तमान की अपेक्षा अनागत पूर्व है; अतः उसमें पूर्वता है और अनागत की अपेक्षा वर्त्तमान पर है, अतः उसमें परता है। अतएव उन दोनों लक्षणों का पूर्वापरीभाव रूप क्रम होता है। एवं वर्त्तमान और अतीत दो लक्षण हैं। उनमें अतीत की अपेक्षा वर्त्तमान पूर्व है, अतः उसमें पूर्वता है और वर्त्तमान की अपेक्षा अतीत पर है; अतः उसमें परता है। अतएव उन दोनों लक्षणों का भी पूर्वापरीभाव रूप क्रम होता है; परन्तु अतीत के पश्चात् कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होता है अतः अतीत किसीकी अपेक्षा से भी पूर्व नहीं। अतएव उसमें पूर्वता भी नहीं, इसीलिये अतीत के क्रम का निषेध किया गया है।

इस प्रकार लक्षणपरिणामक्रम का प्रतिपादन करके संप्रति अवस्थापरिणामक्रम का प्रतिपादन करते हैं—तथेति। तथा—वैसे ही, अवस्थापरिणामक्रमः अपि—अवस्थापरिणामक्रम भी समझना चाहिये। जैसे—अभिनवस्य घटस्य—नूतन घट की, प्रान्ते—क्षणपरंपरा के अन्त में, पुराणता दृश्यते—पुराणता देखी जाती है। अर्थात् नूतन घट में जो बहुत काल के बाद जीर्णता देखने में आती है, वही घट का अवस्थापरिणामक्रम कहा जाता है। सा च—और वह पुराणता, क्षणपरंपरानुपातिना क्रमेण—क्षणपरंपरा से अनुगत क्रम के द्वारा, अभिव्यज्यमाना—अभिव्यक्त होती हुई, पराम् व्यक्तिम् आपद्यते—परा व्यक्ति को (अन्तिम-अवस्था को) प्राप्त होती है। अर्थात् यद्यपि धर्मपरिणामक्रम तथा लक्षणपरिणामक्रम के समान यह अवस्थापरिणामक्रम प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता है, तथापि अतिपुराणता को देखने से उसका अनुमान होता है। धर्मलक्षणाभ्याम् च—धर्मपरिणाम तथा लक्षणपरिणाम से, विशिष्टः-युक्त, अयम् तृतीयः परिणामः-यह तीसरा अवस्था-परिणाम है, इति—ऐसा प्रतीत होता है।

भाव यह है कि—कीनाश अर्थात् कृषीवल (खेती करनेवाला) के द्वारा कोष्ठागार (कोठार) में प्रयत्नपूर्वक रखने पर भी व्रीहि-यवादि अन्न बहुत दिनों के पश्चात् निकालने पर हाथ से स्पर्श करने मात्र से विशीर्यमाण अवयववाले होते हुए इस

त एते क्रमा धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः। धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति।

प्रकार धूल के समान प्रतीत होते हैं कि, मानो परमाणुभाव को प्राप्त हो गए हों। यह जो उनका विशीर्णतापूर्वक परमाणुभाव के समान हो जाना वह अकस्मात् एक ही क्षण में तो हो सकता नहीं है; किन्तु क्षण - परंपराक्रम से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, स्थूल, स्थूलतर तथा स्थूलतम रूप क्रम से ही कहना होगा। अतः जिस क्षणपरंपराक्रम से पदार्थों में प्रतिक्षण पुराणता प्रतीत होती है वही अवस्थापरिणामक्रम का अनुमापक है। क्योंकि, अवस्थापरिणामक्रम के बिना उक्त पुराणता का होना असंभव है।

इस प्रकार धर्म, लक्षण तथा अवस्था–परिणाम का प्रतिपादन किया गया। उनमें इतना भेद और भी समझना चाहिये कि, धर्म तथा लक्षण परिणाम कभी कभी होता है, सदा नहीं और यह प्रकृत अवस्था परिणाम प्रतिक्षण होता ही रहता है; परन्तु सूक्ष्म अवस्था में यह प्रगट प्रतीत नहीं होता है और वही जब स्थूलभाव को प्राप्त होता है तब प्रगट प्रतीत होता है। इस प्रकार यह पूर्वोक्त क्रमान्यत्व धर्मधर्मिभेदपक्ष में है। इस बात को स्पष्ट करते हैं—त एत इति। ते एते क्रमाः—ये तीन प्रकार के जो पूर्वोक्त क्रम हैं वे, धर्मधर्मिभेदे सति–धर्म तथा धर्मी के भेद रहने पर ही, प्रतिलब्धस्वरूपाः–आत्मलाभ करते हैं (अस्तित्व धराते हैं), अन्यथा नहीं। अर्थात् यह तीन प्रकार के क्रम का भेद धर्मधर्मिभेद की अपेक्षा को लेकर ही है, स्वतः नहीं (सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं)। क्योंकि–धर्म इति। अन्यधर्मस्वरूपापेक्षया—अपने से अन्य कार्य रूप धर्म के स्वरूप की अपेक्षा से, धर्मः अपि–कारण की अपेक्षा धर्म है वह भी, धर्मी भवति–धर्मी हो जाया करता है। अर्थात् यह नियम नहीं है कि, जो धर्मी कहा जाता है वह सदा धर्मी ही कहा जाय, धर्म नहीं। और यह भी नियम नहीं है कि, जो धर्म कहा जाता है वह सदा धर्म ही कहा जाय, धर्मी नहीं; किन्तु जो कार्य की अपेक्षा धर्मी कहा जाता है वह कारण की अपेक्षा धर्म भी कहा जाता है और जो कारण की अपेक्षा धर्म कहा जाता है वह कार्य की अपेक्षा धर्मी भी कहा जाता है। जैसे मृत्तिका घट रूप कार्य की अपेक्षा धर्मी कही जाती है; परन्तु वही गन्धतन्मात्र रूप कारण की अपेक्षा धर्म भी कही जाती है। गन्धतन्मात्र मृत्तिका रूप कार्य की अपेक्षा धर्मी कहा जाता है किन्तु वही अहङ्कार रूप कारण की अपेक्षा धर्म भी कहा जाता है। अहङ्कार गन्धतन्मात्र रूप कार्य की अपेक्षा धर्मी कहा जाता है; परन्तु वही महत्तत्व रूप कारण की अपेक्षा धर्म भी कहा जाता है एवं महत्तत्व अहङ्कार रूप कार्य की अपेक्षा धर्मी कहा जाता है, पर वही प्रधान रूप कारण की अपेक्षा धर्म कहा जाता है। इस प्रकार सकल विकार पदार्थ

यदा तु परमार्थतो धर्मिणोऽभेदोपचारद्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदायमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते ।

चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च । तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टाः । वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः । ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः ।

में धर्मधर्मि-व्यवहार सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। एकमात्र प्रधान ही मुख्य धर्मी है क्योंकि, वह किसीका कार्य नहीं। अतः उसमें आपेक्षिक धर्मी व्यवहार नहीं किन्तु वास्तविक है।

शङ्का होती है कि-जब महत्तत्व से लेकर घटादि पर्यन्त जितने विकार हैं वे सभी धर्मी हैं तो "एक प्रकृति ही सर्व विकार का धर्मी है" यह जो प्रकृत शास्त्र का सिद्धान्त है उसकी क्या गति होगी?

इसका उत्तर देते हैं—यदेति। यदा तु–जिस समय तो, परमार्थतः–वास्तविक रूप से, धर्मिणः–प्रधान रूप धर्मी का, अभेदोपचारद्वारेण–अभेद उपचार के द्वारा, सः एव धर्मः अभिधीयते–"वही यह धर्म है" ऐसा कहा जाता है, तदा–उस समय, अयम् क्रमः–यह यथोक्त क्रम, एकत्वेन एव प्रत्यवभासते–एक रूप से ही भासता है। अर्थात् "कार्य की अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ धर्मी है" यह व्यवहार अपेक्षाकृत काल्पनिक है और "प्रकृति ही सर्व विकार का धर्मी है" यह व्यवहार वास्तविक है।

भाव यह है कि— महत्तत्व से लेकर घटादि पर्यन्त सकल विकार में कार्य की अपेक्षा से धर्मी की कल्पना की गई है, वास्तविक वे धर्मी नहीं और प्रकृति सकल विकार के प्रति वास्तविक धर्मी है, काल्पनिक नहीं। अतः कोई दोष नहीं।

इस प्रकार अनेक प्रकार के धर्मपरिणाम केवल बाह्य पदार्थों में ही नहीं; किन्तु आन्तर चित्त रूप पदार्थ में भी हैं। इस अर्थ को व्यक्त करने के लिये चित्त के धर्मों का भेद प्रतिपादन करते हैं—चित्तस्येति। चित्तस्य द्वये धर्माः–चित्त के दो प्रकार के धर्म हैं, परिदृष्टाश्च अपरिदृष्टाश्च–एक परिदृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष रूप और दूसरा अपरिदृष्ट अर्थात् परोक्ष रूप। तत्र–उन दोनों में जो, प्रत्ययात्मकाः–प्रत्यय रूप अर्थात् प्रमाण - विपर्यय - विकल्प - निद्रा - स्मृत्यात्मक वृत्ति रूप हैं वे, परिदृष्टाः–प्रत्यक्ष रूप हैं और जो, वस्तुमात्रात्मकाः–वस्तुमात्र स्वरूप अर्थात् वक्ष्यमाण निरोधादि चित्त के धर्म स्वरूप हैं वे, अपरिदृष्टाः–परोक्ष रूप हैं। ते च–और वे परोक्ष रूप चित्त धर्म, सप्त एव भवन्ति–सात प्रकार के ही हैं और, अनुमानेन–शास्त्र तथा अनुमान

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥ इति ॥ १५ ॥

प्रमाण से, प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः—परिज्ञात वस्तुमात्र सद्भाववाले हैं, अर्थात् चित्त के निरोधादि धर्म परोक्ष रूप इसलिये हैं कि, शास्त्र तथा अनुमान प्रमाण से ही उनका अस्तित्व परिज्ञात होता है, इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं। उन सात प्रकार के परोक्ष रूप चित्त धर्मों का कारिका द्वारा संग्रह करके दिखाते हैं—

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥ इति ॥

अर्थात् निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा तथा शक्ति; ये सात दर्शन-वर्जित (परोक्ष रूप) चित्त के धर्म हैं।

पूज्य श्रीवाचस्पति मिश्र ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि—असंप्रज्ञात - समाधि काल में जो चित्तवृत्तियों का निरोध है, वह चित्त का धर्म है, जो संस्कारशेष रूप कार्यलिङ्गक अनुमान से, तथा योगशास्त्र से जाना जाता है, प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं अतः निरोध रूप चित्तधर्म परोक्ष है। धर्म शब्द से पुण्यपाप का ग्रहण है। यह पुण्यपाप रूप चित्तधर्म भी सुखदुःख रूप कार्यलिङ्गक अनुमान से तथा शास्त्र से जाना जाता है, प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं। अतः धर्म परोक्ष है। संस्कार भी चित्त का धर्म है और स्मृति रूप कार्य से इसका अनुमान होता है। यह भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं, किन्तु परोक्ष है। चित्त को त्रिगुणात्मक होने से और "चलञ्च गुणवृत्तम्" इस न्याय से गुणों का स्वभाव चञ्चल होने से चित्त का प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है। यह परिणाम भी चित्त का धर्म है, जो उक्त युक्ति से अनुमान से ही जाना जाता है, प्रत्यक्ष से नहीं। अतः परोक्ष है। प्राणधारण को जीवन कहते हैं, जो असंविदित प्रयत्न विशेष है, यह भी चित्त का ही धर्म है, जिसका श्वासप्रश्वास से अनुमान होता है, यह भी प्रत्यक्ष नहीं। अतः यह जीवन भी परोक्ष ही है। चित्त की क्रिया रूप जो चेष्टा है, यह भी चित्त का धर्म है, जो ज्ञान के हेतु इन्द्रिय - संयोग का कारण है। क्योंकि, चित्तचेष्टा बिना इन्द्रिय - संयोग नहीं और इन्द्रिय - संयोग बिना ज्ञान नहीं होता है। अतः ज्ञान के हेतु तत्तत् इन्द्रिय - संयोग से चित्तचेष्टा का अनुमान होता है, इसका भी प्रत्यय नहीं। अतः यह भी परोक्ष ही है एवं सूक्ष्म अवस्था को शक्ति कहते हैं। रागादि चित्त के धर्म हैं। सत्कार्यवाद सिद्धान्त के अनुसार स्थूल रागादि के अनुभव से सूक्ष्म रागादि रूप शक्ति का अनुमान होता है। इसका भी प्रत्यय नहीं, अतः परोक्ष है। इति ॥ १५ ॥

अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम् ।

धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः । तेन परिणामत्रयं

इस प्रकार संयम का विषय परिणामत्रय का निरूपण करके संप्रति प्रकृतपाद के समाप्ति - पर्यन्त संयम की सिद्धि के प्रतिपादक सूत्रों का अवतरण भाष्यकार करते हैं—अत इति । अतः-योगाङ्ग तथा चित्तपरिणाम - निरूपण के पश्चात्, उपात्तसर्वसाधनस्य योगिनः-प्राप्त किये हैं यमादि साधन जिन्होंने ऐसे योगियों को, बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये-जिज्ञासित साक्षात्कार रूप अर्थ की सिद्धि के लिये, संयमस्य विषयः-संयम के विषय तथा वशीकार सूचक विभूतियाँ, उपक्षिप्यते-उपस्थित की जाती हैं—परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानमिति । परिणामत्रयसंयमात्-धर्म,लक्षण, अवस्था रूप तीनों परिणामों में धारणा, ध्यान, समाधि करने से योगियों को, अतीतानागतज्ञानम्-अतीत तथा अनागत सर्व पदार्थों का साक्षात्कार रूप ज्ञान होता है ।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—धर्मलक्षणेति । धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु-धर्म, लक्षण तथा अवस्था रूप तीनों परिणामों में, संयमात्-धारणा, ध्यान तथा समाधि करने से, योगिनाम्-योगियों को, अतीतानागतज्ञानम् भवति-अतीत, अनागत पदार्थ विषयक साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है ।

सूत्रगत संयम शब्द का अर्थ ज्ञान की जिज्ञासा होने पर "त्रयमेकत्र संयमः" इस सूत्र से "एक विषयक धारणाध्यानसमाधि संयम कहा जाता है" यह जो कहा गया है, उसका स्मरण कराते हैं—धारणेति । एकत्र-किसी एक ध्येय रूप विषय में जो, धारणाध्यानसमाधित्रयम्-धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों का समुदाय वह, संयमः उक्तः-संयम कहा गया है । अतः परिणामत्रय विषयक धारणा, परिणामत्रय विषयक ध्यान तथा परिणामत्रय विषयक समाधि करने से योगियों को भूत, भविष्यत्, वर्तमान के सकल पदार्थों का साक्षात्कार होता है, यह फलित हुआ ।

इस पर शङ्का होती है कि, जिस विषय का संयम किया जाय उसी विषय का साक्षात्कार संयम करा सकता है, अन्य का नहीं । धर्म - लक्षण - अवस्था रूप परिणाम का संयम अतीत - अनागत सकल पदार्थों का साक्षात्कार कराता है, यह कहना युक्ति संगत नहीं । क्योंकि, घट संयुक्त चक्षु घट से अतिरिक्त अन्य विषय का साक्षात्कार

साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु सम्पादयति ॥ १६ ॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्त-त्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती । श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम् ।

कराता नहीं देखा गया है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—तेनेति । तेन-यथोक्त संयम से, परिणामत्रयम् साक्षात्क्रियमाणम्-परिणामत्रय साक्षात्क्रियमाण होता हुआ, तेषु-उन परिणामों में रहे हुए जो, अतीतानागतज्ञानम्-अतीत - अनागत पदार्थ (धर्म) उन सर्व का भी ज्ञान, संपादयति-संपादन करता है । अर्थात् जैसे घट संयुक्त चक्षु घट का साक्षात्कार करता हुआ घट में रहे हुए रूपादि का भी साक्षात्कार कराता है। वैसे ही परिणामत्रय संबद्ध संयम परिणामत्रय का साक्षात्कार कराता हुआ परिणामत्रय में रहे हुए अतीत, अनागत पदार्थों का भी साक्षात्कार कराता है । यह उक्त शङ्का का समाधान हुआ । इति ॥ १६ ॥

सूत्रकार संयम का दूसरा विषय उपस्थित करते हैं—शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानमिति । शब्दार्थप्रत्ययानाम्-शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों का, इतरेतराध्यासात्-परस्पर अध्यास (अन्य में अन्य बुद्धि) होने से, संकरः-एक दूसरे से मिश्रित (अविविक्त) प्रतीत होते हैं और वास्तविक मिश्रित हैं नहीं, अतः, तत्प्रविभागसंयमात्-उन तीनों के विभाग में संयम करने से, अर्थात् परमार्थ दृष्टि से उन तीनों को पृथक् पृथक् जान कर तद्विषयक संयम करने से योगी को, सर्वभूतरुतज्ञानम्-पशु, पक्षी आदि सर्व प्राणी के शब्द (वाणी) का ज्ञान होता है । अर्थात् "यह काक, इस शब्द से, इस अर्थ का बोधन कर रहा है" । इस प्रकार पशु - पक्षी आदि प्रत्येक प्राणी की भाषा का यथार्थ तात्पर्य समझने लगता है ।

वाचक शब्द के व्याख्यान करने की इच्छा से भाष्यकार सर्वप्रथम वाणी के व्यापार के विषय का व्याख्यान करते हैं—तत्रेति । तत्र-वर्ण, ध्वनि तथा पद आदि अनेक प्रकार के शब्दों में, वाक्-वागिन्द्रिय, वर्णेषु एव-ताल्वादि स्थानों से अभिव्यक्त लोक-प्रसिद्ध अकारादि वर्णों में ही, अर्थवती-प्रयोजनवाली है । अर्थात् वाणी वर्ण को ही विषय करनेवाली है । च-और, श्रोत्रम्-श्रोत्र-इन्द्रिय, ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्-वाणी को ताडन करनेवाला जो उदान उसका परिणाम जो वर्ण तदाकार से परिणत जो ध्वनि तन्मात्र का विषय करनेवाला है । पदम् पुनः-और जो पद है वह,नादानुसंहार-बुद्धिनिर्ग्राह्यम्-नाद रूप वर्ण का अनुसंहार करनेवाली बुद्धि से ग्राह्य है । अर्थात्

पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति ।

वर्णाः एकसमयासंभावित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मानः । ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते।

वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवापन्नः पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इति । एवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसंकेतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति ।

एक पद में जितने वर्ण हैं, उन सर्व का क्रम से उच्चारण होने के पश्चात् एक ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है जो, प्रत्येक वर्णों को विषय करने के पश्चात् "यह एक पद है" इस प्रकार पद को विषय करती है । इस पद-जन्य बुद्धि से अर्थ स्फुट होने के कारण इस बुद्धि को पदस्फोट कहते हैं । अतः इसी बुद्धि से पद का ज्ञान होता है, वागिन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय से नहीं । क्योंकि, वागिन्द्रिय वर्ण को उच्चारणमात्र करती है और श्रोत्रेन्द्रिय ध्वनिमात्र का ज्ञान कराती है ।

जो लोग वर्ण को ही पद मानते हैं उनके प्रति कहते हैं—वर्णा इति । वर्णाः—अनेक वर्ण, एकसमयासंभावित्वात्—क्षणिक होने से एक समय में स्थिति के योग्य न होने से, परस्परनिरनुग्रहात्मानः—परस्पर असंबद्ध स्वभाववाले हैं, अतः. ते—वे, पदम् असंस्पृश्य—पद को स्पर्श न करके अर्थात् पदत्व को प्राप्त न होकर एवं, अनुपस्थाप्य—अर्थ को उपस्थिति न करने से वाचक न होकर, आविर्भूतास्तिरोभूताश्च—आविर्भूत तथा तिरोभूत होते हैं अर्थात् आविर्भूत होकर उसी क्षण में तिरोभूत हो जाते हैं, इति—अतः, प्रत्येकम् अपदस्वरूपाः—प्रत्येक वर्ण अपदस्वरूप हैं, ऐसा विवेकी पुरुष द्वारा, उच्यन्ते—कहे जाते हैं । अर्थात् उक्त युक्ति से प्रत्येक वर्ण पद नहीं है, ऐसा विवेकी पुरुष कहते हैं । अतः जिन्होंने वर्णों को ही पद माना है वे विवेकहीन हैं ।

शङ्का होती है कि—यदि प्रत्येक वर्ण ही पद नहीं हैं तो "इतने वर्ण क्रमविशेष से युक्त होकर इस अर्थ के वाचक हैं" इस प्रकार का संकेत लोग क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—वर्ण इति । पुनः एकैकः वर्णः—फिर एक एक वर्ण, सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वात्—सहकारी दूसरे वर्णों के संबन्धी होने से, पदात्मा—पद रूप, सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः—सर्व पदार्थ बोधक योग्यता से युक्त, वैश्वरूप्यमिवापन्नः—नाना रूप नहीं किन्तु नाना रूप के जैसा प्राप्त एवं पूर्वश्च उत्तरेण उत्तरश्च पूर्वेण—पूर्व वर्ण उत्तर वर्ण के साथ और उत्तर वर्ण पूर्व वर्ण के साथ मिलता हुआ,

तदेतेषामर्थसंकेतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते। तदेकं पदमेकबुद्धिविषयमेकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रममवर्णं बौद्धम् अन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च

विशेषे अवस्थापितः-अखण्ड पदस्फोट विशेष में तादात्म्य रूप से स्थापित होता है। एवम्-इस प्रकार, बहवः वर्णाः-बहुत वर्ण, क्रमानुरोधिनः-आनुपूर्वी विशेष की अपेक्षा करनेवाले, अर्थसंकेतेनावच्छिन्नाः-अर्थ संकेत से युक्त, इयन्तः-इतने (एक, दो, तीन, चार आदि) संख्यावाले, एते-ये "गौः" इस पद गत गकारादि, सर्वाभिधानशक्तिपरिवृताः-सर्व शब्दशक्ति से युक्त. गकारौकारविसर्जनीयाः-गकार, औकार तथा बिसर्ग रूप तीनों वर्ण मिलकर, सास्नादिमन्तम् अर्थम्-सास्नादि युक्त गोव्यक्ति रूप अर्थ को, द्योतयन्ति इति-बोधन कराते हैं।

भाव यह है कि—यद्यपि गकारादि एक एक वर्ण पद नहीं; अतः गो आदि व्यक्ति रूप अर्थ बोधन शक्ति से हीन हैं, तथापि पूर्वापरीभाव से सर्व वर्ण मिलकर पद रूप हो जाते हैं। अतः उक्त अर्थ बोधन शक्ति से युक्त हो जाते हैं। अतएव पूर्वोक्त लौकिक संकेत होने में कोई विरोध नहीं, यह उक्त शङ्का का उत्तर हुआ।

शङ्का होती है कि—जब पूर्वोक्त संकेत के अनुसार वर्णों को ही वाचक मान लिया तब उनसे अतिरिक्त कोई एक पद तो सिद्ध नहीं हुआ ? इसका समाधान करते हैं—तदिति। तत् वह पद, अर्थसंकेतेन अवच्छिन्नानाम्-"इस पद से यही अर्थ समझा जाय" इस प्रकार के अर्थ संकेत से युक्त है तथा, उपसंहृतध्वनिक्रमाणाम्-समाप्त हो गया है ध्वनि का पूर्वापरीभाव रूप क्रम जिनका ऐसे, एतेषाम्-इन वर्णों का समूह रूप है, यः एकः बुद्धिनिर्भासः-और जो एक है और अन्तिम बुद्धि द्वारा प्रकाश्य है, तत् वाच्यस्य वाचकम् पदम्-वह वाच्य रूप अर्थ का वाचक पद, संकेत्यते-संकेतित होता है। तत् पदम्-वह अखण्ड स्फोट रूप पद वर्णों के समान अनेक नहीं, किन्तु एकम्-एक है। क्योंकि, वह, एकबुद्धिविषयम्-एक बुद्धि का विषय है। जो एक बुद्धि का विषय होता है वह एक ही होता है। वर्ण अनेक हैं और अनेक बुद्धि के विषय हैं, एकप्रयत्नाक्षिप्तम्-एक ध्वनि रूप प्रयत्न द्वारा संपादित हैं, वर्ण अनेक प्रयत्न द्वारा संपादित हैं, अभागम्-अभाग अर्थात् निरंश हैं, अक्रमम्-वर्णों के समान क्रम से नहीं किन्तु एक ही समय उत्पद्यमान हैं, अतः, अवर्णम्-उक्त हेतु से वर्णों से भिन्न हैं, बौद्धम्-बुद्धिमात्रग्राह्य हैं, अन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितम्-अन्त्य-वर्ण के प्रत्यय रूप व्यापार से अभिव्यक्त हैं, अभिधीयमानैः-वक्ता के द्वारा उच्चार्यमाण च-और, श्रोतृभिः श्रूयमाणैः-श्रोता के द्वारा श्रूयमाण जो, वर्णैः-वर्ण उनके द्वारा, परत्र प्रतिपिपादयिषया-पद से अन्य जो अर्थ

श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्धया सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या प्रतीयते।

तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभागः। एतावतामेवंजातीयकोऽनुसंहार एतस्यार्थस्य वाचक इति।

संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः सोऽयं शब्द इति। एवमितरेतराध्यास-

---

उसको प्रतिपादन करने की इच्छा से प्रयुक्त है, अनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया-अनादि जो विभक्तवर्णपद निमित्तक वाग्व्यवहार उससे जन्य जो वासना उससे युक्त जो, लोकबुद्धया-लोकबुद्धि उससे, सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या-परमार्थ के समान संप्रतिपत्ति (विसंवाद नहीं किन्तु संवाद) उससे प्रतीयते-प्रतीत होता है। अर्थात् व्यवहृत होता है। अतः वर्ण पद नहीं किन्तु वर्णों से पद भिन्न है, यह सिद्ध हुआ।

संप्रति शब्द-व्यवहार संकेतमूलक है, इस अर्थ को प्रतिपादन करते हैं—तस्येति। तस्य-उस पद का, संकेतबुद्धितः-संकेत बुद्धि से स्थूलदर्शी पुरुष के हित के लिये, प्रविभागः-वर्णरूप से विभाग किया जाता है—एतावताम्-न्यूनाधिक नहीं किन्तु इतने वर्णों का, एवं जातीयकः अनुसंहारः-नैरन्तर्य क्रम विशेष रूप तथा एक बुद्धि-उपग्रहात्मक मिलन रूप, एतस्य अर्थस्य-इस गोत्व आदि अर्थ का, वाचकः—वाचक है, इति-इस प्रकार का विभाग समझना चाहिये। शङ्का होती है कि-"इस अर्थ का यह शब्द वाचक है" जब इस प्रकार का संकेत है तो शब्द, अर्थ का इतरेतराध्यास न होना चाहिये? इसका उत्तर देते हैं-संकेतः तु-उस संकेत तो, पदपदार्थयोः-पदपदार्थों का, इतरेतराध्यासरूपः-परस्पर का अध्यास रूप है अर्थात् आरोपित अभेद रूप है, स्मृत्यात्मकः-स्मृति रूप है, जैसे—यः अयम् शब्दः सः अयम् अर्थः-जो यह शब्द है सो यह अर्थ है, यः अयम् अर्थः सः अयम् शब्दः-जो यह अर्थ है सो यह शब्द है, इति-इस प्रकार का शब्द में अर्थ और अर्थ में शब्द बुद्धि रूप परस्पराध्यासात्मक संकेत समझना चाहिये। उपसंहार करते हैं-एवम्-इस प्रकार, इतरेतराध्यासरूपः-परस्पर का अध्यास रूप, संकेतः भवति-संकेत होता है। उक्त शङ्का का उत्तर यह हुआ कि, यदि संकेत परमार्थ होता तो अपरमार्थ रूप अध्यास न होता, सो तो है नहीं; किन्तु संकेत भी उक्त प्रकार से अध्यास रूप ही है। अतः शब्द अर्थ का अध्यास होने में कोई आपत्ति नहीं। उक्त अध्यास प्रयुक्त संकीर्णता को दिखाते हैं—एवम्-इस प्रकार, एते शब्दार्थप्रत्ययाः-ये तीनों शब्द, अर्थ तथा ज्ञान, इतरेतराध्यासात्-यथोक्त परस्पर के अध्यास से, संकीर्णाः-संकीर्ण हैं।

रूपः संकेतो भवतीति। एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात्संकीर्णा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम्।

य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित्। सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः। वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते। न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति तथा न ह्यसाधना क्रियास्तीति।

उसी संकीर्णता को दिखाते हैं—"गौः" इति शब्दः-'गौ' यह शब्द है, "गौः" इति अर्थः-'गौ' यह अर्थ है, "गौः" इति ज्ञानम्-'गौ' यह ज्ञान है। यहां पर शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों का आकार एक है परन्तु तीनों पदार्थ अत्यन्त विविक्त हैं, पर अविवेकी पुरुष इसको नहीं समझते हैं। यही अध्यास प्रयुक्त संकीर्णता है। यह शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की संकीर्णता अविवेकी लौकिक पुरुषों को है, विवेकी योगियों को नहीं, इस अर्थ को कहते हैं—यः एषाम् प्रविभागज्ञः- जो पुरुष इन शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विशेष विभाग का जाननेवाला है, सः सर्ववित्-वह सर्व का जाननेवाला सर्वभूतरुतज्ञ कहा जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक वर्ण पदार्थबोधक पद बनने की शक्ति से युक्त है। इस अर्थ को प्रतिपादन करके संप्रति प्रत्येक पद वाक्यार्थबोधक वाक्य बनने की शक्ति से युक्त है, इस अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—सर्वपदेष्विति। सर्वपदेषु च-सर्व पदों में, वाक्यशक्तिः अस्ति-अन्य पदों के साथ मिल कर वाक्य बनने की शक्ति रहती है। जैसे, वृक्षः इति उक्ते-वृक्ष ऐसा कहने पर, अस्ति इति गम्यते-अस्ति ऐसा प्रतीत होता है। अर्थात् 'अस्ति' इस क्रियापद का अध्याहार किया जाता है। क्योंकि, पदार्थः-पदार्थ, सत्ताम न व्यभिचरति-सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता है। अर्थात् पदार्थ कभी अस्तित्व को छोड कर नहीं रहता है। अतः सत्ताबोधक 'अस्ति' इस क्रियापद का अध्याहार करना ही पड़ता है, तथा-जैसे ही, असाधना क्रिया नहि अस्ति-साधन विना क्रिया की निष्पत्ति नहीं हो सकती है अतः क्रियापद श्रवण के पश्चात् साधनबोधक पद का अध्याहार किया जाता है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि, जैसे प्रत्येक वर्ण में अन्य वर्णों के साथ मिलकर पद बनने की शक्ति रहती है, जैसे ही प्रत्येक पद में भी अन्य क्रियाबोधक तथा साधनबोधक आदि पदों के साथ मिल कर वाक्य बनने की शक्ति विद्यमान रहती है। अतः वर्णों में जैसे पदसांकर्य है, जैसे ही पदों में भी वाक्यसांकर्य है।

भाव यह है कि - अन्य को बोध करने के लिये शब्दप्रयोग किया जाता है और वही अन्य के प्रति बोध करने योग्य होता है, जो उसको प्राप्त करने में इष्ट हो। एवं प्राप्त करने में इष्ट भी वही होता है, जो उसके लिये ग्रहण करने योग्य होता है।

तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपः । नियमार्थोऽनुवादः कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानामिति ।

पदार्थ ग्रहण करने योग्य नहीं किन्तु वाक्यार्थ ही ग्रहण करने योग्य होता है (क्योंकि, जितने पद होते हैं वे सब वाक्यार्थ - परक ही होते हैं । अतः वाक्यार्थ ही सब पदों का अर्थ माना जाता है । जहां एक ही पद का प्रयोग किया गया हो वहां आकांक्षित पद का अध्याहार करके एवं उसके साथ एकीकरण करके अर्थ समझा जाता है । अत एव महाभाष्यकार ने कहा है—"यत्रान्यत्क्रियापदं नास्ति तत्रास्तिर्भवन्ति परः प्रयोक्तव्यः" अर्थात् जहां दूसरा क्रियापद न हो वहां अस्ति, भवन्ति आदि का पर प्रयोग कर लेना चाहिये क्योंकि, एक पद में अर्थबोधन सामर्थ्य नहीं होता है । अतः वाक्य ही सर्वत्र वाचक माना जाता है, पद नहीं । पद के भाग होने से वर्ण में जैसे पदार्थ-शक्ति रहती है, वैसे ही वाक्य के भाग होने से पदों में भी वाक्यार्थ - शक्ति रहती है । अतः जैसे एक एक वर्ण सर्वपदार्थ - अभिधान शक्ति से युक्त हैं, वैसे ही एक एक पद सर्व वाक्यार्थ - अभिधान शक्ति से युक्त हैं । इसीलिये भाष्यकार ने कहा है–'सर्वपदेषु चास्ति वाक्यार्थशक्तिः' ।

क्रिया को छोड़कर कारक नहीं रहता है । इस अर्थ को प्रतिपादन करके संप्रति कारक को छोड़कर क्रिया भी नहीं रहती है, इस अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—तथा चेति । तथा च–और वैसे ही, पचति इति उक्ते–'पचति' ऐसा कहने पर, सर्व-कारकाणाम् आक्षेपः–अन्वय योग्यायोग्य कर्त्ता, करण आदि सर्व कारकों का आक्षेप होता है । अर्थात् "येन बिना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते" इस न्याय से जैसे क्रिया के बिना कारक अनुपपन्न है; अतः कारक से क्रिया का आक्षेप होता है, वैसे ही कारक के बिना क्रिया भी अनुपपन्न है; अतः क्रिया से कारक का भी आक्षेप होता है । उदाहरणार्थ, जैसे–पूर्वोक्त 'वृक्षः' ऐसा कहने पर 'अस्ति' का आक्षेप होता है, वैसे ही 'पचति' ऐसा कहने पर 'चैत्रः' का आक्षेप होता है ।

शङ्का होती है कि–इसी प्रकार सर्वत्र आक्षेप से ही कारक का लाभ हो जायगा, फिर वाक्य में कारक का प्रयोग व्यर्थ है ? इसका उत्तर देते हैं—कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानाम्–कर्त्ता, करण, कर्म-रूप क्रमशः चैत्र, अग्नि, तण्डुल का जो प्रयोग रूप, अनुवादः–अनुवाद किया जाता है वह, नियमार्थः–नियम करने के लिये है । अर्थात् जिन कारकों का आक्षेप से लाभ हो सकता है उनका वाक्य में प्रयोग करना एक प्रकार का अनुवाद करना है और यह व्यर्थ होने से नियमार्थ है ।

भाव यह है कि–क्रिया में क्रियात्व संपादन करने के लिये क्रिया को कारक की आकांक्षा होती है । अतः क्रिया से कारक का आक्षेप होता है; परन्तु सामान्यतया अन्वय-योग्य तथा अन्वय-अयोग्य सभी कारक का आक्षेप क्रिया द्वारा प्राप्त होता है ।

दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनं श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते जीवति प्राणान्धारयति।

तत्र वाक्ये पदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं वा कारकवाचकं वा। अन्यथा भवत्यश्वोऽजापय इत्येव-

---

क्योंकि, कारक सामान्य से ही क्रिया की आकांक्षा शान्त हो जाती है। अतः इस प्रकार का विशेष नियम नहीं हो सकता है कि, अन्वय-योग्य जो कारक विशेष उसी का आक्षेप होता है, अन्य (अन्वय-अयोग्य) का नहीं। और जब आक्षेप-लब्ध कारक होने पर भी कारक का प्रयोग किया जाता है, तब यह प्रयोग व्यर्थ होकर नियम करता है कि—जो अन्वय के योग्य कारक-विशेष उसी का आक्षेप होता है, अन्य जो अन्वय के अयोग्य कारक है उसका नहीं। इस नियम से सामान्य कारक की व्यावृत्ति हो जाती है। यही व्यावृत्ति प्रयुक्त (वाक्य में प्रयोग किया हुआ) कारक का फल है, अतः वह व्यर्थ नहीं।

पद में वाक्यार्थ की शक्ति है, इस अर्थ को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करके दिखाते हैं—"छन्दोऽधीते" "प्राणान् धारयति"। वाक्यार्थे-वेद का अध्ययन करता है तथा प्राणों को धारण करता है, इस अर्थवाले वाक्य के अर्थ में क्रमशः "श्रोत्रियः" "जीवति" इस पदरचनम् दृष्टम् च-पद की रचना देखी गई है अर्थात् "छन्दोऽधीते" इस वाक्य का जो अर्थ है वही "श्रोत्रियः" इस पद का भी अर्थ है। एवं "प्राणान् धारयति" इस वाक्य का जो अर्थ है वही "जीवति" इस पद का भी अर्थ है। यदि पद में वाक्यार्थ-शक्ति न हो तो जो उक्त वाक्य का अर्थ है, सो उक्त पद का अर्थ नहीं होना चाहिये और होता तो है! अतः पद में वाक्यार्थ-शक्ति है, यह सिद्ध होता है। अतएव वर्ण जैसे पद का अवयव होने से कल्पित है, वैसे ही पद भी वाक्य का अवयव होने से कल्पित ही है।

शङ्का होती है कि—जब यथोक्त प्रकार से पद में ही वाक्यार्थ विद्यमान हैं तो वाक्य-रचना व्यर्थ है? क्योंकि, पदप्रयोग मात्र से ही वाक्यार्थ का बोध हो जायगा। इसका उत्तर देते हैं-तत्रेति। तत्र—पद तथा वाक्य इन दोनों के मध्य में, वाक्ये-वाक्य में ही, पदार्थाभिव्यक्तिः—पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् यद्यपि पद में वाक्यार्थ-शक्ति विद्यमान है, तथापि पद में उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है, किन्तु वाक्य में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है, यह बात पूर्व कही गई है, ततः—जब वाक्य में ही पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है, इस कारण से जहां वाक्यगत किसी पद में संशय हो वहां, पदम् विभज्य व्याकरणीयम्—पद का विभाग करके उसका निश्चय करना चाहिये कि, क्रियावाचकम् वा कारकवाचकम् वा—यह पद क्रिया-

मादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति।

वाचक है अथवा कारकवाचक है। अर्थात् जहां वाक्यगत किसी पद में सन्देह हो कि, यह क्रियावाचक है अथवा कारकवाचक है? वहां व्याकरण की रीति से प्रकृतिप्रत्यय का पृथक्करण करके पद का निश्चय करना चाहिये। अन्यथा–यदि उक्त युक्तिसे प्रकृतिप्रत्यय का व्याकरण न किया जाय तो, भवत्यश्वोऽजापय इत्येवमादिषु–'भवति' 'अश्वः' 'अजापयः'इत्यादि पदोंमें, नामाख्यातसारूप्यात्–नाम तथा आख्यातका अर्थात् नाम तथा क्रिया का समान आकार होने से, अनिर्ज्ञातम्–निष्कर्ष रूपसे अज्ञात होता हुआ, क्रियायाम् कारके वा–क्रिया में अथवा कारक में, कथं व्याक्रियेत–किस प्रकार व्याकरण (पारख) होगा। अर्थात् 'भवति अश्वः अजापयः' इन सन्दिग्ध पदों में यदि प्रकृतिप्रत्यय का ज्ञान न होगा तो यह कैसे ज्ञान होगा कि, यह क्रियापद है वा नाम है। क्योंकि, "घटो भवति" इस वाक्य में 'भवति क्रियापद (क्रियाबोधक) है और "भवति भिक्षां देहि" इस वाक्य में 'भवति' नामपद (नामबोधक) है, "त्वमश्वः" इस वाक्य में 'अश्वः' क्रियापद है और "अश्वो याति" इस वाक्य में 'अश्वः' नामपद है। एवं "अजापयः शत्रून्" इस वाक्य में 'अजापयः' क्रियापद है और "अजापयः पिब" इस वाक्य में 'अजापयः' नामपद है।

तिङन्त पद को आख्यात तथा सुबन्त पद को नाम कहते हैं, जिसको दूसरे शब्द में क्रमशः क्रियापद तथा कारकपद भी कहते हैं। "भू सत्तायाम्" धातु, वर्त्तमान काल, लट्लकार, प्रथम-पुरुष, एकवचन में 'भवति' रूप बनता है, जो आख्यात अर्थात् क्रियापद कहा जाता है, जिसका अर्थ 'होना' होता है। और सर्वनाम 'भवतु' शब्द के उकार का लोप होने पर, "उगितश्च" सूत्र से स्त्रीत्वबोधक ङीप् प्रत्यय होने पर "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" सूत्र से ह्रस्वः होने पर संबोधन में 'भवति' रूप बनता है, जो नाम अर्थात् कारक कहा जाता है, जिसका अर्थ 'आप' होता है।

"श्वस प्राणने" धातु, भूत - काल, लुङ्लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन में 'अश्वः' रूप बनता है, जो आख्यात कहा जाता है, जिसका अर्थ 'तूंने श्वास लिया था' होता है और 'अशू व्याप्तौ संघाते च' अथवा 'अश भोजने' इन दोनों धातुओं से उणादि वा नैरुक्त व प्रत्यय करने पर 'अश्वः' शब्द बनता है, जो नाम कहा जाता है, जिसका अर्थ–"अश्वः कस्मात्, अश्नुतेऽध्वानम्, महाशनो भवतीति वा" इस यास्कमुनि के निर्वचन के अनुसार 'घोटक अर्थात् घोड़ा' होता है। क्योंकि, घोडा मार्ग को व्याप्त करता है। जहां जाता है वहां संघात अर्थात् मिलाप कराता है एवं बहुत खाता भी है।

तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः । तद्यथा श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः । श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः । क्रियाकारकात्मा तदर्थः । प्रत्ययश्च । कस्मात् । सोऽयमित्यभिसंबन्धादेकाकार एव प्रत्ययः संकेत इति ।

एवं "जप व्यक्तायां वाचि मानसे च" धातु, प्रेरणार्थक णिच्, प्रत्यय भूतकाल, लङ्लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन में 'अजापयः' रूप बनता है, जो आख्यात कहा जाता है, जिसका अर्थ प्रकरण अनुसार "शत्रु को पराजय कराया" होता है। और अजा नाम बकरी का है तथा पयस् नाम दूध का है । दोनों शब्दों का षष्ठी समास तथा 'पिब' क्रिया के साथ अन्वय होने पर "अजापयः पिब" रूप बनता है, जो नाम कहा जाता है, और जिसका अर्थ 'तूं बकरी का दूध पी' होता है ।

इस प्रकार पूर्वोक्त 'भवति' 'अश्वः' तथा 'अजापयः' ये तीनों पद दो दो प्रकार से बनते हैं । अतः सन्देह होता है कि, ये नाम हैं वा आख्यात ? और जब पद में ही सन्देह होता है तो अर्थ में भी सन्देह होना स्वाभाविक ही है । अतः यथोक्त व्याकरण की रीति से इनका निर्वचन करके अर्थ का निश्चय करना चाहिये, तभी सन्देह दूर हो सकता है । इस बात को भाष्यकार ने यहां पर प्रसंगवश छेडी है, ऐसा समझना चाहिये ।

इस प्रकार शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों का सांकर्य दिखा कर इदानीं इन तीनों का विभाग दिखाते हैं—तेषामिति । तेषां शब्दार्थप्रत्ययानाम्-पूर्वोक्त उन शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का सांकर्य है तो भी, प्रविभागः-विशेष विभाग है। तत् यथा-और वह जैसे, श्वेतते प्रासादः इति शब्दः-'श्वेतते प्रासादः' इस वाक्य में जो श्वेतते पद है वह, क्रियार्थः शब्दः-साध्य रूप क्रियार्थक शब्द है और, श्वेतः प्रासादः इति शब्दः-'श्वेतः प्रासादः' इस वाक्य में जो 'श्वेतः पद है वहः कारकार्थः-सिद्ध रूप कारकार्थक शब्द है । अतः ये दोनों शब्द भिन्न भिन्न हैं । एवं, क्रियाकारकात्मा तदर्थः-क्रिया रूप और कारक रूप इन दोनों शब्दों का क्रमशः अर्थ है । अतः श्वेत-गुण रूप अर्थ एक होने पर भी क्रिया - कारक रूप अर्थ इन दोनों शब्दों का भिन्न भिन्न है । प्रत्ययश्च-और ज्ञान भी इनका भिन्न भिन्न है । शङ्का करते हैं कस्मात्-जब शब्द, अर्थ तथा ज्ञान अभेद रूप से प्रतीत हो रहे हैं तो भिन्न भिन्न कैसे मानते हैं ? उत्तर देते हैं— सः अयम् इति-वही यह है इस प्रकार का, अभिसंबन्धात्-अभेद संबन्ध होने से, एकाकार एव-एकाकार ही, प्रत्ययः संकेतः-ज्ञान रूप संकेत होता है अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों हैं तो भिन्न भिन्न; परन्तु 'सोऽयम्' इस

यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः। स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न बुद्धिसहगतः। एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्यन्यथा शब्दोऽन्यथाऽर्थोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः। एवं तत्प्रविभागसंयमाद्योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं संपद्यत इति ॥ १७ ॥

प्रकार का संबन्ध रूप संकेतात्मक उपाधि से अभिन्न प्रतीत होते हैं, तात्त्विक अभिन्न नहीं, इति– ऐसा समझना चाहिये।

परमार्थ अर्थ को कहते हैं—यस्त्विति। यः तु–जो तो, श्वेतः अर्थः–श्वेत गुण रूप अर्थ है, सः–वह, शब्दप्रत्यययोः–शब्द और ज्ञान के, आलम्बनीभूतः–आलम्बनीभूत (आश्रित) है, अतः पृथक् है। हि–क्योंकि, सः–वह अर्थ, स्वाभिः अवस्थाभिः–अपनी नवपुराणत्वादि अवस्था द्वारा, विक्रियमाणः–विक्रिया को प्राप्त होता हुआ, न शब्दसहगतः–न तो शब्द के साथ संकीर्ण है और, न बुद्धिसहगतः–न ज्ञान के साथ संकीर्ण है; अतः सर्वथा पृथक् है। एवम् शब्दः एवम् प्रत्ययः–इसी प्रकार शब्द और इसी प्रकार प्रत्यय (ज्ञान), न इतरेतरसहगतः–एक दूसरे के साथ संकीर्ण नहीं हैं; अतः सर्वथा पृथक् ही हैं, इति–अतः, अन्यथा शब्दः–अन्य प्रकार का शब्द है, अन्यथा अर्थः–अन्य प्रकार का अर्थ है और, अन्यथा प्रत्ययः–अन्य प्रकार का प्रत्यय है, इति विभागः–इस प्रकार का विभाग है। सूत्रार्थ का उपसंहार करते हैं—एवम्–इस प्रकार, तत्प्रविभागसंयमात्–शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों के विभाग में संयम करने से, योगिनः–योगी को, सर्वभूतरुतज्ञानम्–सर्व प्राणियों की भाषा का ज्ञान, संपद्यते–प्राप्त होता है। अर्थात् पूर्वोक्त शब्द, अर्थ और ज्ञान को पृथक् पृथक् समझ कर उनमें संयम करने से योगी को पशु, पक्षी तथा सर्पादि सर्व प्राणियों की भाषा का ज्ञान प्राप्त होता है। यद्यपि मनुष्य के शब्द, अर्थ तथा ज्ञान में संयम करने से अन्य पश्वादि शब्द का ज्ञान न होना चाहिये तथापि शब्दत्वेन सभी शब्द सजातीय होने से सर्व प्राणी की भाषा का ज्ञान योगी को होता है, इति–यह सिद्ध हुआ।

स्फोट का विचार व्याकरण ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है। उसकी प्रक्रिया भी वहां सुलभ है। पाठकों को वहीं देखना चाहिये। ग्रन्थ के बढने के भय से यहां उसका विस्तार नहीं किया गया है ॥ १७ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संप्रति सूत्रकार संयमान्तर का फल सिद्ध्यन्तर कहते हैं—संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमिति । संस्कारसाक्षात्करणात्–संयम द्वारा संस्कार का साक्षात्कार करने से, पूर्वजातिज्ञानम्–पूर्व जाति (जन्म) का ज्ञान प्राप्त होता है । अर्थात् पूर्व के जितने जन्म हो चुके हैं उन सर्व के संस्कार चित्त में विद्यमान हैं । उन संस्कार विषयक धारणा - ध्यान - समाधि करने से प्रथम उन संस्कारों का साक्षात्कार होता है, तत्पश्चात् उन संस्कारों के विषय जो पूर्व देव - मनुष्यादि जन्म उन सर्व का साक्षात्कारात्मक परिज्ञान योगी को प्राप्त होता है ।

यद्यपि सूत्रकार ने संस्कार के साक्षात्कार करने से पूर्व जाति का ज्ञान होता है, इतना ही कहा है, और संस्कार का साक्षात्कार किससे होता है, यह नहीं कहा है, तथापि संयम का प्रकरण चल रहा है । अतः संयम द्वारा संस्कार का साक्षात्कार करने से पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है, ऐसा समझना चाहिये । अर्थात् प्रथम संस्कार विषयक धारणाध्यान - समाधि किया जाता है, तत्पश्चात् संस्कार का साक्षात्कार होता है, तत्पश्चात् पूर्व जाति का ज्ञान होता है, यह क्रम समझना चाहिये ।

यद्यपि जिस विषयक संयम किया जाता है उसीका साक्षात्कार होना नियम है । अतः संस्कार विषयक संयम करने से संस्कार का ही साक्षात्कार होना उचित है, पूर्व जाति का नहीं तथापि पूर्व जाति के ज्ञान का ही तो संस्कार है । अतः पूर्व जाति के ज्ञान बिना संस्कार अनुपपन्न है । अतः संस्कार से पूर्व जाति के ज्ञान का आक्षेप होता है । जैसे दिन में भोजन न करनेवाले पुरुष के शरीर में स्थूलता रात्रि - भोजन बिना अनुपपन्न होती हुई रात्रि - भोजन का आक्षेपक होती है । वैसे ही पूर्व जाति विषयक ज्ञान - जन्य - संस्कार पूर्व जाति विषयक ज्ञान बिना अनुपपन्न होता हुआ पूर्व जाति विषयक ज्ञान का आक्षेपक होता है । अतः "संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्" सूत्रकार का कहना उचित ही है ।

शङ्का होती है कि - जब उक्त संस्कार विषयक संयम करते हैं तब संस्कार का साक्षात्कार होता है और वह अनुपपन्न होकर पूर्व जाति विषयक ज्ञान का आक्षेपक होता है । इसकी अपेक्षा पूर्व जाति विषयक ही संयम द्वारा पूर्वजाति का ज्ञान मानना लाघव प्रतीत होता है । फिर पूर्व जाति को छोड़ कर "संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्" क्यों कहते हैं ? इसका समाधान यह है कि, ज्ञात वस्तु विषयक संयम संभव है । पूर्व के जितने जन्म हुए हैं वे सर्व संयम से पूर्व ज्ञात नहीं; अतः तद्विषयक संयम असंभव है । अन्यथा अज्ञात आकाशकुसुमादि की संयम द्वारा साक्षात्कारापत्ति दोष लागू पड़ेगा ? । अतः संस्कार - साक्षात्कार द्वारा पूर्व जाति ज्ञान कहना ही उचित है ।

द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः । ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः ।

फिर शङ्का होती है कि, संस्कार अनुपपन्न होकर पूर्वजाति की कल्पना करता है। वह कल्प्यमान पूर्वजाति विषयक ज्ञान परोक्ष ही कहना होगा और योगियों को संयमसाध्य ज्ञान अपरोक्ष रूप होना चाहिये ? इसका समाधान यह है कि, यद्यपि कल्पक संस्कार द्वारा कल्प्यमान पूर्वजाति विषयक ज्ञान परोक्ष रूप ही है, तथापि परोक्षतया ज्ञात पूर्वजन्म विषयक पुनः संयम करने से पूर्वजन्म का साक्षात्कार होता है और आकाशकुसुमादि का कोई कल्पक न होने से वे परोक्षतया ज्ञात नहीं । अतः तद्विषयक संयम असंभव है । सुतरां उनका साक्षात्कार भी असंभव ही है ।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—द्वये खल्विति । अमी द्वये खलु संस्काराः—ये पूर्वोक्त सूत्र - उक्त दो प्रकार के ही संस्कार हैं, स्मृतिक्लेशहेतवः—एक स्मृति रागादि क्लेश के हेतु जो, वासनारूपाः—वासनारूप हैं, और दूसरे, विपाकहेतवः—जाति, आयु तथा भोग रूप विपाक के हेतु जो, धर्माधर्मरूपाः—शुभाशुभ कर्मजन्य धर्माधर्म रूप हैं। उक्त संस्कार अप्रत्यक्ष तथा अनात्मधर्म हैं, प्रत्यक्ष तथा आत्मधर्म नहीं। इस अर्थ को दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादन करते हैं—ते पूर्वभवेति । ते—वे पूर्वोक्त संस्कार, पूर्वभवाभिसंस्कृताः—पूर्व जन्मों में निष्पादित, परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवत्—प्रकृत पाद, १५ वां सूत्र कारिका उक्त परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति तथा जीवन आदि के समान, अपरिदृष्टाः चित्तधर्माः—अदृष्ट रूप चित्त के धर्म हैं, आत्मा के नहीं । संस्कार साक्षात्कार के कारण संयम है । इस अर्थ को प्रतिपादन करते हैं—तेषु संयम इति । तेषु—साधन सहित श्रुत, अनुमित उक्त संस्कार रूप चित्तधर्मों में जो, संयमः—संयम वह, संस्कारसाक्षात्क्रियायै—पूर्वोक्त दो प्रकार के संस्कार का साक्षात्कार करने में, समर्थः—समर्थ है ।

भाव यह है कि, जिन संस्कार का संयम द्वारा साक्षात्कार मानते हैं वह संयम से पूर्व ज्ञात है अथवा अज्ञात ? यदि कहें, ज्ञात है तो उसके ज्ञान के लिये संयम व्यर्थ और यदि कहें, अज्ञात है तो तद्विषयक संयम असंभव ? । क्योंकि, अज्ञात वस्तु विषयक संयम अशक्य है, यह प्रथम कह चुके हैं । अन्यथा तुच्छ आकाशकुसुमादि का भी संयम द्वारा साक्षात्कार मानना पड़ेगा ? । इसका समाधान यह है कि, प्रथम शास्त्र तथा अनुमान प्रमाण से परोक्षतया ज्ञात संस्कार विषयक संयम किया जाता है। अतः संस्कार विषयक संयम असंभव नहीं और पूर्वोक्त शास्त्र तथा अनुमान

तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः। न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम्।

तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम्।

प्रमाण से परोक्षतया ज्ञात संस्कार का संयम द्वारा अपरोक्ष किया जाता है। अतः संयम व्यर्थ भी नहीं; किन्तु परोक्ष ज्ञात को अपरोक्ष करके सार्थक है।

संयम द्वारा संस्कार के साक्षात्कार होने पर पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। इस कथन में युक्ति देते हैं—न चेति। देशकालनिमित्तानुभवैः विना–जन्मभूमि आदि देश, सत्ययुग आदि काल, माता-पिता आदि निमित्त के अनुभव के बिना, तेषाम्–उन संस्कारों का, साक्षात्करणम् नच अस्ति—साक्षात्कार का संभव नहीं है। अर्थात् पूर्व युक्ति से संस्कार का साक्षात्कार सिद्ध कर चुके हैं। वह सिद्ध तभी रह सकता है, जब संस्कार का विषय पूर्वजन्म का अनुभवसिद्ध हो। अतः प्रत्यक्ष सिद्ध संस्कार अनुपपन्न होकर अपना विषय पूर्व शरीर के देश-काल-निमित्तादि सहित पूर्व-जन्म की कल्पना कराता है।

सूत्रार्थ का उपसंहार करते हैं—तदित्थमिति। तत् इत्थम्=वह इस प्रकार से संयम द्वारा, संस्कारसाक्षात्करणात्–संस्कार के साक्षात्कार करने से, योगिनः–योगियों को, पूर्वजातिज्ञानम्–पूर्व जन्म का ज्ञान, उत्पद्यते–उत्पन्न होता है। स्वसंस्कार-विषयक संयम को अन्य पुरुष के संस्कार में भी अतिदेश करते हैं—परत्रेति। परत्र अपि एवम् एव–दूसरे आत्मा के चित्त में भी इसी प्रकार, संस्कारसाक्षात्करणात्–संयम द्वारा संस्कार को साक्षात्कार करने से, परजातिसंवेदनम्–दूसरे आत्मा के पूर्व-जन्म का संवेदन अर्थात् ज्ञान होता है।

भाव यह है कि - अपने से अन्य आत्मा के चित्त में रहा हुआ पूर्व जन्म विषयक संस्कार का संयम द्वारा साक्षात्कार करने से अन्य आत्मा के भी देश, काल, निमित्तादि सहित पूर्व जन्म का ज्ञान योगी को होता है। अर्थात् यह प्राणी पूर्व जन्म में कौन था, किस देश में था, इसके माता - पिता कौन थे? तथा सुखी या दुःखी था? इत्यादी सर्व विषयक ज्ञान योगी को प्राप्त होता है।

विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में "परत्राप्येयमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम्" इस भाष्य का-संस्कारसाक्षात्कार करने से सिद्ध योगी को जैसे अपना पूर्व जन्म का ज्ञान होता है, वैसे ही अन्य के पूर्व जन्म का ज्ञान भी होता है–यह श्रीवाचस्पतिमिश्र के किये हुए अर्थ को न मानते हुए–जैसे अपना अतीत जन्म का ज्ञान होता है वैसे ही अपना ही अनागत जन्म का ज्ञान भी होता है–ऐसा अर्थ किया है

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणात् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत्। अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसंभवं दुःखं

सो समीचीन नहीं। क्योंकि, सूत्रगत "पूर्वजातिज्ञानम्" तथा भाष्यगत 'परजातिसंवेदनम्" इन दोनों पदों को देखकर उनको भ्रान्ति हो गई है। अतः पर जाति शब्द का अनागत जन्म अर्थ उन्होंने किया है। वस्तुतः प्रकृत सिद्ध योगी का अनागत जन्म होता ही नहीं है। क्योंकि, अनागत जन्म के कारण रागादि उनके नष्ट हो चुके हैं। अतः श्रीवाचस्पतिमिश्रकृत अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है, विज्ञानभिक्षुकृत नहीं। यदि कहें कि, अनेक जन्म के हेतुभूत प्रारब्ध होने पर अनागत जन्म भी योगी के होते हैं तो यह भी समीचीन नहीं। क्योंकि, वक्ष्यमाण सोपक्रम तथा निरुपक्रम रूप दोनों प्रकार के प्रारब्ध को योगी एक ही समय में अनन्त शरीर धारण करके भोग लेता है; अतएव भाष्यकार ने इसी पाद के २२वें सूत्र पर उक्त दोनों कर्मों को एकभविक कहा है।

संप्रति उक्त अर्थ में श्रद्धा उत्पादन कराने के लिये पूर्वजन्मानुभवी आवट्य तथा जैगीषव्य नामक महर्षियों के संवाद का उपन्यास करते हैं—अत्रेदमिति। अत्र इदम् आख्यानम् श्रूयते-इस विषय में यह आख्यान सुनने में आता है—भगवतः जैगीषव्यस्य-भगवान जैगीषव्य महर्षि को, संस्कारसाक्षात्करणात्-संयम द्वारा संस्कार का साक्षात्कार करने से, दशसु महासर्गेषु-दश महाकल्पों में जितने जन्म उनके व्यतीत हो चुके थे उनके, जन्मपरिणामक्रमम्-जन्म परिणाम परम्परा को, अनुपश्यतः-अनुभव करते हुए, विवेकजम् ज्ञानम्-प्रकृति पुरुष का विवेकजन्य ज्ञान, प्रादुरभूत्-प्रादुर्भूत हुआ था। अर्थात् जिन जैगीषव्य ने उक्त पूर्वजातिज्ञान आदि विभूतियों को प्राप्त करते हुए मोक्ष के उपयोगी विवेकख्याति को भी प्राप्त किया था।

अथेति। अथ—किसी समय संयोगवश समागम प्राप्त होने के अनन्तर, तनुधरः भगवान् आवट्यः—स्वेच्छामय दिव्यविग्रहधारी भगवान् आवट्य महर्षि ने, तम् उवाच—पूर्वोक्त जैगीषव्य महर्षिको पूछा कि, दशसु महासर्गेषु भव्यत्वात्—दश महाकल्पों में होनेवाले सर्व पदार्थ विषयक ज्ञानवाला होने से, अनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन-रजोगुण, तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध-सात्त्विक बुद्धि युक्त होने से, नरकतिर्यग्गर्भसंभवम् दुःखम् संपश्यता—अनेक प्रकार के नरक, तिर्यक् आदि गर्भों में होनेवाले दुःख को अनुभव करनेवाले होने से एवं, देवमनुष्येषु पुनः पुनः उत्पद्य-

संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति ।

भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन यत्किंचिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि । भगवानावट्य उवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च संतोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति ।

मानेन—देव, मनुष्य आदि योनियों में बारम्बार उत्पन्न हो चुकने से, त्वया—अपने, सुखदुःखयोः किम् अधिकम् उपलब्धम्—सुख तथा दुःखों में अधिक क्या समझा है ? अर्थात् संस्कार का साक्षात्कार करने से दश महाकल्पों में जितने जन्म आपके हुए हैं, उन सबका ज्ञान आपने प्राप्त किया है; अतः आप यह बताइये कि, संसार सुखबहुल है अथवा दुःखबहुल ?

भगवन्तमिति । भगवन्तम् आवट्यम् जैगीषव्यः उवाच—भगवान् आवट्य को महर्षि जैगीषव्य ने उत्तर दिया कि—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वात्-दश महाकल्पों में होनेवाले सर्व पदार्थ विषयक ज्ञानवाला होने से, अनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन—रजोगुण, तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध सात्त्विक-बुद्धि युक्त होने से, नरकतिर्यग्भवम् दुःखम् संपश्यता-नरक, तिर्यक् आदि योनियों में होनेवाले दुःख को अनुभव करनेवाले होने से एवं, देवमनुष्येषु पुनः पुनः उत्पद्यमानेन-देव-मनुष्य आदि योनियों में बारंबार उत्पन्न हो चुकने से, मया—मैंने, यत् किञ्चित् अनुभूतम्—जो कुछ मैंने अनुभव किया है, तत् सर्वम्—उन सबको, दुःखम् एव प्रत्यवैमि—दुःख ही जानता हूँ अर्थात् "यह संसार दुःखबहुल तो क्या दुःखरूप ही है" ऐसा मैंने निश्चय किया है ।

भगवानिति । भगवान् आवट्यः उवाच—फिर भगवान् आवट्य ने जैगीषव्य मुनि से पूछा कि—आयुष्मतः-दीर्घ आयुवाले आपको, यत् इदम् प्रधानवशित्वम् च अनुत्तमम् सन्तोषसुखम्—जो यह प्रधानवशित्व तथा अनुत्तम सन्तोषसुख प्राप्त हुआ है, किम् इदम् अपि दुःखपक्षे निक्षिप्तम्-क्या यह भी दुःखपक्ष में ही निक्षिप्त है ।

प्रश्न का अभिप्राय यह है कि—योगाभ्यास के बल से योगी को प्रधानवशित्व रूप शक्ति प्राप्त होती है । प्रकृति को अपने वश में कर लेना प्रधानवशित्व कहा जाता है, जिससे योगी ईश्वर कहा जाता है । इस अवस्था में योगी जो चाहे सो कर सकता है । अतः एतत्कालिक सुख अलौकिक दिव्य सुख कहा जाता है । केवल यही नहीं; किन्तु इस अवस्था में योगी को एक प्रकार का अपूर्व सन्तोषसुख भी प्राप्त होता है । अतः

भगवाञ्जैगीषव्य उवाच—विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं संतोषसुखमुक्तं कैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव। बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः। त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति। दुःखरूपस्तृष्णातन्तुः। तृष्णादुःखसंतापापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ॥ १८ ॥

प्रश्न होता है क, पूर्व - उक्त प्रधानवशित्व जन्य सुख तथा एतत्कालिक सन्तोषजन्य सुख भी क्या दुःखरूप ही है ?

भगवानिति। भगवान् जैगीषव्यः उवाच-भगवान् जैगीषव्य ने कहा अर्थात् उक्त प्रश्न का उत्तर भगवान् जैगीषव्य मुनि ने यह दिया कि—विषयसुखापेक्षया एव-केवल विषयसुख की अपेक्षा से ही, इदम् सन्तोषसुखम् अनुत्तमम्-यह सन्तोष सुख अनुत्तम, उक्तम्-कहा गया है; परन्तु, कैवल्यसुखापेक्षया-कैवल्य (मोक्ष) सुख की अपेक्षा से तो यह सन्तोषसुख भी, दुःखम् एव-दुःखरूप ही है। कैवल्य सुख को अपेक्षा से विषयसुख के समान उक्त सन्तोषसुख भी दुःखरूप ही है, इस उक्त अर्थ को उपपादन करते हैं—बुद्धिसत्त्वस्येति। अयम्-यह जो सन्तोष है वह, बुद्धिसत्त्वस्य धर्मः त्रिगुणः-बुद्धिसत्त्व का धर्म है और त्रिगुणात्मक है, च-और जो, त्रिगुणः प्रत्ययः-त्रिगुणात्मक बुद्धि का कोई भी परिणाम होता है वह, हेयपक्षे न्यस्तः इति-दुःखरूप हेयपक्ष में पतित होता है अर्थात् सन्तोषसुख त्रिगुणात्मक बुद्धि का परिणाम है और जो त्रिगुणात्मक बुद्धि का परिणाम होता है वह भी त्रिगुणात्मक होने से मधुविषमिश्रित भोजन के समान हेय ही होता है, उपादेय नहीं। अतः सन्तोषसुख को दुःखरूप जो कहा गया है वह उचित ही है।

इस पर शङ्का होती है कि—जब कैवल्यसुख की अपेक्षा सन्तोषसुख भी दुःखरूप ही है तो सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ २-४२ ॥ इस सूत्र में इसको अनुत्तम (श्रेष्ठ) सुख क्यों कहा है ? इसका उत्तर देते हैं—दुःखरूप इति। तृष्णातन्तुः दुःखरूपः—रज्जु जैसे बन्ध द्वारा दुःख के हेतु होने से दुःखरूप ही है, वैसे ही तृष्णातन्तु भी बन्ध द्वारा दुःख के हेतु होने से दुःखरूप ही है। तृष्णादुःखसन्तापापगमात् तु -सन्तोष प्राप्त होने पर तृष्णाजन्य दुःखरूप सन्ताप के दूर होने पर तो, प्रसन्नम्-विषयदुःख से अकलुषित, अबाधम्-पीडा रहित, सर्वानुकूलम्-सर्वप्रिय, इदम् सुखम्-यह सन्तोषसुख है, इति उक्तम्-यह "सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः" इस सूत्र से कहा गया है अर्थात् सन्तोषसुख प्राप्त होने पर तृष्णादुःख दूर होने से सन्तोषसुख प्राप्त होने पर तृष्णादुःख दूर होने से सन्तोषसुख को अनुत्तम सुख कहा गया है। वस्तुतः मोक्षसुख की अपेक्षा यह सन्तोषसुख भी दुःखरूप ही है। इति ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम् ॥१९॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

संप्रति सूत्रकार संयम को अन्य सिद्धि (फल) प्रतिपादन करते हैं—प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानमिति। प्रत्ययस्य—अन्य पुरुष के चित्त-विषयक संयम करने से, परचित्तज्ञानम्—अन्य पुरुष के चित्त का साक्षात्कार रूप ज्ञान योगी को प्राप्त होता है। अर्थात् प्रथम किसी मुखरागादि लिङ्ग के द्वारा अन्य पुरुष के चित्त का परोक्ष ज्ञान होता है, तत्पश्चात् परोक्षतया ज्ञात होने पर चित्त-विषयक धारणा, ध्यान, समाधि करने से रागादि धर्म सहित अथवा तद्रहित पर-चित्त का साक्षात्कार योगी को प्राप्त होता है।

भाष्यकार संक्षेप से सूत्रार्थ करते हैं—प्रत्यय इति। प्रत्यये संयमात्—प्रथम मुखरागादि लिङ्ग से परोक्षतया ज्ञात परचित्त विषयक संयम करने से रागादि सहित अथवा तद्रहित परचित्त का साक्षात्कार होता है, ततः—तत्पश्चात्, प्रत्ययस्य साक्षात्करणात—रागादि सहित अथवा तद्रहित परचित्त के साक्षात्कार होने से, परचित्तज्ञानम्—रागादि सहित अथवा तद्रहित परचित्त का साक्षात्कार योगी को होता है।

यद्यपि प्रत्यय शब्द का अर्थ चित्तवृत्ति होता है, जो चित्त का धर्म कहा जाता है, चित्त नहीं; तथापि धर्मधर्मी में अभेद विवक्षा से प्रत्यय शब्द का अर्थ यहां चित्त किया गया है। एवं यद्यपि प्रत्यय शब्द का अर्थ केवल चित्त है, परचित्त नहीं, तथापि परचित्त किया गया है। एवं यद्यपि प्रत्यय शब्द का अर्थ केवल चित्त है, परचित्त नहीं; तथापि परचित्त ज्ञान रूप फल कथन करने से यहां पर प्रत्यय शब्द का अर्थ परचित्त ही करना पड़ा है। अन्यथा स्वचित्त विषयक संयम का परचित्त विषयक साक्षात्कार रूप फल कथन सूत्रकार का असंगत हो जायगा। इति ॥ १९ ॥

शङ्का होती है, कि जैसे पूर्वोक्त संस्कारसाक्षात्कार अनुपपन्न होकर अपना आलम्बन जो पूर्वजन्म तद्विषक साक्षात्कार का आक्षेप करता है, वैसे ही परचित्तसाक्षात्कार भी अनुपपन्न होकर अपना आलम्बन रूप विषय का भी आक्षेप करना चाहिये ? अतः परचित्त विषयक संयम करने से परचित्त ज्ञान के साथ ही परचित्त के विषय का भी ज्ञान होना चाहिये ? कि—इसका चित्त अमुक विषय में रागयुक्त है तथा अमुक विषय में द्वेषयुक्त है—इत्यादि। इसका समाधान सूत्रकार स्वयं करते हैं—न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वादिति। तत्—पूर्वोक्त जो परचित्त ज्ञान है वह, तस्य अविषयीभूतत्वात्—उस परचित्त के विषय को संयम का अविषयीभूत होने से, सालम्बनम्

रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति। परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नाबम्बनीकृतम्। परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूतमिति ॥ २० ॥

न च–आलम्बन रूप विषय सहित चित्त का ज्ञान नहीं है। किन्तु केवल चित्तमात्र का ज्ञान है। अर्थात् इस पुरुष का चित्त रागयुक्त है अथवा द्वेषयुक्त है, इतना मात्र का ज्ञान योगी को होता है और किंविषयक राग है तथा किंविषयक द्वेष है, इसका विशेष ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि, राग तथा द्वेष का जो विषय वह संयम का विषय नहीं है।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—रक्तमिति। रक्तम् प्रत्ययम् जानाति—रागयुक्त चित्त को योगी जानता है; परन्तु, अमुष्मिन् आलम्बने रक्तम्–इस विषय में रागयुक्त है, इति न जानाति—यह विशेष नहीं जानता है। क्योंकि, परप्रत्ययस्य यत् आलम्बनम्—अन्य पुरुष के चित्त का जो विषय, तत् योगिचित्तेन न आलम्बनीकृतम्—उसको योगी के चित्त ने विषय नहीं किया है। परप्रत्ययमात्रम् तु–अन्य पुरुष का चित्तमात्र हो तो, योगिचित्तस्य आलम्बनीभूतम्—योगी के चित्त का विषय है। अर्थात् जिस विषयक परचित्त रागादि युक्त है, उस विषय विषयक योगी का चित्त नहीं है; किन्तु परचित्तमात्र विषयक योगी का चित्त है। अतः परचित्तमात्र को जानता है और परचित्त के विषय को नहीं जानता है।

भाव यह है कि, संस्कार-साक्षात्कार और पूर्वजातिसाक्षात्कार ये दोनों कार्यकारण तथा समान विषयक हैं। अत: संस्कार साक्षात्कार अनुपपन्न होकर पूर्वजातिसाक्षात्कार का आक्षेप करता है; परन्तु परचित्तविषयक साक्षात्कार और परचित्त के विषय का साक्षात्कार ये दोनों कार्यकारण तथा समानविषयक नहीं। अतः परचित्त विषयक साक्षात्कार अनुपपन्न नहीं। अतएव परचित्त के विषय का साक्षात्कार का आक्षेप नहीं कर सकता है। इस बात को "तस्याविषयीभूतत्वात्" इस शब्द से सूत्रकार ने व्यक्त किया है।

योगवार्तिककार श्रीविज्ञानभिक्षु ने "न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्" इस प्रकृत सूत्र को सूत्र नहीं माना है; किन्तु "प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्" इस अव्यवहित पूर्व सूत्रका भाष्य माना है, सो समीचीन नहीं। क्योंकि, भाष्यकार ने इसको सूत्र मानकर अन्य सूत्र के भाष्य की शैली अनुसार ही इस पर भी भाष्य किया है। केवल इतना ही नहीं; किन्तु श्रीभोजदेव तथा श्रीवाचस्पति मिश्र आदि प्राचीन व्याख्याकारों ने भी इसको सूत्र ही माना है। अतः मैंने भी इसको सूत्र ही मानकर व्याख्या की है। इति ॥ २० ॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

कायस्य रूपे संयमाद्रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां प्रतिष्टभ्नाति। ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुष्प्रकाशासंयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः। एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

सूत्रकार अन्य सिद्धि को कहते हैं—कार्यरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानमिति। कार्यरूपसंयमात्—अपने शरीर के रूप विषयक संयम करने से, तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे—उस रूप में जो अन्य पुरुष के चक्षु से देखने योग्य ग्राह्य शक्ति है उसके रुक जाने से, चक्षुष्प्रकाशासंयोगे—अन्य पुरुष के चक्षु-इन्द्रिय जन्य प्रकाश (किरण) से योगी के शरीर का संयोग न होने से, अन्तर्धानम्—योगी के शरीर का अन्तर्धान हो जाता है। अर्थात् कोई उनको देख नहीं सकता है।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—कायस्येति। कायस्य रूपे संयमात्—अपने शरीर में रहा हुआ जो रूप उसमें संयम करने से, रूपस्य या ग्राह्या शक्तिः—रूप में रही हुई जो ग्राह्यशक्ति अर्थात् दीखने की योग्यता शक्ति, ताम् प्रतिष्टभ्नाति—उस शक्ति को वह संयम रोक देता है। ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति—और ग्राह्य शक्ति के रुक जाने पर, चक्षुष्प्रकाशासंप्रयोगे—अन्य पुरुष के नेत्र-जन्य प्रकाश से योगी के शरीर का सन्निकर्ष न होने से, योगिनः अन्तर्धानम् उत्पद्यते—योगी के शरीर का अन्तर्धान हो जाता है। अर्थात् उसी स्थान पर विद्यमान रहने पर भी पास का पुरुष भी उसको देख नहीं सकता है। इसको रूपान्तर्धान कहते हैं।

यह रूपान्तर्धान शब्दादि अन्तर्धान का भी उपलक्षक है। इस बात को कहते हैं—एतेनेति। एतेन—इस सूत्रकार के रूपान्तर्धान कथन से, शब्दाद्यन्तर्धानम्—शब्दान्तर्धान, स्पर्शान्तर्धान, रसान्तर्धान तथा गन्धान्तर्धान भी, उक्तम्—कहा गया है ऐसा, वेदितव्यम्—समझना चाहिये।

भाव यह है कि—जो यह स्थूल शरीर है वह पांच भूतों का कार्य होने से भूतों के शब्द - स्पर्श - रूप - रस - गन्ध रूप पांचों गुण इसमें रहते हैं, जो क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण के विषय हैं। त्वक् स्पर्श तथा स्पर्शाश्रय दोनों को विषय करता है। चक्षु रूप तथा रूपाश्रय दोनों को विषय करता है। श्रोत्र केवल शब्द को ही विषय करता है, शब्दाश्रय को नहीं; रसना केवल रस को ही विषय करती है, रसाश्रय को नहीं एवं घ्राण भी केवल गन्ध को ही विषय करता है, गन्धाश्रय को नहीं।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

स्थूल शरीर में स्पर्श है, अतः यह त्वक् का विषय है। रूप है, अतः यह चक्षु का विषय है। यद्यपि इस शरीर में शब्द, रस तथा गन्ध भी है तथापि श्रोत्र, रसना और घ्राण केवल गुणमात्र के ग्राहक होने से इन तीनों का विषय शरीर नहीं किन्तु शब्द, रस तथा गन्ध क्रमशः इनका विषय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, यह शरीर रूप तथा स्पर्शवाला होने से चक्षु तथा त्वक् - इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का विषय है। एवं इस शरीर में जो शब्द, रस तथा गन्ध है वह क्रमशः श्रोत्र, रसना तथा घ्राण - इन्द्रिय - जन्य - ज्ञान का विषय है अर्थात् रूप तथा स्पर्शवाला होने से ही यह शरीर चक्षु तथा त्वक्-इन्द्रिय से ग्राह्य है और शब्द, रस तथा गन्ध क्रमशः श्रोत्र, रसना तथा घ्राण से ग्राह्य है। जब योगी उन पांचों गुणों में संयम करता है अर्थात् मुझे कोई देखे नहीं, इस प्रकार के संकल्पात्मक धारणा-ध्यान-समाधि करता है तब इन पांचो गुणों में जो ग्राह्य-शक्ति है वह प्रतिबद्ध हो जाती है। अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय हो जाना जो रूपादि में सामर्थ्य है वह रुक जाती है। उसके रुक जाने से अन्य पुरुष के इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से योगी के शरीर में रहे हुए रूपादि तथा तदाश्रय शरीर का असंप्रयोग हो जाता है। अर्थात् सन्मुख विद्यमान भी हो तो भी किसीकी इन्द्रिय का विषय नहीं होता है। इसीका नाम अन्तर्धान सामर्थ्य है। जिसके प्रभाव से योगी को कोई देख नहीं सकता है, कोई स्पर्श नहीं कर सकता है। योगी के शरीर के शब्द को कोई सुन नहीं सकता है। योगी के शरीर के रस को कोई चाख नहीं सकता है एवं योगी के शरीर के गन्ध को कोई सूंघ नहीं सकता है। इति ॥ २१ ॥

सूत्रकार अन्य सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं—सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वेति। कर्म—आयु के विपाक रूप दो प्रकार के पूर्वकृत कर्म हैं, सोपक्रमम् च निरुपक्रमम्—एक सोपक्रम अर्थात् शीघ्र फलप्रद और दूसरा निरुपक्रम अर्थात् कालान्तर में विलम्ब से फलप्रद, तत्संयमात्—उन दोनों प्रकार के कर्म - विषयक संयम करने से, अपरान्तज्ञानम्—अपरान्त अर्थात् मरण का ज्ञान योगी को होता है, वा—अथवा, अरिष्टेभ्यः—वक्ष्यमाण तीन प्रकार के अरिष्ट के ज्ञान से भी मरण का ज्ञान होता है। अर्थात् आयुः- पर्यन्त भोगने योग्य कर्म दो प्रकार के होते हैं:—एक सोपक्रम नामक तीव्र फलप्रद और दूसरा निरुपक्रम नामक मन्द फलप्रद। उनमें जो कर्म अपने फल देने में प्रवृत्त होता हुआ अधिक फल दे चुका हो और स्वल्प फल देना जिसका शेष रहा हो वह सोपक्रम कर्म कहा जाता है। क्योंकि, वह

आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च ।

तत्र यथाऽऽर्द्रं वस्त्रं वितानितं ह्रसीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम् । यथा वाऽग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम् । यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम् ।

उपक्रम सहित सोपक्रम अर्थात् फलप्रदान रूप व्यापार से युक्त है । और जो कर्म तत्काल फलप्रदान न करता हुआ कालान्तर में फलप्रदान करनेवाला हो वह निरुपक्रम कर्म कहा जाता है । क्योंकि, वह उपक्रम रहित निरुपक्रम अर्थात् तत्काल फलप्रदान रूप व्यापार से रहित है ।

इसी अर्थ को अनेक दृष्टान्तों द्वारा भाष्यकार विशद करते हैं—आयुरिति । आयुर्विपाकम् कर्म द्विविधम्—वर्त्तमान शरीर के जाति, आयु तथा भोग के हेतु जो कर्म हैं वे दो प्रकार के हैं, सोपक्रमम् निरुपक्रमम् च-एक सोपक्रम और दूसरा निरुपक्रम । तत्र-उन दोनों में प्रथम, यथा-जैसे, आर्द्रम् वस्त्रम्-आर्द्र वस्त्र (जल से भींजा हुआ कपड़ा), वितानितम्-विस्तृत अर्थात् पसारा हुआ, ह्रसीयसा कालेन-स्वल्प काल में ही, शुष्येत्-सूख जाता है, तथा-वैसे ही, सोपक्रमम्-सोपक्रम कर्म होता है । अर्थात् जो कर्म स्वल्प काल में ही फल दे कर समाप्त होता है वह सोपक्रम कर्म कहा जाता है । वा-अथवा, यथा-जैसे, अग्निः-अग्नि, शुष्के कक्षे मुक्तः-शुष्क तृणों पर प्रक्षिप्त होता हुआ एवं, समन्ततः वातेन युक्तः-चारों तरफ से पवन-प्रेरित होता हुआ, क्षेपीयसा कालेन-स्वल्प काल में ही, दहेत्-उन तृणों को दग्ध कर देता है, तथा-वैसे ही, सोपक्रमम्—सोपक्रम कर्म होता है । अर्थात् जो कर्म स्वल्प काल में ही फल देकर समाप्त हो जाता है वह सोपक्रम कर्म कहा जाता है । एक ही सोपक्रम कर्म को विशेष विशद करने के लिये दो दृष्टान्त दिये गए हैं ।

निरुपक्रम रूप कर्म को दृष्टान्त द्वारा विशद करते हैं—यथेति । यथा वा-अथवा जैसे, सः एव अग्नि-पूर्वोक्त वही अग्नि, तृणराशौ-हरित तृण राशि के, अवयवेषु-अवयवों में, क्रमशः-अनुक्रम से एक एक तृणों में, न्यस्तः-प्रक्षिप्त होता हुआ, चिरेण दहेत्-विलम्ब से दाह करता है, तथा-वैसे ही, निरुपक्रमम्-निरुपक्रम रूप कर्म होता है । अर्थात् जो कर्म धीरे धीरे दीर्घकाल तक फल देता है वह निरुपक्रम रूप कर्म कहा जाता है ।

तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्संयमादपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानम्।

अरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमा-

उपसंहार करते हैं—तदैकभविकमिति। तत् एकभविकम् आयुष्करम् कर्म द्विविधम्—वह एक भव में होनेवाला आयुष्कर कर्म दो प्रकार का है, सोपक्रमम् निरुपक्रमम् च—पूर्वोक्त सोपक्रम और निरुपक्रम। तत्संयमात्—उसमें संयम करने से अर्थात् कौन कर्म शीघ्र फलप्रद है और कौन कर्म चिर फलप्रद है, इस प्रकार के ध्यान की दृढ़ता से, अपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानम्—अपरान्त जो प्रायण अर्थात् मरण उसका ज्ञान योगी को होता है। परान्त का अर्थ प्रलय है। उसकी अपेक्षा अपरान्त का अर्थ मरण करना पड़ा है।

यहां पर इतना विशेष और भी समझना चाहिये कि, पूर्व के शुभाशुभ कर्मजन्य धर्माधर्म विषयक धारणा, ध्यान तथा समाधि करने से अमुक काल तथा अमुक देश में मेरा शरीर का वियोग होगा, इस प्रकार का निःसन्देह अपरोक्ष ज्ञान योगी को होता है। उनमें सोपक्रम विषयक संयम से 'शीघ्र मरूंगा' ऐसा ज्ञान होता है और निरुपक्रम विषयक संयम से "देरी से मरूंगा" ऐसा ज्ञान होता है। यथोक्त संयम द्वारा जब योगी को यह प्रतीत होता है कि, मेरा कर्म सोपक्रम है अर्थात् इसी शरीर में भोगप्रद है तब एक ही समय में अनन्त शरीर धारण करके सहसा सर्व कर्मों के फल भोगकर अपनी इच्छानुसार देह त्याग करता है। अत एव भाष्यकार ने इसको एकभविक कहा है।

सोपक्रम तथा निरुपक्रम रूप कर्म विषयक संयम से मरण का ज्ञान होता है। इस अर्थ का प्रतिपादन करके संप्रति वक्ष्यमाण अरिष्टों के ज्ञान से भी मरण का ज्ञान होता है, इस अर्थ का प्रसङ्गवश जो "अरिष्टेभ्यो वा" इस पंक्ति से सूत्रकार ने प्रतिपादन किया है उसको स्पष्ट करते हैं—अरिष्टेभ्यो वेति। वा-अथवा, अरिष्टेभ्यः-वक्ष्यमाण अरिष्टों के ज्ञान से भी मरण का ज्ञान योगी को होता है, इति-ऐसा समझना चाहिये। "अरिवत् त्रासयति इति अरिष्टम् सन्निहितमरणचिह्नम्" अर्थात् शत्रु के समान जो त्रास देता हो वह सन्निहित मरण सूचक चिह्न अरिष्ट कहा जाता है। उसका तीन भेद प्रतिपादन करते हैं—त्रिविधमिति। अरिष्टम् त्रिविधम्-अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं, आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकम् च-आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। तत्रेति। तत्र-उक्त तीन प्रकार के अरिष्टों में, आध्यात्मिकम्-आध्यात्मिक अरिष्ट वह कहा जाता है जो, स्वदेहे-अपने शरीर

धिदैविकं च। तत्राध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति।

तथाधिभौतिकं यमपुरुषान्पश्यति पितॄनतीतानकस्मात्पश्यति। तथाधिदैविकं स्वर्गमकस्मात्सिद्धान्वा पश्यति। विपरीतं वा सर्वमिति।

में, पिहितकर्णः-बंद कानवाला पुरुष, घोषम् न शृणोति-भीतर की घोष रूप ध्वनि को नहीं सुनता है। अर्थात् जब अंगुली आदि किसी साधन से कानों को बंद कर लिया जाता है तब भीतर की ध्वनि सबको सुनाई देती है; परन्तु जिसका मरण निकट आया हुआ होता है उसको नहीं सुनाई देती है। यही सुनाई न देना आध्यात्मिक अरिष्ट कहा जाता है। वा-अथवा, नेत्रे अवष्टब्धे-नेत्र के बंद कर लेने पर, ज्योतिः न पश्यति-भीतर की अग्निकण समान ज्योति को नहीं देखता है, अर्थात् जब नेत्र को निमीलन कर लिया जाता है तब अग्निकण के समान भीतर की ज्योति सबको दिखाई देती है; परन्तु जिसका मरण निकट आया हुआ होता है उसको नहीं दिखाई देती है। यही दिखाई नहीं देना आध्यात्मिक अरिष्ट कहा जाता है। क्योंकि, "आत्मनि अधि इति अध्यात्मम्, अध्यात्मम् भवं इति आध्यात्मिकम्" इस व्युत्पत्ति से शरीर रूप आत्मा के भीतर जो होवे वह आध्यात्मिक कहा जाता है। उक्त ध्वनि तथा ज्योति ये दोनों शरीर के भीतर रह कर मरण के सूचक हैं। अतः ये दोनों आध्यात्मिक अरिष्ट कहे जाते हैं।

तथेति। तथा-वैसे ही, आधिभौतिकम्-आधिभौतिक अरिष्ट वह कहा जाता है जो, अकस्मात् यमपुरुषान् पश्यति-अकस्मात् यमदूतों को देखता है एवं, अकस्मात् अतीतान् पितॄन् पश्यति-अकस्मात् मृत पिता, पितामह तथा प्रपितामह आदि को देखता है। क्योंकि, "भूते अधि इति अधिभूतम्, अधिभूतं भवम् आधिभौतिकम्" इस व्युत्पत्ति से प्राणीरूप भूत में जो होवे वह आधिभौतिक कहा जाता है। यमदूत तथा मृत पिता आदि प्राणीरूप भूत हैं। अतः तत्सम्बन्धी अरिष्ट आधिभौतिक अरिष्ट कहा जाता है।

तथेति। तथा-वैसे ही, आधिदैविकम्-आधिदैविक अरिष्ट वह कहा जाता है जो, अकस्मात् स्वर्गम् वा सिद्धान् पश्यति-अकस्मात् स्वर्ग अथवा सिद्ध आदि को देखता है। क्योंकि, "देवे अधि इति अधिदेवम्, अधिदेवम् भवम् इति आधिदैविकम्" इस व्युत्पत्ति से देव-संबन्धी जो अरिष्ट वह आधिदैविक अरिष्ट कहा जाता है। उक्त स्वर्ग तथा सिद्ध देव - संबन्धी है; अतः ये दोनों आधिदैविक अरिष्ट कहे जाते हैं। विपरीतं वा सर्वमिति। वा-अथवा केवल इतना ही नहीं किन्तु, सर्वम् विपरीतम् इति-सभी पदार्थ को विपरीत देखना भी मरणसूचक अरिष्ट कहा जाता है।

अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति ॥ २२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मैत्री करुणा मुदितेति तिस्रो भावनाः । तत्र भूतेषु सुखितेषु

जैसे, मनुष्य लोक को स्वर्ग लोक, धर्म को अधर्म तथा अधर्म को धर्म देखना। ये सब निकट मरण के सूचक होने से अरिष्ट कहे जाते हैं। अनेनेति। वा-अथवा, अनेन-पूर्वोक्त जितने अरिष्ट कहे गए उन सर्व के ज्ञान से योगी, अपरान्तम् उपस्थितम् इति जानाति-मरण उपस्थित हुआ, ऐसा जान जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु अरिष्टाध्याय में जितने अरिष्ट कहे गए हैं। जैसे कि—प्रकृति का बदल जाना अर्थात् मरते समय कृपण का उदार हो जाना तथा उदार का कृपण हो जाना आदि। उन सर्व के ज्ञान से योगी सन्निहित मरण उपस्थित हुआ है, ऐसा जान जाता है। यद्यपि उक्त अरिष्ट के ज्ञान से सन्निहित मरण का ज्ञान अयोगी को भी होता है तथापि उनको परोक्षात्मक सन्दिग्ध ज्ञान होता है और योगी को अपरोक्षात्मक निश्चित ज्ञान होता है। इतनी विशेषता है। इति ॥ २२ ॥

सूत्रकार अन्य सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं-मैत्र्यादिषु बलानीति। मैत्र्यादिषु-मैत्री, करुणा तथा मुदिता विषयक संयम करने से, बलानि-क्रमशः मैत्रीबल, करुणाबल तथा मुदिताबल प्राप्त होता है। अर्थात् समाधिपाद के "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" इस सूत्र से जिस चित्तप्रसाद-फलक मैत्र्यादि भावना का प्रतिपादन किया गया है उसी भावना का निरन्तर प्रवाह रूप संयमात्मक दृढ अभ्यास करने से योगी को इस प्रकार का क्रमशः मैत्रीबल, करुणाबल तथा मुदिताबल प्राप्त होता है कि, जिसके प्रभाव से वह संसार के प्रत्येक पुरुष को मित्र बना कर सुखी कर सकता है। करुणा करके उनके दुःख तथा दुःखसाधनों को दूर कर सकता है एवं खिन्नचित्तवालों को आनन्दित कर सकता है।

भाव यह है कि - सुखी, दुःखी तथा पुण्यशील प्राणियों में सामान्य मैत्री, करुणा तथा मुदिता भावना द्वारा योगी चित्तप्रसाद रूप फल प्राप्त करता है, जो प्रथम पाद में कहा गया है और उनमें विशेष भावना रूप संयम द्वारा क्रमशः मैत्रीबल, करुणाबल तथा मुदिताबल प्राप्त करता है, जो यहां कह रहे हैं, जिसका फल एक में संयम द्वारा बल प्राप्त करके प्राणिमात्र का उक्त उपकार करना है।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—मैत्री करुणेति। मैत्री करुणा मुदिता इति तिस्रः भावनाः-मैत्रीभावना, करुणाभावना तथा मुदिताभावना के भेद से तीन प्रकार की भावना कही गई है, उपेक्षाभावना नहीं; क्योंकि, उसका आगे खण्डन करना है।

मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते। दु.खितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते। पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते।

भावनातः समाधिर्यः स संयमः। ततो बलान्यवन्ध्यवीर्याणि जायन्ते। पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना। ततश्च तस्यां नास्ति।

समाधिरित्यतो न बलमुपेक्षातः तत्र संयमाभावादिति ॥ २३ ॥

तत्र-उनमें, सुखितेषु भूतेषु-सुखी प्राणियों में, मैत्रीम् भावयित्वा-मैत्री भावना करके योगी, मैत्रीबलम् लभते-मैत्र्बल को प्राप्त करता है। दुःखितेषु-दुःखी प्राणियों में, करुणाम् भावयित्वा-करुणाभावना करके, करुणाबलम् लभते-करुणाबल को प्राप्त करता है। और, पुण्यशीलेषु-पुण्यशील प्राणियों में, मुदिताम् भावयित्वा-मुदिताभावना करके, मुदिताबलम् लभते-मुदिताबल को प्राप्त करता है।

समाधि भावनाजन्य है, इस बात को कहते हैं—भावनातः समाधिर्यः स संयमः। भावनातः-भावना से, यः-जो, समाधिः-समाधि उत्पन्न होती है, सः-वह, संयमः-संयम कहा जाता है। तत इति। ततः-उस समाधि रूप संयम से, अवन्ध्यवीर्याणि बलानि जायन्ते-सफलप्रयत्न यथोक्त तीनों बल उत्पन्न होते हैं। अर्थात् भावना से समाधि उत्पन्न होती है और समाधि से जो पूर्वोक्त तीन प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं वे अवन्ध्य अर्थात् सफल उत्पन्न होते हैं, वन्ध्य अर्थात् निष्फल नहीं। यद्यपि संयम नाम धारणा, ध्यान तथा समाधि तीन का है, अकेले समाधि का नहीं तथापि समाधि से अव्यवहित उत्तर संयम का फल देखे जाने से मुख्य समाधि ही है, धारणा-ध्यान नहीं। धारणा ध्यान में जो संयम व्यवहार है वह गौण है।

शङ्का होती है कि—"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" समाधिपाद के इस सूत्र में पठित सुखविषयक मैत्रीभावना, दुःखविषयक करुणाभावना तथा पुण्यविषयक मुदिताभावना का दृढ अभ्यास रूप संयम का फल क्रमशः मैत्रीबल, करुणाबल तथा मुदिताबल कहा गया है; परन्तु उसी सूत्र में पठित अपुण्यविषयक उपेक्षाभावना का दृढ अभ्यास रूप संयम का फल उपेक्षाबल नहीं कहा गया है, इसका क्या कारण है ? । इसका उत्तर देते हैं—पापशीलेष्विति। पापशीलेषु-पापशील पुरुषों में जो, उपेक्षा-उपेक्षा रूप चित्त की वृत्ति है वह, भावना न-भावना रूप नहीं है, तु-किन्तु, उपेक्षा अर्थात् त्यागरूप है। ततश्च-वह भावना रूप न होने से ही, तस्याम् समाधिः न अस्ति-उस त्याग रूप वृत्ति में समाधि रूप संयम नहीं है और, इत्यतः-उसमें समाधि रूप संयम न होने से, उपेक्षातः-उपेक्षा से, बलम् न-बल प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि, तत्र संयमाभावात्-उसमें संयम का अभाव है।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

हस्तिबले संयमाद्धस्तिबलो भवति । वैनतेयबले संयमाद्वैनतेयबलो भवति । वायुबले संयमाद्वायुबलो भवतीत्येवमादि ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

भाव यह है कि, पापी पुरुषों का चिन्तन नहीं करना है; प्रत्युत उनकी उपेक्षा करनी है और भावना नाम चिन्तन का है। अतः वहां भावना नहीं और भावना न होने से संयम नहीं। एवं संयम न होने से उसका फल बल-प्राप्ति भी नहीं कहा गया है, यह उक्त शङ्का का उत्तर हुआ।

भोज देव ने अपनी 'पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति' में उपेक्षा में भी संयम मानकर उसका फल जो बलप्राप्ति कहा है सो भाष्यविरुद्ध होने से उपेक्षणीय है। इति ॥ २३ ॥

सूत्रकार संयमजन्य अन्य विभूति का प्रतिपादन करते हैं—बलेषु हस्तिबलादीनीति। बलेषु-हस्ति आदि के बलविषयक संयम करने से योगी को, हस्तिबलादीनि-हस्ति आदि के बल के समान बल प्राप्त होता है। अर्थात् जिसके बलविषयक संयम योगी करता है उसके बल के तुल्य बल योगी के शरीर में धीरे-धीरे आविर्भूत होता जाता है।

इसी अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—हस्तिबल इति। हस्तिबले संयमात्—हस्ति के बलविषयक संयम करने से योगी, हस्तिबलः भवति—हस्ति के समान बलवाला होता है। वैनतेयबले संयमात्—गरुड के बलविषयक संयम करने से, वैनतेयबलः भवति—गरुड के समान बलवाला होता है और, वायुबले संयमात्-वायु के बलविषयक संयम करने से, वायुबलः भवति—वायु के समान बलवाला होता है, इति एवम् आदि-इससे आदि लेकर और भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् सिंह आदि जिसके बलविषयक संयम योगी करे उसीके समान बलवाला हो जाता है। इति ॥ २४ ॥

सूत्रकार संयम का अन्य फल प्रतिपादन करते हैं—प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानमिति। प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात्-पूर्वोक्त ज्योतिष्मती नामक मन की प्रवृत्ति के आलोक को संयम द्वारा न्यास करने से, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्—परमाणु आदि सूक्ष्म, भूमिस्थ आवृत रत्नादि व्यवहित तथा सुमेरु पर्वत के उस पार में स्थित रसायनादि विप्रकृष्ट रूप निखिल पदार्थ का ज्ञान योगी

ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसः । तस्यां य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वार्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥२५॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

तत्प्रस्तारः सप्तलोकाः । तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं

को प्राप्त होता है । अर्थात् उक्त आलोक को जिस पदार्थ पर योगी फेंकता है उसीका ज्ञान उसको होता है ।

भाव यह है कि—समाधिपाद के "विशोका वा ज्योतिष्मती । १-३६" इस सूत्र में जो सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप ज्योतिष्मती नामक मन की प्रवृत्ति कही गई है उसका जो तात्कालिक सात्त्विक प्रकाश रूप आलोक है उसको यथोक्त सूक्ष्म व्यवहित तथा विप्रकृष्ट रूप निखिल विषय में संयम द्वारा तद्विषय विषयक भावनारूप न्यास करने से योगी को उक्त सूक्ष्मादि निखिल पदार्थ विषयक ज्ञान प्राप्त होता है ।

इसी अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—ज्योतिष्मतीति । मनसः ज्योतिष्मती प्रवृतिः उक्ता-मन को ज्योतिष्मती नामक प्रवृत्ति प्रथम पाद में कही गई है । तस्याम् यः आलोकः-उस प्रवृत्ति में जो तात्कालिक सात्त्विक प्रकाशरूप आलोक, तम्-उसको, योगी-योगी, सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वा अर्थे-पूर्वोक्त सूक्ष्म व्यवहित अथवा विप्रकृष्ट अर्थ में, विन्यस्य-संयम द्वारा उक्त भावना रूप न्यास करके, तम् अर्थम् अधिगच्छति-उस अर्थ को जान जाता है । इति ॥ २५ ॥

सूत्रकार इसके समान अन्य सिद्धि को कहते हैं—भुवनज्ञानं सूर्ये संयमादिति । सूर्ये संयमात्-प्रकाशमय जो सूर्य तद्विषयक संयम करने से योगी को, भुवनज्ञानम्-निखिल भुवनों का ज्ञान प्राप्त होता है । अर्थात् जो योगी प्रकाश स्वरूप सूर्य को संयम का अवलम्ब बनाता है उसको भूर्भुवः स्वः आदि सप्त लोकों में जो भुवन तथा तदन्तर्गत ग्राम नगरादि एवं तदन्तर्गत घट पटादि सकल पदार्थ इन सर्व का साक्षात्कार होता है ।

पूर्व सूत्र में सात्त्विक प्रकाश को संयम का अवलम्ब कहा गया है और इस सूत्र में भौतिक प्रकाश को संयम का अवलम्ब कह रहे हैं, इतना विशेष है ।

भाष्यकार सूत्रस्थ भुवनपद का अर्थ करते हैं—तत्प्रस्तारः सप्तलोकाः । तत्-प्रस्तारः-उन भुवनों का विस्तार, सप्तलोकाः-सप्त लोक हैं । अर्थात् अवीचि आदि सप्तमहानरक, भूरादि सप्तलोक तथा महातल आदि सप्त पाताल भुवन शब्द का अर्थ है ।

इन सप्त लोकों का विभाग करते हैं—तत्रावीचेरिति । तत्र-उन सप्त लोकों में जो, अवीचेः प्रभृति-अवीचि नामक महानरक से लेकर, मेरुपृष्ठम् यावत्-सुमेरु

भूर्लोकः। मेरुपृष्ठादारभ्याऽऽध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः। चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः। त्रिविधो ब्राह्मः। तद्यथा—जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

इति संग्रहश्लोकः।

पर्वत की पृष्ठ पर्यन्त, इति एवम्–इस प्रकार का सन्निविष्ट जो लोक वह, भूर्लोकः–भूर्लोक अर्थात् भूमिलोक कहा जाता है।

मेरुपृष्ठादिति। मेरुपृष्ठात् आरभ्य—सुमेरु पर्वत के पृष्ठ से आरम्भ करके, आध्रुवात्—ध्रुव नामक तारा पर्यन्त जो, ग्रहनक्षत्रताराविचित्रः—ग्रह, नक्षत्र, तारा करके विचित्र लोक है वह, अन्तरिक्षलोकः–अन्तरिक्ष लोक कहा जाता है।

तत इति। ततः परः पञ्चविधः स्वर्लोकः–उससे परे पांच प्रकार के स्वर्लोक अर्थात् स्वर्गलोक हैं। उनमें, तृतीयः लोकः माहेन्द्रः–तीसरा जो लोक वह माहेन्द्र लोक कहा जाता है। चतुर्थः प्राजापत्यः महर्लोकः–चौथा प्रजापति संबन्धी जो लोक वह महर्लोक कहा जाता है। त्रिविधः ब्राह्मः–तीन प्रकार का ब्रह्मा संबन्धी लोक है, तद्यथा–और वह जैसे–जनलोकः तपोलोकः सत्यलोकः इति–जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक। इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि–प्रथम भूर्लोक, द्वितीय भुवर्लोक, तृतीय स्वर्लोक, चतुर्थ महर्लोक, पञ्चम जनलोक, षष्ठ तपोलोक तथा सप्तम सत्यलोक है। इनमें पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर परे हैं। स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक; ये पांचों दुःख-संबन्ध से रहित एवं सुखप्रद होने से स्वर्गलोक कहे जाते हैं। इनमें प्रथम महा इन्द्र संबन्धी माहेन्द्र स्वर्ग, द्वितीय प्रजापति-संबन्धी प्राजापत्य स्वर्ग और शेष तृतीय चतुर्थ तथा पञ्चम ब्रह्मा संबन्धी ब्राह्म स्वर्ग कहे जाते हैं। अर्थात् जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक; ये तीनों लोक ब्रह्मलोक नामक स्वर्ग कहे जाते हैं। उक्त अर्थ में प्रमाण देते हैं—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

त्रिभूमिकः लोकः ब्राह्मः–सबके ऊपर सत्यलोक, उसके नीचे तपोलोक, उसके नीचे जनलोक; ये तीनों भूमिकावाले जो तीन लोक वे ब्राह्मलोक कहे जाते हैं। ततः महान् प्राजापत्यः–उसके नीचे जो महर्लोक वह प्राजापत्यलोक कहा जाता है। स्वर् इति उक्तः माहेन्द्रः–उसके नीचे स्वर् इस नाम से कहा हुआ जो लोक वह माहेन्द्र

तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः।

यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घकालमा-

---

लोक कहा जाता है, दिवि ताराः–उसके नीचे जिसमें तारागण हैं वह द्युलोक कहा जाता है, जिसको अन्तरिक्षलोक तथा भुवर्लोक भी कहते हैं, च–और, भुवि प्रजाः–उसके नीचे जिसमें सर्व प्रजा रहती हैं वह भूर्लोक है। इति संग्रहश्लोकः। इति–यह पूर्वोक्त श्लोक, संग्रहश्लोकः–यथोक्त सप्त लोकों का संग्रह श्लोक है। अतः उक्त लोक-व्याख्या में यही (उक्त श्लोक) प्रमाण है।

इस प्रकार उक्त संग्रह श्लोक द्वारा संक्षेप से सप्त लोकों का उपन्यास करके संप्रति भूर्लोक का अंशीभूत सप्त नरक का विस्तार से निरूपण करते हैं—तत्रेति। जैसे भूर्लोक से ऊपर छः लोक हैं, वैसे ही उसके नीचे भी सप्त नरक तथा सप्त लोक विद्यमान हैं, तत्र–उन सप्त नरकों में जो, अवीचेः–सर्व से अधःस्थित अवीचि नामक नरक है उससे, उपरि उपरि निविष्टाः–ऊपर ऊपर विद्यमान जो, षण्महानरकभूमयः-छः महानरक भूमि हैं जो, घनसलिलानलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठाः–घन, सलिल, अनल, अनिल, आकाश तथा तम नाम से प्रतिष्ठित हैं, जिनके क्रमशः दूसरे नाम, महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः–महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र तथा अन्धतामिस्र हैं। अर्थात् घन महाकाल, सलिल अम्बरीष, अनल रौरव, अनिल महारौरव, आकाश कालसूत्र तथा तम अन्धतामिस्र कहे जाते हैं। घन नाम पृथिवी का है, महाकाल नामक नरक को घन इसलिये कहते हैं कि, वह मिट्टी, कंकड, तथा पत्थर आदि पार्थिव पदार्थ से भरा है। सलिल नाम जल का है, अम्बरीष नामक नरक को सलिल इसलिये कहते हैं कि, यह जल से भरा है। अनल नाम अग्नि का है, रौरव नामक नरक को अनल इसलिये कहते हैं कि, वह अग्नि से भरा है। अनिल नाम वायु का है, महारौरव नामक नरक को अनिल इसलिये कहते हैं कि, वह वायु से भरा है। आकाश नाम शून्य का है, कालसूत्र नामक नरक को आकाश इसलिये कहते हैं कि, वह भीतर से शून्य अर्थात् खाली है। एवं तम नाम अन्धकार का है, अन्धतामिस्र नामक नरक को तम इसलिये कहते हैं कि, वह अन्धकार से व्याप्त है। इन सप्त नरकों को महानरकभूमि कहने से अन्य भी कुम्भीपाक आदि छोटे छोटे अनन्त उपनरक वहीं स्थित हैं, ऐसा समझना चाहिये।

उक्त सप्त नरकों में प्राप्त होनेवाले प्राणियों का निर्देश करते हैं—यत्रेति। यत्र जिन पूर्वोक्त सप्त नरकों में, स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः–अपने किये हुए

क्षिप्य जायन्ते । ततो महातलरसातलातलसुतलवितलातलपाताला-ख्यानि सप्त पातालानि ।

भूमिरियष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः । तस्य राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि । तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः ।

पापकर्मों से उपार्जित दुःख को भोगनेवाले जो प्राणी वे ही, दीर्घकालम् कष्टम् आयुः आक्षिप्य–दीर्घकाल स्थायी कष्टप्रद आयु को ग्रहण कर, जायन्ते–उत्पन्न होते हैं। अर्थात् उन नरकों में वे ही प्राणी जाते हैं जो पापी होते हैं।

इस प्रकार पृथिवी से ऊपर के भुवः आदि लोकों का तथा नीचे के अवीचि आदि नरकों का निर्देश करके संप्रति पृथिवी से नीचे के ही महातल आदि सप्त लोकों का निर्देश करते हैं—तत इति । ततः-यथोक्त सप्त नरकों से ऊपर, महातलरसातला-तलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि–महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल तथा पाताल नामक सप्त पाताल लोक हैं। भाष्य में जिस क्रम से महातलादि पढ़े गए हैं वह क्रम विवक्षित नहीं है। क्योंकि, ग्रन्थान्तर के साथ विरोध आता है। अन्य ग्रन्थों में अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल तथा पाताल यह क्रम मिलता है। अतः पाताल के ऊपर महातल, महातल के ऊपर रसातल, रसातल के ऊपर तलातल, तलातल के ऊपर सुतल, सुतल के ऊपर वितल तथा वितल के ऊपर अतल समझना चाहिये।

भूमिलोक के विस्तार का निर्देश करते हैं—भूरिति । इयम् वसुमती सप्तद्वीपा भूमिः अष्टमी–यह वसुमती नामक सप्त द्वीपों से युक्त भूमि अष्टमी है, यस्याः मध्ये काञ्चनः पर्वतराजः सुमेरुः–जिसके मध्यभाग में सुवर्णमय पर्वतराज सुमेरु विराज-मान है। उक्त सुमेरु के शिखरों का निर्देश करते हैं—तस्येति । तस्य–उस सुमेरु पर्वत के, राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि–रजतमय (चांदी का), वैदूर्यमणि-मय, स्फटिकमणिमय तथा हेममणिमय नामक चार, शृङ्गानि–शृङ्ग अर्थात् शिखर हैं। अर्थात् सुमेरु पर्वत की पूर्व दिशा में जो उसका शृङ्ग है वह रजतमय, दक्षिण दिशा में जो शृङ्ग है वह वैदूर्यमणिमय, पश्चिम दिशा में जो शृङ्ग है वह स्फटिकम-णिमय और उत्तर दिशा में जो शृङ्ग है वह सुवर्णमय है। संप्रति तत्तत् शृङ्ग के वर्ण के समान वर्णवाले तत्तत् दिशा के आकाश हैं। इस बात को कहते हैं—तत्रेति । तत्र–उनमें, नभसः दक्षिणः भागः–सुमेरु पर्वत के आकाश का जो दक्षिण भाग है वह, वैदूर्यप्रभानुरागात्–वैदूर्यमणि की प्रभा के संबन्ध से, नीलोत्पलपत्रश्यामः–नील कमल के पत्र के समान श्याम वर्णवाला है। पूर्वः–जो पूर्व भाग है वह रजत-

श्वेतः पूर्वः । स्वच्छः पश्चिमः । कुरण्टकाभ उत्तरः । दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूः । यतोऽयं जम्बूद्वीपः । तस्य सूर्यप्रचाराद्रात्रिंदिवं लग्नमिव वर्तते । तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसाहस्रायामाः ।

तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि रमणकं हिरण्यमुत्तराः कुरव इति । निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसाहस्रा-

---

मणि की प्रभा के संबन्ध से, श्वेतः-श्वेत वर्णवाला है, पश्चिमः-जो पश्चिम भाग है वह स्फटिकमणि की प्रभा के संबन्ध से, स्वच्छः-स्वच्छ वर्णवाला है और, उत्तरः-जो उत्तर भाग है वह सुवर्ण की प्रभा के संबन्ध से, कुरण्टकाभः-कुरण्टक पुष्प की आभा के समान पीतवर्णवाला है। अर्थात् जिस जिस वर्णवाला जिस जिस दिशा का शृङ्ग है उस उस वर्णवाला उस उस दिशा में स्थित आकाश का भाग है।

इस द्वीप की जम्बूद्वीप संज्ञा में हेतु देते हैं—दक्षिणेति । च-और, अस्य-इस सुमेरु पर्वत के, दक्षिणपार्श्वे-दक्षिण भाग में, जम्बूः-एक जम्बू नामक वृक्ष है, यतः-जिस कारण से, अयम्-यह द्वीप, जम्बूद्वीपः-जम्बूद्वीप नाम से प्रसिद्ध है। रात्रिदिन होने में हेतु देते हैं—तस्येति । तस्य-उस सुमेरु का, सूर्यप्रचारात्-सूर्य के द्वारा प्रदक्षिणीकरण होने से, रात्रिंदिवम् लग्नम् इव वर्त्तते-रात्रि और दिन जैसे उसमें संयुक्त हों वैसे प्रतीत होते हैं। अर्थात् सुमेरु के चारों दिशा में सूर्य भ्रमण करता है; अतः सुमेरु के जिस भाग को सूर्य त्याग करता है उस तरफ रात्रि होती है और जिस भाग को अलंकृत करता है, उस तरफ दिन होता है। अतः सर्वदा सुमेरु रात्रि तथा दिन से संयुक्त ही रहता है।

जम्बूद्वीप के विस्तार का वर्णन करते हैं—तस्येति । तस्य-उस सुमेरु की, उदीचीनाः-उत्तर दिशा के, नीलश्वेतशृङ्गवन्तः त्रयः पर्वताः-नील, श्वेत तथा शृङ्गवान् नामक तीन पर्वत, द्विसाहस्रायामाः-दो दो सहस्र योजन विस्तारवाले हैं। तदिति । तदन्तरेषु-उन तीनों पर्वतों के मध्य में जो अवकाशात्मक प्रदेश है उनमें, नवनवयोजनसहस्राणि त्रीणि वर्षाणि-नव नव सहस्र योजन विस्तारवाले तीन वर्ष अर्थात् खण्ड हैं, जिनके नाम, रमणकम् हिरण्यम् उत्तराः कुरवः इति-रमणक, हिरण्य तथा उत्तर कुरु हैं। उत्तर दिशा के प्रदेश का वर्णन करके अब दक्षिण दिशा के प्रदेश का वर्णन करते हैं—निषधेति । दक्षिणतः-उस सुमेरु की दक्षिण दिशा के, निषधहेमकूटहिमशैलाः-निषध, हेमकूट तथा हिमशैल नामक तीन पर्वत, द्विसाहस्रायामाः-दो दो सहस्र योजन विस्तारवाले हैं। तदिति । तदन्तरेषु-उन तीनों

यामाः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि हरिवर्षं किंपुरुषं भारतमिति । सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वमाल्यवत्सीमानः। प्रतीचीनाः केतुमालगन्धमादनसीमानः।

मध्ये वर्षमिलावृतम्। तदेतद्योजनशतसाहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम्।

स खल्वयं शतसाहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोद-

पर्वतों के बीच में जो प्रदेश हैं उनमें, नवनवयोजनसहस्राणि त्रीणि वर्षाणि–नव नव सहस्र योजन विस्तारवाले तीन वर्ष अर्थात् खण्ड हैं, जिनके नाम, हरिवर्षम् किंपुरुषम् भारतम् इति–हरिवर्षखण्ड किंपुरुषखण्ड, तथा भारतखण्ड हैं। सुमेरु की पूर्व दिशा के प्रदेश का वर्णन करते हैं— सुमेरोरिति। सुमेरोः–सुमेरु की, प्राचीनाः–पूर्व दिशा का, भद्राश्वमाल्यवत्सीमानः–सीमा रूप माल्यवान् नामक पर्वत है और उस पर्वत से समुद्र पर्यन्त भद्राश्व नामक देश है। सुमेरु की पश्चिम दिशा के प्रदेश का वर्णन करते हैं—प्रतिचीना इति। प्रतिचीनाः–सुमेरु की पश्चिम दिशा का'केतुमालगन्ध' मादनसीमानः–सीमा रूप गन्धमादन नामक पर्वत है और उस पर्वत से समुद्र पर्यन्त केतुमाल नामक देश है।

इस प्रकार सुमेरु के ऊपर से उत्तर तथा दक्षिण दिशा में तीन तीन पर्वत और तीन तीन देश कहे गए हैं, एवं पूर्व तथा पश्चिम दिशा में एक एक पर्वत और एक एक देश कहा गया है। जहां तीन पर्वत हैं, वहां देश भी तीन हैं, और उन देशों की सीमा दोनों तरफ पर्वत ही हैं, परन्तु जहां एक पर्वत है; वहां देश भी एक ही है और उस देश की एक तरफ की सीमा पर्वत और दूसरी तरफ की सीमा समुद्र है। देश एक होने पर भी भाष्य में "प्राचीनाः" "प्रतीचीनाः" "सीमानः"-इत्यादि बहुवचन प्रयोग किया गया है वह प्रसिद्ध जनपद वाचक होने से किया गया है।

सुमेरु की चारों दिशाओं में स्थित देशों का वर्णन करके संप्रति उसके मध्य में स्थित देश का वर्णन करते हैं—मध्ये वर्षमिलावृतम्। मध्ये–सुमेरु के मध्य में जो देश है वह, इलावृतम्–इलावृत नामक, वर्षम्–वर्ष अर्थात् देश कहा जाता है। इस प्रकार जम्बूद्वीप के सब मिला कर नव देश हुए।

संपूर्ण जम्बूद्वीप के परिमाण को कहते हैं— तदेतदिति। तत् एतत्–इस प्रकार यह जम्बूद्वीप, योजनशतसाहस्रम्–सौ सहस्र योजन अर्थात् लक्ष योजन विस्तारवाला है, उनमें, सुमेरोः दिशि दिशि–सुमेरु की चारों दिशाओं में, तदर्धेन व्यूढम्–उससे आधा अर्थात् पचास हजार योजन विस्तार में सब देश व्यूढ अर्थात् संक्षिप्त रूप से

धिना वलयाकृतिना वेष्टितः ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मलगोमेधपुष्करद्वीपाः समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकसप्तसमुद्रपरिवेष्टिताः वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः ।

विद्यमान हैं। अर्थात् पचास हजार योजन विस्तार में तो स्वयं सुमेरु विराजमान है और पचास हजार योजन विस्तार में सब देश विद्यमान हैं। इस प्रकार सब मिला कर लक्ष योजन परिमाणवाला जम्बूद्वीप कहा जाता है।

यह जम्बूद्वीप क्षार समुद्र से घिरा हुआ है। इस बात को कहते हैं—स खल्विति। स खलु अयम्-वही यह, शतसाहस्रायामः जम्बूद्वीपः-सौ हजार योजन परिमाणवाला जम्बूद्वीप, ततः द्विगुणेन वलयाकृतिना लवणोदधिना-अपने से दूना अर्थात् दो सौ हजार योजन परिमाणवाला वलयाकार अर्थात् कङ्कण समान गोल आकारवाला लवण (क्षार) समुद्र से, वेष्टितः-परिवेष्टित है। अर्थात् दो लक्ष योजन परिमाणवाला क्षार समुद्र से घेरा हुआ यह एक लक्ष योजन परिमाणवाला जम्बूद्वीप है।

तत इति। ततश्च-उस जम्बूद्वीप से आगे, द्विगुणाः द्विगुणाः-द्विगुण द्विगुण परिमाणवाले, शाककुशक्रौञ्चशाल्मलगोमेधपुष्करद्वीपाः-शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाल्मलद्वीप, गोमेधद्वीप, तथा पुष्करद्वीप हैं। समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः-और समुद्र भी सर्षपराशि के समान हैं, अर्थात् जैसे सरसों का ढेर न तो धानराशि के समान ऊंचा होता है और न भूमि के समान ही होता है, वैसे ही ये समुद्र भी न तो ऊँचे हैं और न भूमि के समान हैं। यथोक्त शाकद्वीपादि, सविचित्रशैलावतंसाः-विचित्र पर्वत अवतंसों से युक्त हैं अर्थात् नाना प्रकार के पर्वतों से विभूषित हैं, इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकसप्तसमुद्रपरिवेष्टिताः-इक्षुरस (ऊख रस), सुरा (मदिरा), सर्पि (घृत), दधि (दही), मण्डक्षीर (दूध), स्वादूदक (मिष्ट - जल) नामक सप्त समुद्रों से परिवेष्टित हैं, वलयाकृतयः-कङ्कण के समान गोल आकृतिवाले हैं, लोकालोकपर्वतपरिवाराः-लोकालोक नामक पर्वत से वेष्टित हैं और सब मिला कर पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः-पचास कोटि योजन विस्तारवाले हैं।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि-एक लक्ष योजन परिमाणवाला जम्बूद्वीप है, जो अपने से द्विगुण अर्थात् दो लक्ष योजन परिमाणवाले वलयाकार लवणसमुद्र से वेष्टित है। जम्बूद्वीप से आगे इससे द्विगुण परिमाणवाला शाकद्वीप है, जो अपने से द्विगुण परिमाणवाले वलयाकार इक्षुरससमुद्र से वेष्टित है। शाकद्वीप से आगे इससे द्विगुण परिमाणवाला कुशद्वीप है, जो अपने से द्विगुण परिमाणवाले वलयाकार सुरा-

तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम् । अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योत इति । तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरगन्धर्वकिन्नरकिंपुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति । सर्वेषु द्वीपेषु

समुद्र से वेष्टित है । कुशद्वीप से आगे इससे द्विगुण परिमाणवाला क्रौञ्चद्वीप है, जो अपने से द्विगुण परिमाणवाले वलयाकार घृतसमुद्र से वेष्टित है । क्रौञ्चद्वीप से आगे इससे द्विगुण परिमाणवाला शाल्मलद्वीप है, जो अपने से द्विगुण परिमाणवाले वलयाकार दधिसमुद्र से वेष्टित है । शाल्मलद्वीप से आगे इससे द्विगुण परिमाणवाला गोमेधद्वीप है, जो अपने से द्विगुण परिमाणवाले वलयाकार मण्डक्षीरसमुद्र से वेष्टित है और गोमेधद्वीप से आगे इससे द्विगुण परिमाणवाला पुष्करद्वीप है, जो अपने से द्विगुण परिमाणवाले वलयाकार स्वादूदक समुद्र से वेष्टित है । उक्त सातों समुद्र सर्षपराशि समान हैं और उक्त सातों द्वीप विचित्र पर्वतों से विभूषित हैं । पूर्वोक्त सातों द्वीपों से आगे लोकालोक नामक पर्वत है, जिससे परिवृत उक्त सात समुद्र सहित सात द्वीप हैं, जो सब मिला कर पचास करोड योजन विस्तारवाले हैं, न्यून अथवा अधिक नहीं । क्योंकि, श्रेष्ठ योगी ऋषि मुनियों ने इनके विस्तार की संख्या इतनी ही बतलाई है ।

समस्त भूमण्डल ब्रह्माण्ड में सुप्रतिष्ठित है और ब्रह्माण्ड प्रधान का एक सूक्ष्म अवयव है । इस बात को कहते हैं—तदेतदिति । तत् एतत् सुप्रतिष्ठितसंस्थानम् सर्वम्–सो यह यथोक्त द्वीप, वन, पर्वत, नगर, समुद्रादि सहित लोकालोक से परिवृत सुप्रतिष्ठित अवयव सन्निवेशरूप पृथिवीमण्डल, अण्डमध्ये व्यूढम्–ब्रह्माण्ड के मध्य में संक्षेप रूप से विद्यमान है । च–और, यथा आकाशे खद्योतः इति–जैसे आकाश के एक स्वल्प देश में यह खद्योत (जुगनू) विद्यमान है वैसे ही, अण्डम्–यह ब्रह्माण्ड भी, प्रधानस्य–प्रधान के एक स्वल्प देश में, अणुः अवयवः–सूक्ष्म अवयव रूप से विद्यमान है । संप्रति जो जिस स्थान में निवास करते हैं उनका निर्देश करते हैं—तत्रेति । तत्र पाताले जलधौ एतेषु पर्वतेषु–वहां पाताल, समुद्र तथा इन पर्वतों में, असुरगन्धर्वकिंनरकिंपुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः–असुर, गन्धर्व, किंनर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड तथा विनायक नामक, देवनिकायाः–देवयोनि विशेष, प्रतिवसन्ति–निवास करते हैं । और, सर्वेषु द्वीपेषु–उक्त सर्व द्वीपों में, पुण्यात्मानः देवमनुष्याः–पुण्यात्मा देव तथा मनुष्य निवास करते हैं ।

पुण्यात्मानो देवमनुष्याः। सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः। तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमासमित्युद्यानानि। सुधर्मा देवसभा। सुदर्शनं पुरम्। वैजयन्तः प्रासादः। ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि संनिविष्टा दिवि विपरिवर्तन्ते। माहेन्द्रनिवासिनः षड्देवनिकायाः—त्रिदशा अग्निष्वात्ता

सुमेरु पर्वत के ऊपर जो पदार्थ हैं उनका वर्णन करते हैं—सुमेरुरिति। सुमेरुः-सुमेरु पर्वत, त्रिदशानाम्-देवताओं की, उद्यानभूमिः-उद्यान भूमि है। तत्र-वहां पर, मिश्रवनम् नन्दनम् चैत्ररथम् सुमासम्-मिश्रवन, नन्दनवन, चैत्ररथवन तथा सुमासवन, इति-इस नामक चार, उद्यानानि-उद्यान, सुधर्मा देवसभा-सुधर्मा नामक देवसभा, सुदर्शनम् पुरम्-सुदर्शन नामक नगर और, वैजयन्तः प्रासादः-वैजयन्त नामक प्रासाद अर्थात् महल है। पूर्वोक्त ये सब भूमिलोक कहे जाते हैं।

इस प्रकार भूर्लोक का निरूपण करके संप्रति इसके ऊपर विद्यमान भुवर्लोक अर्थात् अन्तरिक्ष लोक का निरूपण करते हैं—ग्रहेति। ग्रहनक्षत्रतारकास्तु-सूर्य आदि नव ग्रह तथा अश्विनी आदि सत्ताइस नक्षत्र एवं क्षुद्र ज्योति रूप इतर तारागण, ध्रुवे निबद्धाः-मेढिकाष्ठ के समान (खलिहान के मध्य में गाड़ा हुआ स्तम्भविशेष, जिसके चारों तरफ बैल फिरते हैं उसके समान) अचल रूप से स्थित; अतएव ध्रुव नामक ज्योति रूप तारा में वायु रूप रज्जु से बंधे हुए, वायुविक्षेपनियमेन उपलक्षितप्रचाराः-वायुविक्षेप के नियम से लब्ध संचारवाले, तथा, सुमेरोः उपरि उपरि संनिविष्टाः-सुमेरु पर्वत के ऊपर ऊपर संनिविष्ट, दिवि-द्युलोक (भुवर्लोक अर्थात् अन्तरिक्ष लोक) में, विपरिवर्तन्ते भ्रमण करते रहते हैं।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि, भूर्लोक के ऊपर भुवर्लोक है, जिसको अन्तरिक्ष लोक कहते हैं, जहां मेढिकाष्ठ के समान अचल रूप से स्थित, अतएव ध्रुव संज्ञक तारा विशेष है, जिसके चारों तरफ रस्सी से बंधे हुए बैलों के समान वायु रूप रस्सी से बंधे हुए उक्त ग्रहादि घूमते रहते हैं। अर्थात् खलिहान के मध्य में गाडा हुआ मेढिकाष्ठ के चारों ओर जैसे रस्सी से बंधे हुए बैल घूमते रहते हैं, वैसे ही ध्रुव तारा के चारों ओर वायु रूप रस्सी से बंधे हुए उक्त ग्रहादि घूमते रहते हैं। जिनकी गति कालविशेष से निश्चय की जाती है और जो सुमेरु पर्वत के ऊपर ऊपर विद्यमान हैं। इस प्रकार अन्तरिक्ष में स्थित ध्रुव की परिक्रमा सर्वग्रहादि सदा करते रहते हैं।

इस प्रकार अन्तरिक्षलोक को दिखा कर संप्रति स्वर्लोक को दिखाते हैं—माहेन्द्रेति। उक्त अन्तरिक्षलोक के ऊपर स्वर्लोक है, जहां महा इन्द्र रहते हैं। अतः उसको

याम्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्तिनः परिनिर्मितवशवर्तिनश्चेति ।

ते सर्वे संकल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिचाराः।

महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः—कुमुदा ऋभवः

माहेन्द्रलोक भी कहते हैं । माहेन्द्रवासिनः-माहेन्द्रलोकवासी, षड्देवनिकायाः-छः प्रकार के देवजातिविशेष हैं, जिनके नाम—त्रिदशा अग्निष्वत्ता याम्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्तिनः परिनिर्मितवशवर्तिनश्चेति-त्रिदश, अग्निष्वत्त, याम्य, तुषित,अपरिनिर्मितवशवर्ती और परिनिर्मितवशवर्ती हैं। ते सर्वे संकल्पसिद्धाः-वे सब संकल्पसिद्ध हैं अर्थात् जिस समय जिस विषय का वे संकल्प करते हैं उसी समय वह विषय उनके सम्मुख उपस्थित हो जाता है, अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः-अणिमादि ऐश्वर्य से युक्त हैं अर्थात् अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व रूप अष्ट सिद्धि संपन्न हैं, कल्पायुषः-कल्प पर्यन्त आयुषवाले हैं, वृन्दारकाः-वृन्दारक अर्थात् पूज्य हैं, कामभोगिनः-कामभोगी अर्थात् मैथुनप्रिय हैं, औपपादिकदेहाः-औपपादिक देहवाले अर्थात् मातापिता के संयोग विना अकस्मात् ही उत्पन्न तथा धर्मविशेष से अत्यन्त संस्कार युक्त एवं सूक्ष्म भूतों से निर्मित दिव्य शरीरधारी हैं, उत्तमानुकूलाभिः अप्सरोभिः कृतपरिचाराः-उत्तम तथा अनुकूल अप्सराओं के द्वारा सेवित हैं ।

अणिमादि ऐश्वर्य का संक्षिप्त स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि-अणिमा अणुत्व को कहते हैं, जिसके प्रभाव से सूक्ष्म होकर कहीं से भी निकल सकता है । महिमा महत्त्व को कहते हैं, जिसके प्रभाव से कहीं समा नहीं सकता है । गरिमा गुरुत्व को कहते हैं, जिसके प्रभाव से उसको कोई उठा नहीं सकता है । लघिमा लघुत्व को कहते हैं, जिसके प्रभाव से अत्यन्त हलका होकर आकाश में उड़ सकता है । प्राप्ति प्राप्त करने की शक्ति को कहते हैं, जिसके प्रभाव से अङ्गुलि के अग्र भाग से चन्द्रादि को स्पर्श कर करता है । प्राकाम्य प्रकामत्व को कहते हैं, जिसके प्रभाव से उसकी इच्छा अप्रतिहत हो जाती है । ईशित्व प्रभुत्व को कहते हैं, जिसके प्रभाव से जंगम की तो बात क्या, स्थावर भी उसके वश में हो जाते हैं । एवं वशित्व के प्रभाव से भूमि में भी उन्मजन, निमज्जन कर सकता है । ये सब सिद्धियां सिद्ध योगियों के समान स्वर्गस्थ देवों को भी धर्मविशेष से प्राप्त होती हैं ।

इस प्रकार स्वर्लोक का निरूपण करके संप्रति महर्लोक का निरूपण करते हैं—महतीति । महति प्राजापत्ये लोके-महर्लोक नामक प्राजापत्य लोक में, पञ्चविधः देवनिकायः-पांच प्रकार के देवजाति विशेष हैं, जिनके नाम—कुमुदाः ऋभवः

प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभा इति। एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः। प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अजरामरा इति।

ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः। द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः—आभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा

प्रतर्दनाः अञ्जनाभाः प्रचिताभाः इति–कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ तथा प्रचिताभ हैं। एते–ये सर्व, महाभूतवशिनः–महाभूतवशी अर्थात् इनकी इच्छा के अनुसार भोग देने के लिये महाभूत तत्तत् कार्य रूप से परिणत होते रहते हैं, ध्यानाहाराः–ध्यानाहार अर्थात् अन्न आदि आहार के बिना ध्यानमात्र से तृप्त तथा पुष्ट रहनेवाले हैं एवं, कल्पसहस्रायुषः–हजार कल्प पर्यन्त आयुषवाले हैं।

इस प्रकार महर्लोक का निरूपण करके संप्रति जनलोक का निरूपण करते हैं—प्रथमे ब्रह्मण इति। ब्रह्मणः प्रथमे जनलोके–जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक के भेद से ब्रह्मा के तीन लोक कहे जा चुके हैं। उनमें ब्रह्मा का प्रथम जो जनलोक है वहां पर, चतुर्विधः देवनिकायः–चार प्रकार के देवजातिविशेष निवास करते हैं, जिनके नाम–ब्रह्मपुरोहिताः ब्रह्मकायिकाः ब्रह्ममहाकायिकाः अजरामराः इति–ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक तथा अजरामर हैं। ते–वे चारों, भूतेन्द्रियवशिनः–भूतेन्द्रियवशी हैं अर्थात् भूत तथा इन्द्रियां उनकी इच्छा के अनुसार नियुक्त हो होकर भोग देने को तत्पर रहती हैं एवं, द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः–पूर्व - पूर्व की अपेक्षा उत्तर - उत्तर द्विगुण - द्विगुण आयुषवाले हैं अर्थात् महर्लोकवासियों की आयुष हजार कल्प पर्यन्त कही गई है, उनकी अपेक्षा ब्रह्मपुरोहितों की आयुष दूना अर्थात् दो हजार कल्प पर्यन्त है, उनकी अपेक्षा ब्रह्मकायिकों की आयुष दूना अर्थात् चार हजार कल्प पर्यन्त है, उनकी अपेक्षा ब्रह्ममहाकायिकों की आयुष दूना अर्थात् आठ हजार कल्प पर्यन्त है एवं उनकी अपेक्षा अजरामरों की आयुष दूना अर्थात् सोलह हजार कल्प पर्यन्त है।

इस प्रकार जनलोक का निरूपण करके संप्रति तपोलोक का निरूपण करते हैं—द्वितीये तपसीति। द्वितीये तपसि लोके–ब्रह्मा के द्वितीय तपोलोक में, त्रिविधः देवनिकायः—तीन प्रकार के देवजातिविशेष निवास करते हैं, उनके नाम—आभास्वराः महाभास्वराः सत्यमहाभास्वराः इति–आभास्वर, महाभास्वर तथा

इति । ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहाराः ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः। तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकायाः अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्चेति । ते चाकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरि स्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः ।

सत्यमहाभास्वर हैं। ते–वे तीनों, भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनः—भूत, इन्द्रिय तथा प्रकृति को वशीकरणशील हैं अर्थात् भूत, इन्द्रिय तथा प्रकृति (तन्मात्र) सब मिलकर उनकी इच्छा के अनुसार शरीर आरम्भादि कार्य करते हैं, द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः—पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के वे सब द्विगुण-द्विगुण आयुषवाले हैं अर्थात् जनलोकवासी ब्रह्म-महाकायिकों की आयुष सोलह हजार कल्प पर्यन्त कही गई है। उनकी अपेक्षा आभास्वरों की आयुष दूना अर्थात् बत्तीस हजार कल्प पर्यन्त है, उनकी अपेक्षा महाभास्वरों की आयुष दूना अर्थात् चौंसठ हजार कल्प पर्यन्त है एवं उनकी अपेक्षा सत्यमहाभास्वरों की आयुष दूना अर्थात् एक सौ अट्ठाईस हजार कल्प पर्यन्त है, सर्वे ध्यानाहाराः—वे सबके सब ध्यानाहार हैं अर्थात् अन्न आदि आहार के बिना ध्यानमात्र से तृप्त तथा पुष्ट रहनेवाले हैं, ऊर्ध्वरेतसः—ऊर्ध्वरेता हैं अर्थात् उनके वीर्य का पतन कभी नहीं होता है, ऊर्ध्वम् अप्रतिहतज्ञानाः–ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर के सत्यादि लोक में स्थित सर्व पदार्थ विषयक अप्रतिहत ज्ञानवाले हैं एवं, अधरभूमिषु अनावृतज्ञानविषयाः—अधर अर्थात् नीचे के उक्त अवाचि आदि भूमियों में स्थित सूक्ष्म व्यवहित सर्व पदार्थ विषयक अनावृत ज्ञानविषयवाले हैं।

इस प्रकार तपोलोक का निरूपण करके संप्रति सत्यलोक का निरूपण करते हैं—तृतीय इति। ब्रह्मणः तृतीये सत्यलोके—ब्रह्मा का तृतीय जो सत्यलोक है वहां पर, चत्वारः देवनिकायाः–चार प्रकार के देव-जातिविशेष निवास करते हैं, उनके नाम–अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः च संज्ञासंज्ञिनः इति–अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञासंज्ञी हैं। ते च—और वे चार प्रकार के देवविशेष, अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठाः—अकृतभवनन्यास, अतएव स्वप्रतिष्ठ हैं अर्थात् किसी एक नियत गृह के अभाव होने से वे अपने शरीर—रूप गृह में ही स्थित रहते हैं, उपरि उपरि स्थिताः—क्रमानुसार एक दूसरे से ऊर्ध्व—ऊर्ध्व देश में स्थित हैं अर्थात् तपोलोकवासी सत्यमहाभास्वर से ऊपर अच्युत, अच्युत से ऊपर शुद्धनिवास, शुद्धनिवास से ऊपर सत्याभ और सत्याभ से ऊपर संज्ञासंज्ञी स्थित हैं, प्रधानवशिनः–प्रधानवशी अर्थात् सत्त्वादि तीनों गुण उनकी इच्छानुसार भोग्याकार से परिणाम

तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः, शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः, सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः संज्ञासंज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः। तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतिष्ठन्ते। त एते सप्त लोकाः सर्व एव

को प्राप्त होते रहते हैं, यावत्सर्गायुषः–सर्ग अर्थात् सृष्टि पर्यन्त आयुषवाले हैं। यही बात कूर्मपुराण में भी कही गई है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

कू. पु. पू. ख. १२–२६९।

ते कृतात्मानः सर्वे–वे साधननिष्ठ सत्यलोकवासी सर्व देवविशेष, प्रतिसंचरे संप्राप्ते–प्रलय-काल प्राप्त होने पर, परस्य अन्ते–ब्रह्मा के अन्त होने पर, ब्रह्मणा सह–ब्रह्मा के साथ ही, परम् पदम् प्रविशन्ति–परं पद को प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध है कि, उक्त देवविशेष यावत्सर्गायुष हैं।

इस प्रकार सत्यलोकवासी चार प्रकार के देवविशेषों के साधारण धर्म कहकर संप्रति नाम लेकर उनके विशेष धर्मों को कहते हैं—तत्रेति। तत्र–उक्त सत्यलोकवासी चार प्रकार के देवविशेषों में जो, अच्युताः–अच्युत नामक देवविशेष हैं वे, सवितर्कध्यानसुखाः–स्थूल विषयक सवितर्क ध्यान-जन्य सुख भोगनेवाले हैं अर्थात् उसीसे वे तृप्त होते हैं और जो, शुद्धनिवासाः–शुद्धनिवास नामक देवविशेष हैं वे, सविचारध्यानसुखाः–सूक्ष्म-विषयक सविचार ध्यान-जन्य सुख भोगनेवाले हैं अर्थात् उसी से वे तृप्त होते हैं और जो, सत्याभाः–सत्याभ नामक देवविशेष हैं वे, आनन्दमात्रध्यानसुखाः–आनन्द मात्र के ध्यानजन्य सुख भोगनेवाले हैं अर्थात् इन्द्रियों के विषय के ध्यान से तृप्त होते हैं, च–और जो संज्ञासंज्ञिनः–संज्ञासंज्ञी नामक देवविशेष हैं वे, अस्मितामात्रध्यानसुखाः=अस्मितामात्र के ध्यान-जन्य सुख भोगनेवाले हैं अर्थात् उसी से वे तृप्ति को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार ये चारों देवविशेष संप्रज्ञातसमाधिनिष्ठ हैं, यह सिद्ध हुआ।

पूर्वोक्त अच्युतादि देवविशेष भुवनों में ही प्रतिष्ठित होने से मुक्त नहीं हैं। इस बात को कहते हैं—तेऽपीति। ते अपि–वे भी, त्रैलोक्यमध्ये–चतुर्दश भुवनात्मक त्रिलोकी के मध्य में ही, प्रतिष्ठन्ते–प्रतिष्ठित हैं, अतः मुक्त नहीं हैं। हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से व्याप्त होने से यथोक्त सातों लोक ब्रह्मलोक ही कहाते हैं। इस बात को कहते हैं—ते एव इति। ते एते सप्त लोकाः–पूर्वोक्त ये सातों लोक, सर्व एव ब्रह्मलोकाः–सबके सब ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। क्योंकि, हिरण्यगर्भ के लिङ्ग देह से सब व्याप्त हैं।

ब्रह्मलोकाः । विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते इति न लोकमध्ये न्यस्ता इति । एतद्योगिना साक्षात्करणीयं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि ।

शङ्का होती है कि—चतुर्दश भुवनों में जितने भुवनवासी प्राणी हैं उन सबकी गणना की गई है; परन्तु विदेह तथा प्रकृतिलय नामक योगियों की लोकवासी प्राणियों में गणना क्यों नहीं की गई है ? इसका समाधान करते हैं— विदेहेति । विदेहप्रकृतिलयाः तु–विदेह तथा प्रकृतिलय नामक योगी तो, मोक्षपदे वर्तन्ते–मोक्षपद के तुल्य भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात समाधि में स्थित हैं, इति–अतः, लोकमध्ये न न्यस्ताः–लोकवासी प्राणी के मध्य में उनकी गणना नहीं की गई है, इति–ऐसा समझना चाहिये ।

भाव यह है कि–चित्तवृत्तियुक्त दर्शितविषय जो प्राणी हैं वे लोकयात्रा का वहन करते हुए लोक में विद्यमान हैं । अतः उनकी गणना लोकवासियों में की गई है और विदेह तथा प्रकृतिलय नामक जो योगी हैं वे भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधिनिष्ठ होने से अर्थात् उनकी चित्तवृत्ति का सर्वथा निरोध होने से संसारयात्रा का वहन न करते हुए स्थित हैं । अतः उनमें संसारबीजवासनारूप साधिकारत्व रहने पर भी वे भुवनवासी प्राणियों में नहीं गिने गए हैं । यह शङ्का का उत्तर हुआ । "मोक्षपदे वर्तन्ते" इस भाष्य का "मोक्षतुल्य भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञातसमाधि में स्थित हैं" यह अर्थ है । अर्थात् "मुख्य मोक्षपद में स्थित हैं" यह अर्थ नहीं किन्तु आपेक्षिक मोक्षपद में स्थित हैं, यह अर्थ है । क्योंकि, उनका अधिकार अभी समाप्त नहीं हुआ है । यह बात प्रथम पाद में कही गई है ।

इस प्रकार भुवनविस्तार का वर्णन करके संप्रति सूत्रार्थ करते हैं—एतदिति । एतत्–यह यथोक्त सत्यलोक से लेकर अवीचि पर्यन्त समस्त भुवन, योगिना—योगी द्वारा, सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा–सूर्यद्वार में संयम करके, साक्षात्करणीयम्–साक्षात्कार करने योग्य है, केवल सूर्यद्वार में ही नहीं किन्तु योगरूप उपाध्याय से उपदिष्ट, ततः–उस सूर्यद्वार से, अन्यत्र अपि—अन्य स्थान में भी संयम करके उक्त भुवन का साक्षात्कार करना चाहिये ।

सूर्यद्वार में अथवा योगोपाध्याय-उपदिष्ट अन्य स्थान में एक दो बार संयम करने से उक्त भुवन का ज्ञान नहीं हो सकता है; किन्तु सतत संयम से ही हो सकता है । अतः वह संयम जब तक उक्त भुवनविन्यास का साक्षात्कार न हो जाय तब तक

एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराणां व्यूहं विजानीयात् ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं विजानीयात् ।

करते रहना चाहिये। इस बात को कहते हैं—एवमिति। एवम्-इस प्रकार, तावत् अभ्यसेत्—तब तक अभ्यास करता रहे, यावत् इदम् सर्वम् दृष्टम् इति—जब तक यह सब दृष्ट हो जाय। अर्थात् जब तक त्रिलोक के सर्व पदार्थों का करतलामलकवत् साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्राप्त न हो जाय तब तक योगी को धारणा, ध्यान, समाधि रूप संयम का अभ्यास करते रहना चाहिये। अर्थात बीच में उद्वेग से उपराम को प्राप्त नहीं होना चाहिये। इति ॥ २६ ॥

सूत्रकार पूर्ववत् भौतिकप्रकाश रूप आलम्बन द्वारा ही अन्य सिद्धि को कहते हैं—चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानमिति। चन्द्रे—चन्द्र में संयम करने से, ताराव्यूहज्ञानम्—ताराओं के व्यूह का अर्थात् नक्षत्रों के विशिष्ट संनिवेश का ज्ञान योगी को प्राप्त होता है।

यद्यपि "तारा विषयक ज्ञान सबको प्राप्त ही है, अतः उसके लिये चन्द्र-विषयक संयम व्यर्थ है" ऐसी शङ्का हो सकती है तथापि वह ज्ञान सामान्य है और जब चन्द्र में संयम किया जाता है तब "अमुक तारा अमुक स्थान में निवास करता है" इस प्रकार का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—चन्द्रे संयममिति। चन्द्रे संयमं कृत्वा—चन्द्र में संयम करके ताराणाम् व्यूहम्—ताराओं के व्यूह को, विजानीयात्—जानना चाहिये। सूर्यके प्रकाश से ताराओं का तेज मन्द पड़ जानेसे पूर्वोक्त सूर्य-विषयक संयम से ताराव्यूह का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः उसके लिये चन्द्र-विषयक संयम रूप पृथक् उपाय कहा गया है। इति ॥ २७ ॥

संप्रति सूत्रकार अन्य सिद्धि को कहते हैं—ध्रुवे तद्गतिज्ञानमिति। ध्रुवे—ध्रुव नामक निश्चल ज्योति में संयम करने से, तद्गतिज्ञानम्—उन सर्व तारा रूप ज्योति की गति का ज्ञान योगी को प्राप्त होता है अर्थात् "यह तारा तथा यह ग्रह अमुक राशि पर तथा अमुक नक्षत्र पर जायगा" इस प्रकार का काल सहित उनकी गति का ज्ञान ध्रुव नक्षत्र में संयम करने से योगी को प्राप्त होता है।

भाष्यकार सूत्र का अर्थ करते हैं—तत इति। ततः-तारास्वरूप के ज्ञान होने के पश्चात्, ध्रुवे संयमं कृत्वा-ध्रुव में संयम करके, ताराणाम् गतिम् विजानी-

ऊर्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयात् ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । वातपित्त-

यात्-ताराओं की गति को योगी जाने। अर्थात् ध्रुव में संयम करने से ताराओं की गति का ज्ञान होता है। जब तक ताराओं के स्वरूप का ज्ञान न हो जाय तब तक ध्रुव में संयम करने पर भी ताराओं की गति का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः प्रथम पूर्वोक्त प्रकार से चन्द्र में संयम करके ताराओं के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर ले। पश्चात् ध्रुव में संयम करके उनकी गति का ज्ञान भी योगी प्राप्त करे। इस बात को भाष्यकार ने "ततः" पद के प्रयोग से सूचित किया है।

इसी प्रकार भुवर्लोक में स्थित विमानादि अन्य पदार्थ में भी संयम करने से उसका भी ज्ञान होता है। यह बात प्रसंगवश कहते हैं—ऊर्ध्वेति। ऊर्ध्वविमानेषु-ऊर्ध्वविमान रूप जो आदित्यादि के रथादि हैं उनमें, कृतसंयमः-कृतसंयम योगी, तानि विजानीयात्-उन सर्व को जाने। सूर्य तथा चन्द्र में संयम करने से ताराओं की गति का ज्ञान नहीं होता है और ध्रुव में संयम करने से होता है। इसमें कारण यह है कि, सूर्य तथा चन्द्र चल होने से उनकी चारों ओर तारागण गति नहीं करते हैं और ध्रुव अचल है; अतः उसकी चारों ओर गति करते हैं। अतः सूर्य तथा चन्द्र में संयम करने से ताराओं की गति का ज्ञान नहीं होता है और ध्रुव में संयम करने से होता है। अतः उसके लिये ध्रुव विषयक संयम रूप पृथक् उपाय कहा गया है। इति ॥ २८ ॥

सूत्रकार अन्य सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं—नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानमिति। नाभिचक्रे—नाभिचक्र में संयम करने से, कायव्यूहज्ञानम्—कायव्यूह अर्थात् शरीर में स्थित वातादि, दोष तथा त्वक् लोहितादि धातुओं के समूह का ज्ञान योगी को प्राप्त होता है। अर्थात् शरीर में विद्यमान षोडश अरावाला चक्र को नाभिचक्र और वातपित्तादि दोष तथा त्वक लोहितादि धातुओं के समूह को कहते हैं। इन सबका मूल व्यूह भूत नाभिचक्र है। अतः उक्त नाभिचक्र में संयम करके (ध्यान देकर) योगी इन सबका साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्राप्त करे।

भाष्यकार सूत्र का अर्थ करते हैं—नाभिचक्रे संयममिति। नाभिचक्रे संयमं कृत्वा—नाभिचक्र में संयम करके, कायव्यूहम् विजानीयात्—कायव्यूह अर्थात् शरीर में रहे हुए पदार्थों को योगी जाने। काव्यव्यूह शब्द का अर्थ करते हुए पदार्थों के विन्यासविशेष का वर्णन करते हैं—वातपित्तेति। वातपित्तश्लेष्माणः—वात,

श्लेष्माणस्त्रयो दोषाः। धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि। पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येव विन्यासः ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

जिह्वाया अधस्तात्तन्तुः। ततोऽधस्तात्कण्ठः। ततोऽधस्तात्कूपः। तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

पित्त तथा श्लेष्मा ये, त्रयः दोषाः–तीन दोष और, त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि—त्वक् अर्थात् त्वचा, लोहित अर्थात् रुधिर, मांस, स्नायु अर्थात् नाडी, अस्थि अर्थात् हड्डी, मज्जा अर्थात् एक प्रकार का अस्थि के भीतर रहनेवाला धातुविशेष तथा शुक्र अर्थात् वीर्य ये, सप्त धातवः–सात धातु शरीर में हैं। एषाम्—इन सात धातुओं में, पूर्वम् पूर्वम्–पूर्व-पूर्व के धातु, बाह्यम्–बाह्य हैं अर्थात् शुक्र से बाहर मज्जा, मज्जा से बाहर अस्थि, अस्थि से बाहर स्नायु, स्नायु से बाहर मांस, मांस से बाहर लोहित और लोहित से बाहर त्वक्, इति एव विन्यासः–इस प्रकार शरीर में रहे हुए पदार्थों का विन्यासविशेष है। उसका योगी नाभिचक्र में संयम करके साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्राप्त करे। इति ॥ २६ ॥

सूत्रकार अन्य सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं—कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिरिति। कण्ठकूपे—वक्ष्यमाण कण्ठकूप में संयम करने से, क्षुत्पिपासानिवृत्तिः–क्षुधा-पिपासा की निवृत्ति हो जाती है। अतः कण्ठकूप में संयम करके योगी क्षुधा-पिपासा (भूख-प्यास) की निवृत्तिरूप सिद्धि प्राप्त करे।

भाष्यकार कण्ठकूप पद का अर्थ करते हुए सूत्र का अर्थ करते हैं—जिह्वाया इति। जिह्वायाः अधस्तात् तन्तुः–जिह्वा के अधोभाग में स्थित जो जिह्वामूल है उसको तन्तु कहते हैं, ततः अधस्तात् कण्ठः–उस तन्तु से अधोभाग में स्थित जो प्रदेश है उसको कण्ठ कहते हैं, ततः अधस्तात कूपः—उस कण्ठ से अधोभाग में स्थित जो गर्ताकार प्रदेश है उसको कण्ठकूप कहते हैं, तत्र संयमात्—उस कण्ठकूप में संयम करने से, क्षुत्पिपासे न बाधेते—क्षुधा-पिपासा नहीं बाधती हैं, अर्थात् भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

भाव यह है कि, उक्त कण्ठकूप प्रदेश में जब प्राण का स्पर्श होता है तब प्राणी को क्षुधापिपासा सताती है। अतः जब योगी उस कण्ठकूप में संयम करता है तब उसमें प्राण का स्पर्श न होने से क्षुधा-पिपासा की निवृत्ति हो जाती है। इति ॥३०॥

सूत्रकार अन्य सिद्धि का निरूपण करते हैं—कूर्मनाड्यां स्थैर्यमिति। कूर्म-

कूपादध उरसि कूर्माकारा नाडी। तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते। यथा सर्पो गोधा चेति ॥ ३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं भास्वरं ज्योतिः। तत्र संयमं कृत्वा सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम् ॥ ३२ ॥

नाड्याम्—निम्नलिखित कूर्म नामक नाडी में संयम करने से, 'स्थैर्यम्—स्थिरता की प्राप्ति होती है। अर्थात् पूर्वोक्त कण्ठकूप देश के अधोभाग में स्थित जो कूर्म नामक नाडी है उसमें संयम करने से योगी के शरीर तथा चित्त में स्थिरता प्राप्त होती है। उनमें चित्त स्थिरता समाधि द्वारा आन्तर सिद्धि रूप है और शरीर-स्थिरता बाह्य सिद्धि रूप है। क्योंकि, कूर्मनाडी संयम द्वारा शरीर स्थिर होने पर उसको कोई हिला नहीं सकता है।

भाष्यकार सूत्र का अर्थ करते हैं—कूपादध इति। कूपात् अधः उरसि—यथोक्त कण्ठकूप-प्रदेश से अधोभाग उरः-प्रदेश में स्थित एक, कूर्माकारा नाडी—कूर्माकार अर्थात् कच्छप के आकार के समान आकारवाली नाडी है, तस्याम् कृतसंयमः—उस नाड़ी में कृतसंयम योगी, स्थिरपदम् लभते—स्थिरपद को प्राप्त होता है। उक्त स्थिरता में दृष्टान्त देते हैं—यथा सर्पः गोधा च इति—जैसे कुण्डलित सर्प तथा गोधा (गोह) स्थिरपद को प्राप्त होते हैं। वैसे ही कूर्मनाडी में संयम करने से योगी का शरीर तथा चित्त स्थिरपद को प्राप्त होता है। इति ॥ ३१ ॥

सूत्रकार सिद्धयन्तर का प्रतिपादन करते हैं—मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनमिति। मूर्धज्योतिषि—निम्नलिखित मूर्ध ज्योति में संयम करने से, सिद्धदर्शनम्—सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है। अर्थात् मस्तक के कपाल के मध्य में एक ब्रह्मरंध्र नामक छिद्र है, उसके साथ सुषुम्ना नाडी का तथा हृदयस्थ चित्तमणिप्रभा का सम्बन्ध होने से वह भास्वर रूप है। अतः उसको मूर्धज्योति कहते हैं। उसमें संयम करने से आकाश और पृथिवी के मध्य में रहे हुए अदृश्य दिव्य सिद्ध पुरुषों का दर्शन तथा उनके साथ संभाषण योगी को प्राप्त होता है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—शिरः इति। शिरः कपाले अन्तः छिद्रम्—मस्तक के कपाल-प्रदेश के मध्य में एक छिद्र है जो, भास्वरम् ज्योतिः—भास्वर ज्योतिस्वरूप है अर्थात् सुषुम्ना नाडी द्वारा सात्त्विक चित्त-प्रकाश से प्रकाशित है, तत्र संयमं कृत्वा—उसमें संयम करके योगी, द्यावापृथिव्योः अन्तरालचारिणाम् सिद्धानाम्—आकाश और पृथिवी के मध्य में विचरनेवाले सिद्ध पुरुषों का दर्शनम्—दर्शन प्राप्त करे इति ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

प्रातिभं नाम तारकम्। तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्। यथोदये प्रभा भास्करस्य।

तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

सम्प्रति सूत्रकार सर्वज्ञता का उपाय निरूपण करते हैं—प्रातिभाद्वा सर्वमिति। प्रातिभात् वा-निम्नलिखित प्रातिभ नामक ज्ञान से भी योगी, सर्वम्—भूत, भावि, वर्तमान रूप तीनों कालों के सर्व पदार्थों को जान लेता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—प्रातिभमिति। प्रातिभम् नाम तारकम्—प्रातिभ ज्ञान नाम तारक ज्ञान का है। तत् विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्—वह तारक ज्ञान उदयाभिमुख विवेकजन्य ज्ञान का पूर्वरूप है अर्थात् ज्ञापक चिह्न है। उसमें दृष्टान्त देते हैं—यथा भास्करस्य उदये प्रभा—जैसे सूर्य के उदय काल में सूर्य की प्रभा सूर्य का पूर्वरूप है अर्थात् ज्ञापक चिह्न है, प्रातिभस्य ज्ञानस्य उत्पत्तौ—उक्त प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति होने पर, तेन वा—उस प्रातिभ ज्ञान से भी, योगी सर्वम् एव जानाति—योगी भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान रूप तीनों काल के सर्व पदार्थों को जान लेता है।

भाव यह है कि-प्रतिभा ऊह को कहते हैं, जिसको तर्कना भी कहते हैं। तद्-विषयक संयम द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रातिभ ज्ञान कहा जाता है। वह आत्मा को संसार-सागर से तारता है। अतः तारक ज्ञान भी कहा जाता है एवं उदय-अभिमुख सूर्य की प्रभा जैसे सूर्य का पूर्वरूप है, वैसे ही उदय-अभिमुख विवेक-जन्य ज्ञान का वह प्रातिभ ज्ञान पूर्वरूप है। उस प्रातिभ ज्ञान से योगी भूत-भविष्यत्-वर्तमान रूप तीनों काल के पदार्थों को जान जाता है। अतः उस प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति होने पर योगी सर्वज्ञ हो जाता है। इति ॥ ३३ ॥

यहां तक संयम को जितनी सिद्धियां कही गई हैं, वे सब संसार विषयक होने से क्षुद्र रूप हैं। अतः इसके आगे सत्त्वपुरुषान्यताख्याति (विवेकज्ञान) रूप संयम की मुख्य सिद्धि कहने के लिये सर्वप्रथम संयम के हेतुभूत चित्तसाक्षात्कार का कारण सूत्रकार कहते हैं—हृदये चित्तसंविदिति। हृदये—निम्नलिखित हृदय देश में संयम करने से योगी को, चित्तसंवित्—स्वपर-चित्त का साक्षात्कार होता है। अर्थात्

यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन्संयमाच्चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

हृदय में संयम करने से अपने चित्त में रही हुई वासना को तथा दूसरे के चित्त में रहे हुए रागादि को योगी जान जाता है।

भाष्यकार हृदय पद का अर्थ करते हुए सूत्र का अर्थ करते हैं—यदिदमिति। अस्मिन् ब्रह्मपुरे—इस आत्मा तथा परमात्मा के पुर रूप शरीर में, यत् इदम्—जो यह, पुण्डरीकम्—पुण्डरीकाकार (कमल के समान आकारवाला) अधोमुख स्वल्प, दहरम् वेश्म—दहर अर्थात् गर्तरूप हृदयवेश्म है, तत्र विज्ञानम्—उसमें विज्ञानवृत्तिक चित्त विद्यमान है, तस्मिन् संयमात्—उसमें संयम करने से, चित्त-संवित्—अपने तथा दूसरे के वृत्तिविशिष्टचित्त का साक्षात्कार होता है। अर्थात् 'इस समय चित्त की वृत्ति किंविषयक है' इसको जान जाता है।

भाव यह है कि—जिसमें आत्मा रहता है उस शरीर के भीतर हृदय है और हृदय के भीतर चित्त है। अतः आत्मा, शरीर, हृदय तथा चित्त का परस्पर सम्बन्ध है। अत एव हृदय में संयम करने से चित्त का साक्षात्कार योगी को होता है। इति ॥ ३४ ॥

सम्प्रति सूत्रकार जिसके लिये चित्तसंवित् रूप सिद्धि कही गई है, उस पुरुषज्ञान रूप अन्य सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं—सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानमिति। अत्यन्तासंकीर्णयोः सत्त्वपुरुषयोः—जडत्व, चेतनत्वादि रूप अत्यन्त भिन्न-भिन्न धर्मवाले होने से अत्यन्त विभिन्न बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष की जो, प्रत्ययाविशेषः—ऐक्य रूप से प्रतीति वह, भोगः—भोग कहा जाता है। बुद्धि जो कुछ करती है वह अपने लिये नहीं, किन्तु पुरुष के लिये; अतः परार्थ है, स्वार्थ नहीं, और उक्त ऐक्य प्रतीति रूप भोग बुद्धि का धर्म होने से वह भी परार्थ ही है। अतः उस, परार्थात्—परार्थ भोगात्मक ऐक्य प्रतीति रूप ज्ञान से अन्य जो चेतनमात्रावलम्बी पौरुषेय बोधरूप स्वार्थ ज्ञान उस, स्वार्थसंयमात्—स्वार्थ ज्ञान में संयम करने से, पुरुषज्ञानम्—चेतनमात्र पुरुष का साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्राप्त होता है।

भाव यह है कि-सत्त्वप्रधान प्रकृति का प्रकाशसुखात्मक जो बुद्धि रूप परिणाम वह सत्त्व कहा जाता है, एवं चेतन-आत्मा पुरुष कहा जाता है। बुद्धि जड है, अतः उसमें

बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतम्। तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोत्यन्तविधर्मा विशुद्धोन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः। तयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य दर्शितविषयत्वात्।

जडत्व धर्म रहता है, एवं पुरुष चेतन है; अतः उसमें चेतनत्व धर्म रहता है। इस प्रकार दोनों विरुद्ध धर्मवाले होने से अत्यन्त असंकीर्ण अर्थात् विभिन्न स्वभाववाले पृथक् पृथक् हैं, एक नहीं; तो भी अविवेक के कारण उन दोनों का प्रत्ययाविशेष अर्थात् अभेद रूप से ऐक्य ज्ञान होता है। इसी ऐक्य ज्ञान को भोग कहते हैं। क्योंकि, सुखदुःखसाक्षात्कार को भोग कहते हैं और सुखदुःख बुद्धि के धर्म हैं; परन्तु बुद्धि के साथ पुरुष का तादात्म्य अध्यास होने से पुरुष बुद्धि को अपना ही स्वरूप मानता है। अतः बुद्धिगत सुखदुःख को अपने में मान कर "मैं सुखी हूँ", "मैं दुःखी हूँ" इस प्रकार का अभिमान करता है। यही पुरुष में भोग कहा जाता है, जो बुद्धिगत होते हुए पुरुष के लिये होने से परार्थ है। इस भोग रूप प्रत्यय से अतिरिक्त जो केवल चेतनरूप पुरुष को आलम्बन करनेवाला पौरुषेय प्रत्यय रूप बुद्धि का धर्म वह स्वार्थप्रत्यय कहा जाता है। उस स्वार्थप्रत्यय में संयम करने से पुरुष को साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्राप्त होता है।

अभिप्राय यह है कि—जब प्रकाशरूप अति स्वच्छ तथा नितान्त अभिभूत रजस्तमस् होने से विवेकख्यातिरूप से परिणत बुद्धिसत्त्व का चैतन्यरूप से अत्यन्त असंकर है तब जडस्वभाव रजस्तमस् से असंकर हो उसमें कहना ही क्या? इस आशय को सूत्रकार ने "सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः" इस शब्द से व्यक्त किया है। इसी आशय को भाष्यकार भी प्रगट करते हैं—बुद्धिसत्त्वमिति। बुद्धिसत्त्व प्रख्याशीलम्—जो बुद्धिसत्त्व प्रख्याशील होते हुए, समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी—पुरुष तुल्य सदा सत्त्वगुण के साथ संबन्धवाले रजोगुण तथा तमोगुण को, वशीकृत्य—वश में करके (अभिभव करके), सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतम्—बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष के भेदज्ञानरूप विवेकख्याति रूप से परिणत है। तस्मात् च परिणामिनः सत्त्वात्—उस परिणामी बुद्धिसत्त्व से, अत्यन्तविधर्मा विशुद्धः चितिमात्ररूपः पुरुषः अन्यः—अत्यन्त विरुद्ध धर्मवाला, विशुद्ध तथा चेतनमात्र स्वरूप पुरुष अन्य है। अर्थात् अत्यन्त विधर्म रजस्तमः—प्रधान बुद्धि से तो पुरुष भिन्न है ही, पर जो शुद्धसत्त्वप्रधान प्रख्याशील एवं विवेकख्यातिरूप से परिणत बुद्धि है, उससे भी पुरुष भिन्न ही है। तयोः अत्यन्तासंकीर्णयोः—उन अत्यन्त असंकीर्ण बुद्धि तथा पुरुष का जो, प्रत्ययाविशेषः—प्रत्ययाविशेष अर्थात् शान्त, घोर, मूढ रूप बुद्धि के धर्मों का बुद्धिप्रतिबिम्बित चेतन में अध्यारोप वह, दर्शितविषयत्वात्—बुद्धि द्वारा पुरुष के लिये दर्शितविषय होनेसे,

स भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य परार्थत्वात् दृश्यः। यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात्पुरुषविषया प्रज्ञा जायते। न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते।

पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति। तथा ह्युक्तम्–

पुरुषस्य भोगः–पुरुषनिष्ठ भोग कहा जाता है। अर्थात् पुरुषप्रतिबिम्बित बुद्धि-गत भोग जो पुरुष में अध्यारोपित है, सः भोगप्रत्ययः–वह बुद्धि का धर्म भोग रूप प्रत्यय, सत्त्वस्य परार्थत्वात्–बुद्धिसत्त्व को परार्थ होने से, दृश्यः–दृश्य कहा जाता है, द्रष्टा नहीं। अर्थात् परार्थ होने से जैसे बुद्धि दृश्य है, वैसे ही भोग भी दृश्य ही है।

"परार्थात्" इस पञ्चम्यन्त पद का व्याख्यान "अन्य" पद का अध्याहार करके करते हैं—यस्त्विति। यः तु–और जो, तस्मात्–उस भोगप्रत्यय से, विशिष्टः–विलक्षण, चितिमात्ररूपः–केवल चेतन को आलम्बन करनेवाला, अन्यः पौरुषेयः प्रत्ययः–अन्य पौरुषेय प्रत्यय है, तत्र–उसमें, संयमात्–संयम करने से, पुरुषविषया प्रज्ञा– पुरुष को विषय करनेवाली प्रज्ञा, जायते–उत्पन्न होती है। अर्थात् पूर्वोक्त भोगप्रत्यय से अन्य जो पौरुषेय प्रत्यय है उसमें संयम करने से पुरुषविषयक ज्ञान योगी को प्राप्त होता है।

आशङ्का होती है कि–जब पुरुषविषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है तो पुरुष प्रज्ञा का विषय हुआ, अर्थात् पुरुष स्वयंप्रकाश नहीं रहा। ऐसी स्थितिमें जैसे पुरुष को विषय करनेवाली प्रज्ञा (वृत्ति) मानी गई, वैसे ही बुद्धि के परिणाम रूप प्रज्ञा जड होने से उसका भी प्रकाशक दूसरी प्रज्ञा माननी होगी? एवं दूसरे की तीसरी, तीसरे की चौथी, इस प्रकार धारा चलने से अनवस्था होगी? इसका उत्तर देते हैं–न चेति। बुद्धिसत्त्वात्मना–बुद्धि के धर्म रूप, पुरुषप्रत्ययेन–पुरुषविषयक प्रत्यय (वृत्ति) द्वारा, पुरुषः न च दृश्यते–पुरुष नहीं देखा जाता है; किन्तु प्रत्युत, पुरुषः एव–पुरुष ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ, स्वात्मावलम्बनम् तम् प्रत्ययम्–अपने स्वरूप को प्रकाश करनेवाला उस प्रत्यय (वृत्ति) को, पश्यति–देखता है। अर्थात् बुद्धि के परिणामरूप वृत्ति का विषय पुरुष नहीं है, किन्तु स्वयंप्रकाशरूप है; परन्तु जब यह बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित होकर भासता है तब अविवेक से बुद्धिवृत्ति पुरुषविषया प्रज्ञा कही जाती है। अतः पुरुषविषयक अन्य वृत्ति की अपेक्षा न होने से अनवस्था का प्रसंग नहीं। प्रकृत में संयमजन्य जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है वह विवेकरूप है, जिसके पश्चात् पुरुष स्वयंप्रकाशरूप से भासता है।

"बुद्धिवृत्ति का विषय पुरुष नहीं है" इस कथन में श्रुतिप्रमाण देते हैं—तथेति। तथा हि उक्तम्–ऐसा ही ईश्वर ने वेद में कहा है–अरे हे मैत्रेयि!, विज्ञातारम्–

विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृ. २।४।१४) इति ॥ ३५ ॥

सर्वप्रकाशक नित्यज्ञानरूप पुरुष को, केन—किस साधन के द्वारा पुरुष, विजानीयात्—जानेगा ? अर्थात् किसी से नहीं। इससे स्पष्ट है कि-किसी प्रमाणजन्य बुद्धिवृत्ति का विषय पुरुष नहीं किन्तु स्वयंप्रकाशरूप है।

यहां पर भाष्यकार ने दो ज्ञान माना है, एक परार्थ और दूसरा स्वार्थ। उनमें स्वार्थ में संयम करने से पुरुषविषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है, यह कहा है। इस पर शङ्का होती है कि-संयमजन्य पुरुषविषयक प्रज्ञा बुद्धिवृत्तिरूप होने से स्वयं जड है, तो वह पुरुष को प्रकाश कैसे कर सकती है ? अतः उसको प्रकाश करने के लिये दूसरी वृत्ति माननी पड़ेगी ? वह भी जड़ ही होगी ? अतः उसको प्रकाश करने के लिये तीसरी वृत्ति माननी पड़ेगी ? इस प्रकार धारा की विश्रान्ति न होने से अनवस्था होगी ? इसका समाधान भाष्यकार ने यह किया है कि-स्वार्थ प्रत्यय में संयम करने से जो पुरुषविषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उससे अविवेक की निवृत्ति होने पर पुरुष स्वयंप्रकाशरूप से प्रतिभासित होता है। उसके लिये वृत्ति की अपेक्षा न होने से अनवस्था नहीं।

यहां पर विज्ञानभिक्षु ने वृत्त्यवच्छिन्न पुरुष को ज्ञाता और तदनवच्छिन्न को ज्ञेय मान कर आत्माश्रय दोष का परिहार करते हुए "पुरुष स्वयंप्रकाशरूप भासता है" ऐसा नहीं; किन्तु "अपना विषय आप करता है" ऐसा कहा है, सो उनकी स्व-उक्ति के साथ विरोध होने से समीचीन नहीं। क्योंकि, पुरुष की स्वयंप्रकाशता में प्रमाणीभूत "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इस श्रुति का अर्थ करते हुए उन्होंने स्वयं कहा है कि—'मोक्षकाले बुद्ध्यादिविलयात् केन करणेन तदानीं विज्ञातारमात्मानं पुरुषो विजानीयात्"। अर्थात् मोक्षकाल में बुद्धि आदि सर्व साधन के विलय होने से किस साधन से उस समय विज्ञाता रूप आत्मा को पुरुष जानेगा ? जब उस काल में वृत्ति है ही नहीं तो "वृत्त्यवच्छिन्न पुरुष ज्ञाता और तदनवच्छिन्न ज्ञेय" यह उनका कहना स्व-उक्ति के साथ विरोध नहीं तो क्या है ?

एवं वेदान्तियों ने जो आत्मा में वृत्तिव्याप्ति मानते हुए फलव्याप्ति का अभाव कहा है, उसका खण्डन भी विज्ञानभिक्षु का वेदान्त शास्त्र के प्रमेय की अनभिज्ञता का ही परिचायक है। क्योंकि, आत्मा में चिदाभासविषयता का अनुपयोग ही फलव्याप्ति का अभाव कहा जाता है। चिदाभास घटादि जड पदार्थ का ही प्रकाशक है, चेतन का नहीं। क्योंकि, चेतन स्वयंप्रकाशरूप है, यह विज्ञानभिक्षु भी मानते हैं।

ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानभिक्षु ने भाष्य लिखा है, जिसकी सूचना देते हुए उन्होंने कहा है कि वेदान्त दर्शन और योगदर्शन इन दोनों दर्शनों के सर्व अंशों में सिद्धान्त एक हैं। यदि उनका यह कहना सत्य है, तो फिर दर्शनभेद होने में कारण क्या ?

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम् । श्रावणाद्दि-

---

इत्यादि विज्ञानभिक्षु का अनर्गल प्रलाप योगदर्शन में पद-पद पर पाया जाता है। पाठक, वहीं अवलोकन करें। ग्रन्थ का कलेवर बढ़ने के भय से हम इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं। इति ॥ ३५ ॥

पूर्व सूत्र-उक्त स्वार्थसंयम के दो फल हैं, एक मुख्य और दूसरा गौण। मुख्य फल पुरुषदर्शन और गौण फल वक्ष्यमाण सिद्धियां हैं। उनमें स्वार्थसंयम जब तक मुख्य फल पुरुषदर्शन को उत्पन्न नहीं करता है तब तक जो पूर्व होनेवाली गौण सिद्धियां हैं उनका प्रतिपादन करते हैं—ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्त-इति। ततः-उस पूर्वोक्त पौरुषेय बोधरूप स्वार्थविषयक संयम से, प्रातिभश्रावण-वेदनादर्शास्वादवार्ताः—प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्ता संज्ञक सिद्धियां, जायन्ते—उत्पन्न होती हैं। अर्थात् जब तक स्वार्थसंयम का मुख्य फल पुरुषदर्शन योगी को प्राप्त नहीं होता है तब तक ये गौण फल आनुषङ्गिक सिद्धियां प्राप्त होती रहती हैं।

मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण; ये छः ज्ञान के साधन हैं। इनके द्वारा प्राकृत पुरुषों को अदिव्य (लौकिक) ज्ञान उत्पन्न होते हैं, दिव्य नहीं। और जब योगी उक्त स्वार्थ ज्ञान में संयम करता है तब इन मन आदि छवों इन्द्रियों में एक प्रकार का दिव्य अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त होता है, जिनके क्रमशः प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता योग-साङ्केतिक नाम हैं। अर्थात् उक्त संयमजन्य सामर्थ्ययुक्त मन को प्रातिभ श्रोत्र को श्रावण, त्वक् को वेदन, चक्षु को आदर्श, रसना को आस्वाद और घ्राण को वार्ता कहते हैं, जिनके फल भाष्यकार प्रतिपादन करते हैं—प्रातिभादिति। प्रातिभात्—स्वार्थ संयम जन्य सामर्थ्ययुक्त प्रातिभ नामक मन से, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम्—सूक्ष्म परमाणु आदि, व्यवहित स्वर्गादि, विप्रकृष्ट दूरदेशस्थ, अतीत भूतकालिक तथा अनागत भविष्य-त्कालिक पदार्थों का ज्ञान होता है।

श्रावणादिति। श्रावणात्—उक्त सामर्थ्ययुक्त श्रावण नामक श्रोत्र-इन्द्रिय से, दिव्यशब्दश्रवणम्—देवताओं के श्रवण करने योग्य जो दिव्य शब्द उनका श्रावण प्रत्यक्ष होता है। वेदनाद् दिव्यस्पर्शाधिगमः। वेदनात्-उक्त सामर्थ्ययुक्त वेदन नामक त्वगिन्द्रिय से, दिव्यस्पर्शाधिगमः—देवताओं के भोग योग्य स्पर्श का

व्यशब्दश्रवणम् । वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः । आदर्शाद्दिव्यरूपसंवित् । आस्वादाद्दिव्यरससंवित् । वार्तातो दिव्यगन्धविज्ञानमित्येतानि नित्यं जायन्ते ।। ३६ ।।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।। ३७ ।।

अधिगम (ज्ञान) होता है । आदर्शाद् दिव्यरूपसंवित् । आदर्शात्—उक्त सामर्थ्ययुक्त आदर्श नामक चक्षुरिन्द्रिय से, दिव्यरूपसंवित्–देवताओं के देखने योग्य दिव्य रूप का संवित् अर्थात् साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है । आस्वादाद् दिव्यरससंवित् । आस्वादात्–उक्त सामर्थ्ययुक्त आस्वाद नामक रसना–इन्द्रिय से, दिव्यरससंवित–देवताओं के भोग योग्य दिव्य रस का ज्ञान होता है और–वार्तातो दिव्यगन्धविज्ञानम् । वार्तातः—उक्त सामर्थ्ययुक्त वार्ता नामक घ्राण-इन्द्रिय से, दिव्यगन्धविज्ञानम्—उक्त दिव्य गन्ध का विशेष ज्ञान होता है । उपसंहार करते हैं—इत्येतानि नित्यं जायन्ते । इति एतानि–यथोक्त इतने ज्ञान, नित्यम्–जानने की इच्छा न करने पर भी, जायन्ते–उत्पन्न होते हैं । ये सब स्वार्थसंयम के आनुषङ्गिक फल समझना चाहिये ।

विज्ञानभिक्षु ने प्रातिभ, श्रावण आदि संज्ञा संयमजन्य सामर्थ्ययुक्त इन्द्रियों की नहीं किन्तु इन्द्रियों में जो संयम से सामर्थ्य प्राप्त होता है उनकी मानी है सो समीचीन नहीं । क्योंकि, योगियों को भी, दिव्य-ज्ञान, सामर्थ्ययुक्त इन्द्रियजन्य ही है, अन्यथा इन्द्रियां व्यर्थ हो जायंगी एवं ज्ञानों में इन्द्रियजन्य न होने से चाक्षुषादि व्यवहार अयुक्त माना जायगा ? अतः उक्त प्रातिभ आदि संज्ञा, संयम-जन्य शक्तियुक्त इन्द्रियों की ही है, शक्ति की नहीं । इसी प्रकार सूत्रगत "ततः" पद का अर्थ पुरुषज्ञान करते हुए "पुरुषसाक्षात्कार से मन आदि को प्रातिभादि संज्ञक सिद्धियां प्राप्त होती हैं" ऐसा व्याख्यान किया है, वह भी चिन्तनीय ही है । इति ।। ३६ ।।

आत्मविषयक संयम (स्वार्थसंयम) में प्रवृत्त योगी उस संयम के प्रभाव से यथोक्त गौण सिद्धियों को प्राप्त कर अपने को कृतार्थ मानते हुए कभी संयम से उपरामता को प्राप्त न हो जाय; किन्तु जब तक पुरुष का साक्षात्कार न हो जाय तब तक इन सिद्धियों को विघ्नरूप जानकर सतत संयम का अभ्यास करता रहे । क्योंकि, उक्त संयम का मुख्य फल आत्मसाक्षात्कार है, सिद्धियां नहीं । इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय इति । ते–वे पूर्व सूत्र-उक्त प्रातिभ आदि ऐश्वर्य, समाधौ–पुरुषसाक्षात्कार के हेतुभूत असंप्रज्ञात् समाधि में, उपसर्गाः–विघ्नरूप हैं, केवल, व्युत्थाने–व्युत्थान काल में ही, सिद्धयः–सिद्धिरूप कहे जाते हैं ।

ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गाः। तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात्। व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः॥ ३७॥

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः॥ ३८॥

लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयवशाद्बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः।

अर्थात् समाधि में प्रवृत्त योगी को बीच में जो यथोक्त प्रातिभ आदि शक्तिविशेष प्राप्त होते हैं वे केवल व्युत्थान की अपेक्षा सिद्धि कहे जाते हैं परन्तु समाधि में तो वे भी प्रतिबन्धक ही हैं।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—ते प्रातिभादय इति। ते प्रातिभादयः-वे पूर्व सूत्र-पठित प्रातिभ आदि ऐश्वर्यविशेष, समाहितचित्तस्य-समाहित चित्तयोगी को, उत्पद्यमानाः-उत्पन्न होते हुए, उपसर्गाः-विघ्नरूप हैं। इसमें हेतु देते हैं—तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात्-पुरुषसाक्षात्कार के जनक समाधि के विरोधी होने से और, व्युत्थितचित्स्य-समाधि से व्युत्थान-अवस्थाक योगी को, उत्पद्यमानाः-उत्पन्न होते हुए, सिद्धयः-सिद्धिरूप हैं।

भाव यह है कि—जैसे जन्म से दरिद्र पुरुष ही स्वल्प धन के लाभ से अपने को बड़ा धनवान् मानकर कृतार्थ समझता है, भाग्यशाली नहीं। वैसे ही व्युत्थितचित्त पुरुष ही पुरुषदर्शन रूप महत्फल की अपेक्षा तुच्छफल रूप उक्त सिद्धियों के लाभ से अपने को बड़ा सिद्ध मानकर कृतार्थ समझता है, समाहितचित्त योगी नहीं। क्योंकि, वे इन सिद्धियों को आत्मसाक्षात्कार के जनक असंप्रज्ञात-समाधि में अन्तराय रूप समझते हैं। अतः परम पुरुषार्थ के अभिलाषी पुरुष को इन अन्तराय रूप सिद्धियों से उपरत ही रहना चाहिये। इति॥ ३७॥

इस प्रकार पुरुषदर्शन पर्यन्त दिव्यज्ञानरूप संयमफल का प्रतिपादन करके सम्प्रति सूत्रकार क्रियात्मक ऐश्वर्यरूप संयमफल का प्रतिपादन करते हैं—बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेश इति। बन्धकारणशैथिल्यात्-चित्त के बन्ध का कारण धर्माधर्म की संयम रूप समाधि द्वारा शिथिलता होने से, च-और, प्रचारसंवेदनात्—चित्त की गति के ज्ञान से अर्थात् किस नाडी के द्वारा चित्त पर-शरीर में प्रवेश कर सकता है इस ज्ञान से, चित्तस्य-चित्त का, परशरीरावेशः-अन्य के शरीर में प्रवेश हो जाता है।

भाष्यकार सूत्रस्थ प्रत्येक पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं—लोलीभूतस्येति। लोलीभूतस्य-चञ्चल स्वभाव, अतएव, अप्रतिष्ठस्य-एक स्थान में स्थिर न रहनेवाला,

तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद्भवति। प्रचारसंवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव। कर्मबन्धक्षयात्स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति। निक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति। यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति॥ ३८॥

मनसः-मन का जो, कर्माशयवशात्- कर्माशयरूप धर्माधर्म के बल से, शरीरे प्रतिष्ठा-एक शरीर में स्थिर हो जाना वह, बन्धः इत्यर्थः-बन्ध कहा जाता है। तस्य बन्धकारणस्य कर्मणः-उस बन्ध के कारण धर्माधर्म रूप कर्माशय की, समाधिबलात्-बन्धकारण-विषयक संयम रूप समाधि के बल से, शैथिल्यम्-शिथिलता प्राप्त, भवति-होती है। प्रचारेति। च-और, चित्तस्य-चित्त के, प्रचारसंवेदनम्-प्रचार का ज्ञान भी, समाधिजम् एव-उक्त समाधि-जन्य ही है। अर्थात् चित्त के आने-जाने के मार्ग रूप नाडियां प्रचार कही जातीं हैं। उनमें संयम करने से जो उक्त प्रचार का (नाडी का) ज्ञान होता है वह भी समाधि-जन्य ही है।

हेतुबोधक पदों का व्याख्यान करके सूत्रवाक्यार्थ करते हैं—कर्मबन्धक्षयादिति। कर्मबन्धक्षयात्- कर्मबन्धक्षय से अर्थात् उक्त बन्धकारणशैथिल्य से च-और, स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनात्-अपने चित्त के प्रचारसंवेदन से, योगी-समाधिनिष्ठ पुरुष, चित्तम्-चित्त को, स्वशरीरात्-अपने शरीर से, निष्कृष्य-निकाल कर, शरीरान्तरेषु-अन्य के शरीरों में, निक्षिपति-प्रविष्ट कर सकता है। निक्षिप्तमिति। च-और, निक्षिप्तम् चित्तम्-चित्त के प्रविष्ट होने पर उसके अनुगामी, इन्द्रियाणि-इन्द्रियां भी, अनुपतन्ति-प्रविष्ट हो जाती हैं। क्योंकि, चित्त को छोड़ कर इन्द्रियां कभी अलग रह नहीं सकती हैं। इसमें सहेतुक दृष्टान्त देते हैं—यथेति। यथा-जैसे, मक्षिकाः-मधुमक्षिका (मधुमक्खियाँ), मधुकरराजानम् उत्पतन्तम्-अपने मधुकरराज के उड़ने पर, अनूत्पतन्ति-उसके पीछे ही उड़ जाती हैं और, निविशमानम्-प्रवेश करने पर, अनुनिविशन्ते-उसके पश्चात् प्रवेश कर जाती हैं, तथा-वैसे ही, इन्द्रियाणि-इन्द्रियां भी, परशरीरावेशे-अन्य शरीर में प्रवेश करने पर, चित्तम् अनुविधीयन्ते-चित्त के अनुसार ही वर्तन करती हैं। अर्थात् चित्त के निकलने पर निकलती हैं और प्रवेश करने पर प्रवेश कर जाती हैं, ऐसा नियम है।

यद्यपि पुरुष व्यापक और चित्त चञ्चल है। अतः इन दोनों का भोक्तृभोग्यरूप से एक शरीर में परतन्त्र होकर रहना असम्भव है, तथापि इन दोनों का भोक्तृभोग्य-

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३९॥

समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनम् ।

भाव सम्बन्ध धर्माधर्म प्रयुक्त ही है। अत एव धर्माधर्म को बन्धकारण कहा गया है। जब तक इनमें बन्धन करने की शक्ति विद्यमान रहती है तब तक पुरुष और चित्त स्वतन्त्र होकर अन्यत्र गमन करने में असमर्थ रहते हैं। जब योगी यथोक्त धर्माधर्म-विषयक संयम द्वारा इन दोनों को शिथिल कर देते हैं अर्थात् धर्माधर्म में जो बन्धन करने की शक्ति है उसको निवृत्त कर देते हैं तब प्रतिबन्धक का अभाव होने से ये (पुरुष और चित्त) स्वतन्त्रता पूर्वक जीवित वर्त्तमान शरीर में से निकल कर अन्य शरीरों में प्रवेश करने के लिये समर्थ हो जाते हैं। परन्तु इतनी सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी जब तक यह ज्ञात न हो कि, कौन-सी नाडी चित्तवहा है ? तब तक पर-शरीर में चित्त का प्रवेश असंभव है। अतः नाडी-संयम द्वारा चित्तप्रचारवाली नाडी का परिज्ञान भी योगी को आवश्यक है। अत एव सूत्रकार ने कहा कि-"बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः" । अर्थात् अदृष्टसंयमद्वारा बन्धकारण-शैथिल्य और नाडीसंयम द्वारा प्रचारसंवेदन प्राप्त होने पर चित्त का अन्य शरीर में प्रवेश होता है। अतः अदृष्टसंयम और नाडीसंयम दोनों समुचित होकर (मिलकर) परकायप्रवेश में हेतु हैं, विकल्पित (दो में से कोई एक) होकर नहीं, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ ३८ ॥

सम्प्रति सूत्रकार संयम द्वारा उदानजय से जो दो प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनका निरूपण करते हैं—उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्चेति। उदानजयात्—उदान के जय से अर्थात् उदान नामक प्राण के जय से, जलपङ्क-कण्टकादिषु-जल, पङ्क तथा कण्टकादि युक्त स्थलों में अर्थात् पानी, कादों तथा कांटा आदि से घिरा हुआ स्थल पर योगी का, असङ्गः—सम्बन्ध का अभाव होता है। अर्थात् उक्त जल, पङ्क, कण्टकादि योगी को प्रतिघात नहीं कर सकता है किन्तु जैसे रम्य-स्थल पर सुखपूर्वक गमन करता है वैसे ही जल, पङ्क, कण्टकादि पर सुखपूर्वक गमन कर सकता है, च-और, उत्क्रान्तिः-उत्क्रान्ति भी होती है। अर्थात् उदान-जय से ही योगी प्रयाण काल में अर्चिरादि मार्ग (उत्तरायण मार्ग) द्वारा ऊर्ध्वगमन करता है।

भाष्यकार उदान पद का विवेचन करने के लिये प्राणादि पांच का स्वरूप तथा अवान्तर भेद प्रतिपादन करते हैं—समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनमिति। प्राणादिलक्षणा—प्राणन, अपानन आदि रूप, समस्तेन्द्रियवृत्तिः-सर्व इन्द्रियों की जो वृत्ति (शरीर-धारण रूप व्यापार) वह, जीवनम्-जीवन अर्थात् प्राण कहा जाता है।

तस्य क्रिया पञ्चतयी । प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः । समं नयनात्समान आनाभिवृत्तिः । अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः ।

अर्थात् जैसे एक तुष (धान का भूसा) में अग्नि लगाने से ज्वाला उत्पन्न नहीं होती है किन्तु तुषराशि में अग्नि लगाने से ज्वाला उत्पन्न होती है, अथवा जैसे एक कपोत (कबूतर) से पञ्जर (पिंजरा) चालन नहीं होता है किन्तु दो-चार मिले हुए कपोत के एक साथ के व्यापार से पञ्जरचालन होता है। वैसे ही एक इन्द्रियवृत्ति से जीवन अर्थात् प्राणन आदि क्रिया उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु समस्त इन्द्रियवृत्ति से जीवन अर्थात् प्राणन आदि क्रिया उत्पन्न होती है। अतः सम्मिलित निखिल इन्द्रिय-वृत्ति ही जीवन नामक प्राण कही जाती है।

यहां पर इतना विशेष और भी समझना चाहिये कि—इन्द्रियां दो प्रकार की हैं, बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य इन्द्रियां चक्षुरादि और आभ्यन्तर बुद्धि, अहङ्कार तथा मन हैं। बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति (कार्य) रूपादि आलोचन रूप है और आभ्यन्तर इन्द्रियों की असाधारण वृत्ति क्रमशः अध्यवसाय, अभिमान तथा संकल्प रूप है। उनमें बाह्य वृत्ति जो रूपादि आलोचन रूप हैं वे जीवन नहीं एवं आभ्यन्तर इन्द्रियों की जो अध्यवसाय आदि असाधारण वृत्ति हैं वे भी जीवन नहीं; किन्तु आभ्यन्तर इन्द्रियों की जो साधारण वृत्ति है वह जीवन कही जाती है, जो प्राण शब्द का वाच्य है। यदि बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति को प्राण मानें तो सुषुप्ति में बाह्य इन्द्रियों के लय होने पर जो प्राणव्यापार प्रतीत होता है सो नहीं होना चाहिये, और होता तो है! अतः बाह्यकरणवृत्ति प्राण नहीं। एवं यदि अन्तरिन्द्रिय की अध्यवसाय आदि असाधारण वृत्ति को प्राण मानें तो वह भी सुषुप्ति में नहीं है; अतः अन्तःकरण की साधारण वृत्ति ही प्राण शब्द का वाच्य है, जो प्रयत्नविशेष शरीरधारक पवनविशेष का हेतु है। अतः उक्त वृत्तिरूप प्राण से जन्य होने से पवनविशेष को प्राण कहते हैं। अतः पवन का विकार प्राण नहीं किन्तु उक्त वृत्ति ही प्राण है, यह सिद्ध हुआ।

उक्त प्राण के पांच भेद दिखाते हैं—तस्येति। तस्य–उस जीवनवृत्तिविशेष प्राण के, क्रिया–कार्य, पञ्चतयी–पांच अवयववाला है। अर्थात् उक्त प्राण को क्रिया-भेद से प्राण, अपान आदि शब्द से व्यवहार होता है। क्रियाभेद को दिखाते हैं—प्राण इति। मुखनासिकागतिः–मुख तथा नासिका द्वारा गमन करनेवाला और, आहृदयवृत्तिः–नासिका के अग्रभाग से आरम्भ कर हृदय पर्यन्त वर्तनेवाला जो जीवनवृत्तिविशेष वह, प्राणः—प्राण कहा जाता है। सममिति। आनाभिवृत्तिः—हृदय से आरम्भ कर नाभिपर्यन्त वर्तनेवाला जो जीवनवृत्तिविशेष वह, समम् नयनात्–अशित-पीत (खाये पीये) अन्न-जल के परिणाम रूप रस को अपनेअपने

उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः।

व्यापी व्यान इति। एषां प्रधानं प्राणः। उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति। तां वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

स्थानों में समान रूप से प्राप्त करने से, समानः—समान कहा जाता है। अपनयनादिति। आपादतलवृत्तिः-नाभि से आरम्भ कर पादतल पर्यन्त जो जीवनवृत्तिविशेष वह, अपनयनात्-मूत्र, पुरीष, गर्भादि को बहिर्निःसरण करने से (बाहर निकालने से), अपानः-अपान कहा जाता है। उन्नयनादिति। आशिरोवृत्तिः—नासिका के अग्रभाग से आरम्भ कर शिरः पर्यन्त जो जीवनवृत्तिविशेष वह, उन्नयनात्-रसादि को ऊर्ध्व नयन करने से, उदानः—उदान कहा जाता है। व्यापीति। व्यापी-समस्त शरीर में व्याप्त जो जीवनवृत्तिविशेष वह, व्यानः-व्यान कहा जाता है, इति-इस प्रकार उक्त जीवनवृत्तिविशेष रूप प्राण के पांच भेद हैं। एषामिति। एषाम्—उक्त प्राण, समान, अपान, उदान तथा व्यान रूप पांचों जीवनवृत्ति में, प्राणः-प्रथम जो प्राण है वह, प्रधानम्—प्रधान है। क्योंकि, शरीर में से प्राण के निकलने से उसके अनुगामी अन्य सब के सब निकल जाते हैं।

इस प्रकार प्राणादि की क्रिया तथा स्थान के भेद से भेद प्रतिपादन करके सम्प्रति सूत्रार्थ करते हैं—उदानजयादिति। उदानजयात्—उदान विषयक संयम के द्वारा उदान का जय होने से, जलपङ्ककण्टकादिषु-जल, पङ्क तथा कण्टकादि में योगी को, असङ्गः-पङ्ग (सम्बन्ध) नहीं होता है, च—और, प्रयाणकाले-देह त्याग काल में, उत्क्रान्तिः-देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में ऊर्ध्व गति, भवति-होती है। अतः ताम्-उस उत्क्रान्ति को, वशित्वेन-वशित्व रूप से, प्रतिपद्यते-प्राप्त होता है। अर्थात् उस उत्क्रान्ति को योगी अपने अधीन कर लेता है। भाव यह है कि भीष्मपितामह के समान स्वच्छन्द मृत्युवाला हो जाता है। इति ॥ ३९ ॥

सम्प्रति सूत्रकार अन्य सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं—समानजयाज्ज्वलनमिति। समानजयात्—संयमजन्य समान नामक प्राण का जय होने से, ज्वलनम्—योगी के शरीर में ज्वलन प्रतीत होता है। अर्थात् योगी का शरीर अग्नि के समान दीप्तियुक्त हो जाता है, जिससे अन्तर तेज बहिर्भूत होकर चमकने लगता है।

जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा सर्वशब्दानां च । यथोक्तम्—

इसी अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—जितसमान इति । जितसमानः-संयम द्वारा जीत लिया है समान नामक प्राण को जिसने ऐसा योगी, तेजसः-अपने शरीर के तेज को, उपध्मानम् कृत्वा-उत्तेजित करके, ज्वलति-चमकने लगता है ।

भाव यह है कि-जो समान नामक प्राण है वह सर्व तरफ से जठराग्नि को घेर कर स्थित है । अतः उस समान नामक प्राण से आवृत जठराग्नि का तेज मन्द पड़ जाने से शरीर को तेजस्वी नहीं बना सकता है, और जब उक्त संयम द्वारा समानजय प्राप्त हो जाता है तब समान प्राण स्वाधीन होने से इच्छानुसार जठराग्नि निरावृत हो जाती है । अतः वह निरावृत हुई अग्नि उत्तेजित होती हुई योगी के शरीर को तेजस्वी बना देती है, जिससे शरीर तेजोयुक्त प्रतीत होने लगता है ।

विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकृत सूत्र का अर्थ-संयम द्वारा समानजय से योगी सती स्त्री के समान अपने शरीर को जला डालता है, ऐसा किया है, सो समीचीन नहीं । क्योंकि, सूत्रस्थ "ज्वलनम्" पद का विवरण भाष्यकार ने "ज्वलति" शब्द से किया है, जो "ज्वल दीप्तौ" धातु का रूप है, जिसका अर्थ "जला डालता है' ऐसा नहीं है; किन्तु "दीपने लगता है" ऐसा है । अतः भाष्यविरुद्ध होने से विज्ञानभिक्षु का किया हुआ अर्थ आदरणीय नहीं । इति ॥ ४० ॥

संप्रति सूत्रकार अन्य सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं—श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रमिति । श्रोत्राकाशयोः-श्रोत्र-इन्द्रिय और आकाश के, सम्बन्धसंयमात्-संबन्धविषयक संयम करने से, दिव्यम् श्रोत्रम्-दिव्य श्रोत्र हो जाता है । अर्थात् अहङ्कार का कार्य जो शब्द ग्रहण करनेवाला इन्द्रिय है वह श्रोत्र कहा जाता है और शब्दतन्मात्र का कार्य जो सर्व शब्दों की प्रतिष्ठा (आधार) है वह आकाश कहा जाता है । इन दोनों का (श्रोत्र और आकाश का) जो आधाराधेयभाव सम्बन्ध है, उसमें संयम करने से योगी का श्रोत्र दिव्य हो जाता है ।

संयम का विषय जो श्रोत्र और आकाश का आधाराधेयभाव सम्बन्ध उसका प्रतिपादन भाष्यकार करते हैं—सर्वेति । सर्वश्रोत्राणाम्-अहङ्कार का कार्य शब्द का ग्रहण करनेवाले सर्व श्रोत्रों का, च-और, सर्वशब्दानाम्-आकाश का कार्य सर्व शब्दों का, आकाशम्-तन्मात्र का कार्य कर्णशष्कुलीविवर रूप आकाश, प्रतिष्ठा-आधार है अर्थात् श्रोत्र इन्द्रिय का आधार आकाश है । सारांश यह है कि, नैयायिक कर्णविवरवर्ती आकाश को ही श्रोत्र कहते हैं वह योगमत में स्वीकार नहीं; किन्तु श्रोत्र-इन्द्रिय का आधार कर्ण शष्कुली-विवररूप आकाश है ।

तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति । तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गम् । अनावरणं चोक्तम् ।

श्रोत्र-इन्द्रिय का आधार आकाश है, इस अर्थ में महर्षि पञ्चशिखाचार्य का वचन प्रमाण देते हैं—तथोक्तमिति । यथा उक्तम्-जैसा कि, पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है—तुल्यदेशश्रवणानाम्-तुल्य देश में है श्रोत्र इन्द्रिय जिनका ऐसे, सर्वेषाम्-सर्व चैत्र-मैत्र आदि पुरुषों का, एकदेशश्रुतित्वम्-एकदेश श्रुतित्व तत्तत् काल में, भवति इति-होता है । अर्थात् सर्व पुरुषों का श्रोत्र-इन्द्रिय आकाशवर्ती है । अतः श्रोत्र का आधार कर्णविवरवर्ती आकाश है । कर्णविवरवर्ती आकाश ही श्रोत्र नहीं । इस प्रकार श्रोत्र का और शब्द का आधार आकाश है, यह सिद्ध हुआ ।

आकाश के सद्भाव में प्रमाण देते हैं—तदिति । तच्चैतत्-और वह एकदेशश्रुतित्व, आकाशस्य-आकाश का, लिङ्गम्-अनुमापक लिंग है । अर्थात् वह एकजातीय शब्द का व्यञ्जक श्रोत्रइन्द्रिय जिसके आश्रित है वही आकाश कहा जाता है । भाव यह है कि-धूम से वह्नि का अनुमान होता है । अतः धूम वह्नि का लिंग कहा जाता है । वैसे ही श्रोत्र- इन्द्रिय से आकाश का अनुमान होता है; अतः श्रोत्र इन्द्रिय आकाश का लिंग है । जैसे "शब्दः क्वचिदाश्रितः गुणत्वात् रूपादिवत्" इस अनुमान के द्वारा शब्दाश्रयत्वेन आकाश का अनुमान होता है । वैसे ही "श्रोत्रेन्द्रियं, क्वचिदाश्रितं, इन्द्रियत्वात् चक्षुरादिवत्" इस अनुमान के द्वारा श्रोत्रेन्द्रियाश्रयत्वेन भी आकाश का अनुमान होता है । क्योंकि, जैसे शब्द का आश्रय आकाश के अतिरिक्त अन्य पृथिव्यादि नहीं हो सकते हैं, वैसे ही श्रोत्रेन्द्रिय का भी आश्रय आकाश के अतिरिक्त अन्य पृथिव्यादि नहीं हो सकते हैं । अतः श्रोत्रेन्द्रिय का आश्रय आकाश का सद्भाव अवश्य स्वीकार करना चाहिये ।

अनावरण रूप अवकाश भी आकाश का अनुमापक है, इस अर्थ को कहते हैं—अनावरणमिति । च-और, अनावरणम्-अनावरण अर्थात् अवकाश भी आकाश के सद्भाव में प्रमाण पूर्वाचार्यों ने, उक्तम्-कहा है । अर्थात् यदि अवकाश का देनेवाला आकाश का सद्भाव न स्वीकार किया जाय तो स्थाल्यादि पात्रों के भीतर जो अग्नि का प्रवेश होता है, जिससे जलादि उष्ण होते हैं, वह न होना चाहिये और होता तो है । अतः प्रवेश करने के लिये अवकाशप्रद आकाश का सद्भाव अवश्य स्वीकार करना चाहिये । यदि कहें कि, मूर्त द्रव्य का अभाव ही अनावरण रूप अवकाश है तो अवकाश प्रदान के लिये आकाश की क्या आवश्यकता है ? तो यह कथन भी समीचीन नहीं । क्योंकि, अभाव भाव के आश्रित रहता है और आकाश के बिना

तथाऽमूर्तस्याप्यन्यत्रानावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य। शब्दग्रहणनिमित्तं श्रोत्रम्।

बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति। तस्मा-

अवकाश रूप अभाव का आश्रय अन्य तो कोई हो नहीं सकता है। अतः आकाश का अस्तित्व अवश्य स्वीकार करना चाहिये। यदि कहें कि, चितिशक्ति जो आत्मा है वही अभाव रूप अवकाश का आश्रय हो सकता है तो इसके लिये आकाश की क्या अवश्यकता है? तो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि, अपरिणामी चितिशक्तिरूप आत्मा अवकाशरूप अभाव का आश्रय बनने पर परिणामी हो जायगा। अतः अनावरण को अभाव रूप मानने पर भी तदाश्रयत्वेन आकाश का सद्भाव अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

इस प्रकार अनावरण आकाश का लिङ्ग (अनुमापक) सिद्ध होने पर जहां जहां वह अनावरण है वहां-वहां आकाश है। अतः आकाश सर्वगत है, इस अर्थ का प्रतिपादन प्रसंगवश करते हैं—तथेति। तथा—वैसे ही, अन्यत्र—मूर्त रूप पृथिव्यादि अन्य सर्व पदार्थों में, अनावरणदर्शनात्-आकाश का अनुमापक अवकाशरूप अनावरण को देखने से, अमूर्त्तस्यापि आकाशस्य—अमूर्त रूप आकाश का, विभुत्वम् अपि—विभुत्व भी, प्रख्यातम्—प्रख्यात (प्रसिद्ध) होता है। अर्थात् सर्व मूर्त पदार्थों में अवकाश देखने से उस अवकाश को देनेवाला आकाश भी सर्वत्र सिद्ध होता है। अतः आकाश विभु है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार आकाश के सद्भाव में अनुमान-प्रमाण प्रदर्शित करके सम्प्रति श्रोत्र-इन्द्रिय के सद्भाव में भी अनुमान-प्रमाण प्रदर्शित करते हैं—शब्दग्रहणेति। शब्द-ग्रहणनिमित्तम्-शब्द के साक्षात्कार करने में करण, श्रोत्रम्—श्रोत्र इन्द्रिय ही है, अन्य कोई नहीं। अर्थात् छिदि क्रिया को कुठारादि करणजन्य देखने से "जितनी क्रियायें हैं वे सब करणजन्य ही हैं" यह व्याप्ति निश्चित होती है। शब्द साक्षात्कार रूप ज्ञानक्रिया भी क्रिया होने से किसी न किसी करण से जन्य अवश्य होना चाहिये। इसका करण अन्य कोई तो हो ही नहीं सकता है, अतः जो इसका करण है वही श्रोत्र-इन्द्रिय है। इससे—"शब्दसाक्षात्कार रूप ज्ञानक्रिया, करणजन्या, क्रियात्वात्, छिदादि-क्रियावत्" यह अनुमान फलित हुआ।

इस पर शङ्का होती है कि-शब्दसाक्षात्कार रूप ज्ञानक्रिया का करण चक्षुरादि में से किसी को क्यों नहीं माना जाय? इसका समाधान करते हैं—बधिरेति। बधि-राबधिरयोः—बधिर (बहिर) और अबधिर पुरुषों में, एकः शब्दम् गृह्णाति—एक तो शब्द को सुनता है और, अपरः न गृह्णाति—दूसरा नहीं सुनता है, इति—इससे

च्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम्। श्रोत्राकाशयोः संबन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

यत्र कायस्तत्राकाशम्। तस्यावकाशदानात्। कायस्य तेन

"श्रोत्र-सत्त्वे शब्दज्ञानसत्त्वम्, श्रोत्राभावे शब्दज्ञानाभावः" यह अन्वयव्यतिरेक सूचित होता है, जिससे (उक्त अन्वयव्यतिरेक से) शब्दज्ञान और श्रोत्र का ही कार्यकारण भाव बोधित होता है, अन्य चक्षुरादि का नहीं। अतः शब्दज्ञानकरणत्वेन श्रोत्र-इन्द्रिय की सिद्धि होती है।

उपसंहार करते हैं—तस्मादिति। तस्मात्-उक्त अन्वयव्यतिरेक से श्रोत्र का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर, श्रोत्रम् एव-श्रोत्र ही, शब्दविषयम्-शब्द का विषय करनेवाला है, अन्य इन्द्रिय नहीं, यह सिद्ध हुआ। सूत्र की योजना करते हैं—श्रोत्रेति। श्रोत्राकाशयोः-श्रोत्र और आकाश के, सम्बन्धे-उक्त आधाराधेयभाव सम्बन्ध में, कृतसंयमस्य योगिनः-किया है संयम जिसने ऐसे योगी को, दिव्यम् श्रोत्रम् प्रवर्तते-दिव्य-श्रोत्र हो जाता है। यह कथन उपलक्षण है। जैसे श्रोत्र और आकाश के उक्त सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र हो जाता है वैसे ही त्वक् और वायु, चक्षु और अग्नि, रसना और जल एवं नासिका और पृथिवी के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य त्वक्, दिव्य चक्षु, दिव्य रसना एवं दिव्य नासिका भी हो जाती है। इति ॥ ४१ ॥

सम्प्रति सूत्रकार अन्य सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं—कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनमिति। कायाकाशयोः-शरीर और आकाश के, सम्बन्धसंयमात्-सम्बन्ध-विषयक संयम करने से, च-अथवा, लघुतूलसमापत्तेः-लघु अर्थात् सूक्ष्मपदार्थ जो तूल अर्थात् रुई आदिक हैं उनमें संयम द्वारा चित्त की समापत्ति होने से, आकाशगमनम्-आकाश में गमन रूप फल योगी को प्राप्त होता है। सूत्रगत चकार समुच्चयार्थक नहीं किन्तु विकल्पार्थक है। अतः उक्त दोनों साधनों में से किसी एक द्वारा आकाशगमनरूप फल प्राप्त होता है।

भाष्यकार सूत्रार्थ स्पष्ट करते हैं—यत्रेति। जहां शरीर है वहां आकाश है। इसमें हेतु देते हैं—तस्येति। उस शरीर को अवकाश देने से अर्थात् जिस-जिस स्थान में शरीर की स्थिति होती है उस-उस स्थान में सर्वत्र आकाश भी विद्यमान

संबन्धः प्राप्तिः ।। ४२ ।।

तत्र कृतसंयमो जित्वा तत्संबन्धं लघुषु वा तूलादिष्वापरमाणु समापत्ति लब्ध्वा जितसंबन्धो लघुर्भवति । लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति । ततस्तूर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति । ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ।। ४२ ।।

रहता है। क्योंकि, अवकाश के बिना शरीर की स्थिति असम्भव है और अवकाश देना आकाश का ही धर्म है। अतः आकाश को छोड़कर शरीर का रहना असम्भव है। अतः—कायस्येति। शरीर का उस आकाश के साथ व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति सिद्ध होती है। अर्थात् "जहां-जहां शरीर है वहां-वहां आकाश है" इस प्रकार का व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध शरीर और आकाश का सिद्ध होता है। तत्रेति। तत्र-उस व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध में, कृतसंयमः-कृतसंयम जो योगी वह, तत्सम्बन्धम् जित्वा-उस सम्बन्ध को जीत कर अर्थात् संयम द्वारा स्वाधीन कर, लघुः भवति-लघु स्वरूप को प्राप्त होता है। अर्थात् गुरुत्वयुक्त योगी का शरीर लघुभाव को प्राप्त हो जाता है, वा-अथवा, लघुषु तूलादिषु—सूक्ष्म रूई आदि पदार्थों में, आपरमाणु—परमाणु पर्यन्त, समापत्तिम् लब्ध्वा-चित्त की समापत्ति को प्राप्त करके, जितसम्बन्धः-जितसम्बन्ध जो योगी वह, तत्सम्बन्धम् जित्वा—उस सम्बन्ध को जीत कर, लघुः भवति-लघु स्वरूप को प्राप्त होता है।

जिस क्रम से सिद्धियां प्राप्त होती हैं उस क्रम का प्रतिपादन करते हैं—लघुत्वादिति। च-और, लघुत्वात्-लघुत्व के प्राप्त होने के अनन्तर, जले-जल के ऊपर, पादाभ्याम्—पांव से, विहरति-गमन कर सकता है। तत इति। ततः-उसके अनन्तर, तु-तो, ऊर्णनाभितन्तुमात्रे-ऊर्णनाभि के तन्तुमात्र में अर्थात् मकरी के जाल में जो सूक्ष्म सूत्र होते हैं उन पर भी, विहृत्य-विहार करके, रश्मिषु विहरति-सूर्य के किरणों में प्रविष्ट होकर उन किरणों में स्वच्छन्द रूप से विहार कर सकता है। तत इति। ततः-उसके अनन्तर, यथेष्टम्—यथेच्छ, आकाशगतिः-आकाश गमन का लाभ, अस्य-इस योगी को, भवति-प्राप्त होता है।

भाव यह है कि-यथोक्त संयमद्वय में से किसी एक के अनुष्ठान से योगी अपने शरीरको इस प्रकार हलका तथा अतिसूक्ष्म कर लेता है कि, जिसके प्रभाव से स्थल के समान जल में तथा सूर्य के किरणों में विहार करता हुआ निरालम्ब आकाश में भी स्वच्छन्द सञ्चार करने वाला हो जाता है। इति ।। ४२ ।।

संप्रति सूत्रकार परशरीर में प्रवेश करने का तथा क्लेशकर्मविपाक के क्षय करने

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीराद्बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा। सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते। या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता। तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहामिति यया

का कारण जो अन्य संयम उसका निरूपण करते हैं—बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षय इति। बहिः-शरीर के बाहर, अकल्पिता-शरीर की अपेक्षा रूप कल्पना ज्ञान से रहित जो, वृत्तिः-चित्त की वृत्ति वह, महाविदेहा-महाविदेहा नामक धारणा कही जाती है, ततः-उस (महाविदेहा नामक धारणा) से, प्रकाशावरणक्षयः-प्रकाश रूप बुद्धि को आवरण करनेवाले क्लेशकर्मविपाक का क्षय हो जाता है।

इसका स्पष्टीकरण भाष्यकार स्वयं करते हैं—शरीरादिति। शरीराद् बहिः-शरीर से बाहर जो किसी विषय में, मनसः वृत्तिलाभः-मन की वृत्ति का प्रचार होना वह, विदेहा नाम धारणा-विदेहा नामक धारणा कही जाती है। यह धारणा कल्पिता तथा अकल्पित के भेद से दो प्रकार की है। उन दोनों का स्वरूप निर्देश करते हैं—सेति। सा यदि-वह विदेहा नामक धारणा जब, शरीरप्रतिष्ठस्य मनसः-शरीर में स्थित रहे हुए मन की, बहिः-बाह्य देश में, वृत्तिमात्रेण-शरीर की अपेक्षा रूप कल्पना ज्ञान रूप वृत्ति मात्र द्वारा, भवति-होती है तब, सा-वह धारणा, कल्पिता इति उच्यते-कल्पिता इस नाम से व्यवहृत होती है, और, या तु-जो (धारणा) तो, शरीरनिरपेक्षा-शरीर की अपेक्षा रूप कल्पना ज्ञान रूप वृत्ति विना स्वतन्त्र, बहिर्भूतस्य एव मनसः-बहिर्भूत मन की, बहिर्वृत्तिः-बाह्यवृत्ति रूप है, सा-वह धारणा, खलु अकल्पिता-अकल्पिता इस नाम से ही व्यवहृत होती है। अर्थात् शरीर सापेक्ष मन की जो बाह्य देश में वृत्ति वह कल्पिता नामक धारणा और शरीर-निरपेक्ष मनकी जो बाह्य देश में वृत्ति वह अकल्पिता नामक धारणा कही जाती है।

उक्त दोनों धारणाओं में कल्पिता साधन तथा अकल्पिता उसका फल है, इस अर्थ को कहते हैं—तत्रेति। तत्र कल्पितया-उक्त दोनों कल्पिता तथा अकल्पिता नामक धारणाओं में से जो कल्पिता नामक धारणा है उसके द्वारा योगी, अकल्पिताम् महाविदेहाम्-अकल्पिता जो महाविदेहा नामक धारणा है उसको, साधयन्ति-सिद्ध

परशरीराण्याविशन्ति योगिनः।

ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकर्मविपाकत्रयं रजस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति ॥ ४३ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥४४॥

करते हैं। अर्थात् कल्पिता साधन तथा अकल्पिता फल है। क्योंकि कल्पिता विदेहा धारणा सिद्ध होने के पश्चात् निरन्तर अभ्यास चालू रखने से अकल्पिता महाविदेहा धारणा सिद्ध होती है। यया–जिस (अकल्पिता महाविदेहा धारणा) के द्वारा, योगिनः–योगी पुरुष, चित्त के प्रचार द्वारा, परशरीराणि–अन्य के शरीर में, आविशन्ति–प्रवेश करते हैं। अर्थात् अन्य के शरीर में प्रवेश करके इच्छानुसार व्यवहार करते हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि, महाविदेहा का फल केवल परकायप्रवेश ही है अथवा अन्य भी ? इसका उत्तर देते हैं—ततश्चेति। ततश्च धारणातः–उस महाविदेहा धारणा से, प्रकाशात्मनः बुद्धिसत्त्वस्य–प्रकाशरूप बुद्धिसत्त्व के, यत्–जो, रजस्तमोमूलम्–रजस्तमोमूलक, क्लेशकर्मविपाकत्रयम्–क्लेश, कर्म, विपाकरूप तीन प्रकार का, आवरणम्–आवरण है, तस्य च क्षयः भवति–उसका क्षय भी होता है। कल्पनावृत्ति रूप कल्पिता देहसापेक्ष होने पर भी उसको विदेहा इस लिये कहते हैं कि, देहस्थ इन्द्रिय के विना उसका प्रचार बाह्य देश में होता है और अकल्पिता तो देहनिरपेक्ष है ही; अतः उसका महाविदेहा नाम यथार्थ ही है।

यद्यपि प्राकृत पुरुषों का चित्त भी शरीर में स्थित हुआ ही बाह्य देश में वृत्तिलाभ करता है तथापि इन्द्रिय-सन्निकर्ष के विना उनका चित्त बाह्य देश में वृत्तिलाभ नहीं कर सकता है और योगी का चित्त इन्द्रिय-सन्निकर्ष के विना ही स्वतन्त्र रूप से बाह्य देश में वृत्तिलाभ करता है। अतः प्राकृत पुरुषों की चित्तवृत्ति कल्पिता विदेहा धारणा नहीं; किन्तु योगियों की चित्तवृत्ति ही कल्पिता विदेहा धारणा कही जाती है।

यद्यपि सूत्रकार ने महाविदेहा का प्रकाशावरणक्षयरूप एक ही फल कहा है, तथापि भाष्यकार ने "यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः" इस वाक्य से इसका फल परकायप्रवेश भी कहा है। अतः महाविदेहा के परकायप्रवेश और प्रकाशावरणक्षय रूप दो फल निरूपण किये गए हैं। इति ॥ ४३ ॥

सम्प्रति सूत्रकार अणिमादि सिद्धियों का हेतुभूत जो भूतजय है उसके साधन का प्रतिपादन करते हैं—स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजय इति। स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात्–आकाशादि पञ्चभूतों के अवस्थाविशेष जो स्थूल-

तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहाकारादिभिर्धर्मैः स्थूल-शब्देन परिभाषिताः। एतद्भूतानां प्रथमं रूपम्।

स्वरूप, सूक्ष्म-अन्वय तथा अर्थवत्त्व हैं उनमें संयम करने से, भूतजयः-भूतजय संज्ञक सिद्धि प्राप्त होती है। भाष्य का व्याख्यान समाप्त होने के पश्चात् सूत्र का अर्थ विशेष स्पष्ट होगा।

भाष्यकार सूत्रगत स्थूल पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं—तत्रेति। तत्र-उनमें, पार्थिवाद्याः-पृथिवी आदि पञ्चभूतों में रहनेवाले, आकारादिभिः धर्मैः सह-निम्न-लिखित आकार आदि धर्मों के सहित जो, शब्दादयः विशेषाः-शब्दादि विशेष वे, स्थूलशब्देन परिभाषिताः-स्थूल शब्द से परिभाषित हैं अर्थात् योगियों के सङ्केत से सङ्केतित हैं। एतत्-यह स्थूल विशेष, भूतानाम्-पञ्चभूतों का, प्रथमं रूपम्-प्रथम रूप है। अर्थात्—

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च।
वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्ष्ण्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता॥

आकारः-अवयवों का सन्निवेश विशेष, गौरवम्-भारीपन, रौक्ष्यम्-रूखापन, वरणम्-आच्छादन (ढांकना), स्थैर्यम्-स्थिरता, वृत्तिः-सर्वभूताधारता, भेदः-विदारण, क्षमा-सहनशीलता, कार्ष्ण्यम्-कृष्णता, काठिन्यम्- कठिनता, सर्वभोग्यता-सर्व भोग्यता, ये एकादश धर्म पृथिवी के हैं।

स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च तत्।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः॥

स्नेहः-स्नेह, सौक्ष्म्यम्-सूक्ष्मता, प्रभा-प्रभा, शौक्ल्यम्-शुक्लता, मार्दवम्-मृदुता, गौरवम्-भारीपन, शैत्यम्-शीतता, रक्षा-रक्षण, पवित्रत्वम्-पवित्रता, संधानम्-संमेलन; चौदकाः गुणाः-ये दश धर्म जल के हैं।

ऊर्ध्वभाक् पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम्।
प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम्॥

ऊर्ध्वभाक्-ऊर्ध्वगमनशीलता, पाचकम्-पाचकता, दग्धृ-दाहकता, पावकम्-पवित्रता, लघु-लघुता, भास्वरम्- प्रकाशकता, प्रध्वंसि-प्रध्वंसनशील, ओजस्वि-बलशीलता, पूर्वाभ्याम् भिन्नलक्षणम् तेजः-पूर्व के पृथिवी तथा जल से भिन्न लक्षणवाला तेज (अग्नि) कहा जाता है अर्थात् ये आठ धर्म तेज के हैं।

तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम्।
चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः॥

तिर्यग्यानम्-टेढा चलना, पवित्रत्वम्-पवित्रता, आक्षेपः-आक्षेप अर्थात् गिराना नोदनम्-कम्पन, बलम्-सामर्थ्य, चलम्-चञ्चलता, अच्छायता-आच्छादन का,

द्वितीयं रूपं स्वसामान्यं मूर्तिर्भूमिः स्नेहो जलं वह्निरुष्णता वायुः प्रणामी सर्वतोगतिराकाश इत्येतत्स्वरूपशब्देनोच्यते । अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः ।

अभाव, रौक्ष्यम्–रूखापन; ये आठ, वायोः धर्माः पृथग्विधाः–पूर्व तीन से पृथक् वायु के धर्म हैं ।

सर्वतोगतिरव्यूहोऽविष्टम्भश्चेति ते त्रयः ।
आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वधर्मविलक्षणाः ॥

सर्वतः गतिः–व्यापक, अव्यूहः–विभाग करना, च–और, अविष्टम्भः–अवकाश प्रदान, इति ते त्रयः–ये तीन, पूर्वधर्मविलक्षणाः आकाशधर्माः व्याख्याताः–पूर्व के चारों के धर्म से विलक्षण आकाश के धर्म कहे गए हैं ।

पृथिवी का विशेष गन्ध, जल का विशेष रस, अग्नि का विशेष रूप, वायु का विशेष स्पर्श और आकाश का विशेष शब्द है । पूर्वोक्त आकारादि भूतधर्म के सहित गन्धादि विशेष पञ्चभूतों के स्थूल प्रथम रूप कहलाते हैं । यह भाष्य का स्पष्टीकरण है । सूत्रगत द्वितीय स्वरूप पद का व्याख्यान करते हैं—द्वितीयमिति । स्वसामान्यम्–पञ्चभूतों का जो स्वस्व-सामान्य धर्म है वह, द्वितीयम् रूपम्–पञ्चभूतों का स्वरूप नामक द्वितीय रूप समझना चाहिये । जैसे–मूर्त्तिः भूमिः–मूर्त्तिरूप भूमि है अर्थात् कठिनता धर्म पृथिवी का स्वरूप है, स्नेहः जलम्–स्नेह जल है अर्थात् स्नेह धर्म जल का स्वरूप है, वह्निः ऊष्णता–वह्नि उष्णता है अर्थात् उष्णता धर्म अग्नि का स्वरूप है, वायुः प्रणामी–वायु प्रणामी है अर्थात् बहनशीलता धर्म वायु का स्वरूप है, सर्वतः गतिः आकाशः–सर्व तरफ गतिवाला आकाश है अर्थात् सर्वत्र विद्यमानता रूप धर्म आकाश का स्वरूप है, इति एतत् स्वरूपशब्देन उच्यते–ये यथोक्त पञ्चभूतों के काठिन्यादि धर्म स्वरूप शब्द से कहे जाते हैं । अस्य सामान्यस्य–इस सामान्य के, शब्दादयः विशेषाः–शब्दादि विशेष हैं अर्थात् उक्त काठिन्यादि सामान्य धर्मवाले पृथिव्यादिकों के परस्पर भेद करानेवाले शब्दादिक हैं । अतः शब्दादि विशेष कहे जाते हैं ।

भाव यह है कि-आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस तथा पृथिवी का गन्ध विशेष धर्म है । जो-जो विशेष धर्म जिस-जिस भूतों में है वह अन्य में न होने से अन्य से भिन्न है । जैसे आकाश वायु आदि से भिन्न है, शब्दरूप विशेष धर्मवाला होने से । इसी प्रकार अन्य भूतों में भेद समझना चाहिये । अतः शब्दादि विशेष रूप से भूतों के व्यावर्तक होने से विशेष कहे जाते हैं । इस अर्थ में

तथा चोक्तम्—एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति। सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यं द्रष्टव्यम्।

द्विष्ठो हि समूहः प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति। शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूह उभये देवमनुष्याः। समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागः। ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः।

महर्षि पञ्चशिखाचार्य का वचन प्रमाण देते हैं—तथेति। तथा चोक्तम्-ऐसा ही महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है—एकजातिसमन्वितानाम्-एक एक धर्म से युक्त, एषाम्-इन भूतों की, धर्ममात्रव्यावृत्तिः इति-अपने-अपने शब्दादि धर्म मात्र से व्यावृत्ति (भेद) होती है। जैसे आकाशादि पञ्चभूतों के परस्पर भेदक शब्दादि विशेष हैं। वैसे ही द्राक्षा, जम्बीर, पनस, आदि भिन्न-भिन्न प्रकार फलरूप पृथिवी के परस्पर भेदक मधुर, अम्ल आदि भिन्न-भिन्न रसविशेष समझना चाहिये।

पृथिव्यादि द्रव्य हैं और काठिन्यादि सामान्य तथा शब्दादि विशेष उनके स्वरूप हैं यह कहा गया। इस पर नैयायिक प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं कि—उक्त सामान्य-विशेष का आश्रय द्रव्य कहा जाता है तो स्वरूप कैसे? इसका उत्तर देने के लिये स्वाभिमत द्रव्य का स्वरूप दिखाते हैं—सामान्येति। अत्र-इस सांख्ययोग मत में, सामान्यविशेषसमुदायः—सामान्यविशेष का जो समुदाय है वह, द्रव्यम् द्रष्टव्यम्-द्रव्य समझना चाहिये। अर्थात् सामान्यविशेष के आश्रय को नहीं किन्तु सामान्य-विशेष के समूह को द्रव्य समझना चाहिये। जिसका उक्त सामान्यविशेष स्वरूप है। हि-क्योंकि, द्विष्ठः समूहः-'द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां तिष्ठतीति द्विष्ठः' इस व्युत्पत्ति से दो प्रकार के समूह होते हैं। एक, प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः-प्रत्यस्तमितभेदावयवा-नुगत अर्थात् अवान्तर विभाग बोधक शब्द-उच्चारण से जिन अवयवों का अवान्तर विभाग नहीं बोधन किया है उन अवयवों में अनुगत (रहा हुआ) समूह रूप द्रव्य होता है। जैसे-शरीरम् वृक्षः यूथम् वनम् इति-यह शरीर है, यह वृक्ष है, यह यूथ है तथा यह वन है, इत्यादि और दूसरा, शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः-शब्द से उपात्तभेदावयवानुगत अर्थात् अवान्तर विभाग-बोधक शब्द-उच्चारण से जिन अवयवों का अवान्तर विभाग बोधन किया है उन अवयवों में अनुगत, समूहः-समुदाय रूप द्रव्य होता है जैसे-उभये देवमनुष्याः-दो अवयववाला यह देवमनुष्यों का समुदाय है। यहां पर, "उभये देवमनुष्याः" इसमें समूहस्य-उक्त समूह का, देवाः एको भागः-देवसमुदाय एक अवयव और, मनुष्याः द्वितीयो भागः-मनुष्य समुदाय दूसरा अवयव है। ताभ्याम् एव-इन दोनों ही अवयव बोधक शब्द से, समूहः-एक समुदाय कहा जाता है।

स च भेदाभेदविवक्षितः । आम्राणां वनं ब्राह्मणानां संघ आम्रवनं ब्राह्मणसंघ इति ।

स पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च । युतसिद्धावयवः

भाव यह है कि–दो समूह का बना हुआ जो एक समूह वह उभय शब्द का अर्थ है। "उभये" शब्द श्रवण से यह प्रश्न होता है कि–कौन दो समूहों का बना हुआ यह एक समूह है? तो इसका उत्तर है "देवमनुष्याः" अर्थात् देवों का और मनुष्यों का बना हुआ यह एक समूह है। यहां पर देवमनुष्यों के समूह में एक अवयव देव-समुदाय और दूसरा मनुष्य-समुदाय है। अतः यहां पर अवान्तर अवयवों का विभाग बोधक देवमनुष्य शब्द के उच्चारण से देवमनुष्य अवयवों का अवान्तर विभाग बोधन किया गया है। अतः यह शब्देनोपात्तभेदावयवानुगत समुदायरूप द्रव्य कहा जाता है और "शरीरम्" "वृक्षः" "यूथम्" "वनम्" "अर्थात् यह शरीर है' "यह वृक्ष है" "यह यूथ है" तथा "यह वन है" ऐसा कहने पर शब्द से करचरणादि अवयवों का अवान्तर विभाग नहीं प्रतीत होता है। अतः यह प्रत्यस्तमितभेदावयवा-नुगत समुदायरूप द्रव्य कहा जाता है।

सारांश यह है कि, सांख्ययोगमत में अवयव-अवयवी का तथा धर्म-धर्मी का अभेद माना जाता है। अतः जैसे शरीर वृक्षादि रूप द्रव्यों का करचरणादि रूप अवयव स्वरूप ही है एवं देवमनुष्य रूप द्रव्य का देवसमुदाय रूप अवयव और मनुष्यसमु-दायरूप अवयव देवमनुष्यरूप समूह द्रव्य का स्वरूप ही है, वैसे ही पृथिव्यादि भूत द्रव्यों का काठिन्य शब्दादि सामान्यविशेषस्वरूप है।

उक्त दो प्रकार के समूह के अन्य दो भेद कहते हैं—स चेति। च–और, सः–वह द्रव्य रूप समूह, भेदाभेदविवक्षितः–भेद तथा अभेद दो प्रकार से विवक्षित है। जैसे—"आम्राणाम् वनम्" यह कहने से 'आम्रवृक्षों का वन, "ब्राह्मणानाम् संघः" यह कहने से 'ब्राह्मणों का संघ'। यहां पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से भेद रूप से विवक्षित एवं "आम्रवनम्" "ब्राह्मणसंघः" यह कहने से "आम्राश्च ते वनञ्च आम्र-वनम्" "ब्राह्मणाश्च ते संघश्च ब्राह्मणसंघः" इस प्रकार कर्मधारय समास से अभेद रूप से विवक्षित हैं। अर्थात् समूह-समूही में अभेदविवक्षा करके समानाधिकरण प्रयोग किया गया है। अतः यथोक्त समूह भेद तथा अभेद विवक्षा से दो प्रकार का है, यह सिद्ध हुआ।

और भी उक्त समूह का द्वैविध्य प्रतिपादन करते हैं—स पुनरिति। पुनः—और भी, सः–वह समूह, द्विविधः–दो प्रकार का है, युतसिद्धावयवः च अयुत-सिद्धावयवः—युतसिद्धावयव समूह और अयुतसिद्धावयव समूह अर्थात् पृथक्-पृथक् अवयववाला समूह और सम्मिलित अवयववाला समूह, उनमें, युतसिद्धावयवः

समूहो वनं संघ इति । अयुतसिद्धावयवः संघातः शरीरं वृक्षं परमाणुरिति ।

अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः । एतत्स्वरूपमित्युक्तम् । अथ किमेषां सूक्ष्मरूपम् । तन्मात्रं भूतकारणं, तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इत्येवं सर्वतन्मात्राण्येतत्तृतीयम् ।

समूहः—युतसिद्धावयव समूह, जैसे—"वनम्" यह वन है, "संघः" यह संघ है, इति—इत्यादि । यहां पर वन के अवयव वृक्ष तथा संघ के अवयव गौएं पृथक्-पृथक् प्रतीत होती हैं और अयुतसिद्धावयवः सङ्घातः- अयुतसिद्धावयव समूह, जैसे—"शरीरम्" यह शरीर है, "वृक्षः" यह वृक्ष है, "परमाणुः" यह परमाणु है, इति—इत्यादि । यहां पर शरीर के अवयव करचरणादि, वृक्ष के अवयव शाखा-पत्रादि तथा तन्मात्र का कारण परमाणु के अवयव भी पृथक्-पृथक् नहीं; किन्तु मिले हुए प्रतीत होते हैं । (योगमत में परमाणु सावयव माने गए हैं ।) इस प्रकार युतसिद्धावयव तथा अयुतसिद्धावयव के भेद से दो प्रकार के समूह सिद्ध हुए ।

इन समूहों में द्रव्यरूपता का निर्धारण करते हैं— अयुतेति । अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहः-उक्त दोनों प्रकार के समूहों में से जो अयुतसिद्धावयव 'भेदानुगत समूह है वह, द्रव्यम्-द्रव्य है । अर्थात् संमिलित प्रतीति का विषय ही द्रव्य है, इति-यह, पतञ्जलिः-भगवान् पतञ्जलि मुनि कहते हैं । अतः अवयव का अवयवी स्वरूप ही है, यह सिद्ध हुआ ।

इस प्रकार प्रासंगिक द्रव्य का व्युत्पादन करके प्रकृत विषय का उपसंहार करते हैं—एतदिति । एतत्-यही भूतों का द्वितीय सामान्य रूप, स्वरूपम् इति-सूत्रगत स्वरूप शब्द से, उक्तम्-कहा गया है । उक्त पञ्चभूतों के तृतीयरूप का व्याख्यान करने की इच्छा से प्रश्न उपस्थित करते हैं—अथेति । अथ-द्वितीय रूप के व्याख्यान करने के अनन्तर प्रश्न होता है कि, एषाम्-इन पञ्चभूतों का, सूक्ष्मरूपम् किम्-सूक्ष्म रूप क्या है कि, जिसमें संयम करने से भूतजय रूप सिद्धि प्राप्त होती है ? उत्तर देते हैं— तन्मात्रमिति । तन्मात्रम् भूतकारणम्-पञ्चतन्मात्र पञ्चभूतों का कारण है, तस्य एकः अवयवः परमाणुः-उसका एक अवयव परमाणु है जो पूर्वोक्त, सामान्यविशेषात्मा-सामान्यविशेषरूप एवं, अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः-अयुतसिद्धावयवभेदानुगत, समुदायः-समूह है, इति एवम्-इस प्रकार, सर्वतन्मात्राणि-सर्व तन्मात्राओं को समझना चाहिये, एतत् तृतीयम्-यह पञ्चतन्मात्रा पञ्चभूतों का तृतीय सूक्ष्म रूप है ।

अथ भूतानां चतुर्थं रूपं ख्यातिक्रियास्थितिशीला गुणाः कार्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः। अथैषां पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वम्। भोगापवर्गार्थता गुणेष्वेवान्वयिनी, गुणाः तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत्। तेष्विदानीं भूतेषु पञ्चसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं

भूतों के अन्वय नामक चतुर्थ रूप का व्याख्यान करते हैं—अथेति। अथ–इसके पश्चात्, भूतानाम्-पञ्चभूतों का, चतुर्थम् रूपम्–चतुर्थ रूप जो, ख्यातिक्रियास्थितिशीलाः गुणाः–ख्यातिशील (प्रकाशशील), क्रियाशील तथा स्थितिशील क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण हैं वे, कार्यस्वभावानुपातिनः-सकल कार्यों में अनुगत होने से, अन्वयशब्देन–अन्वयशब्द से उक्ताः–कहे गए हैं। अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण का सर्वभूतों में तथा भूतकार्यों में अन्वय होने से वे भूतों के अन्वयात्मक चतुर्थ रूप कहे जाते हैं।

क्रमप्राप्त भूतों के पञ्चम रूप का विवरण करते हैं—अथेति। अथ–और, एषाम्–इन पञ्चभूतों के, पञ्चमं रूपम्-पञ्चम रूप, अर्थवत्त्वम्-अर्थवत्त्व नामक है। अर्थात् अर्थ नाम प्रयोजन का है। पुरुष के लिये भोग तथा अपवर्ग सम्पादन करना पञ्चभूतों का प्रयोजन है। अतः पुरुष के भोग तथा अपवर्ग सम्पादन करने का जो भूतों में सामर्थ्यविशेष वह भूतों का अर्थवत्ता नामक पंचम रूप कहा जाता है।

शङ्का होती है कि-पुरुष के लिये भोगापवर्ग सम्पादन करने का सामर्थ्य तो सत्त्वादि गुणों में ही है तो भूतों में अर्थवत्ता कैसे? इसका उत्तर देते हैं—भोगेति। भोगापवर्गार्थता–पुरुष के लिये भोग तथा अपवर्ग का सम्पादन रूप प्रयोजनता यद्यपि, गुणेषु एव अन्वयिनी–सत्त्वादि गुणों में ही अनुगत है तथापि, गुणाः–सत्त्वादि गुण, तन्मात्रभूतभौतिकेषु–तन्मात्र पृथिव्यादि भूत तथा घटादिभौतिक निखिल पदार्थों में अनुगत हैं, इति–अतः, सर्वम् अर्थवत्–सब भूत भौतिक पदार्थ प्रयोजनरूप अर्थवाले हैं।

भाव यह है कि–यद्यपि पुरुष के लिये भोग तथा अपवर्ग सम्पादन करने का सामर्थ्यविशेष त्रिगुणात्मक प्रकृति में ही है तथापि वह (त्रिगुणात्मक प्रकृति) तन्मात्रा से लेकर भूतभौतिक निखिल पदार्थों में अनुगत है। अतः सर्व पदार्थ अर्थवत् होने से भूतों में भी अर्थवत्तात्मक पञ्चम रूप विद्यमान है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार संयम के विषय का प्रतिपादन करके संप्रति संयम तथा संयम के फल का प्रतिपादन करते हैं—तेष्विति। तेषु इदानीम् पञ्चसु भूतेषु–उन अभी हाल में उत्पन्न स्थूल पञ्चभूतों में तथा, पञ्चरूपेषु–भूतों में रहे हुए उक्त स्थूलादि पञ्च रूपों में, रहे हुए उक्त स्थूलादि पञ्च रूपों में, संयमात्–संयम करने से, तस्य तस्य रूपस्य–

जयश्च प्रादुर्भवति ।

तत्र पञ्च भूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयो भवति । तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति ॥४४॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

उस उस रूप के, स्वरूपदर्शनं च जयः–स्वरूपसाक्षात्कार तथा जय, प्रादुर्भवति–प्रादुर्भूत होता है। अर्थात् उक्त पञ्चभूतों में और पञ्चभूतों के उक्त स्थूलादि पञ्चरूपों में संयम करने से योगी को यथार्थ ज्ञान और भूतजय रूप सिद्धि प्राप्त होती है।

यद्यपि सूत्रकार ने भूतविषयक संयम नहीं कहा है किन्तु केवल भूतों के रूपविषयक ही संयम कहा है तथापि भूतविषयक संयम के विना केवल रूपविषयक संयम से भूतजय रूप फल कथन करना युक्तिसंगत नहीं; किन्तु यद्विषयक संयम उसीका जय रूप फल कथन करना युक्तिसंगत है। अतः भाष्यकर ने भूतजय के लिये भूतसंयम का भी निरूपण किया है।

क्रम का निदर्शन करते हैं—तत्रेति। तत्र–उन दोनों में प्रथम, पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा–पञ्च भूतों के स्वरूप का संयम द्वारा जय प्राप्त करके पश्चात् योगी, भूतजयी भवति–भूतजयी होता है। उसमें उदाहरण देते हैं—तज्जयादिति। तज्जयात्–भूतजय होने से अर्थात् उक्त संयम द्वारा भूतों को स्वाधीन कर लेने से, वत्सानुसारिण्यः गावः इव–वत्सानुसारी गौवों के जैसा, भूतप्रकृतयः–निखिल भूतों को प्रकृतियां, अस्य–इस योगी के, संकल्पानुसारिण्यः–संकल्पानुसारी, भवन्ति–हो जाती है। अर्थात् भूतों का स्वभाव योगी के संकल्पानुसार हो जाता है। इति ॥४४॥

इस प्रकार भूतों का स्वभाव योगी के संकल्पानुसार हो जाने के पश्चात् आगे उक्त पंचरूपों में से किस किस रूप विषयक संयम से कौन कौनसी सिद्धियां प्राप्त होती हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर सूत्रकार कहते हैं—ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्चेति। ततः–भूतजय होने से अर्थात् भूतों का स्वभाव योगी के संकल्पानुसार हो जाने से, अणिमादिप्रादुर्भावः–अणिमा, लघिमा आदि अष्ट सिद्धियां का प्रादुर्भाव होता है, कायसम्पत्–शरीर भी दर्शनीय कान्तियुक्त अतिशय बलयुक्त तथा वज्रसमान दृढ होता है, च–और, तद्धर्मानभिघातः–भूतधर्मों के द्वारा अभिघात का अभाव होता है।

तत्राणिमा भवत्यणुः। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान्भवति प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यमिच्छानभिघातः। भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके। वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी

गत सूत्र में पंचभूतों के स्थूलादि पंचरूप कहे गए हैं। उनमें स्थूल संयमजय से अणिमादि चार सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इसको भाष्यकार कहते हैं—तत्रेति। तत्र-अणिमादि अष्ट सिद्धियों में प्रथम, अणिमा-अणिमा नामक सिद्धि वह कहलाती है कि, जिसकी प्राप्ति होने पर महत्परिमाणवाला भी योगी, अणुः भवति--अणुपरिमाण-वाला हो जाता है। लघिमा लघुर्भवति। लघिमा-लघिमा नामक सिद्धि वह कह-लाती है कि, जिसकी प्राप्ति होने से योगी, लघुः भवति-तृणादि के समान आकाश में भ्रमण करने योग्य लघु हो जाता है। महिमा महान् भवति। महिमा-महिमा नामक सिद्धि वह कहलाती है कि, जिसकी प्राप्ति होने पर अणुपरिमाणवाला भी योगी, महान् भवति-नाग-नग-नगर के समान महत्परिमाणवाला हो जाता है। प्राप्तिरङ्गु-ल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राप्तिः-प्राप्ति नामक सिद्धि वह कहलाती है कि, जिसकी प्राप्ति होने पर योगी पृथिवी पर स्थित हुआ ही, अङ्गुल्यग्रेण-अंगुलि के अग्र-भाग से, चन्द्रमसम् अपि स्पृशति-चन्द्र को भी स्पर्श कर सकता है।

स्वरूपसंयमजय से जो सिद्धि प्राप्त होती है उसको कहते हैं—प्राकाम्यमिति। प्राकाम्यम्-प्राकाम्य नामक सिद्धि वह कहलाती है कि, जिसकी प्राप्ति होने पर योगी की, इच्छानभिघातः-इच्छा का अनभिघात होता है। अर्थात् प्राकाम्य सिद्धि के प्रभाव से योगी जो कुछ चाहता है वह सब प्राप्त होता है। यथा उदके-जैसे जल में उन्मज्जन तथा निमज्जन करता है वैसे ही, भूमौ-भूमि में, उन्मज्जति-उन्मज्जन करता है तथा, निमज्जति-निमज्जन करता है। भाव यह है कि, जैसे प्राकृतिक पुरुष जल को उद्भेदन करके उसमें से बाहर निकल आता है, वैसे ही योगी पृथिवी को उद्भेदन करके उसमें से बाहर निकल आता है एवं जैसे जल में गोता लगाता है, वैसे ही पृथिवी में भी गोता लगाने के समान प्रवेश कर जाता है।

सूक्ष्म रूपविषयक संयमजय से जो सिद्धि प्राप्त होती है उसको कहते हैं—वशित्व-मिति। वशित्वम्-वशित्व नामक सिद्धि वह कहलाती है कि, जिसकी प्राप्ति होने पर योगी, भूतभौतिकेषु-भूत-पृथिव्यादि तथा भौतिक गोघटादि सकल पदार्थों में, वशी भवति-स्वतन्त्र हो जाता है। अर्थात् सर्व पदार्थ इस योगी के अधीन हो जाते हैं, च-और, यह योगी स्वयं, अन्येषाम्-अन्य भूतभौतिक पदार्थों के, अवश्यः-अवश्य अर्थात् अपराधीन हो जाता है। अर्थात् यह योगी अन्य को तो अपने वश में कर लेता है, पर आप किसी के वश में नहीं रहता है।

भवत्यवश्यश्चान्येषाम् । ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे ।

यत्र कामावसायित्वं सत्यसंकल्पता तथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम् । न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति ।

कस्मात् । अन्यस्य यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा भूतेषु

अन्वयात्मक रूपविषयक संयम जय से जो सिद्धि प्राप्त होती है उसको कहते हैं— ईशितृत्वमिति । ईशितृत्वम्–ईशितृत्व नामक सिद्धि वह कहलाती है कि, जिसकी होने पर योगी, तेषाम् प्रभवाप्ययव्यूहानाम्–उक्त उत्पत्ति, स्थिति तथा लय धर्मवाले भूतभौतिक पदार्थों के करने में, ईष्टे–समर्थ हो जाता है । अर्थात् ईशितृत्व नाम ईश्वरत्व का है । जब योगी को यह ईश्वरत्व नामक सिद्धि प्राप्त होती है तब वह ईश्वर के समान होता हुआ मूल प्रकृति को अपने वश में करके निखिल पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार रूप कार्य करने में समर्थ हो जाता है । जैसे विश्वामित्र, जिन्होंने त्रिशङ्कु के लिये अलग स्वर्ग रचा था ।

अर्थवत्त्वात्मक रूपविषयक संयमजय से जो सिद्धि प्राप्त होती है उसको कहते हैं— यत्रेति । यत्र कामावसायित्वम् सत्यसंकल्पता–साङ्केतिक यत्र कामावसायित्व नामक सिद्धि सत्यसंकल्पता कहलाती है, यथा संकल्पः–जैसा इस योगी का संकल्प होता है, तथा भूतप्रकृतीनाम् अवस्थानम्–वैसा ही भूतों के स्वभाव का अवस्थान हो जाता है । अर्थात् भूतों के अर्थवत्त्व नामक रूप का संयम द्वारा जय होने पर जिस जिस पदार्थ में जिस जिस प्रयोजन के लिये जो जो संकल्प योगी करता है उस उस पदार्थ की शक्ति का विपर्यास वैसा ही हो जाता है । इसके प्रभाव से यदि योगी चाहे तो अमृत के स्थान में विषभोजन कराकर पुरुष को जीवित कर सकता है ।

इस पर शङ्का होती है कि-जैसे योगी पदार्थ की शक्ति का विपर्यास करता है, वैसे ही पदार्थ का विपर्यास भी क्यों नहीं करता है ? । अर्थात् सूर्य को चन्द्र तथा चन्द्र को सूर्य एवं शुक्लपक्ष को कृष्णपक्ष तथा कृष्णपक्ष को शुक्लपक्ष क्यों नहीं करता है ? । इसका उत्तर देते हैं— न चेति । शक्तः अपि–इस अवस्था में योगी पदार्थ की शक्ति का विपर्यास करने में समर्थ है तो भी, पदार्थविपर्यासम् न च करोति– पदार्थ का विपर्यास नहीं करता है । अर्थात् विष में जो मारने की शक्ति है और अमृत में जो जिलाने की शक्ति है उसका तो योगी विपर्यास कर देता है; परन्तु विष को अमृत और अमृत को विष एवं चन्द्र को सूर्य और सूर्य को चन्द्र आदि नहीं करता है । प्रश्न होता है—कस्मात्–शक्ति होने पर भी योगी पदार्थ का विपर्यास क्यों नहीं करता है ? इसका उत्तर देते हैं—यत्र–जिस पदार्थ में, अन्यस्य पूर्वसिद्धस्य कामावसायिनः– योगी से अन्य-योग के विना ही पूर्वसिद्ध-तथा कामावसायी (सत्यसंकल्प) जो परमे-

संकल्पादिति । एतान्यष्टावैश्वर्याणि ।

कायसंपद्वक्ष्यमाणा । तद्धर्मानभिघातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां, शिलामप्यनुविशतीति । नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति । नाग्निरुष्णो दहति । न वायुः प्रणामी वहति । अनावरणात्म-

---

श्वर है उसका तथा, भूतेषु संकल्पात्–इसी प्रकार का संकल्प होने से, अर्थात् पदार्थ नित्यसिद्ध परमेश्वर के-सूर्य सूर्य ही रहे, चन्द्र नहीं; चन्द्र चन्द्र ही रहे, सूर्य नहीं;-इस प्रकार के संकल्प से-नियत है । अतः पदार्थों का विपर्यास होना परमेश्वर के संकल्प से विरुद्ध है । अत एव उसका विपर्यास योगी नहीं कर सकता है और पदार्थों की शक्ति पदार्थों में परमेश्वर के संकल्प से नियत नही किन्तु; जाति-देशकाल तथा अवस्थाभेद से अनियत है । अतः उसका विपर्यास होना परमेश्वर के संकल्प से विरुद्ध नही । अत एव उसका विपर्यास योगी कर सकता है । पूर्व ईशितृत्व सिद्धि का फल पदार्थों की उत्पत्ति कही गई है और यहां पदार्थों के विपर्यास का निषेध कर रहे हैं, अतः विरोध नहीं ।

प्रथम सिद्धि का उपसंहार करते हैं—एतानीति । एतानि अष्टौ ऐश्वर्याणि–ये अणिमादि आठ प्रकार की सिद्धियां भूतजय के फल रूप ऐश्वर्य कही जाती हैं । कायसंपत् किसे कहते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—कायसंपदिति । कायसंपत्—कायसंपत् नामक सिद्धि, वक्ष्यमाणा–वक्ष्यमाण है अर्थात् स्वयं सूत्रकार कायसंपत् का व्याख्यान अग्रिम सूत्र से करनेवाले हैं । अतः यहां उसका व्याख्यान नहीं किया जाता है ।

क्रमप्राप्त भूतजय का तद्धर्मानभिघातरूप फल कथन करते हैं—तदिति । च–और, तद्धर्मानभिघातः-तद्धर्मानभिघात नामक सिद्धि वह कहलाती है कि, जिनकी प्राप्ति होने पर, पृथ्वी–पृथिवी अपने, मूर्त्या–कठिनता रूप धर्मद्वारा, योगिनः–योगी की, शरीरादिक्रियाम्–शरीरादि क्रिया को, न निरुणद्धि–रोक नहीं सकती है । इसका विशेष विवरण करते हैं—शिलामिति । शिलाम् अपि–उक्त सिद्धि के प्रभाव से योगी शिला (पत्थर) के भीतर भी, अनुविशति इति–प्रवेश कर सकता है । नाप इति । स्निग्धाः आपः–स्नेहयुक्त जल है तो भी योगी के शरीर को, न क्लेदयन्ति–आर्द्र नहीं कर सकता है । नाग्निरिति । उष्णः अग्निः–उष्णस्पर्शवाला अग्नि है तो भी योगी के शरीर को, न दहति–दाह नहीं कर सकता है । न वायुरिति । प्रणामी वायुः–नित्य निरन्तर वहनशील वायु है तो भी योगी के शरीर को, न वहति–कम्पायमान नहीं कर सकता है । अनावरणक इति । अनावरणात्मके अपि

केऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ॥ ४५ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥

दर्शनीयः कान्तिमानतिशयबलो वज्रसंहननश्चेति ॥ ४६ ॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

आकाशे–अनावरण रूप आकाश है तो भी उसमें योगी इस प्रकार, आवृतकायः भवति–आवृतकाय हो जाता है कि, सिद्धानाम् अपि अदृश्यः भवति–सिद्ध पुरुषों को भी अदृश्य हो जाता है। अर्थात् खुला आकाश में स्थित योगी को भी कोई देख नहीं सकता है।

यद्यपि अणिमादि अष्ट सिद्धि के अन्तर्गत प्राकाम्य नामक सिद्धि है। उसीमें इस तद्धर्मानभिघात रूप सिद्धि का अन्तर्भाव हो सकता है। अतः इसका पृथक् उपादान व्यर्थ प्रतीत होता है तथापि कार्यसिद्धि के समान इस सूत्र में पठित सकल विषय संयम को फलवत्त्व बोधन करने के लिये पृथक् उपादान किया गया है, अतः पुनरुक्ति नहीं। इति ॥ ४५ ॥

गत सूत्र में पठित उक्त कायसंपत् नामक सिद्धि का व्याख्यान सूत्रकार स्वयं करते हैं—रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपदिति। रूपलावण्यबलवज्र-संहननत्वानि–रूप, लावण्य, बल तथा वज्रसंहनन की प्राप्ति, कायसंपत्–कायसिद्धि कहलाती है। अर्थात् कायसंपत् नामक सिद्धि वह कहलाती है कि, जिसकी प्राप्ति होने पर योगी का शरीर-दर्शनीय रूपवाला, कान्तिवाला, बलवाला तथा वज्रसदृश दृढ अव-यववाला हो जाता है।

भाष्यकार संक्षेप में सूत्र का भाव व्यक्त करते हैं—दर्शनीय इति–उक्त भूतजय प्राप्त होने के पश्चात् योगी का शरीर, दर्शनीयः–दर्शनीयरूपवान्, कान्तिमान्–कान्ति-युक्त, अतिशयबलः–अति बलयुक्त, च–और, वज्रसंहननः–वज्रसदृश दृढ अवयव-वाला हो जाता है। यह कायसंपत् अर्थात् कायसिद्धि भूतजय का फल है। इति ॥४६॥

इस प्रकार फल सहित भूतजय के उपायभूत संयम का निरूपण करके संप्रति इन्द्रियजय के उपायभूत संयम का निरूपण सूत्रकार करते हैं—ग्रहणस्वरूपास्मिता-न्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजय इति। ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात्–ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्त्व इन पांच इन्द्रिय के रूपों में संयम करने से, इन्द्रियजयः—इन्द्रियजय रूप फल प्राप्त होता है। अर्थात् जैसे भूतों के रूप स्थूलादि हैं, अतः स्थूलादि में संयम करने से भूतजय प्राप्त होता है। वैसे ही इन्द्रियों के रूप ग्रहणादि हैं, अतः ग्रहणादि में संयम करने से इन्द्रियजय प्राप्त होता है। अर्थात् सर्व इन्द्रिय योगी के वशीभूत हो जाते हैं।

सामान्यविशेषात्मा शब्दादिर्ग्राह्यः। तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रहणम्। न च तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारम्। कथमनालोचितः स विषयविशेष इन्द्रियेण मनसा वानुव्यवसीयेतेति।

ग्रहणनिरूपण ग्राह्यनिरूपण के अधीन होने से भाष्यकार ग्राह्यनिरूपण पूर्वक ग्रहणनिरूपण करते हैं— सामान्येति। सामान्यविशेषात्मा–धर्मधर्मिरूप, शब्दादिः शब्दादि तथा घटादि विषय, ग्राह्यः-ग्राह्य कहा जाता है और, तेषु–उन (शब्दादि तथा घटादि रूप ग्राह्य विषयों) में जो, इन्द्रियाणाम् वृत्तिः—इन्द्रियों की वृत्ति वह, ग्रहणम्—ग्रहण कही जाती है; अर्थात् वृत्ति के विषय ग्राह्य और विषयाकार वृत्ति ग्रहण कही जाती है। यही ग्रहण रूप वृत्ति इन्द्रिया का प्रथमरूप है, जिसमें संयम करने से इन्द्रियजय प्राप्त होता है।

यहां पर सामान्य जो शब्दत्वादि तथा घटत्वादि धर्म है वह तो इन्द्रियजन्य वृत्ति का विषय है और विशेष जो शब्दादि तथा घटादि धर्मी हैं वह इन्द्रियजन्य वृत्ति का विषय नहीं, किन्तु मन का विषय है, ऐसा बौद्ध लोग कहते हैं। इसका खण्डन प्रसंगवश भाष्यकार करते हैं—न चेति। तत्—वह ग्रहणरूप इन्द्रियों की वृत्ति, सामान्यमात्रग्रहणाकारम् न च–केवल सामान्य विषयक नहीं अर्थात् केवल धर्ममात्र का ही विषय करनेवाली नहीं, किन्तु विशेष जो धर्मी तद्विषयक भी है। अर्थात् ग्रहण रूप इन्द्रियों की जो वृत्ति यह केवल धर्म को ही विषय नहीं करती है, किन्तु धर्म तथा धर्मी दोनों को विषय करती है। अन्यथा, अनालोचितः-इन्द्रियवृत्ति के अविषयीभूत जो विषयविशेषः-शब्दादि तथा घटादि विषयविशेष, सः-वह, इन्द्रियेण मनसा वा—इन्द्रिय अथवा मन से, कथम्–कैसे, अनुव्यवसायेत–निश्चय किया जायगा; अर्थात् यदि इन्द्रियवृत्ति का विषय घटादि धर्मी नहीं माना जायगा तो उस धर्मी का अनुभव सिद्ध अनुव्यवसाय रूप ज्ञान इन्द्रिय अथवा मन से कैसे होगा?

भाव यह है कि-इन्द्रिय केवल सामान्य विषयक ही नहीं, किन्तु सामान्य, विशेष उभय-विषयक है। क्योंकि, बाह्य-इन्द्रिय के अधीन ही मन बाह्य विषयों में प्रवृत्त होता है, स्वतन्त्र नहीं। अन्यथा, अन्ध बधिरादि का अभाव प्रसंग हो जायगा। क्योंकि चक्षु श्रोत्रादि बाह्य-इन्द्रिय के बिना ही जब मनोमात्र से रूपशब्दादि सर्व विषय विशेष का ज्ञान हो ही जायगा, तो वह अन्ध-बधिर किस कारण से कहा जायगा? तस्मात् यदि इन्द्रिय घटादि विशेष विषयक भी नहीं माना जायगा तो इन्द्रिय के अविषय घटादि विशेष विषयक का मन से अनुव्यवसाय अर्थात् जिसको पौरुषेय बोध कहते हैं वह कैसे होगा। अर्थात् नहीं होगा। अतः इन्द्रिय सामान्य विशेष उभय विषयक है, यह सिद्ध हुआ।

स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम्। तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहंकारः। तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः।

चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकाः। प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा

इस प्रकार इन्द्रियों के प्रथम रूप का निरूपण करके संप्रति द्वितीय रूप का निरूपण करते हैं—स्वरूपमिति। पुनः-और, प्रकाशात्मनः बुद्धिसत्त्वस्य–प्रकाशरूप महत्तत्त्व का परिणाम जो. अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः–अयुतसिद्ध अवयव रूप सात्त्विक अहंकार उसमें कार्यरूप से अनुगत जो, सामान्यविशेषयोः समूहः द्रव्यम्–सामान्य विशेष (कारणत्व और नियत रूपादि विषयत्व) का समूह रूप द्रव्यविशेष यह, इन्द्रियम्-इन्द्रिय कहा जाता है और वही, स्वरूपम्–इन्द्रियों का स्वरूप है अर्थात् इन्द्रियों का स्वरूप नामक द्वितीय रूप है। भाव यह है कि–प्रकाशरूप बुद्धि का कार्य प्रकाशरूप अहंकार और प्रकाशरूप अहंकार का कार्य प्रकाश रूप इन्द्रिय, यही इन्द्रियों का स्वरूप नामक द्वितीय रूप है। इसी में संयम करने से इन्द्रियजय प्राप्त होता है।

संप्रति इन्द्रियों के तृतीय रूप का निरूपण करते हैं–तेषामिति। अहङ्कारः–इन्द्रिय का कारण जो अहङ्कार है वह, तेषाम्–उन इन्द्रियों का, अस्मितालक्षणः तृतीयम् रूपम्–अस्मिता नामक तृतीय रूप कहा जाता है। तस्य सामान्यस्य–उस सामान्य रूप अहङ्कार का, इन्द्रियाणि विशेषाः–इन्द्रियां विशेष कही जाती हैं। अर्थात् अहङ्कार सामान्य और इन्द्रियां उसकी विशेष कही जाती हैं। भाव यह है कि-अहङ्कार इन्द्रियों का कारण है; अतः जहां जहां इन्द्रियां हैं वहां वहां वह अवश्य रहता है। अत एव सर्व इन्द्रियां साधारण होने से वह सामान्य और इन्द्रिय उसका विशेष कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, अहङ्कार ही इन्द्रियों का अस्मिता नामक तृतीय रूप है। उसमें संयम करने से इन्द्रियजय प्राप्त होता है।

संप्रति इन्द्रयों के चतुर्थ रूप का निरूपण करते हैं—चतुर्थमिति। व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणाः–व्यवसायरूप महत्तत्त्वाकार से परिणत जो प्रकाश, क्रिया, स्थितिशील सत्त्वादि गुण हैं, येषाम्–जिनका, साहङ्काराणि इन्द्रियाणि–अहङ्कार सहित इन्द्रियां, परिणामः–परिणाम हैं. वे सत्त्वरजस्तम रूप तीनों गुण इन्द्रियों का, चतुर्थम् रूपम्–अन्वय नामक चतुर्थ रूप कहा जाता है। अर्थात् सत्त्वादि गुणों का परिणाम महत्तत्त्व है और महत्तत्त्व का परिणाम अहङ्कार सहित इन्द्रियां हैं; अतः महत्तत्त्व, अहङ्कार तथा इन्द्रियों में सत्त्वादि गुण कारण रूप से अनुगत होने से अन्वय

येषामिन्द्रियाणि साहंकाराणि परिणामः। पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थतत्त्वमिति।

पञ्चस्वेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमं संयमस्तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः॥ ४७॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

कहे जाते हैं। यही अन्वय इन्द्रियों का चतुर्थ रूप कहा जाता है। अतः इसमें संयम करने से योगी को इन्द्रियजय रूप फल प्राप्त होता है।

संप्रति क्रमप्राप्त इन्द्रियों के पञ्चम रूप का निरूपण करते हैं—पञ्चममिति। गुणेषु यत् अनुगतम् पुरुषार्थतत्त्वम्-सत्त्वादि गुणों में अनुगत जो पुरुष के लिये भोगापवर्ग सम्पादन करने की सामर्थ्य वह इन्द्रियों का अर्थवत्त्व नामक, पञ्चमम् रूपम्-पञ्चम रूप कहा जाता है। अर्थात् सत्त्वादि गुणों में जो पुरुष के भोग तथा अपवर्ग सम्पादन करने की सामर्थ्य है वह गुणों के परिणाम महत्तत्त्व तथा अहङ्कार सहित इन्द्रियों में अनुगत है; अतः इन्द्रियों में भी पुरुष के लिये भोग तथा अपवर्ग सम्पादन करने की सामर्थ्य है। वही सामर्थ्य इन्द्रियों का पञ्चम रूप कहा जाता है। उसमें संयम करने से योगी को इन्द्रियजय रूप फल प्राप्त होता है।

इस प्रकार इन्द्रियों के पांच रूपों का निरूपण करके सम्प्रति सूत्रार्थ करते हैं—पञ्चस्विति। एतेष पञ्चसु इन्द्रियरूपेषु-इन पांच इन्द्रिय के रूपों में, यथाक्रमम्-अनुक्रम से, संयमः-संयमद्वारा, तत्र तत्र जयम् कृत्वा-उन उन रूपों में जय प्राप्त करके, पञ्चरूपजयात्-पांचों रूपों के जय प्राप्त होने से, योगिनः-योगियों को, इन्द्रियजयः प्रादुर्भवति-इन्द्रियजय का प्रादुर्भावरूप फल प्राप्त होता है।

भाव यह है कि इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति ग्रहण सामान्यरूप से प्रकाशता स्वरूप, अहङ्कार का अनुगम अस्मिता गुणों का प्रकाश, प्रवृत्ति, स्थिति रूप से सर्वत्र सम्बन्ध अन्वय तथा गुणों में भोगापवर्ग सम्पादन रूप शक्ति अर्थवत्त्व; ये जो इन्द्रिय के पांच रूप हैं, उनमें क्रमशः संयम करके योगी इन्द्रियजयी होता है। अर्थात् इन्द्रियां योगी के अधीन हो जाती हैं। इति॥ ४७॥

गत सूत्र में इन्द्रियों के ग्रहणादि पांच रूपों में संयम करने से इन्द्रियजय प्राप्त होता है, यह कहा गया; परन्तु वह इन्द्रियजय सिद्धि (फल) नहीं, किन्तु सिद्धि के साधन हैं। अतः उक्त पांच रूपविशिष्ट इन्द्रियों का जय होने से जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनका प्रतिपादन सूत्रकार करते हैं—ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्चेति। ततः-उस इन्द्रियजय की प्राप्ति होने से, मनोजवित्वम् विकरणभावः च

कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम् । विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः ।

सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इति । एतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते ।

प्रधानजयः-मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधानजय नामक तीन सिद्धियां प्राप्त होती हैं ।

भाष्यकार इन तीनों सिद्धियों का स्वरूप निदर्शन करते हैं—कायस्येति । कायस्य-शरीर को, अनुत्तमः गतिलाभः-अनुत्तम गति का लाभ होना, मनोजवित्वम्-मनोजवित्व नामक सिद्धि कही जाती है । अर्थात् मन के सदृश शरीर में भी असंख्य योजन दूर तथा व्यवहित देश में शीघ्र गमन करने की शक्ति प्राप्त होना मनोजवित्व नामक सिद्धि कही जाती है । क्योंकि, मन के समान शरीर में जव अर्थात् वेग प्राप्त होना मनोजवित्व शब्द का अर्थ है । यह सिद्धि शरीरनिष्ठ है ।

विदेहानाम् इन्द्रियाणाम्-विदेह इन्द्रियों का जो, अभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षः वृत्तिलाभः-अभिलषित काश्मीर आदि देश, अतीत आदि काल तथा सूक्ष्म विषय में शरीर की अपेक्षा विना वृत्ति का लाभ होना वह, विकरणभावः-विकरणभाव-नामक सिद्धि कही जाती है । अर्थात् जिस देश, काल तथा विषय में योगी का अभिलाष होता है उनमें देह की अपेक्षा विना ही इन्द्रियों की गति हो जाती है, जिससे श्री काशी आदि देश में स्थित रहा हुआ भी योगी प्रयागराज आदि देश में स्थित पुरुषों को नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है । उसीको विकरणभाव नामक सिद्धि कहते हैं । क्योंकि, इन्द्रियों को शरीर-निरपेक्ष विकीर्णतात्मक व्यापिता होना विकरणभाव शब्द का अर्थ है । यह सिद्धि इन्द्रियनिष्ठ है ।

सर्वप्रकृतिविकारवशित्वम्—निखिल कारण तथा कार्य को वश कर लेना, प्रधानजयः—प्रधानजय नामक सिद्धि कही जाती है । अर्थात् जितने संसार में कार्य-कारणात्मक पदार्थ हैं वे सब प्रधानजय नामक सिद्धि प्राप्त होने पर योगी के अनुकूल हो जाते हैं । क्योंकि, प्रधान नाम कारण का है, उसका जय प्रधानजय शब्द का अर्थ है ।

मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका तथा संस्कारशेषा नामक चार प्रकार की सिद्धियां होती हैं । उनमें ये तीनों प्रकार की सिद्धियां मधुप्रतीका नामक सिद्धियां कही जाती हैं । इस बात को कहते हैं—एता इति । एताः तिस्रः सिद्धयः—ये तीनों प्रकार की सिद्धियां योगमत में, मधुप्रतीकाः उच्यन्ते—मधुप्रतीका कही जाती हैं ।

एताश्च करणपञ्चकस्वरूपजयादधिगम्यन्ते ॥ ४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्व-

---

शङ्का होती है कि-इन्द्रियजय द्वारा इन्द्रियां ही योगी के वश में होनी चाहिये, प्रधान नहीं; तो फिर इन्द्रियजय का प्रधानजय फल कैसे ? इसका समाधान करते हैं—एताश्चेति । एताश्च—ये तीन प्रकार की सिद्धियां, करणपञ्चकस्वरूपजयात्—चक्षुरादि पांच इन्द्रियों के ग्रहणादि पांच रूपों के जय से, अधिगम्यन्ते—प्राप्त होती हैं । अर्थात् इन्द्रियमात्र के जय का फल ये तीन सिद्धियां नहीं; किन्तु ग्रहणादि पांच रूप ग्रहणादि पांच रूपों के सहित इन्द्रियजय का फल है, जिसके अन्तर्गत प्रधानादि भी हैं । अतः इन्द्रियजय का प्रधानादि जय रूप फलकथन समुचित ही है । इति ॥४८॥

संप्रति सूत्रकार जिस विवेकख्याति रूप मुख्य प्रयोजन के लिये पूर्वोक्त सर्व संयम कहे गए हैं, उसका अवान्तर प्रयोजन कहते हैं—सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्चेति । सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य—प्रकृति-पुरुष के भेदज्ञाननिष्ठ चित्तवाले योगी को, सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्—सर्व पदार्थों के अधिष्ठातृत्व का, च और, सर्वज्ञातृत्वम्—सर्व पदार्थों के यथार्थ ज्ञातृत्व का लाभ होता है । अर्थात् जिस योगी को विवेक ज्ञान प्राप्त हो गया है वह सर्व पदार्थ का अधिष्ठाता तथा सर्व पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञाता हो जाता है । यह विवेक ज्ञान का अवान्तर फल है ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं-निर्धूतेति । निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य—मैत्री आदि भावना के अनुष्ठान से रजोगुण तथा तमोगुण रूप मल से रहित हुए चित्तसत्त्व के परे वैशारद्ये—पर वैशारद्य हो जाने पर अर्थात् चित्त के स्वच्छ, स्थिर तथा एकाग्र रूप से प्रवाहित हो जाने पर, परस्याम् वशीकारसंज्ञायाम्—वशीकारसंज्ञा नामक पर वैराग्य में, वर्तमानस्य—स्थित एवं, सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य—विवेकज्ञाननिष्ठ योगी को, सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्—निखिल पदार्थ का अधिष्ठातृत्व रूप स्वामित्व का लाभ होता है ।

अर्थात् जिस समय चित्त रजोगुण तथा तमोगुण रूप मल से युक्त रहता है उस समय वह किसी के वश में नहीं रहता है और जब पूर्वोक्त मैत्री आदि भावना के

भावाधिष्ठातृत्वम् । सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः ।

सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थं इति । एषा विशोका नाम सिद्धिर्यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति ॥४९॥

अनुष्ठान से वह चित्त रज तम रूप मल से रहित होता हुआ पर वैशारद्य में स्थित हो जाता है तब वह चित्त योगी के वशीभूत हो जाता है। चित्त के वशीभूत होने पर योगी विवेक ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है। उस समय योगी को निखिल पदार्थ के स्वामित्व का लाभ होता है। इसी अर्थ को विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—सर्वात्मान इति। व्यवसायव्यवसेयात्मकाः-सर्वात्मानः गुणाः-जड तथा प्रकाश स्वरूप जितने, सर्वात्मानः गुणाः-गुणमय पदार्थ हैं वे सब, क्षेत्रम् स्वामिनम् प्रति-क्षेत्रज्ञरूप स्वामी के प्रति,अशेषदृश्यात्मत्वेन-सम्पूर्ण भोग्य तथा दृश्य रूप से, उपस्थिताः इत्यर्थः-उपस्थित हो जाते हैं। अतएव वह योगी सम्पूर्ण संसार का स्वामी बन जाता है।

इस प्रकार क्रिया-ऐश्वर्य का प्रतिपादन करके संप्रति ज्ञान-ऐश्वर्य का प्रतिपादन करते हैं—सर्वज्ञातृत्वमिति। एवं पूर्वोक्त विवेकज्ञाननिष्ठ योगी को, शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानाम् गुणानाम्-भूत, भविष्यत्, वर्तमान वस्तु रूप से परिणत सर्वात्मक सत्त्वादि गुणत्रय का, अक्रमोपारूढम्-युगपदुत्पन्न, विवेकजम् ज्ञानम्-विवेकजन्य ज्ञान रूप, सर्वज्ञातृत्वम्-सर्वज्ञातृत्व का लाभ होता है। अर्थात् विवेकज्ञाननिष्ठ योगी को एक काल में ही त्रिगुणात्मक निखिल पदार्थों का यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है।

इस प्रकार विवेकज्ञाननिष्ठ योगी को सर्वभावाधिष्ठातृत्व, क्रिया ऐश्वर्य और सर्वज्ञातृत्व ज्ञान-ऐश्वर्य रूप दो प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है, यह बात कही गई। अब इन दोनों सिद्धियों की योगिजन प्रसिद्ध संज्ञा कहते हैं—एषेति। एषा-यह सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व रूप सिद्धि, विशोका नाम सिद्धिः-विशोका नामक सिद्धि कही जाती है, याम् प्राप्य-जिस सिद्धि को प्राप्त करके, योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनः वशी-योगी सर्वज्ञ, अविद्यादि क्लेश रूप बन्धन से रहित तथा सर्व का स्वामी होता हुआ, विहरति-सर्वत्र विहार करता है। इति ॥ ४९ ॥

अन्य सर्व संयमों को पुरुषार्थाभास रूप फलवाले होने से विवेकख्याति संयम ही वास्तविक मुख्य पुरुषार्थ रूप फलवाला है। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये परवैराग्य

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

यदास्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः सत्त्वं च हेतुपक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्त्वादिति।

एवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति। तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते। तदेतेषां गुणानां मनसि

की उत्पत्ति द्वारा विवेकख्याति का कैवल्य रूप मुख्य फल सूत्रकार कहते हैं—तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यमिति। सूत्र में अपिशब्द भिन्नक्रम है। अतः यह जिसके समीप पढा गया है उसके साथ अन्वित न होकर "कैवल्यम्" इस पद के साथ अन्वित है। तथाच तद् वैराग्यात्—विवेकख्याति की निष्ठा से विवेकख्याति तथा तज्जन्य सिद्धि-विषयक परवैराग्य प्राप्त होने से, परवैराग्य-जन्य असंप्रज्ञातसमाधि द्वारा, दोषबीजक्षये—रागादि दोषों का बीज जो अविद्या उसका क्षय होने पर पुरुष (आत्मा) को, कैवल्यम् अपि—केवल उक्त सिद्धियां ही नहीं; किन्तु आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप तथा स्वरूपप्रतिष्ठा रूप एतदुभयात्मक कैवल्य भी प्राप्त होता है।

भाष्यकार जिस क्रम से कैवल्य प्राप्त होता है उस क्रम का प्रतिपादन करते हुए सूत्रार्थ स्पष्ट करते हैं—यदेति। क्लेशकर्मक्षये—क्लेशकर्म के क्षय होने पर, यदा अस्य एवम् भवति—जिस समय इस योगी को इस प्रकार का ज्ञान होता है कि, "अयम् विवेकप्रत्ययः सत्त्वस्य धर्मः—जो यह विवेकप्रत्यय रूप धर्म है वह बुद्धिसत्त्व का धर्म है, पुरुष का नहीं, च—और, सत्त्वम् हेयपक्षे न्यस्तम्—बुद्धिसत्त्व जो है वह अनात्म होने से हेयपक्ष के अन्तर्भूत है, चः—और, पुरुषः अपरिणामी शुद्धः सत्त्वात् अन्यः—पुरुष (आत्मा) अपरिणामी (निर्विकार), शुद्ध एवं बुद्धिसत्त्व से अत्यन्त भिन्न है।" उस समय विवेकख्याति विषयक वैराग्य प्राप्त होता है। वैराग्य के कारण का प्रतिपादन करके कैवल्य में पुरुषार्थ का प्रतिपादन करते हैं-एवमस्येति। एवम्—इस प्रकार, ततः—उस विवेकख्याति से, विरज्यमानस्य अस्य—विरक्त हुआ इस योगी के चित्त में विद्यमान, यानि क्लेशबीजानि—जो क्लेशबीज, अप्रसवसमर्थानि दग्धशालिबीजकल्पानि—अङ्कुर उत्पादन में असमर्थ दग्ध शालिबीज के सदृश हैं, तानि—वे, मनसा सह—मन के सहित, प्रत्यस्तम् गच्छन्ति—नष्ट हो जाते हैं। तेष्विति। तेषु प्रलीनेषु—उन क्लेशादिकों के प्रलीन (नष्ट) होने से, पुनः—फिर यह, पुरुषः—पुरुष, इदं तापत्रयम्—इस आध्यात्मिकादि तीनों तापों को, न भुङ्क्ते—नहीं भोगता है। अर्थात् इस अवस्था में योगी भोगाभाव रूप पुरुषार्थ को प्राप्त होता है।

कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानामप्रतिप्रसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम् ।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

चत्वारः खल्वमी योगिनः प्रथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति ।

सूत्र का व्याख्यान करते हैं—तदेतेषामिति । तत्-उक्त समय, कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेण मनसि अभिव्यक्तानाम्-कर्म, क्लेश, विपाकरूप से चित्त में प्रतिभासमान, प्रतिप्रसवे चरितार्थानाम्—कार्य-उत्पादन में समाप्ताधिकार, एतेषाम् गुणानाम्—इन सत्वादि गुणों के मन के सहित अपने कारण में लीन होने पर, पुरुषस्य—पुरुष को, आत्यन्तिकः गुणवियोगः कैवल्यम्—आत्यन्तिक गुणवियोग रूप कैवल्य प्राप्त होता है । तदा—उस दशा में, चितिशक्तिः पुरुषः-चितिशक्ति रूप पुरुष (आत्मा), स्वरूपप्रतिष्ठा एव-स्वरूप-प्रतिष्ठ ही कहा जाता है । इति ॥ ५० ॥

संप्रति सूत्रकार कैवल्य के साधन में प्रवृत्तयोगियों को जो विघ्न उपस्थित होते हैं उनके निराकरण करने के कारण का उपदेश करते हैं—स्थान्युपनिमन्त्रेण सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गादिति । स्थान्युपनिमन्त्रेण—इन्द्रादि देवगण के सत्कारपूर्वक प्रार्थना करने पर, सङ्गस्मयाकरणम्—संग अर्थात् आसक्ति एवं स्मय अर्थात् गर्व न करे, क्योंकि पुनः अनिष्टप्रसङ्गात्—फिर अनिष्ट प्राप्ति का प्रसंग होने से, अर्थात् जिस समय अप्सराओं के सहित इन्द्रादि देवगण आकर सिद्ध योगी को स्वर्ग के दिव्य भोग भोगने के लिये आदरपूर्वक प्रार्थना करें, उस समय सिद्ध योगी उसकी प्रार्थना को स्वीकार न करे और उससे गर्व भी न करे । क्योंकि, ऐसा करने से फिर जन्ममरणादि दुःखरूप अनिष्ट प्राप्ति का संभव हो जाता है ।

संप्रति भाष्यकार जिन योगियों को विघ्न उपस्थित होने की संभावना है उनका निर्धारण करने के लिये योगियों का भेद प्रतिपादन करते हैं—चत्वार इति । अमी योगिनः चत्वारः खलु—उक्त योगी चार प्रकार के होते हैं, प्रथमकल्पिकः—एक प्रथमकल्पिक, मधुभूमिकः—दूसरा मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योतिः—तीसरा प्रज्ञाज्योति, च—और, अतिक्रान्तभावनीयः-चौथा अतिक्रान्तभावनीय । उनमें प्रथमकल्पिक के स्वरूप कहते हैं—तत्रेति । तत्र—उनमें जो, प्रवृत्तमात्रज्योतिः अभ्यासी—प्रवृत्तमात्र ज्योति अर्थात् संयम में तत्पर होने से परचित्तज्ञान आदि सिद्धियों के उन्मुख अभ्यासशील योगी है वह, प्रथमः-प्रथमकल्पिक नामक योगी कहा जाता है ।

तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः। ऋतंभरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कर्तव्यसाधनादिमान्। चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयः। तस्य चित्त-प्रतिसर्ग एकोऽर्थः।

सप्तविधाऽस्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा। तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वविशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते

द्वितीय मधुभूमिक योगी के स्वरूप को कहते हैं—ऋतंभरप्रज्ञो द्वितीयः। ऋतंभरप्रज्ञः–जो समाधिद्वारा ऋतंभरा प्रज्ञावाला योगी है वह, द्वितीयः–द्वितीय मधुभूमिक नामक योगी कहा जाता है। तृतीय प्रज्ञाज्योति नामक योगी के स्वरूप को कहते हैं—भूतेति। भूतेन्द्रियजयी–जो पूर्वोक्त स्थूलादि तथा ग्रहणादि विषयक संयम द्वारा भूत तथा इन्द्रियों को अपने अधीन करनेवाला, सर्वेषु भावितेषु कृत-रक्षाबन्धः–उक्त भूत-इन्द्रिय के जय से निष्पादित सर्व परचित्तज्ञानादि में कृतरक्षाबन्ध अर्थात् सिद्धि लाभवाला तथा, भावनीयेषु कर्तव्यसाधनादिमान्–निष्पादनीय विशो-कादि सिद्धियों के लिये कर्तव्य साधनादिवाला अर्थात् यत्नशील है वह तृतीयः–तृतीय प्रज्ञाज्योति नामक योगी कहा जाता है। चतुर्थ अतिक्रान्तभावनीय नामक योगी के स्वरूप को कहते हैं—चतुर्थ इति। यः तु–और जो तो, अतिक्रान्तभवनीयः चतुर्थः–अतिक्रान्तभावनीय नामक चतुर्थ योगी है, तस्य—उसका चित्तप्रतिसर्गः एकः अर्थः—केवल असंप्रज्ञात समाधि द्वारा चित्तप्रतिसर्ग अर्थात् चित्त बिलय करना ही एक प्रयोजन अवशिष्ट है; अन्य किञ्चित् कर्तव्य शेष नहीं है, अस्य—इस योगी को, सप्तविधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा–"तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा" २–२७ इस सूत्रोक्त सात प्रकार की प्रान्तभूमि नामक प्रज्ञा प्राप्त हो चुकी है। अर्थात् जिसका एकमात्र कार्य असंप्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त लय करना ही शेष है, अन्य कुछ कर्तव्य नहीं है एवं पूर्वोक्त सात प्रकार की प्रान्तभूमिप्रज्ञा प्राप्त है वह जीवन्मुक्त चतुर्थ अतिक्रान्त-भावनीय नामक योगी कहा जाता है।

इन यथोक्त चार प्रकार के योगियों में जो उक्त उपनिमन्त्रण का विषय है उसका निर्धारण करते हैं—तत्रेति तत्र—उन चार प्रकार के योगियों में से जो, मधुमतीम् भूमिम्—मधुमती भूमि को, साक्षात्कुर्वतः—ब्राह्मणस्य—साक्षात्कार करनेवाला द्वितीय मधुभूमिक ब्राह्मण (योगी) है, उसकी, सत्त्वशुद्धिम् अनुपश्यन्तः स्थानिनः देवाः—बुद्धि की शुद्धि को देखते हुए स्वर्गस्थानी इन्द्रादि देवगण पास में आकर, स्थानैः–स्वर्गीय विमान तथा अप्सरादि के द्वारा प्रलोभन करते हुए, उपनिमन्त्र-

"भो इहास्यतामिह रम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्यू बाधते वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षय उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः। स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियम्" इति।

यन्ते-निम्नलिखित सत्कारपूर्वक प्रार्थना करते हैं—'भो! इह आस्यताम्-हे योगिन्! यहां आकर स्थित होइये, इह रम्यताम्-यहां रमण करिये, अयम् भोगः कमनीयः-यह भोग कैसा सुन्दर है, इयम् कन्या कमनीया-यह कन्या कैसी कमनीया है, इदम् रसायनम् जरामृत्यू बाधते—यह कैसा सुन्दर रसायन है कि, जो जरामृत्यु को दूर कर देता है, इदम् यानम् वैहायसम्—यह विमान आकाश में गमन करने वाला है, अमी कल्पद्रुमाः—ये सब कल्पवृक्ष आपके भोग के लिये उपस्थित हैं, पुण्या मन्दाकिनी—यह पवित्र मन्दाकिनी गंगा आपके स्नान के लिये उपस्थित हैं, सिद्धाः महर्षयः—ये सिद्धगण तथा महर्षिगण आपके सत्कार के लिये उपस्थित हैं, उत्तमाः अनुकूलाः अप्सरसः—उत्तम तथा सर्व प्रकार से अनुकूल ये अप्सरायें आपकी सेवा के लिये उपस्थित हैं. दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी-आपके लिये ये दिव्य श्रोत्र तथा चक्षु हैं, वज्रोपमः कायः-वज्रसमान शरीर है, आयुष्मता स्वगुणैः सर्वम् इदम् उपार्जितम्—आयुष्मान् आपने योगाभ्यास रूप गुणद्वारा यह स उपार्जन किया है; इदं देवानां प्रियम् अक्षयम् अजरम् अमरस्थानम्—यह देवों का प्रिय अक्षयअजर अमरस्थान को, प्रतिपद्यताम्—प्राप्त होइये,' इति—इत्यादि।

भाष्यकार ने यथोक्त चार प्रकार के योगियों में से जो दूसरे प्रकार का मधुभूमिक नामक योगी है, उसी को देवगण आकर प्रलोभन करते हैं, अन्य तीन को नहीं, ऐसा कहा गया है। उसका कारण यह है कि—जो प्रथमकल्पिक योगी है उसको तो महेन्द्रादिकृत प्रार्थना की शङ्का ही नहीं है। क्योंकि, अभी वह योगाभ्यास में प्रवृत्तमात्र है और जो तृतीय प्रकार का प्रज्ञाज्योति नामक योगी है वह देवगण के प्रलोभन में आ ही नहीं सकता है। क्योंकि, वह भूतेन्द्रियजयी होने से अणिमादि ऐश्वर्य उसको स्वतः प्राप्त हैं। एवं जो चतुर्थ प्रकार का अतिक्रान्तभावनीय नामक योगी है वह भी प्रलोभन में नहीं आ सकता है। क्योंकि, परवैराग्य सम्पन्न होने से उसको स्वर्गीय भोग की स्पृहा ही नहीं है। अतः परिशेषात् द्वितीय जो ऋतम्भरप्रज्ञ मधुभूमिक नामक योगी है, उसी को प्रलोभन का विषय कहा गया है।

इस प्रकार देवताओं के प्रलोभन देने पर योगी उनके प्रलोभन में आकर संग (आसक्ति) न करे; किन्तु प्रत्युत संग में दोष की भावना करे। इस बात को कहते

एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान् भावयेद् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथंचिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योगप्रदीपः। तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति। स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत। सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादेव-

---

हैं—एवमिति। एवम्—इस प्रकार, अभिधीयमानः-देवगण के कहने पर, सङ्गदोषान् भावयेत्—निम्नलिखित संगदोष की भावना करे। अर्थात् अपने मन में योगी इस प्रकार का विचार करे कि घोरेषु संसारांगारेषु पच्यमानेन—इस घोर संसाररूप अंगारों में पच्यमान तथा, जननमरणान्धकारे विपरिवर्त्तमानेन—जन्म-मरणरूप अन्धकार में बारम्बार भ्रम्यमाण (भ्रमण करनेवाले), मया—मैंने, कथञ्चित—किसी प्रकार, क्लेशतिमिरविनाशी योगप्रदीपः-यह अविद्यादि क्लेशरूप अन्धकार का नाश करनेवाला योगरूप दीपक, आसादितः—प्राप्त किया है। तस्येति। तस्य—उस योगरूप दीपक के, एते तृष्णायोनयः विषयवायवः—ये वासनारूप तृष्णा से उत्पन्न होनेवाले विषयरूप वायु, प्रतिपक्षाः—विरोधी हैं अर्थात् जैसे बाह्य वायु बाह्य दीपक का विरोधी है, वैसे ही विषयवायु भी योगदीपक का विरोधी है।

स इति। सः खलु अहम्-वही मैं, लब्धालोकः-योगज्ञान रूप प्रकाश को प्राप्त होकर, कथम्-किस प्रकार, अनया मृगतृष्णया-इस विषयरूप मृगतृष्णा से, वञ्चितः-वञ्चित होता हुआ, तस्य एव प्रदीप्तस्य संसाराग्नेः-उसी प्रज्वलित संसार रूप अग्नि का, पुनः आत्मानम्—फिर से अपने आत्मा को, इन्धनीकुर्याम्-इन्धन करूं, अर्थात् वही मैं जान बूझ कर अपने आत्मा को उसी संसार-अग्नि को इन्धन अर्थात् लकड़ी बनाकर फिर से कैसे जलाऊं, अतः हे देवगण! स्वस्तीति। वः स्वस्ति-आपका कल्याण हो, स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यः विषयेभ्यः-स्वप्न समान तथा तुच्छ पुरुष द्वारा प्रार्थना करने योग्य इन अप्सरा आदि विषयों को नमस्कार है। मैं इनको नहीं चाहता। इति एवम्-इस प्रकार, निश्चितमतिः-निश्चितमतिवाला होता हुआ योगी, समाधिम् भावयेत्-समाधि की ही भावना करे। केवल इतना ही नहीं, किन्तु-सङ्गमिति। सङ्गम् अकृत्वा-आसक्ति न करके, अहम् देवानाम् अपि प्रार्थनीयः इति-मैं देवों का भी प्रार्थनीय हूँ। अर्थात् मैं इतना

महं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितंमन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति।

तथा चास्य च्छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति। ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः। एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढीभविष्यति। भावनीयश्चार्थोऽभिमुखीभविष्यतीति ॥ ५१ ॥

बड़ा प्रभावशाली हूँ कि, मेरी प्रार्थना देवगण भी करते हैं, इस प्रकार का, स्मयम् अपि न कुर्यात्–गर्व भी न करे। स्मय करने में दोष बताते हैं—स्मयादिति। स्मयात्–अभिमान करने से, अयम्—यह योगी, सुस्थितम्मन्यतया–अपने को कृतकृत्यमानी होने से, मृत्युना केशेषु गृहीतम् इव–मृत्यु द्वारा केश जैसे पकड़ न लिया हो वैसा होता हुआ, आत्मानम् न भावयिष्यति–आत्मा की भावना न करेगा। अर्थात् आत्मा को न जानकर समाधि से उपराम हो जायगा।

इसी अर्थ को अधिक स्पष्ट करते हैं—तथा चेति। तथा च–वैसा ही, अस्य–इस योगी के, छिद्रान्तरप्रेक्षी–छिद्रान्वेषी अर्थात् अन्तर छिद्र को देखनेवाला एवं, नित्यम् यत्नोपचर्यः–निरन्तर महान् यत्न करने पर कठिन से निवृत्त होने योग्य जो, प्रमादः–प्रमाद है वह, लब्धविवरः—समाधि से उपरामता रूप विवर (छिद्र) को प्राप्त होता हुआ पुनः, क्लेशान् उत्तम्भयिष्यति–अविद्यादि क्लेशों को उत्तम्भन अर्थात् प्रबल कर देगा। ततः–उससे, पुनः–फिर से, योगी को, अनिष्टप्रसङ्गः–अनिष्ट की प्राप्ति हो जायगी। अर्थात् योगी का प्रमाद रूप छिद्र देखकर प्रवेश कर जायगा, जिससे योगी योग से भ्रष्ट होकर पुनः अनर्थ को प्राप्त हो जायगा। पूर्वोक्त सङ्ग तथा स्मय न करने का फल कथन करते हैं—एवमिति। एवम्–इस प्रकार, सङ्गस्मयावकुर्वतः अस्य–सङ्ग तथा स्मय न करनेवाले इस योगी को, भावितः अर्थः–भावित अर्थ अर्थात् संयम सम्पादित परचित्तज्ञानादि रूप अर्थ, दृढीभविष्यति–दृढ हो जायगा, च–और, भावनीयः अर्थः–भावनीय अर्थ अर्थात् विवेकख्याति के अभ्यास द्वारा विशोका से लेकर परवैराग्य पर्यन्त जो सम्पादन करने योग्य अर्थ वह, अभिमुखीभविष्यति–अभिमुख हो जायगा। अतः संग तथा स्मय को, त्याग कर योगी निरन्तर योगाभ्यास में ही तत्पर रहे, जिससे परवैराग्य द्वारा असंप्रज्ञात-समाधि का लाभ करता हुआ एवं विशोक होता हुआ योगी जीवन्मुक्त हो जाय। क्योंकि, यही योग की पराकाष्ठा है। इति ॥ ५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

यथापकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः । यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यात् उत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः क्षणः । तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः । क्षणतत्क्रमयो-

---

संप्रति सूत्रकार निःशेष सर्वज्ञता का कारण विवेकजन्य ज्ञान का साधन जो संयम उसका निरूपण करते हैं—क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानमिति । क्षणतत्क्रमयोः-क्षण और क्षण के क्रम में, संयमात्-संयम करने से योगी को, विवेकजम ज्ञानम्-विवेकजन्य ज्ञान प्राप्त होता है।

भाष्यकार क्षण तथा क्षण के क्रम का निरूपण करते हुए सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हैं—यथेति । यथा-जैसे, लोष्ट (माटी के ढेले) आदि का विभाग करने से जिस अवयव का विभाग न हो सके ऐसा जो अति सूक्ष्म, अपकर्षपर्यन्तम् द्रव्यम्-अपकर्षपर्यन्त द्रव्य है वह, परमाणुः-परमाणु कहा जाता है, एवम्-जैसे ही, परमापकर्षपर्यन्तः कालः-परमापकर्षपर्यन्त जो अतिसूक्ष्म निर्विभाग काल है वह, क्षणः-क्षण कहा जाता है । अर्थात् जैसे माटी के ढेले का चतुरणुक, त्र्यणुक, द्व्यणुक, आदि विभाग करने पर आगे जिसका विभाग न हो सके उसका नाम परमाणु है । जैसे ही काल का संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष दिवस, प्रहर तथा मुहूर्त आदि विभाग करने पर अन्त में जिसका विभाग न हो सके वह काल क्षण कहा जाता है ।

उसी क्षण का स्वरूप अन्य प्रकार से दिखाते हैं-यावतेति । वा-अथवा, यावता समयेन-जितने समय के द्वारा, चलितः परमाणुः-चलित होता हुआ परमाणु, पूर्वदेशम् जह्यात्-पूर्व देश को त्याग करता है और, उत्तरदेशम् उपसंपद्येत्—उत्तर देश को प्राप्त होता है, अर्थात् परमाणुमात्र देश को उल्लंघन करता है, सः कालः—वह काल, क्षणः—क्षण कहा जाता है । अर्थात् एक देश से परमाणु अन्य देश में चलित होते समय परमाणुमात्र देश को उल्लंघन करने में जितना काल लगता है वह काल क्षण कहा जाता है ।

क्षण शब्द का अर्थ दिखा कर क्रम शब्द का अर्थ दिखाते हैं—तदिति । तत्-उन क्षणों का जो, प्रवाहाविच्छेदः तु-प्रवाहाविच्छेद अर्थात् प्रवाह का अविरलत्व रूप नैरन्तर्य वह तो, क्रमः-क्रम कहा जाता है । अर्थात् उक्त क्षणों का जो उत्तरोत्तरभाव रूप से अवस्थान वह प्रवाह कहा जाता है । उस प्रवाह का जो अविच्छेद अर्थात् विजातीय अन्तराय का अभाव वह क्रम कहा जाता है ।

र्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः ।

स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते । क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बो । क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा । तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः ।

इस प्रकार का जो क्रम है, वह वास्तविक नहीं; किन्तु काल्पनिक है । क्योंकि, एक काल में एकत्रित न होनेवाले क्षणों के समाहार का संभव न होने से क्षणसमाहार-रूप क्रम का संभव होना भी विचार से विरुद्ध है, इस वार्ता को प्रसंग से कहते हैं—क्षणेति । क्षणतत्क्रमयोः–क्षण तथा क्षण के अव्यवहित आनन्तर्य रूप क्रम में, वस्तुसमाहारः नास्ति–वस्तुभूत समाहार अर्थात् मिलन नहीं है, इति–अतः, मुहूर्ताहोरात्रादयः-मुहूर्त, अहोरात्र आदि जो स्थूल काल, वह, बुद्धिसमाहारः–बुद्धि कल्पित समाहार ही है, वास्तविक नहीं ।

शङ्का होती है कि-स्थूल काल यदि वास्तविक नहीं है तो उसमें लौकिक पुरुषों की यथार्थ बुद्धि कैसे होती है ? । इसका उत्तर देते हैं—स खल्विति । सः खलु अयम् कालः–वही यह काल, वस्तुशून्यः अपि–वस्तु शून्य होने पर भी, बुद्धिनिर्माणः–बुद्धि द्वारा निर्मित, शब्दज्ञानानुपाती–शब्द ज्ञान के प्रभाव से ही अनुपतनशील, व्युत्थितदर्शनानाम् लौकिकानाम्–चञ्चल ज्ञानशील लौकिक पुरुषों को, वस्तुस्वरूपः इव-वास्तविक स्वरूप के जैसा, अवभासते–भासता है । अर्थात् यद्यपि मुहूर्त, अहोरात्र आदि स्थूल काल काल्पनिक है तथापि लौकिक पुरुषों को वह भ्रान्ति से यथार्थ प्रतीत होता है ।

शङ्का होती है कि-जैसे मुहूर्तादि स्थूल काल कल्पित है वैसे ही क्षण भी कल्पित ही है क्या ? । इसका उत्तर देते हैं—क्षण इति । क्षणः तु–क्षण जो है वह तो, वस्तुपतितः–वस्तु कोटि में प्रविष्ट होता हुआ, क्रमावलम्बी–क्रम का अवलम्बी अर्थात् आश्रय है । भाव यह है कि, क्षण कल्पित नहीं किन्तु वास्तविक है । क्योंकि, क्षण भी यदि कल्पित ही माना जायगा तो क्रम का आश्रय कौन होगा ? । क्रम क्षण के अधीन है, इसमें हेतु देते हैं—क्रमश्चेति । च–और, क्रमः–क्रम जो है वह, क्षणानन्तर्यात्मा–क्षणों के आनन्तर्य रूप है; अतः क्रम क्षणों के अधीन है ।

शङ्का होती है कि-जो वर्त्तमान क्षण वास्तविक है उसका स्वरूप कैसा है ? उत्तर देते हैं—तमिति । तम्–उस वर्त्तमान क्षण को, कालविदः योगिनः–काल के जानने-

न च द्वौ क्षणौ सह भवतः । क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोः । असम्भवात् । पूर्वस्मादुत्तरस्य भाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः । तस्माद्वर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति । तस्मान्नास्ति तत्समाहारः ।

ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः । तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति । तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी

वाले योगीजन, कालः इति आचक्षते-काल ऐसा कहते हैं । अर्थात् योगमत में वर्तमान क्षण ही एक वास्तविक काल है । इससे अतिरिक्त मुहूर्त तथा घटिका आदि काल्पनिक हैं और वह क्षण बौद्धमत के समान क्षणिक नहीं । अतः बौद्धमतापत्ति दोष नहीं । क्रम की अवास्तविकता में हेतु देते हैं—न चेति । द्वौ क्षणौ-पूर्वोत्तर के दोनों क्षण, सह नच भवतः-साथ नहीं होते हैं । अर्थात् पूर्वोत्तर क्षणों के आनन्तर्यरूप क्रम वस्तुभूत तब माना जाता जब वे दोनों क्षण साथ रहते, सो साथ तो रहते हैं नहीं । अतः क्रम अवास्तविक ही है । जो व्यत्यय रूप से पूर्वोत्तर क्षणों का सहभाव मानते हैं उनके प्रति कहते हैं—क्रमश्चेति । च-और, क्रमः-जो क्रम है वह, असम्भवात्-दोनों पूर्वोत्तर क्षणों का साथ रहना असम्भव होने से, सहभुवोः द्वयोः न-साथ रहनेवाले दोनो पूर्वोत्तर क्षणों में रहनेवाला नही है । अर्थात् साथ रहने वाले क्षणों में क्रम नहीं रहता है । क्योंकि, क्षणों का साथ रहना असम्भव है । उसी असम्भव को दिखाते हैं—पूर्वस्मादिति । पूर्वस्मात्-पूर्वक्षण से, उत्तरस्य भाविनः क्षणस्य-उत्तर के भाविक्षण का, यत् आनन्तर्यम्-जो आनन्तर्य है, सः-वही तो, क्रमः-क्रम कहा जाता है । उपसंहार करते हैं—तस्मादिति । तस्मात्-इसीलिये, वर्तमानः एकः एव क्षणः-वर्तमान रूप एक ही क्षण है, इति-यह सिद्ध हुआ । तस्मात्-इसी लिये ही, तत् समाहारः न अस्ति-उक्त क्षण तथा क्रम में समाहार रूप मिलन नहीं है, यह भी सिद्ध हुआ ।

पूर्वोत्तर क्षणों में शशविषाण के समान तुच्छता का निराकरण करते हैं—ये त्विति । ये तु भूतभाविनः क्षणाः-जो तो भूतभाविक्षण हैं, ते-वे, परिणामान्विताः व्याख्येयाः-परिणाम रूप से वर्तमान क्षण में अन्वित हैं, ऐसा व्याख्यान करना चाहिये । अर्थात् भूतभाविक्षण शशविषाण के समान तुच्छ नहीं हैं; किन्तु परिणाम रूप से वर्तमान क्षण में संमिलित हैं । तेन एकेन क्षणेन-उस एक ही वर्तमान क्षण से, कृत्स्नः लोकः-सर्व लोक (पदार्थ), परिणामं अनुभवति-परिणाम को अनुभव करते हैं ।

सर्वे धर्माः, तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम्। ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति ॥ ५२ ॥

तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यताया हेतुर्गौरियं वडवेयमिति ।

अर्थात् परिणाम को प्राप्त होते हैं। क्योंकि अमी खलु सर्वे धर्माः—ये प्रत्येक पदार्थ, तत्क्षणोपारूढाः—उस-उस क्षण में उपारूढ हैं। अतः वर्तमान क्षण ही स्व-उचित अर्थक्रिया करने में समर्थ है। भूत तथा भावी नहीं।

इस प्रकार जिसमें निखिल पदार्थ उपारूढ हैं उन क्षण तथा क्रम का निरूपण करके सम्प्रति सूत्रार्थ करते हैं—तयोरिति। तयोः क्षणतत्क्रमयोः—उन यथोक्त क्षण तथा क्रम विषयक, संयमात्—संयम करने से, तयोः साक्षात्करणम्—उन क्षण तथा क्रमों का साक्षात्कार होता है। च—और, ततः—उनका साक्षात्कार होने के पश्चात्, विवेकजम् ज्ञानम्—विवेकजन्य ज्ञान का, प्रादुर्भवति—प्रादुर्भाव होता है। इति ॥ ५२ ॥

भाष्यकार स्वयं सूत्र का अवतरण करते हैं—तस्येति। सम्प्रति सूत्रकार, तस्य—सर्व विषयक विवेकजन्य ज्ञान के, विषयविशेषः—सामान्यतया सर्वविषय नहीं; किन्तु विषयविशेष का, उपक्षिप्यते—उपन्यास करते हैं। अर्थात् यद्यपि विवेकजन्य ज्ञान सर्व पदार्थ विषयक है, यह बात अग्रिम ५४ वां सूत्र में कही जायगी, तथापि वह अतिसूक्ष्म होने से प्रथम विषय विशेषका ही उपन्यास करते हैं—जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिरिति। जातिलक्षणदेशैः—जाति, लक्षण तथा देश के द्वारा, अन्यतानवच्छेदात्—भेद का निश्चय न होने से, ततः—विवेकज्ञान से ही, तुल्ययोः—समान पदार्थों का, प्रतिपत्तिः—भेदज्ञान होता है। अर्थात् तुल्य पदार्थों का भेदज्ञान जाति, लक्षण तथा देश के द्वारा होता है; परन्तु जहां जाति, लक्षण तथा देश के द्वारा दो तुल्य पदार्थों का परस्पर भेद का निश्चय नहीं हो सकता है, वहां केवल विवेकजन्य ज्ञान से ही परस्पर भेद का निश्चय होता है। उन जात्यादि तीनों में से जहाँ जाति के द्वारा तुल्य पदार्थों का परस्पर भेद का निश्चय होता है उसका उदा-

तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरं कालाक्षी गौः स्वस्तिमती गौरिति ।

द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद्देशभेदोऽन्यत्वकर इदं पूर्व-

हरण सर्वप्रथम भाष्यकार देते हैं—तुल्ययोरिति । तुल्ययोः–समान दो पदार्थों में, देशलक्षणसारूप्ये–पूर्वादि देश तथा श्वेतादि लक्षण समान होने पर, जातिभेदः–गोत्व, अश्वत्व आदि जाति का भेद, अन्यतायाः–व्यक्ति के भेद-निश्चय का, हेतुः–कारण होता है । जैसे–'इयम् गौः'' यह गौ है, "इयम् वडवा" यह वडवा (घोड़ी) है, इति–इत्यादि । अर्थात् लोक में तीन भेद से समान दो पदार्थों के परस्पर भेद का ज्ञान होना है । कहीं जातिभेद से, कहीं लक्षणभेद से और कहीं देशभेद से । जहां एक ही देश में स्थित एक ही वर्ण (लक्षण) वाली गौ और वडवा दोनों होवें वहां इन दोनों के भेद के ज्ञान का हेतु गोत्व तथा अश्वत्व जाति का भेद है । क्योंकि, जो गोत्व जाति गौ में है वह वडवा में नहीं और जो अश्वत्व जाति वडवा में है वह गौ में नहीं । अतः ये दोनों समान देश में स्थित तथा समान लक्षणवाली होने पर भी जाति का भेद होने से भिन्न है ।

लक्षणद्वारा भेद निश्चय का उदाहरण देते हैं—तुल्येति । तुल्यदेशजातीयत्वे–समान दो पदार्थों में पूर्वादि देश तथा गोत्वादि जाति तुल्य होने पर, लक्षणम् अन्यत्वकरम्–लक्षण भेद का हेतु होता है । जैसे "कालाक्षी गौः" यह काली आँखवाली गौ है और, "स्वस्ति मती गौः" यह स्वस्तिक चिह्नवाली गौ है, इति-इत्यादि । अर्थात् जहाँ एक ही देश में स्थित एवं एक ही गोत्व जातिवाली एक कालाक्षी और दूसरी स्वस्तिमती दो गौ होवें वहाँ परस्पर भेद का हेतु कालाक्षीत्व तथा स्वस्तिमत्त्व रूप दो लक्षणों का भेद है । क्योंकि, कालाक्षीत्व लक्षण जो प्रथम गौ में है वह दूसरी में नहीं और जो स्वस्तिमत्त्व लक्षण दूसरी गौ में है वह प्रथम में नहीं । अतः ये दोनों समान देश में स्थित तथा समान जातिवाली होने पर भी उक्त कालाक्षीत्व तथा स्वस्तिमत्त्व रूप लक्षणो का भेद होने से भिन्न हैं ।

देश द्वारा भेदनिश्चय का उदाहरण देते हैं—द्वयोरिति । जातिलक्षणसारूप्यात्—समान दो आमलकों में आमलकत्व रूप जाति तथा वर्तुलत्व (गोलाकारत्व) रूप लक्षण तुल्य होने पर, द्वयोः आमलकयोः–दोनों आमलकों (आंवलों) का जहां भेदज्ञान होता है वहां, अन्यत्वकरः–भेद का हेतु, देशभेदः–देशभेद है । जैसे–"इदम् पूर्वम्" यह आमलक पूर्व देश में स्थित है, और "इदम् उत्तरम्" यह आमलक

मिदमुत्तरमिति । यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरदेश उपावर्त्यते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः । असंदिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिर्विवेकजज्ञानादिति ।

उत्तर देश में स्थित है, इति–इत्यादि । अर्थात् जहां एक ही देश में स्थित एवं एक ही लक्षणवाले दो आमलक होवें वहां परस्पर भेद का हेतु पूर्वोत्तर देश ही है । क्योंकि, जो आमलक पूर्व देश में स्थित है वह उत्तर देश में नहीं और जो, उत्तर देश में स्थित है वह पूर्व देश में नहीं । अतः ये दोनों समान जाति तथा समान लक्षणवाले होने पर भी दोनों के रहने का देश पूर्व तथा उत्तर भिन्न भिन्न होने से ये दोनों भिन्न हैं ।

इस प्रकार लोक में जाति, लक्षण तथा देश के भेदज्ञान से पदार्थों का भेदज्ञान होता है, यह वार्ता कही गई । संप्रति जहां उक्त जात्यादि के भेदज्ञान से पदार्थों के भेदज्ञान संभव नहीं वहां विवेक ज्ञान से पदार्थों का भेदज्ञान होता है । इस वार्ता को कहते हैं—यदेति । यदा तु–जिस समय तो, अन्यव्यग्रस्य ज्ञातुः–अन्यव्यग्र अर्थात् अन्यसंलग्न दृष्टि तथा ध्यानवाला ज्ञाता रूप योगी की परीक्षा करने के लिये, कोई पुरुष, पूर्वम् आमलकम्–पूर्व देश में स्थित आमलक को, उत्तरदेशे–उत्तर देश में, उपावर्त्यते–उठा कर रख देता है, तदा–उस समय, तुल्यदेशत्वे–पूर्वोत्तर के दोनों आमलक एक उत्तर देश में स्थित हो जाने पर, एतत् पूर्वम् एतत् उत्तरम्–यह आमलक पूर्व देश का है, यह उत्तर देश का है, इति–इस प्रकार का, प्रविभागानुपपत्तिः–प्रविभाग की अनुपपत्ति होती है । अर्थात् उक्त जात्यादि के द्वारा दोनों आमलकों का असंदिग्ध भेदज्ञान होना असंभव हो जाता है । च–और, तत्त्वज्ञानेन असंदिग्धेन भवितव्यम्–तत्त्वज्ञान को असंदिग्ध ही होना चाहिये, इत्यतः–इसलिये सूत्रकार ने, इदम् उक्तम्–यह कहा कि–ततः प्रतिपत्तिर्विवेकजज्ञानादिति–अर्थात् ततः विवेकजज्ञानात्–ऐसे स्थल में उक्त विवेक ज्ञान से ही, प्रतिपत्तिः—असंदिग्ध भेदज्ञान होता है ।

भाव यह है कि–यद्यपि सर्वत्र भेदज्ञान का कारण उक्त जाति, लक्षण तथा देश है, तथापि जहां पर प्रथम तुल्य जाति तथा लक्षणवाले दो आमलकों में से एक पुरुष के पूर्व देश में और दूसरा उत्तर देश में स्थित होवे, पर उस पुरुष की परीक्षा करने के लिये उसके अन्यव्यग्र काल में किसी पुरुष ने पूर्वदेशस्थ आमलक को उत्तर देश में लाकर रख दिया हो । वहां पर दोनों आमलकों की जाति, लक्षण तथा देश में भेद न

कथम्। पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षणाद्देशाद्भिन्नः। ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने। अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति। एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तद्देशानुपपत्तावुत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नः सहक्षणभेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्य-

---

होने से लौकिक प्राज्ञ को उनका असंदिग्ध भेदज्ञान होना असंभव है। और योगी विवेकज्ञानयुक्त होने से वहां पर भी वह उनका असंदिग्ध भेदज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह विवेकज्ञान का फल है।

इस पर शङ्का करते हैं—कथमिति। कथम्—क्षण तथा क्षण के क्रम में संयम करने से उत्पन्न हुआ जो विवेकज्ञान वह तुल्यजातिलक्षणदेशवाला एक आमलक से दूसरे आमलक का विवेचन कैसे कर सकता है ?। इसका उत्तर देते हैं—पूर्वेति। पूर्वामलकसहक्षणः देशः—पूर्व आमलक के साथ एक क्षणवाला जो देश है वह, उत्तरामलकसहक्षणात् देशात्—उत्तर आमलक के साथ दूसरे क्षणवाले देश से, भिन्नः—भिन्न है। च—और, ते आमलके—वे दोनों आमलक, स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने—स्वदेश सहित क्षण के अनुभव से भिन्न हैं। तु—क्योंकि, अन्यदेशक्षणानुभवः—अन्य देश सहित क्षण का जो योगी को यथार्थ अनुभव है वह अनुभव ही, तयोः—उन दोनों आमलकों के, अन्यत्वे—भेदज्ञान में, हेतुः—हेतु है। अर्थात् यद्यपि उन दोनों आमलकों का देश एक है तथापि उनका क्षण सहित देश भिन्न है। अतः क्षणविशिष्ट देश के भेद से आमलकों का भेद जाना जाता है। यह क्षण तत्सहित देश तथा इनका भेद एवं तत्प्रयुक्त आमलकों का भेद जानना योगाभ्यास के बिना बहुत कठिन है।

इसी आमलक के यथोक्त दृष्टान्त से परमाणुओं का भेद भी योगीश्वरबुद्धिगम्य है। इस वार्ता को कहते हैं—अनेनेति। अनेन दृष्टान्तेन—इस उक्त आमलक के स्थूल दृष्टान्त से, तुल्यजातिलक्षणदेशस्य परमाणोः—समान-जाति, लक्षण तथा देशवाले अतिसूक्ष्म परमाणुओं का विवेकज्ञान से, पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणात्—पूर्व परमाणु के देश के साथ क्षण का साक्षात्कार करने से, उत्तरस्य परमाणोः—उत्तर परमाणु का, तद्देशानुपपत्तौ—पूर्व देश अनुपपन्न होने से एवं, सहक्षणभेदात्—दोनों के साहित्य संपादक क्षण के भेद होने से, तयोः—उन दोनों परमाणुओं का, अन्यत्वप्रत्ययः—भेदज्ञान, ईश्वरस्य योगिनः—ईश्वर तथा योगी को, भवति—होता है। अर्थात्

त्वप्रत्ययो भवतीति । अपरे तु वर्णयन्ति—येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यता-
प्रत्ययं कुर्वन्तीति ।

तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्तिव्यवधिजातिभेदश्चान्यत्वे हेतुः ।

स्थूल आमलक के समान जातिलक्षणदेशवाले जो परम सूक्ष्म परमाणु हैं उनका भी भेदज्ञान क्षण के साक्षात्कार रूप विवेकज्ञान से हो जाता है, इति—यह बात आमलक के दृष्टान्त से सिद्ध हुई ।

इस प्रकार जात्यादि के भेद से तथा देशलक्षण के भेद से तुल्य-पदार्थों के भेदज्ञान का प्रतिपादन करके संप्रति वैशेषिक अभिमत विशेष पदार्थ का खण्डन करने के लिये संक्षेप से उनका मत दिखाते हैं—अपरे त्विति । अपरे तु वर्णयन्ति—अन्य वैशेषिक दर्शनानुसारी ऐसा वर्णन करते हैं कि-ये अन्त्याः विशेषाः—जो परमाणु आदि अन्त्यद्रव्यों में रहनेवाले विशेष पदार्थ हैं, ते—वे ही, अन्यताप्रत्ययम्—उनका भेदज्ञान, कुर्वन्ति—करते हैं । अर्थात् वैशेषिक मतावलम्बियों का यह कहना है कि-अवयव के भेद से अवयवी का भेद होता है । जैसे कपाल के भेद से घट का भेद और कपालिका के भेद से कपाल का भेद इत्यादि; परन्तु परमाणु आदि नित्य द्रव्यों के अवयव न होने से उनमें रहनेवाला एक प्रकार का विशेष पदार्थ ही उनका भेद करता है । यदि परमाणुओं में विशेष पदार्थ न माना जायगा तो जलीय तथा पार्थिव परमाणुओं का कोई भेदक न होने से जलीय परमाणु से पार्थिव द्व्यणुक की तथा पार्थिव परमाणु से जलीय द्व्यणुक की उत्पत्ति की आपत्ति हो जायगी ? । जलीय से जलीय की ही तथा पार्थिव से पार्थिव की ही उत्पत्ति होती है, यह व्यवस्था नहीं रहेगी, इत्यादि ।

इस मत में दूषण देते हैं—तत्रेति । तत्र अपि—परमाणुओं में भी, देशलक्षण-भेदः—देश तथा लक्षण भेद, च—और, मूर्तिव्यवधिजातिभेदः—मूर्ति व्यवधान तथा जलत्व, पार्थिवत्वादि जातिभेद ही, अन्यत्वे—उनके भेद में, हेतुः— हेतु हैं । अतः विशेष पदार्थ की कल्पना निष्प्रयोजन है ।

जाति गोत्व, अश्वत्वादि; लक्षण कालाक्षीत्व, स्वस्तिमत्त्वादि एवं देश पूर्वत्व, उत्तरत्वादि के भेद से पदार्थ का भेद प्रथम कहा गया है । अवयव सन्निवेशविशेष को मूर्ति कहते हैं । मूर्ति से भेदः, जैसे—उक्त अन्यव्यग्र पुरुष की परीक्षा के लिये विशुद्ध अवयवसन्निवेशवाले पदार्थ को हटाकर उसके स्थान में मलिन अवयव सन्निवेश-वाले पदार्थ को रखदेने पर अवयवसन्निवेश रूप मूर्ति के भेद से पदार्थों का भेद होता है । एवं व्यवधान को व्यवधि कहते हैं । व्यवधि से भेद; जैसे— कुशद्वीप तथा पुष्कर-द्वीप का भेद व्यवधि अर्थात् व्यवधान से ही होता है । इस प्रकार तत्तत् जात्यादि

क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति ।

अत उक्तं मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः ॥ ५३ ॥

भेदक पदार्थ से ही सर्वत्र भेदबुद्धि अन्यथासिद्ध होने से वैशेषिकों की अन्त्य विशेष पदार्थ की कल्पना निष्फल ही प्रतीत होती है ।

शङ्का होती है कि-जात्यादि भेद बुद्धिगम्य होने पर भी जिस क्षणविशिष्ट देशभेद से परमाणुओं का भेद मानेंगे वह क्षणभेद बुद्धिगम्य न होने से परमाणु का भेद कैसे भासेगा ? इसका उत्तर देते हैं—क्षणभेद इति । क्षणभेदः तु–परमाणु का भेदक क्षणभेद तो, योगिबुद्धिगम्य; एव–योगिबुद्धिगम्य ही है; अतः तद्विशिष्ट देशभेद से परमाणु की भेदप्रतीति में कोई आपत्ति नहीं ।

यदि कहें कि, क्षणभेद योगिबुद्धिगम्य होने पर भी लोकबुद्धिगम्य न होने से परमाणुओं का भेदक विशेष पदार्थ ही क्यों नहीं माना जाय ? तो इसका समाधान यह है कि, क्षणभेद तो योगिबुद्धिगम्य भी है, पर विशेषपदार्थ तो लोकबुद्धिगम्य भी नहीं है, तो फिर उसको मानने में क्या प्रमाण है ? । यदि कहें कि, विशेष पदार्थ अनुमानगम्य है तो योगिबुद्धिगम्य क्षणभेद से ही जब परमाणुओं का भेद सिद्ध है तो उसके लिये विशेष पदार्थ अन्यथासिद्ध है । विशेषपदार्थ के खण्डन में अधिक युक्ति देखना हो तो वेदान्त के चित्सुखी आदि ग्रन्थों को देखना चाहिये ।

इस कथन से भूतकालिक देहसम्बन्ध से मुक्त आत्माओं का भेद भी योगिबुद्धिगम्य है, ऐसी तर्कना कर लेनी चाहिये । अर्थात् बन्धकाल में जो जो शरीर जिस जिस मुक्तात्माओं के थे, उन भिन्न भिन्न शरीरों को योगी योगबल से प्रत्यक्ष देखता है । उन्हीं भूतकालिक शरीरभेद से मुक्तात्माओं का भेद भी हो जायगा तो उसके लिये भी विशेष पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं ।

यहां पर इतना विशेष और भी समझ लेना चाहिये कि, उक्त जात्यादि के भेद से पदार्थों का भेदज्ञान होना तो सर्वसाधारण है और क्षणभेद से पदार्थों का भेदज्ञान होना केवल योगिबुद्धिगम्य है; परन्तु जहां पर भेद के हेतु उक्त जात्यादि का अभाव होता है वहां पर लौकिक पुरुषों को पदार्थों का भेदज्ञान नहीं होता है । इस कथन में महर्षि वार्षगण्य का वचन प्रमाण देते हैं—

अत इति । अतः उक्तम्–इसीसे कहा है कि-मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावात्–भेद के कारण मूर्ति व्यवधान तथा जाति आदि के अभाव होने से, मूलपृथक्त्वम्–जगत् के मूल कारण प्रधान का भेद, नास्ति–नहीं प्रतीत होता है, इति–इस प्रकार,

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः । सर्वविषयत्वान्नास्य किंचिदविषयीभूतमित्यर्थः । सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं

वार्षगण्यः-महर्षि वार्षगण्य कहते हैं । अर्थात् जगत् का मूलकारण जो प्रकृति है उसका भेदज्ञान लौकिक पुरुषों को नहीं होता है । क्योंकि, भेद के कारण उक्त जात्यादि का प्रकृति में अभाव है । अतः साधनपाद के "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्" (यो० सू० २-२२) इस सूत्र में जो कहा गया है कि-यद्यपि प्रधान विवेकी की दृष्टि में नष्ट है तथापि अन्य पुरुष की दृष्टि में अनष्ट ही है । क्योंकि, वह विवेकी अविवेकी सर्वसाधारण है" । वहां पर नष्ट और अनष्ट जो प्रधान का परस्पर भेद कहा गया है वह उक्त जात्यादि से नहीं जाना जाता है । क्योंकि, वहां भेद का कारण जात्यादि है ही नहीं; किन्तु वह शास्त्रीय विवेक से अथवा योगबुद्धि से ही जाना जाता है । इति ॥ ५३ ॥

इस प्रकार विवेकजन्य ज्ञान का अवान्तर फल निरूपण करके संप्रति सूत्रकार उसका लक्षण निरूपण करते हुए मुख्य फल निरूपण करते हैं—तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानमिति । सूत्र में "विवेकजं ज्ञानम्" इतना अंश लक्ष्य और शेष सर्व लक्षण निर्देश है । तथाच-जो ज्ञान, तारकम्-संसारसागर से तारनेवाला, सर्वविषयम्-सर्व पदार्थ को विषय करनेवाला, सर्वथाविषयम्-सर्व प्रकार से सर्व पदार्थ को विषय करनेवाला अर्थात् अवान्तर विशेष धर्मों के सहित भूत, वर्तमान तथा अनागत रूप कालत्रय में होनेवाले निखिल पदार्थों को प्रकाश करनेवाला, च-और, अक्रमम्-बिना क्रम के एक काल में उत्पन्न होनेवाला है, इति-इस प्रकार का जो ज्ञान वह, विवेकजम् ज्ञानम्-विवेकजन्य ज्ञान कहा जाता है । इस प्रकार विवेकजन्य ज्ञान का लक्षण कथन करने से संसारसागर से तारना तथा सर्व पदार्थों को विषय करना आदि उसका मुख्य फल भी कथित हो गया ।

भाष्यकार सूत्रगत प्रत्येक पद का अर्थ कथन करते हुए सूत्र का व्याख्यान करते हैं—तारकमिति । तारकम् इति-सूत्रगत 'तारकम्' इस पद का, अनौपदेशिकम् स्वप्रतिभोत्थम्-बिना उपदेश के अपनी प्रतिभा रूप अनुभव से उत्पन्न, इति अर्थः-यह अर्थ है अर्थात् तारक ज्ञान वह कहलाता है, जो संसारसागर से तारनेवाला है । सर्वेति । सर्वविषयत्वात्-सर्व पदार्थ को विषय करनेवाला होने से, अस्य-इस विवेकजन्य ज्ञान का, किञ्चित् अविषयीभूतम् न-कोई भी पदार्थ अविषयीभूत नहीं है,

सर्वं पर्यायैः सर्वथा जानातीत्यर्थः। अक्रममित्येकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः। एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्। अस्यैवांशो योगप्रदीपो मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ॥५४॥

प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

इति अर्थः-यह अर्थ हुआ। अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो इस विवेकज ज्ञान का विषय न हो। सर्वथेति। सर्वथाविषयम्-"सर्वथाविषयम्" इस पद का, अतीतानागतप्रत्युत्पन्नम्-भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान रूप, सर्वम्-सर्व पदार्थ को, पर्यायैः-अनुक्रम से तथा, सर्वथा-सर्व प्रकार से, जानाति-विवेकज्ञाननिष्ठ योगी जानता है, इति अर्थः-यह अर्थ है। अक्रममिति। अक्रमम् इति-"अक्रमम्" इस पद का, एकक्षणोपारूढम् सर्वम्-एक क्षण में बुद्धिवृत्ति में उपारूढ सर्व पदार्थ को, सर्वथा-सर्व प्रकार से, गृह्णाति-ग्रहण करता है, इति अर्थः-यह अर्थ है। अत एव—एतदिति। एतत्-यह, विवेकजम् ज्ञानम्-विवेकजन्य ज्ञान, परिपूर्णम्-परिपूर्ण कहा जाता है। अस्येति। योगप्रदीपः अस्य एव अंशः-संप्रज्ञात योग भी इसी ज्ञान का एक अंश है और, मधुमतीम् भूमिम् उपादाय-मधुमती भूमि नामक ऋतम्भरा प्रज्ञा से आरम्भ कर, यावत् अस्य परिसमाप्तिः-साधन पाद के २७ वां सूत्र में प्रतिपादित सप्त प्रकार की प्रज्ञा-पर्यन्त यह समाप्त होता है। अर्थात् यह विवेकजन्य प्रज्ञा ऋतम्भरा प्रज्ञा से आरम्भ होती हुई-"तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा" २-२७-इस सूत्र-उक्त सप्त प्रकार की प्रज्ञा हो जाने पर समाप्त होती है।

इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने पर योगी कर्तव्य रहित होता हुआ ब्रह्मविद्वरिष्ठ तथा जीवन्मुक्त कहा जाता है। इति ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रद्धा-उत्पत्ति द्वारा अतएव परम्परा कैवल्य के हेतुभूत विभूति सहित संयम का निरूपण करके संयम का प्रकरण समाप्त होने पर प्रश्न होता है कि क्या इन विभूतियों के होने से ही मोक्ष होता है अथवा इनके बिना भी? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये "प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा" इतने अंश को सूत्र के साथ संमिलित करते हुए भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा-सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति। प्राप्तविवेकजज्ञानस्य-प्राप्त हुआ है विवेकजन्य ज्ञान (सिद्धिरूप अलौकिक ज्ञान) जिसको, वा-अथवा, अप्राप्तविवेकजज्ञानस्य-नहीं प्राप्त हुआ है विवेकजन्य ज्ञान जिसको ऐसे

यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रतीतिमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसाम्यमिवापन्नं भवति, तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः। एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिनः इतरस्य वा। न हि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति।

दोनों प्रकार के योगियों को, सत्त्वपुरुषयोः-बुद्धि और पुरुष की, शुद्धिसाम्ये-शुद्धि के तुल्य हो जाने पर, कैवल्यम्-मोक्ष होता है। अर्थात् सिद्धि की प्राप्ति होवे अथवा न होवे, सत्त्वपुरुष की शुद्धि साम्य रूप सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के प्राप्त होने पर मोक्ष हो जाता है। मोक्ष में सिद्धि की अपेक्षा नहीं। सूत्रगत इति शब्द पाद की समाप्ति का सूचक है।

यहां पर अवतरण भाष्य में जिस विवेकजन्य ज्ञान का उल्लेख है वह इस पाद में प्रतिपादित जो सिद्धिरूप अलौकिक ज्ञान है उसको समझना चाहिये, जो मोक्ष का हेतु नहीं और सूत्र में जो सत्त्वपुरुष की शुद्धिसमतात्मक सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप ज्ञान है वही मोक्ष का हेतु है, ऐसा विवेक कर लेना चाहिये।

भाष्यकार सूत्रगत शुद्धिसाम्य पद का विवरण करते हैं—यदेति। यदा-जिस समय, बुद्धिसत्त्वम्-बुद्धिसत्त्व, निर्धूतरजस्तमोमलम्-रज. तम रूप मल से रहित, पुरुषस्य अन्यताप्रतीतिमात्राधिकारम्-पुरुष प्रतियोगिक भेदज्ञानमात्र अधिकारवाला अर्थात् केवल विवेकज्ञानमात्र में तत्पर एवं, दग्धक्लेशबीजम्-दग्ध क्लेश बीजवाला, भवति-हो जाता है, तदा-उस समय, पुरुषस्य शुद्धिसाम्यम् आपन्नम् इव-पुरुष शुद्धि के समान अर्थात् शुद्धि को प्राप्त होने के समान, भवति-हो जाता है। अर्थात् जिस समय बुद्धिसत्त्व रज-तम रूप मल से रहित होकर केवल विवेकख्यातिमात्र में तत्पर होता हुआ, दग्ध क्लेशबीजवाला हो जाता है उस समय वह शुद्ध कहा जाता है। यही पुरुष-शुद्धि के समान बुद्धि की शुद्धि कही जाती है और, तदा-उस समय, उपचरितभोगाभावः-उपचार से प्रतीयमान जो भोग उसका अभाव होना,पुरुषस्य शुद्धिः-पुरुष की शुद्धि कही जाती है। अर्थात् अविवेक दशा में जो बुद्धिगत भोग पुरुष में उपचार से भासता था वह न भासना पुरुष की शुद्धि कही जाती है। यह बुद्धि तथा पुरुष का एक समान शुद्ध हो जाना, इसीका नाम शुद्धिसाम्य है।

एतस्यामिति। एतस्याम् अवस्थायाम्-इस पूर्वोक्त बुद्धि तथा पुरुष की शुद्धि अवस्था की प्राप्ति होने पर ही योगी को कैवल्यम् भवति-मोक्ष होता है चाहें वह, विवेकजज्ञाभागिनः ईश्वरस्य वा इतरस्य अनीश्वरस्य वा-विवेकजन्य ज्ञानवाला

अथ कैवल्यपादश्चतुर्थः

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः । औषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः ।

सर्वमूढजनबोधनेच्छया तत्त्वमौपनिषदं प्रकाशयन् ।
यो रणेऽर्जुनविषादनाशनः सोऽस्तु मे मनसि नन्दनन्दनः ॥ १ ॥

इस प्रकार प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद से क्रमशः समाधि-तत्साधन तथा विभूतियों का प्रधान रूप से व्युत्पादन किया गया और अन्य कतिपय क्षणिकवाद, परमाणुपुञ्जवाद का खण्डन तथा वृत्तिभेदादि का निरूपण प्रसङ्ग रूप से तथा उपोद्घात रूप से व्युत्पादन किया गया। संप्रति अवशिष्ट कैवल्य का व्युत्पादन करना चाहिये; परन्तु जब तक कैवल्य की योग्यतावाला चित्त और परलोक-गमनशील क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त स्थायी आत्मा एवं प्रसंख्यान की पराकाष्ठा आदि विषयों का व्युत्पादन न किया जाय तब तक कैवल्य का स्वरूप यथार्थ रूप से व्युत्पादन करना अशक्य है। अतः यथोक्त विषयों के व्युत्पादनपूर्वक कैवल्य के स्वरूप के व्युत्पादन के लिये चतुर्थ पाद का आरम्भ होता है।

उनमें पांच प्रकार के सिद्धचित्तों में कैवल्य की योग्यतावाले चित्त को निर्धारण के लिये सूत्रकार प्रथम पांच प्रकार की सिद्धियों का निरूपण करते हैं—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः-जन्म, औषधि, मन्त्र, तप तथा समाधि से जन्य पांच प्रकार की, सिद्धयः-सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

भाष्यकार स्वयं प्रत्येक सिद्धि का व्याख्यान करते हैं—देहान्तरितेति। देहान्तरिता-देहान्तर में होनेवाली जो सिद्धि वह, जन्मना-जन्म से अर्थात् जन्मजन्य, सिद्धिः-सिद्धि कही जाती है। जैसे पक्षियों का आकाश-गमन, स्वर्ग के साधन कर्मों के अनुष्ठान से मनुष्य देह के पश्चात् देवदेह को प्राप्त होने पर आकाश गमन तथा कपिल आदि महर्षियों को जन्म से ही दिव्य ज्ञान आदि सामर्थ्यविशेष प्राप्त होना आदि।

औषधिभिरिति। औषधिभिः—औषधि से, असुरभवनेषु-असुरों के भवन में, रसायनेन-रसायन के सेवन से कायवज्रसारत्व आदि सिद्धि प्राप्त होती है, इति-

मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः । तपसा संकल्पसिद्धिः कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादिः। समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः ॥ १ ॥

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातिपरिणतानाम्—

एवम् आदिः-इससे आदि लेकर और भी पारद (पारा) आदि औषधियों से सामर्थ्य-विशेषरूप सिद्धियां समझनी चाहिये। अर्थात् मनुष्य किसी निमित्त से असुर-भवन में जाकर कमनीय असुरकन्या को प्राप्त होता है, तब वहां के रसायण को सेवन करके वज्रसमान शरीर बना लेता है। इस प्रकार का जो इसी मनुष्य शरीर में औषधिजन्य सामर्थ्य-विशेष का लाभ होना, वह औषधिजन्य सिद्धि कही जाती है।

मन्त्रैरिति। मन्त्रैः-मन्त्रों के जप से जो, आकाशगमनाणिमादिलाभः-आकाश गमन तथा अणिमादि का लाभ होना वह मन्त्रजन्य सिद्धि कही जाती है।

तपसेति। तपसा-तप के अनुष्ठान से, संकल्पसिद्धिः-संकल्पसिद्धि प्राप्त होने पर जो, यत्र तत्र-जहां तहां, कामरूपी-कामरूपी अर्थात् कामनानुसार रूप अथवा अणिमादि की प्राप्ति करनेवाला और, कामगः-कामग अर्थात् कामनानुसार गमन करनेवाला योगी हो जाता है। वह तपजन्य सिद्धि कही जाती है। जैसे विश्वामित्रादि की सिद्धियां थीं, इति एवम् आदिः-इससे आदि लेकर और भी सिद्धियां जान लेनी चाहिये।

समाधिजा इति। समाधिजाः सिद्धयः-समाधिजन्य जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं वे, व्याख्याताः-विभूतिपाद में व्याख्यात हैं। अतः उनका पुनः व्याख्यान करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार पांच प्रकार की सिद्धियों के भेद से सिद्धों के भी पांच भेद समझ लेना चाहिये। इति ॥ १ ॥

उक्त पांच प्रकार की सिद्धियों में समाधिजन्य सिद्धियां तृतीय पाद में कही गई हैं। संप्रति अवशिष्ट औषधादिजन्य शरीर-इन्द्रियों का जात्यन्तरपरिणाम (शरीर-इन्द्रियों का बदल जाना) रूप चार प्रकार की सिद्धि कहनी चाहिये; परन्तु वह उपादानमात्र से होना कठिन है। क्योंकि, केवल उपादान न्यूनाधिक दिव्यादिव्यभाव में हेतु नहीं हो सकता है। इसमें हेतु यह है कि, कारण अविलक्षण रह कर कार्यविलक्षणता का हेतु नहीं हो सकता है। साथ ही जात्यन्तरपरिणाम में आकस्मिकत्व भी न आना चाहिये, तो फिर इस जात्यन्तरपरिणाम का हेतु कौन? इस आशंका की निवृत्ति करने के लिये भाष्यकार निम्नलिखित अंश को सूत्र के साथ संमिलित करते हुए सूत्र का उल्लेख करते हैं—

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातिपरिणतानाम्-जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरादिति। तत्र-ऐसे स्थल में, अन्यजातिपरिणतानाम् कायेन्द्रियाणाम्-मनुष्यादि

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणामोपजनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाद्भवति ।

कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति ॥ २ ॥

जाति रूप से परिणाम को प्राप्त शरीर-इन्द्रियादि का जो, जायन्तरपरिणामः-नूतन देव, तिर्यक् जाति रूप से परिणाम वह, प्रकृत्यापूरात्-प्रकृति अर्थात् उपादान के आपूर से होता है। शरीर की प्रकृति पृथिव्यादि पञ्चभूत और इन्द्रियों की प्रकृति अहङ्कार, उनके अवयवों का जो अनुप्रवेश वह आपूर कहा जाता है। उस आपूर से उक्त परिणाम होता है, इस अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—पूर्वेति। पूर्वपरिणामापायः-पूर्व के परिणाम का त्याग और, उत्तरपरिणामोपजनः-उत्तर के परिणाम का उपजन अर्थात् उत्पत्ति तेषाम्-उन भूतप्रकृति के, अपूर्वावयवानुप्रवेशात्-अपूर्व अर्थात् नूतन तथा स्वच्छ अवयवों के प्रवेश से, भवति-होता है। अर्थात् यथोक्त औषधादि साधनों के अनुष्ठान से पूर्व जो मनुष्यादि जाति रूप से परिणाम को प्राप्त शरीर तथा इन्द्रियां हैं, उनका सिद्धि के बल से पूर्व परिणाम के त्यागपूर्वक उत्तर नूतन देवादि जाति रूप परिणाम से परिणत होना वह प्रकृति के आपूर से अर्थात् उपादान कारण के नूतन तथा स्वच्छ अवयवों के अनुप्रवेश से होता है। च-और, कायेन्द्रियप्रकृतयः-शरीर तथा इन्द्रिय के उपादान कारण जो पञ्चभूत तथा अहंकार हैं वे; धर्मादिनिमित्तम् अपेक्षमाणाः-धर्मादि निमित्त की अपेक्षा करते हुए, स्वम् स्वम् विकारम्-अपने अपने विकारों पर, आपूरेण-नूतन तथा स्वच्छ अवयवों के अनुप्रवेश द्वारा, अनुगृह्णात्ति-अनुग्रह करते हैं।

यदि यथोक्त प्रकृत्यापूर से ही नूतन शरीरादि का लाभ हो जाता है जो सदा सबको क्यों नहीं होता है ? इस आशंका का उत्तर भाष्यकार ने "धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणाः" इन पदों का उल्लेख करके दिया है। अर्थात् यह जो कारण का कार्य पर आपूर द्वारा अनुग्रह करना है वह निरपेक्ष नहीं; किन्तु पूर्वोक्त मन्त्रादि अनुष्ठानजन्य धर्मादि निमित्त की अपेक्षा करके हैं। अतः सदा सबको नूतन शरीरादि का लाभ नहीं होता है; किन्तु जो साधन करता है उसीको होता है। यहां पर इतना विशेष और भी समझना चाहिये कि, जहां पर महिमा रूप सिद्धि के प्रभाव से योगी महान् हो जाता हैं, वहां पर प्रकृति के अवयवों के प्रवेश से होता है और जहां पर अणिमा रूप सिद्धि के प्रभाव से योगी अणु हो जाता है, वहां पर प्रकृति के अवयवों के अपगम (निकल जाने) से होता है। श्रीवामन भगवान के

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

न हि धर्मादि निमित्तं तत्प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति । न कार्येण कारणं प्रवर्तत इति । कथं तर्हि, वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्न-

---

शरीर का क्षण भर में त्रिभुवनव्यापी रूप परिणाम होना और श्रीकृष्ण भगवान् के शरीर का क्षण भर में विश्व रूप परिणाम होना, प्रकृति के अवयवों के प्रवेश से एवं महर्षि अगस्त्य के पान करते समय समुद्र का स्वल्प परिणाम होना प्रकृति के अवयवों के अपगम से समझना चाहिये । बाल शरीर का युवा, वृद्धादि रूप से तथा वटबीजादि का वृक्षादि रूप से एवं अग्निकण का वृहद् ज्वालारूप से परिणाम होना, प्रकृत्यापूर से समझना चाहिये । इति ॥ २ ॥

प्रकृति के आपूर से जात्यन्तरपरिणाम होता है यह कहा गया । उस पर सन्देह होता है कि, वह आपूर प्रकृतियों (उपादान कारण) का स्वाभाविक धर्म है अथवा नैमित्तिक ? । इस पर पूर्वपक्ष होता है कि–प्रकृतियों के सदा विद्यमान रहने पर भी कदाचित् ही आपूर होने से तथा धर्मादिनिमित्त के श्रवण से वह आपूर प्रकृतियों का स्वाभाविक नहीं; किन्तु नैमित्तिक धर्म है । इसका समाधान सूत्रकार करते हैं— निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवदिति । निमित्तम्–धर्मादि जो प्रकृत्यापूर में निमित्त है वह, प्रकृतीनाम्–प्रकृतियों का, अप्रयोजकम्–प्रयोजक नहीं है, तु–किन्तु, ततः–उस धर्मादि से, वरणभेदः–वरण अर्थात् आवरण रूप प्रतिबन्धक का भेद अर्थात् निवृत्ति होती है । इसमें दृष्टान्त देते हैं—क्षेत्रिकवत्–खेत जोतनेवाले किसान के समान ।

इस अर्थ का स्पष्टीकरण स्वयं भाष्यकार करते हैं—नहीति । धर्मादिर्निमित्तम्–जो उक्त धर्मादि प्रकृतियों के आपूर में निमित्त कहा गया है, तत्–वह, प्रकृतीनाम्–प्रकृतियों के, प्रयोजकम् न हि भवति–प्रयोजक नहीं है । इसमें हेतु देते हैं— नेति । कार्येण–कार्य के द्वारा, कारणम्–कारण, न प्रवर्तते–प्रवृत्त नहीं होता है, इति–यह नियम है ।

इस पर प्रश्न करते हैं—कथमिति । कथम् तर्हि–जब कार्य से कारण प्रवृत्त नहीं होता है तो कारण किस प्रकार प्रवृत्त होता है ? । उत्तर देते हैं—वरणेति । क्षेत्रिकवत्–कृषक के समान, ततः–उस धर्मादि निमित्त से, वरणभेदस्तु–प्रतिबन्धक की निवृत्ति मात्र होती है । इसी क्षेत्रिक दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं—यथेति । यथा–

तरं वा नापः पाणिनापकर्षंत्यावरणं त्वासां भिनत्ति, तस्मिन्भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तरमाप्लावयन्ति तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणमधर्मं भिनत्ति, तस्मिन्भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति। यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान्भौमान्वा रसान्धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुम किं तर्हि

जैसे, क्षेत्रिकः–कृषीवल अर्थात् किसान, पूर्णात् केदारात्–जल से भरा हुआ एक केदार अर्थात् कियारी से, केदारान्तरम्–अन्य कियारी में, अपाम्–जल को, पिप्लावयिषुः–ले जाने के लिये इच्छा करता हुआ, समम् निम्नम् निम्नान्तरम् वा–समान नीचे अथवा अत्यन्त नीचे की कियारी में, अपः–जल को, पाणिना–अपने हाथ से, न अपकर्षति–खींचता नहीं है, तु–किन्तु, आसाम्–इस जल के, आवरणम्–आवरणमात्र को, भिनत्ति–भेदन करता है। अर्थात् जल के गमन करने का प्रतिबन्धक जो आलवाल है अर्थात् कियारी के चारों तरफ जो मिट्टी का सेतु है, जिससे जल कियारी से बाहर जाने नहीं पाता है, उसका भेदन मात्र कर देता है, तस्मिन् भिन्ने–उस आलवाल के भेदन हो जाने पर, आपः–जल, स्वयम् एव–अपने आप केदारान्तरम् अन्य कियारी में, आप्लावयन्ति–चला जाता है, तथा–वैसे ही, धर्मः–धर्म भी प्रकृतियों के आपूर का प्रयोजक अर्थात् उत्पन्न तथा प्रेरणा करनेवाला नहीं है किन्तु, प्रकृतीनाम्–प्रकृतियों के, आवरणम् अधर्मम्–आवरणरूप आपूर के प्रतिबन्धक अधर्म को, भिनत्ति–भेदन मात्र करता है और, तस्मिन् भिन्ने–उस प्रतिबन्धक के भेदन हो जाने पर प्रकृतयः–प्रकृतियां, स्वयम् एव–स्वयं ही, स्वम् स्वम् विकारम्–अपने-अपने कार्य को, आप्लावयन्ति–आपूर कर देती हैं अर्थात् अपने अवयवों के अनुप्रवेश द्वारा कार्यों पर अनुग्रह करती हैं।

सर्व का भाव यह है कि–उक्त धर्मादिक प्रकृत्यापूर के केवल निमित्तमात्र हैं, प्रयोजक नहीं। क्योंकि, कार्य कारण का प्रयोजक नहीं होता है; किन्तु कारण ही कार्य का प्रयोजक होता है, यह नियम है। धर्मादिक प्रकृति के कार्य हैं; अतः वे प्रकृति के प्रयोजक नहीं हो सकते हैं। इसलिये आपूर प्रकृतियों का सहज धर्म है। धर्मादिक प्रतिबन्धक की निवृत्तिद्वारा निमित्तमात्र हैं; यह सिद्ध हुआ।

उक्त क्षेत्रिक दृष्टान्त को रूपान्तर से स्पष्ट करते हैं—यथेति। वा–अथवा, यथा–जैसे, स एव क्षेत्रिकः–वही कृषक, तस्मिन् एव केदारे–उसी कियारी में, औदकान् भौमान् वा रसान्–जल अथवा पृथिवी संबन्धी रसों को, धान्यमूलानि–धान्य के मूलों में अनुप्रवेशयितुम्–अनुप्रवेश करने के लिये न प्रभवति–समर्थ नहीं होता है। किम् तर्हि–किन्तु धान्यमूल के समीप में स्वाभाविक (बिना जोते बोये)

मुद्गगवेधुकश्यामकादींस्ततोऽपकर्षति । अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसो धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति । तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य । शुद्धयशुद्धयोरत्यन्तविरोधात् । न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति ।

अत्र नन्दीश्वरादय उदाहार्याः । विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते । ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति । अत्रापि नहुषाजगरादय उदाहार्याः ॥ ३ ॥

उत्पन्न क्षुद्र तृणरूप, मुद्गगवेधुकश्यामकादीन्-मुद्ग-मूंग, गवेधुक-चिना, तथा श्यामक-सामा आदि घासों को, ततः-धान्यमूलों के समीप से, अपकर्षति-उखाड़ के अलग कर देता है तेषु अपकृष्टेषु-उन तृणों के उखड़ जाने पर, स्वयम् एव रसाः-स्वयं उक्त रसादि, धान्यमूलानि-धान्य के मूलों में अनुप्रविशन्ति-अनुप्रविष्ट हो जाते हैं । अर्थात् उसके लिये प्रयत्नान्तर की आवश्यकता नहीं रहती है, तथा-वैसे ही, धर्मः-उक्त धर्म भी, अधर्मस्य-अधर्म की, निवृत्तिमात्रे निवृत्तिमात्र में, कारणम्-कारण है, प्रकृत्यापूर में नहीं ।

इसमें हेतु देते हैं शुद्धयेति । शुद्धयशुद्धयोः-धर्मरूप शुद्धि और अधर्म रूप अशुद्धि का परस्पर, अत्यन्तविरोधात्-अत्यन्त विरोध होने से धर्म से अधर्म की ही निवृत्ति होती है, आपूर की संपत्ति नहीं । इसी को स्पष्ट करते हैं—नेति । प्रकृतिप्रवृत्तौ-प्रकृति की प्रवृत्ति में, धर्मः-धर्म, हेतुः-कारण, न तु भवति-नहीं होता है । अर्थात् प्रकृति की प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक रूप जो अधर्म उसकी धर्म द्वारा निवृत्ति हो जाने पर प्रकृति स्वयं प्रकृत्यापूर में प्रवृत्त हो जाती है । उसके लिये धर्मादि की आवश्यकता नहीं ।

अत्रेति । अत्र-धर्म द्वारा अधर्म की निवृत्ति हो जाने पर जहां प्रकृति स्वयं प्रवृत्त होती है वहां पर, नन्दीश्वरादयः-नन्दीश्वर आदि महानुभाव, उदाहार्याः-उदाहरण देने योग्य हैं । विपर्ययेणेति । विपर्ययेण-इससे विपरीत, अधर्मः अपि-अधर्म भी, धर्मम्-धर्म को, बाधते-बाधता है । अर्थात् जैसे धर्म अधर्म को बाधता है वैसे ही अधर्म भी धर्म को बाधता है । ततश्चेति । ततश्च-और उससे (अधर्म द्वारा धर्म का बाध होने से), अशुद्धिपरिणामः-अशुद्धि परिणाम होता है । अत्रापीति । अत्र अपि-इस अर्थ में भी, नहुषाजगरादयः-नहुषाजगर आदि, उदाहार्याः-उदाहरणीय हैं । अर्थात् अधर्म द्वारा धर्म का जहां बाध होता है वहां नहुषाजगर आदि उदाहरण देने योग्य हैं ।

भाव यह है कि, जिस प्रकार धर्म, अधर्म निवृत्ति द्वारा प्रकृत्यापूर में निमित्त है, उसी प्रकार अधर्म भी धर्मनिवृत्ति द्वारा प्रकृत्यापूर में निमित्त है । जैसे नन्दीश्वर नामक मनुष्यधारी शिवपूजन ध्यानादिजन्य धर्म से अधर्म-निवृत्ति द्वारा ईश्वर-भाव को

यदा तु योगी बहून्कायान्निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति ।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति ।

प्राप्त हुए थे । और इन्द्रपद को प्राप्त हुआ राजा नहुष अगस्त्यादि सप्त ऋषियों के अपमानजन्य अधर्म से धर्मनिवृत्ति द्वारा अजगर नामक सर्पभाव को प्राप्त हुआ था । उनमें नन्दीश्वर के देवभाव रूप प्रकृत्यापूर में धर्म निमित्त और नहुष के सर्पभाव रूप प्रकृत्यापूर में अधर्म निमित्त समझना चाहिये । नन्दीश्वर तथा नहुष अजगर के विषय में विशेष विवरण द्वितीय पाद के १२ वें सूत्र के व्याख्यान में अवलोकन करना चाहिये । इति ॥ ३ ॥

सम्प्रति भाष्यकार प्रकृत्यापूर से जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनका समर्थन करके सिद्धिनिर्मित नाना शरीरों में चित्त (मन) एक है या अनेक इसका विचार करते हुए सूत्र का अवतरण करते हैं—यदेति । यदा तु योगी–जब योगी, बहुन् कायान्–सिद्धि के बल से एक ही समय नाना शरीरों का, निर्मिमीते–निर्माण करता है, तदा–तब, ते किम् एक मनस्काः भवन्ति–वे सर्व शरीर क्या एक मनवाले होते हैं, अथ–अथवा, अनेकमनस्काः–अनेक मन वाले ? इति–इस प्रकार का सन्देह होने पर सूत्रकार कहते हैं— निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रादिति । अस्मितामात्रात्–अस्मितामात्र अर्थात् अहङ्कार रूप उपादान कारण से योगी, निर्माणचित्तानि–अनेक निर्माण चित्तों को रचता है । अतः सभी शरीर एकमनस्क नहीं; किन्तु अनेकमनस्क हैं । अर्थात् संकल्प से निर्मित निर्माण चित्त कहा जाता है । जैसे योगी सिद्धि के बल से एक ही काल में अनेक शरीरों का निर्माण करता है, वैसे ही अपने स्वाधीन अहङ्काररूप उपादान कारण से (जितने शरीरों का निर्माण करता है उतने ही) अनेक चित्तों का भी निर्माण करता है ।

भाष्यकार ने "यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का:" इस पंक्ति से जो सन्देह व्यक्त किया है, उसका भाव यह है कि, जिस समय योगी बहुत कायों का निर्माण करता है उस समय जो प्रथम मुख्य काय में मन है वही सर्व काय में कार्य करता है अथवा जितने काय हैं उतने मन का भी निर्माण करता है ? । इस सन्देह का निराकरण सूत्र से यह किया गया है कि–अहंकार से अनेक मन का भी निर्माण योगी करता है । अतः जितने काय उतने निर्माण-चित्त के रचने से अनेकमनस्क योगी के पूर्वोक्त काय हैं, यह सिद्ध हुआ ।

इसी अर्थ को संक्षेप से भाष्यकार स्फुट करते हैं—अस्मितामात्रमिति । अस्मितामात्रम्–अहङ्कार जो, चित्तकारणम्–चित्त का उपादान कारण है, उसको, उपा-

ततः सचित्तानि भवन्तीति ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरःसरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते । ततः प्रवृत्तिभेदः ॥ ५ ॥

दाय-लेकर योगी, निर्माणचित्तानि-निर्माण-चित्त को,करोति-करता है । ततः-इससे जितने शरीर संकल्प से योगी रचता है वे सब सचित्तानि-चित्त सहित ही रचता है; अतः सर्व शरीर, सचित्तानि भवन्ति-चित्त सहित ही हैं, अतएव जितने शरीर उतने मन होने से योगी के निर्माणकाय अनेकमनस्क ही हैं, एकमनस्क नहीं, यह सिद्ध हुआ ।

यद्यपि सूत्रकार ने स्पष्ट अनेक शब्द का प्रयोग नहीं किया हैं तथापि "निर्माण-चित्तानि" इस बहुवचन के प्रयोग से अनेक चित्तों का लाभ समझना चाहिये । इति ॥ ४ ॥

जिस समय योगी की एक ही काल में अनेक भोगों के भोगने के लिये अनेक शरीर निर्माण की इच्छा होती है, उस समय अहङ्कार रूप उपादान से अनेक चित्त का भी निर्माण करता है, यह कहा गया है । उस पर शङ्का होती हैं कि-चित्त के अनेक होने पर प्रत्येक का अभिप्राय भिन्न भिन्न होने से उनमें एककार्यकर्तृत्व तथा प्रतिसन्धान आदि कैसे होगा ? । इसका समाधान सूत्रकार करते हैं-प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषामिति । अनेकेषाम्-अनेक नूतन निर्मित चित्तों के, प्रवृत्तिभेदे-व्यापार नाना होने पर, एकम् चित्तम्-एक पुरातन योगी का चित्त, प्रयोजकम्-अधिष्ठानरूप से प्रेरक है । अर्थात् जैसे एक शरीर में अनेक करचरणादि अवयवों का अधिष्ठातृरूप से प्रेरक एक चित्त है, वैसे ही अनेक नूतन निर्मित चित्तों का अधिष्ठातृ-रूप से प्रेरक पुरातन एक चित्त है; अतः एक रूप से प्रेरणा होने के कारण एकका-र्यकर्तृत्वादि में कोई आपत्ति नहीं ।

भाष्यकार शङ्कापूर्वक सूत्र का व्याख्यान करते हैं-बहूनामिति। बहूनाम् चित्तानाम्=अनेक अवान्तर चित्तों की, एकचित्ताभिप्रायपुरःसरा-एक मुख्य चित्त के अभिप्रा-यपूर्वक, प्रवृत्तिः कथम्-प्रवृत्ति कैसे होगी ? इति-ऐसी शङ्का होने पर उत्तर देते हैं-सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते । सर्वचित्तानाम्-अनेक नूतन चित्तों का, एकम् चित्तम् प्रयोजकम्-एक चित्त को प्रयोजक रूप से योगी, निर्मिमीते-नियुक्त करता है, ततः प्रवृत्तिभेदः-उससे अन्य सर्व की प्रवृत्ति होती है । अर्थात् अनेक चित्तों में एक जो पुरातन चित्त है वह मुख्य है और अन्य नूतन सर्व चित्त

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति । तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयम् ।

तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिः । नातः पुण्यपापाभिसंबन्धः क्षीणक्लेशत्वाद्योगिन इति । इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥ ६ ॥

अवान्तर हैं । उनमें एक मुख्य चित्त को योगी प्रेरक रूप से नियुक्त करता है, जिसकी प्रेरणा से अन्य सर्व चित्त अपना अपना कार्य करते हैं । अतः गडबडी होने नहीं पाती है; किन्तु सर्व की एक वाक्यता हो जाती है । यहां पर 'निर्मिमीते' इस पद का उत्पत्ति अर्थ नहीं; किन्तु नियुक्ति अर्थ है । क्योंकि, मुख्य चित्त की उत्पत्ति योगी नहीं करता है; किन्तु वह प्रथम से ही विद्यमान है । इति ॥ ५ ॥

इस प्रकार प्रासङ्गिक विषय को समाप्त कर सम्प्रति प्रकृत विषय का विचार करते हैं । इसी पाद के प्रथम सूत्र में जन्म, औषधि, मन्त्र, तप तथा समाधिजन्य पांच प्रकार की सिद्धि कही गई हैं । सिद्धि के भेद से सिद्ध का और सिद्ध के भेद से चित्त का भी पांच प्रकार का भेद सिद्ध होता है । उनमें कौन चित्त अपवर्गभागी है, इसका निर्णय सूत्रकार करते हैं—तत्र ध्यानजमनाशयमिति । तत्र–उन पांच प्रकार के सिद्धचित्तों में जो, ध्यानजम्–ध्यानजन्य सिद्धचित्त है वही, अनाशयम्–अनाशय अर्थात् कर्मवासना तथा क्लेशवासना से रहित है; अतः वही अपवर्गभागी है । क्योंकि, ध्यान से ज्ञान और ज्ञान से वासना का उच्छेद होता है ।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—पञ्चविधमिति । जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः–जन्मजन्य, औषधिजन्य, मन्त्रजन्य, तपोजन्य तथा समाधिजन्य के भेद से पांच प्रकार की चित्त की सिद्धियां हैं; अतः सिद्धि के भेद से, निर्माणचित्तम पञ्चविधम्–सिद्धचित्त भी पांच प्रकार के हैं, इति–यह सिद्ध हुआ । तत्रेति । तत्र–उन पांच प्रकार के निर्माणचित्तों में, यदेव ध्यानजम् चित्तम्–जो ध्यानजन्य पञ्चम प्रकार का सिद्धचित्त है, तदेव अनाशयम्–वही वासनारहित है । क्योंकि–तस्येति । तस्यैव–उसी समाधिजन्य सिद्धचित्त को, रागादिप्रवृत्तिः आशयः–रागादिप्रवृत्ति के हेतुभूत वासना, नास्ति–नहीं है । नात इति । अतः–इसलिये उसको, पुण्यपापाभिसम्बन्धः न–पुण्य-पाप का सम्बन्ध भी नहीं है । इसमें हेतु देते हैं—योगिनः क्षीणक्लेशत्वात्–योगियों के क्षीणक्लेश होने से अर्थात् उनके अविद्यादि क्लेश क्षीण हो चुकने से । अतः उन्हींका जो समाधिजन्य सिद्धचित्त है वही वासना रहित है और जो-इतरेषामिति । इतरेषाम् तु–इतर जन्मौषधि आदि जन्य सिद्धचित्त हैं उन में तो,

यतः—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः। कृष्णा शुक्लकृष्णा शुक्लाऽशुक्लाकृष्णा चेति।

कर्माशयः विद्यते–कर्म-वासना विद्यमान ही है; अतः जन्मादिजन्य जो प्रथम के चार प्रकार के सिद्धचित्त हैं वे वासनायुक्त होने से अपवर्गभागी नहीं हैं। अर्थात् जन्ममन्त्रादिजन्य सिद्धचित्तवाले अयोगियों को मोक्ष नहीं होता है, यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि, जन्म का हेतु पुण्यपाप है और पुण्यपाप का हेतु कर्म, एवं कर्म रागद्वेष से होता है। योगियों का रागद्वेष नष्ट है; अतः उनका जन्म नहीं होता है। अत एव वे मुक्त हैं। यद्यपि सुकृत कर्म करते हुए योगी देखे जाते हैं, तथापि उनका कर्म रागजन्य नहीं किन्तु स्वाभाविक है। अतः वह भी जन्म का हेतु नहीं। रागद्वेष से जो कर्म होता है, वही जन्ममरण का हेतु होता है, यह नियम है। अत एव भाष्यकार ने कहा कि—योगियों के चित्त में रागद्वेषरूप आशय (वासना) नहीं है; अतः उनको पुण्यपाप का सम्बन्ध भी नहीं। क्योंकि, वे क्षीणक्लेश हैं। इति ॥ ६ ॥

योगी को पुण्यपाप का सम्बन्ध नहीं है और इतरों को है, इस अर्थ में हेतुपरक सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं—यत इति। यतः–जिस कारण, कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषामिति। योगिनः–योगियों के, कर्म–यमनियमादि कर्म, अशुक्लाऽकृष्णम्–अशुक्ल, अकृष्ण और, इतरेषाम्–योगी से इतर अयोगियों का, त्रिविधम्-शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण के भेद से तीन प्रकार के हैं। इस कारण योगियों को पुण्यपाप का सम्बन्ध नहीं है और इतरों को है। साथ ही इतना और भी समझना चाहिये कि, जिस कारण योगियों का चित्त इतरों के चित्त से विलक्षण है; अतः योगियों को पुण्यपाप का सम्बन्ध नहीं और इतरों को है। वैसे ही योगियों का कर्म भी इतरों के कर्म से विलक्षण हैं; अतः योगियों को पुण्यपाप का सम्बन्ध नहीं और इतरों को है।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं। चतुष्पदीति। चतुष्पदी खलु–सामान्यरूप से चार प्रकार की ही, इयम्–यह, कर्मजातिः–कर्म की जाति है। कृष्णा–कृष्ण जाति, शुक्लकृष्णा–शुक्लकृष्ण जाति, शुक्ला–शुक्ल जाति, च–और, अशुक्लाऽकृष्णा–अशुक्लाऽकृष्ण जाति। अर्थात् सामान्यतया चार प्रकार के ही कर्म हैं–एक कृष्ण कर्म, दूसरा शुक्लकृष्ण कर्म, तीसरा शुक्ल कर्म और चौथा अशुक्लाऽकृष्ण कर्म। उनमें प्रत्येक का अर्थ दिखाते हैं—तत्रेति। तत्र–

तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्। शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या। तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः। शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवताम्। सा हि केवले मनस्यायत्तत्वाद् बहिःसाधनानधीना न परान् पीड-

---

उन चार प्रकार की कर्मजातियों में, दुरात्मनाम्-दुरात्मा पापी पुरुषों की जो कर्मजाति है वह, कृष्णा-कृष्णा नामक कर्मजाति है। अर्थात् पापियों के जो तमोमूलक तथा दुःखहेतुक ब्रह्महत्यादि कर्म हैं, वे कृष्ण कर्म कहे जाते हैं। शुक्लकृष्ण कर्म का स्वरूप दिखाते हैं—शुक्लकृष्णेति। बहिः साधनसाध्या—देह-इन्द्रियादि आन्तर साधन की अपेक्षा पशु-आज्यादि बाह्य साधन से साध्य जो कर्मजाति वह, शुक्लकृष्णा-शुक्लकृष्ण नामक कर्मजाति कही जाती है। क्योंकि, तत्र-उसमें, परपीडानुग्रहद्वारेणैव-पशुवधादि परपीडा तथा ब्राह्मणों को दक्षिणादानादि परानुग्रह द्वारा ही, कर्मवासनाप्रचयः-कर्मवासना समूह का सम्बन्ध है, अन्य प्रसिद्ध किसी कर्मवासना का नहीं।

भाव यह है कि, पुण्यजनक शुभ कर्म शुक्ल और पापजनक अशुभ कर्म कृष्ण कर्म कहा जाता है, एवं जो कर्म पुण्यपाप उभयजनक हो वह शुक्लकृष्ण कर्म कहा जाता है। यज्ञादि कर्म उभयजनक होने से शुक्लकृष्ण कहा जाता है। क्योंकि, उसमें पशुवध, व्रीहियवादि बीजवध तथा पिपीलिकादि क्षुद्र प्राणीवध होने से पाप और ब्राह्मणों को दक्षिणादानादि देने से पुण्य भी होता है। अतः यज्ञादि कर्म पुण्यपाप उभयजनक होने से शुक्लकृष्ण कर्म कहा जाता है।

शुक्ल कर्म का स्वरूप दिखाते हैं—शुक्लेति। तपःस्वाध्यायध्यानवताम-तप, स्वाध्याय तथा ध्यानवाले पुरुषों की जो कर्मजाति वह, शुक्ला—शुक्ला नामक कर्मजाति कही जाती है। हि-क्योंकि, सा—वह शुक्ला नामक कर्मजाति, केवले मनसि आयत्तत्वात्-केवल मन के अधीन होने से अर्थात् मनोमात्र साध्य होने से, बहिःसाधना-नधीना-बाह्य साधन के अधीन नहीं; अत एव न परान् पीडयित्वा भवति-अन्य किसी प्राणी को पीडा देकर उत्पन्न नहीं होती है। अर्थात् सत्त्वमूलक मनोमात्र साध्य केवल सुखहेतुक जो तप, स्वाध्याय तथा ध्यानरूप कर्म वह शुक्ल कर्म कहा जाता है। क्योंकि, वह परपीडाकारक न होने से केवल पुण्य का ही जनक है।

इस प्रकार कृष्ण, शुक्लकृष्ण तथा शुक्ल कर्मों का विवरण करके संप्रति क्रमप्राप्त अशुक्लाऽकृष्ण कर्म का विवरण करते हैं—अशुक्लाऽकृष्णेति। क्षीणक्लेशानाम्-अविद्यादि क्षीणक्लेश, चरमदेहानाम्-चरमदेह अर्थात् जिनको वर्तमान देह से अनन्तर अन्य देह की प्राप्ति न हो ऐसे, संन्यासिनाम-संन्यासियों की जो कर्मजाति है वह, अशुक्लाऽकृष्णा-अशुक्लाऽ-कृष्णा नामक कर्मजाति कही जाती है। अर्थात्

यित्वा भवति। अशुक्लाऽकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहाना-मिति।

तत्राशुक्लं योगिन एव, फलसंन्यासात्। अकृष्णं चानुपादानात्। इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति॥ ७॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥८॥

पूर्वोक्त सत्त्वादि गुणामूलक तथा सुखदुःखरूप फल से शून्य जो संप्रज्ञात समाधि का अनुष्ठान आदि कर्म वह अशुक्लाऽकृष्ण कर्म कहा जाता है। क्योंकि, वह कर्म न शुक्लरूप और न कृष्णरूप ही है।

भाव यह है कि, यद्यपि संन्यासी योगिजन यमनियमादि शुभ कर्म का अनुष्ठान करते हैं तथापि वह कर्म फलकामना के अभाव से शुक्ल रूप नहीं एवं निषिद्ध कर्म से भिन्न होने से कृष्णरूप भी नहीं; अतएव उभय रूप भी नहीं। किन्तु चतुर्थ प्रकार का अशुक्लाऽकृष्णरूप है।

इस प्रकार चार प्रकार के कर्मों का विवरण करके उनमें कौन किसका है, इस पूर्वोक्त का ही निर्धारण करते हैं—तत्रेति। तत्र—उक्त चार प्रकार के कर्मों में, अशुक्लम् योगिनः एव–अशुक्ल तथा अकृष्ण कर्म केवल योगियों का ही होता है। क्योंकि, उन्होंने, फलसन्यासात्–पुण्य कर्म के फल का त्याग किया है। अर्थात् ईश्वर-अर्पण कर दिया है, च–और, अकृष्णम् अनुपादानात्–अकृष्ण कर्म का ग्रहण नहीं किया है। अर्थात् "मैं कर्त्ता हूँ" इस प्रकार के कर्तृत्वाभिमान का त्याग किया है। और, इतरेषाम् भूतानाम् तु–इतर प्राणियों के जो कर्म हैं वे तो, त्रिविधम्–तीन प्रकार के हैं, यह बात; पूर्वम् एव–प्रथम ही कह दी गई है। अर्थात् निषिद्ध कर्म करनेवाले दुरात्माओं का कृष्ण, विहित कर्म करनेवाले याज्ञिकों का शुक्लकृष्ण और यमनियमादि का अनुष्ठान करनेवाले योगाभ्यासियों का शुक्ल कर्म है, यह बात प्रथम ही कह दी गई है। अतः पुण्यपाप के संबन्ध से शून्य होने के कारण योगियों का ही चित्त कैवल्यभागी अर्थात् कैवल्य की योग्यतावाला है, इतरों का नहीं। क्योंकि, उनके चित्त यथायोग्य पाप, पुण्य तथा पुण्यपाप से युक्त हैं, यह सिद्ध हुआ। इति॥ ७॥

योगियों का चित्त वासनाशून्य और इतरों का वासनायुक्त है, यह कहा गया। वह वासना दो प्रकार की हैं–कृष्णादि कर्मवासना और अविद्यादि क्लेशवासना। उनमें कर्मवासना का विवेचन करके संप्रति क्लेशवासना की गति को सूत्रकार कहते हैं—ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानामिति। ततः-पूर्वोक्त तीन

तत इति त्रिविधात्कर्मणः। तद्विपाकानुगुणानामेवेति।

यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः। न हि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं संभवति। किं तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते। नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः॥ ८॥

प्रकार के कर्मों से, तद्विपाकानुगुणानामेव वासनानाम्–इन कर्मफलों के अनुसार ही वासनाओं का, अभिव्यक्तिः–आविर्भाव होता है। अर्थात् जो कर्म जिस जाति, आयुष्य तथा भोग रूप फल का आरम्भक होता है, वह कर्म उस जात्यादि फल के अनुकूल ही वासना का अभिव्यञ्जक होता है। अन्यथा, मनुष्य जन्म के पश्चात् जिसको दिव्य अथवा नारक जन्म होता है उसकी यथायोग्य दिव्य अथवा नारक भोग में प्रवृत्ति न होनी चाहिये, एवं उष्ट्रयोनि प्राप्त होने पर कण्टक-भक्षण में तथा मार्जार-योनि प्राप्त होने पर मूषक-भक्षण में प्रवृत्ति न होनी चाहिये और होती तो है?। अतः यह सिद्ध हुआ कि, फल के अनुसार ही वासना की अभिव्यक्ति होती है, अन्य की नहीं।

भाष्यकार सूत्र का विवेचन करते हैं—तत इति। ततः इति त्रिविधात् कर्मणः-ततः अर्थात् तीन प्रकार के कर्म से, तद्विति। तद्विपाकानुगुणानाम् एव इति–उस कर्मफल के योग्य ही वासना की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात्, यदिति। यज्जातीयस्य कर्मणः–जिस पुण्यजातीय अथवा अपुण्यजातीय कर्म का, यः विपाकः–जो दिव्य अथवा नारक, जाति-आयु-भोग रूप फल होता है, तस्य अनुगुणाः याः वासनाः–उस फल के अनुकूल जो वासनायें, कर्मविपाकम् अनुशेरते-कर्मफल को रचती हैं, तासाम् एव अभिव्यक्तिः–उसी प्रकार के फल देनेवाली वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है। नहीति। हि-क्योंकि, दैवम् कर्म विपच्यमानम्–दैव कर्म फलोन्मुख होता हुआ, नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तम्–नारक, तिर्यक, मनुष्यादि भोग की वासनाभिव्यक्ति का निमित्त होना, न संभवति—सम्भव नहीं है। किन्त्विति। किन्तु—किन्तु, दैवानुगुणाः एव—यथोक्त दैव-भोग के अनुकूल ही, अस्य वासनाः—इसकी वासनायें, व्यज्यन्ते—अभिव्यक्त होती हैं। नारकेति। एवम्–इसी प्रकार, नारकतिर्यङ्मनुष्येषु च–नारक तिर्यक् तथा मनुष्यों में भी, समानः चर्चः–समान ही चर्चा है। अर्थात् स्वर्गादि प्रापक कर्म के समान नरकादि प्रापक कर्म भी नारकीय भोगानुकूल वासना का ही निमित्त है, ऐसा

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः । स यदि

समझना चाहिये । देवयोनि की प्राप्ति करानेवाला कर्म दैवकर्म, नरकयोनि की प्राप्ति करानेवाला कर्म नारक कर्म कहलाता है । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

भाव यह है कि, कर्म से दो प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं-एक अदृष्ट अर्थात् पुण्यपाप और दूसरी वासना । शुभ कर्म से पुण्य और शुभ वासना एवं अशुभ कर्म से पाप और अशुभ वासना । ये अदृष्ट और वासना चित्त में अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान रहते हैं । जब पूर्वोक्त पुण्यपाप यथायोग्य देव, नारकादि शरीर के आरम्भक होते हैं तब उक्त देव, नारकादि फल के अनुकूल ही वासना की अभिव्यक्ति होती है, प्रतिकूल की नहीं । अन्यथा, मनुष्य जन्म के अनन्तर जब पशुपक्ष्यादि का जन्म होता है तब तृण-भक्षणादि में प्रवृत्ति नहीं होगी और होती ता है ? अतः विपाक के अनुकूल ही वासना की अभिव्यक्ति होती है, यह सिद्ध हुआ । इति ॥ ८ ॥

कर्मविपाक के अनुकूल जो वासना उसीका ही प्रादुर्भाव होता है. यह कहा गया । उस पर शङ्का होती है कि, मनुष्य शरीर के अनन्तर जब मार्जार शरीर की प्राप्ति होती है तब बहुत व्यवहित जो मार्जारयोनि-जो पूर्व हो चुकी है उसीकी वासना अभिव्यक्त होती है और अत्यन्त अव्यवहित जो मनुष्य शरीर उसकी वासना अभिव्यक्त नहीं होती है, यह कहना समुचित नहीं; किन्तु अत्यन्त अव्यवहित जो मनुष्य शरीर उसीकी वासना अभिव्यक्त होती है, यही कहना समुचित है । क्योंकि, यह कभी भी संभव नहीं हो सकता है कि, अव्यवहित दिन में अनुभूत पदार्थ का स्मरण न होकर व्यवहित दिन में अनुभूत पदार्थ का स्मरण होता है ? । इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वादिति । जातिदेशकालव्यवहितानाम् अपि–जाति, देश, काल कृत व्यवधान वाली वासना का भी, आनन्तर्यम्–अव्यवधान ही समझना चाहिये । क्योंकि, स्मृतिसंस्कारयोः एकरूपत्वात्–स्मृति और संस्कार के एक रूप होने से अर्थात् समान विषय विषयक होने से अर्थात् वर्तमान मार्जार शरीर की स्मृति और पूर्व मार्जार शरीर का संस्कार इन दोनों का विषय समान होने से जाति, देश, काल कृत व्यवधान होने पर भी फल दृष्टि से दोनों शरीर अव्यवहित ही हैं । अतः वर्तमान मार्जार शरीर में फल दृष्टि से अव्यवहित अतीत मार्जार शरीर की वासना की ही अभिव्यक्ति होती है और जात्यादि अव्यवहित मनुष्य शरीरकी वासनाकी नहीं, यह पूर्वोक्त शङ्काका उत्तर हुआ ।

जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियाद् द्रागित्येव पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्येत। कस्मात्। यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्यमेव।

भाष्यकार सूत्रार्थ को स्फुट करते हैं—वृषदंशेति। वृषदंशविपाकोदयः-वृषदंशादि शरीर के आरम्भक जो विपाकोदय अर्थात् विपाक रूप कर्माशय है वह दूसरी बार जब अभिव्यक्त होता है तब, स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः-अपने अभिव्यञ्जक संस्कार के अनुसार ही अभिव्यक्त होता है। अर्थात् वृषदंशादि योनि का आरम्भक कर्माशय जब अपना फल देने के लिये उन्मुख होता है तब पूर्व के वृषदंशादि योनि के संस्कारों को लेकर ही उन्मुख होता है, अन्यथा नहीं। स यदीति। सः यदि-वह कर्माशय यदि, जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः-शतजन्म के दूर देश के अथवा शतकल्प के व्यवहित भले क्यों न हो, पुनश्च-तो भी, स्वव्यञ्जकाञ्जनः एव-अपने अभिव्यञ्जक के संस्कार से संस्कृत होकर के ही, उदियात्-उदय होता है, अर्थात् द्रागित्येव- शीघ्रता से ही, पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृताः वासनाः-पूर्वानुभूत जो व्यवहित वृषदंशादि योनिरूप कर्मफल हैं उसके संस्कार को, उपादाय-ले करके ही, व्यज्येत-व्यक्त अर्थात् उदय होता है। उक्त कथन में कारण पूछते हैं—कस्मादिति। कस्मात्-किस कारण से जात्यादि के व्यवधान होने पर भी पूर्व कर्म विपाक के अनुसार ही वासना का उदय होता है?। उत्तर देते हैं—यत इति। यतः-जिससे, व्यवहितानाम्-अपि आसाम्-व्यवहित इन वासनाओं का भी, निमित्तीभूतम् सदृशम् कर्माभिव्यञ्जकम्-निमित्तभूत समान कर्म अभिव्यञ्जक है, इति-इसी से, आनन्तर्यम् एव-आनन्तर्य अर्थात् अव्यवहित ही है।

भाव यह है कि, वर्त्तमान वृषदंशादि प्रापक जो कर्म है वह अतीत वृषादियोनि की वासनाओं की अभिव्यक्ति में निमित्त है। अतः यद्यपि उक्त वासना व्यवहित है तथापि सदृश कर्मजन्य होने से फलतः उनका आनन्तर्य ही है। अर्थात् वर्त्तमान वृषादि योनि के आरम्भक कर्म का अतीत वृषादि योनि की वासना अभिव्यक्ति में कारण होने से कारणद्वारा उसका आनन्तर्य ही है।

वर्त्तमान वृषादि योनि वासना का कारणद्वारा आनन्तर्य ही है, इस अर्थ का उपपादन करके संप्रति कार्य द्वारा आनन्तर्य का उपपादन करते हैं—कुतश्चेति। च-और, कुतः-किस प्रमाण से आनन्तर्य ही है?। अर्थात् अतीत वृषादि योनि की वासना का

कुतश्च । स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् । यथानुभवास्तथा संस्काराः । ते च कर्मवासनानुरूपाः । यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति । जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः ।

स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येवमेते स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद् व्यज्यन्ते । अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति । वासनाः संस्कारा आशया इत्यर्थः ॥ ९ ॥

वर्त्तमान वृषादि योनि का कर्म अभिव्यक्ति में कारण है; अतः कारणद्वारा आनन्तर्य ही है, इस कथन में क्या प्रमाण है ? । इसका उत्तर सूत्र के अक्षरों से ही देते हैं—स्मृतीति । स्मृतिसंस्कारयोः–स्मृति और संस्कार के, एकरूपत्वात्–एक रूप होने से अर्थात् समान विषय विषयक होने से कारण द्वारा उसका आनन्तर्य ही है । इसीका उपपादन करते हैं—यथेति । यथा–जैसे, अनुभवाः–अनुभव होते हैं, तथा–वैसे ही, संस्काराः–तज्जन्य संस्कार होते हैं । च–और, ते–वे संस्कार, कर्मवासनानुरूपाः–कर्म-वासना के अनुसार ही होते हैं । च–और, यथा–जैसी, वासनाः–वासनायें होती हैं, तथा–वैसी ही, स्मृतिः–स्मृति होती है, इति–इस प्रकार जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः–जाति-देश-काल के व्यवहित संस्कारों से, स्मृतिः–स्मृति होती है । इस प्रकार वर्तमान वृषदंशादि योनि के संस्कार और अतीत वृषदंशादियोनि के अनुभव ये दोनों एक विषय विषयक होने से अव्यवहित हैं । अतः उसीकी वासना की अभिव्यक्ति होती है और अनन्तर अनुभूत मनुष्य योनि की अनुभवजन्य वासना की नहीं, यह सिद्ध हुआ ।

शङ्का होती है कि, यदि सजातीय संस्कार ही स्मृतिद्वारा कर्मफल का हेतु है तो एक कर्मफल की उत्पत्ति करके उसी क्षण पूर्व संस्कार का नाश होने से तत्सजातीय अग्रिम कर्मफल का आरम्भ कौन करेगा ? । इसका उत्तर देते हैं—स्मृतेश्चेति । च और, स्मृतेः स्मृति से, पुनः संस्काराः–फिर संस्कार उत्पन्न होते हैं । अर्थात् संस्कार से स्मृति और स्मृति से संस्कार,इति एवम्–इस प्रकार, एते स्मृतिसंस्काराः–ये स्मृति और संस्कार, कर्माशयवृत्तिलाभवशात्–कर्म-वासना के उद्बोध से, व्यज्यन्ते–व्यक्त होते रहते हैं । अर्थात् स्मृति से संस्कार का नाश नहीं होता है, प्रत्युत स्मृति से उसका कारणीभूत संस्कार अधिक दृढ होता है । अतः संस्कार का नाश न होने से अग्रिम कर्मफल की उत्पत्ति होने में कोई आपत्ति नहीं । उपसंहार करते हैं-अतश्चेति । अतश्च–इस उक्त कारण से, व्यवहितानाम् अपि–पूर्व वृषदंशादि योनि की वासना

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

वर्तमान वृषदंशादि योनि से व्यवहित है तो भी, निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदात्-कार्यकारणभाव की धारा का विच्छेद न होने से, आनन्तर्यम् एव-अव्यवहित ही, सिद्धम्-सिद्ध होता है। उक्त भाष्य के अन्तर में इति शब्द सूत्र के व्याख्या की समाप्ति का सूचक है।

किसी किसी पुस्तक में "वासनाः संस्कारा आशया इत्यर्थः" इतना पाठ अधिक है, जिसका अर्थ-वासना, संस्कार तथा आशय; ये तीनों शब्द पर्याय वाचक हैं, यह होता है; परन्तु यह पाठ प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। क्योंकि, इति शब्दान्त ही सूत्र का व्याख्यान समाप्त हो गया है। भाव यह है कि-यद्यपि चित्त में व्यवहित अव्यवहित सकल योनि की वासना विद्यमान हैं तथापि जिसका अभिव्यञ्जक कर्म होता है उसीकी अभिव्यक्ति होती है, अन्य की नहीं। वर्त्तमान वृषदंशादि-योनि का प्रापक जो कर्म है, वह अतीत वृषदंशादि-योनि की वासना का अभिव्यञ्जक है; अतः वही अन्यवहित कही जाती है। एवं उसीकी अभिव्यक्ति होती है और मनुष्य-योनि की वासना अव्यवहित होने पर भी उक्त वृषदंशादि-योनि का प्रापक कर्म उसका अभिव्यञ्जक नहीं; अतः वह अव्यवहित होने पर भी अनभिव्यक्त होने से व्यवहित है। अतएव उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। एवञ्च वर्तमान वृषादि योनि का प्रापक कर्म निमित्त और अतीतवृषादियोनि की वासना नैमित्तिक होने से इन्हीं का निमित्तनैमित्तिकभाव सम्बन्ध है। इससे अतीत वृषादियोनि की वासना का आनन्तर्य है, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ ९ ॥

पूर्व-पूर्व जन्म की वासना अभिव्यक्त होने से उत्तर-उत्तर जन्म में प्रवृत्ति होती है, यह कहा गया। उस पर यह आशङ्का होती है कि, पूर्व जन्म की वासना की अभिव्यक्ति तो तब मानी जा सकती है जब पूर्व जन्म के सद्भाव में कोई प्रमाण हो? सो उसमें कोई प्रमाण तो है नहीं? तो फिर यह कैसे माना जाय कि, पूर्व-पूर्व जन्म की वासना उत्तर-उत्तर जन्म में प्रवृत्ति का हेतु है?। यदि कहें कि, जातमात्र प्राणी में जो हर्षशोक देखा जाता है वही हर्षशोकदर्शन पूर्वजन्म के सद्भाव में प्रमाण है, तो यह भी नहीं कह सकते है। क्योंकि, पद्मपुष्पादि के संकोचविकास के समान हर्षशोक स्वाभाविक होने से पूर्व जन्म के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं और जब पूर्व जन्म ही नहीं है तब पूर्व-पूर्व जन्म की वासना उत्तर-उत्तर जन्म में प्रवृत्ति का हेतु कैसे?। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वादिति। च-और, आशिषः—आशीर्वाद को, नित्यत्वात्-नित्य अर्थात् प्रतिजन्म नियत होने से, तासाम्-उन वासनाओं को अनादित्वम्-अनादित्व भी है। अर्थात् पूर्व-पूर्व वासना का केवल आनन्तर्य ही नहीं है,. किन्तु अनादित्व भी है।

तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी। कस्मात्। जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषो दुःखानुस्मृतिनिमित्तो

भाव यह है कि अप्राप्त इष्ट पदार्थ की प्रार्थना को आशीः अर्थात् आशीर्वाद कहते हैं। प्राणिमात्र की "मा न भूवं भूयासम्" अर्थात्–मैं न होऊं ऐसा नहीं किन्तु सदा विद्यमान रहूँ—इस प्रकार की जो आत्मविषयक निरन्तर प्रार्थना देखी जाती है वही वासना की अनादिता को सिद्ध करती है और वासना की अनादिता सिद्ध होने पर उसका हेतु पूर्वजन्म की भी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि, यदि पूर्वजन्म न हुआ हो तो पूर्व शरीर के मरणत्रास से जो उक्त आत्मविषयक आशीर्वाद सर्वदा होता रहता है सो न होना चाहिये और होता तो है ?। अतः पूर्वजन्म तथा तज्जन्य वासना की अनादिता सिद्ध होती है। इससे सर्वप्रथम जो उष्ट्र का शरीर हुआ था उसके पूर्व वासना का अभाव होने से उसकी कण्टक-भक्षण में प्रवृत्ति कैसे होती है ? यह आशङ्का भी निरस्त हो गई। क्योंकि, जन्म और तज्जन्य वासना के अनादि होने से किसी जन्म में प्रथमता है नहीं; किन्तु सर्व में उत्तरता ही है। अतः पूर्व-पूर्व जन्म की वासना उत्तर-उत्तर जन्म में प्रवृत्ति का हेतु हो सकती है।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—तासामिति। आशिषः—"मा न भुवं भूयासम्" इस प्रकार के आत्म-विषयक आशीर्वाद को, नित्यत्वात्–नित्य होने से तासाम् वासनानाम्–उन उक्त वासनाओं की, अनादित्वम्–अनादिता है। इस प्रकार आत्मविषयक नित्य आशीर्वाद से उसका कारण वासना की अनादिता सिद्ध की गई। इस पर स्वभाववादी चार्वाक शङ्का करते हैं कि–यदि उक्त नित्य आशीर्वाद सकारण हो तब तो उसका कारण वासना की अनादिता भी सिद्ध हो सकती है; परन्तु उक्त आशीर्वाद सकारण है नहीं; किन्तु स्वाभाविक है अर्थात् कारण बिना स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ करता है, तो इससे वासना की अनादिता कैसे सिद्ध हो सकती है ?। इसका उत्तर देते हैं—येयमिति। "मा न भूवम् भूयासम्" मैं न होऊं ऐसा नहीं किन्तु सदा होऊं अर्थात् मेरा अभाव कभी न होवे किन्तु मैं सदा विद्यमान रहूँ, इति—इस प्रकार की, या इयम् आत्माशीः—जो यह आत्म-विषयक आशी, सर्वस्य दृश्यते—सर्व प्राणी की देखी जाती है, सा–वह, स्वाभाविकी न–स्वाभाविकी अर्थात् कारण बिना की नहीं है; किन्तु पूर्वजन्म की वासनारूप कारण से उत्पन्न हुई है। कस्मादिति। कस्मात्–क्योंकि–यदि उक्त आत्माशी वासनाजन्य न माना जाय तो जातमात्रस्येति। अननूभूतमरणधर्मकस्य जातमात्रस्य जन्तोः–

मरणत्रासः कथं भवेत। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते। तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति।

तत्काल उत्पन्न, अत एव अननुभूतमरणधर्मक प्राणी को जो, द्वेषः दुःखानुस्मृतिनिमित्तः मरणत्रासः–द्वेषरूप पूर्वानुभूत दुःख की अनुस्मृतिनिमित्तक मरणत्रास होता है सो, कथम् भवेत्–कैसे होगा?।

स्वभाववादी चर्वाक यदि यह कहें कि, स्वभाव से ही यह मरणत्रास होता है तो यह कहना उसका समीचीन नहीं। क्योंकि–न चेति। स्वाभाविकम् वस्तु–स्वाभाविक जो वस्तु हो तो वह अपनी उत्पत्ति में, निमित्तम् न च उपादत्ते–निमित्त को ग्रहण (अपेक्षा) नहीं कर सकती है और यह मरणत्रास तो सर्व अनुभूत पूर्व दुःख की स्मृतिरूप निमित्त को ग्रहण करता है अर्थात् यह मरणत्रास उक्त स्मृति से जन्य है तो स्वाभाविक कैसे होगा?। प्रकृत प्रसंग का उपसंहार करते हैं—तस्मादिति। तस्मात्–इस कारण से, अनादिवासनानुविद्धम् इदम् चित्तम्–अनादि वासना से युक्त यह चित्त, निमित्तवशात्–अकारण रूप स्वभाव से नहीं किन्तु वासना रूप निमित्त के वश से, काश्चिदेव वासनाः–सर्व को नहीं किन्तु उनमें से किसी वासना को ही, प्रतिलभ्य–लेकर, पुरुषस्य–पुरुष के, भोगाय–भोग के लिये, उपावर्त्तते–उपस्थित होता है। अर्थात् यदि वासना की अभिव्यक्ति भी स्वाभाविक ही माना जाय तो चित्त में जितनी वासनायें हैं उन सबकी अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती है? किसी किसी की ही क्यों होती है?। इससे जन्म के कारणीभूत जो कर्म है वही वासना का भी निमित्त है; अतः वासना, जन्म तथा मरणत्रास ये सब सनिमित्तक हे; स्वाभाविक नहीं, यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि, चार्वाक नास्तिक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है। पूर्वजन्म तथा तद्वासना प्रत्यक्ष का विषय नहीं; अतः अप्रामाणिक होने से शशविषाण के समान वह मरणत्रास का हेतु नहीं हो सकता है। अत एव मरणत्रास कारण बिना स्वाभाविक होने से पूर्वजन्म तथा तद्वासना का अनुमापक नहीं हो सकता है, तो मरणत्रास से जो पूर्वजन्म की वासना की सिद्धि की जाती है वह समीचीन नहीं। यह स्वभाववादी चार्वाक की शङ्का है, जिसका उत्तर यह दिया गया कि–मरणत्रास यदि स्वाभाविक हो तो वह सर्वदा होना चाहिये, सर्वदा तो होता नहीं, किन्तु जब वासना अभिव्यक्त होती है तभी होता है। अतः वासना उसका कारण है, यह सिद्ध हुआ। अतएव वासना बिना वह अनुपपन्न होकर वासना का अनुमापक होता है और वासना पूर्व जन्म के अनुभवजन्य है; अतः मरणत्रास से वासना और वासना

घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति।

पूर्व जन्म की सिद्धि होती है। इस प्रकार वासना के सद्भाव में अनुमान प्रमाण होने से वह वासना उत्तर जन्म में प्रवृत्ति का हेतु हो सकती है। यह पूर्व आशङ्का का उत्तर निष्पन्न हुआ।

जिस वासना को अनादि कहा गया, उसका आश्रय जो चित्त, वह नैयायिक संमत अणुपरिमाणवाला होने से अणु है अथवा मीमांसक संमत महत्परिमाणवाला होने से विभु है अथवा सांख्यसंमत मध्यम परिमाणवाला होने से अणुमहत् दोनों से विलक्षण है?। ऐसी आशङ्का होने पर प्रसंगवश इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हैं—घटेति। घटप्रासादप्रदीपकल्पम्-घट तथा प्रासाद (राजमन्दिर) में रहा हुआ प्रदीप के समान, संकोचविकासि-संकोच विकास वाला, चित्तम्-चित्त, शरीरपरिमाणाकारमात्रम्-शरीर परिमाण के आकारमात्र है। अर्थात् जैसे घट तथा मठ रूप अल्प तथा महत् आश्रय के भेद से प्रकाश रूप प्रदीप संकोच विकासवाला होने से अल्प तथा महत् परिमाणवाला होता है। वैसे ही पिपीलिका तथा हस्ती के शरीर रूप अश्रय के भेद से चित्त भी संकोच विकासवाला होने से अल्प तथा महत् परिमाणवाला होता है, इति अपरे प्रतिपन्नाः—इस प्रकार अपर सांख्य लोग प्रतिपन्न हैं अर्थात् शरीर के परिमाण के तुल्य परिणामवाला चित्त है, ऐसा सांख्य लोग कहते हैं। और युक्ति देते हैं कि-तथाच। शरीर परिमाण अर्थात् अणु-विभु परिमाण से विलक्षण मध्य परिमाण चित्त को मानने से ही, अन्तराभाव—अन्तरा में अभाव अर्थात् पूर्वापर सर्गों के मध्य में लय, च-और संसारः-संसार अर्थात् एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में प्रवेश उसका, युक्तः -युक्त हो सकता है। अन्यथा-अन्यथा चित्त को विभु परिमाण मानने पर विभु को नित्य तथा क्रियाहीन होने से प्रलयकाल में लय और संसार काल में लोकान्तर में गमनागमन होना उसका असंभव हो जायगा?।

चित्त को मध्यम परिमाण माननेवाले सांख्यों का यह अभिप्राय है कि, देह प्रदेश में ही चित्त के सर्व कार्य देखे जाने से देह से बाहर चित्त के सद्भाव में प्रमाण न होने से चित्त विभु नहीं, एवं दीर्घशष्कुली-भक्षण काल में एक ही समय पांच ज्ञानों की उत्पत्ति देखे जाने से चित्त अणु भी नहीं; किन्तु मध्यम परिमाणवाला है। अनुभव विना देह से बाहर चित्त के सद्भाव में अर्थात् विभु मानने में कोई प्रमाण नहीं एवं एक ही अणु चित्त नाना देश में स्थित सर्व इन्द्रियों के साथ एक ही काल में सम्बन्ध करने में समर्थ नहीं। अतः परिशेषात् शरीर-परिमाण के तुल्य चित्त का परिमाण सिद्ध होता है। यदि कहें कि, चित्त को शरीर-परिमाण मानने से जब कर्म परिपाकवश

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः ।

पिपीलिका-शरीर में से चित्त हस्ति-शरीर में जायगा तब सम्पूर्ण शरीर में न होने से एक ही काल में पाद-मस्तक उभय देश में कण्टकवेधजन्य वेदना को कैसे अनुभव करेगा ? इसका समाधान यह है कि, घट में से जब प्रदीप प्रासाद में जाता है तब जैसे विकसित होकर सम्पूर्ण प्रासाद में फैल जाता है । वैसे ही पिपीलिका-शरीर में से जब चित्त हस्ति-शरीर में जाता है तब विकसित होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है । अतः सम्पूर्ण शरीर में होने से एक काल में उक्त उभय देश में कण्टकवेधजन्य वेदना को अनुभव कर सकता है । एवं प्रासाद में से जब प्रदीप घट में जाता है तब जैसे संकुचित होकर समा जाता है , वैसे ही चित्त भी जब हस्ति-शरीर में से पिपीलिका-शरीर में जाता है तब संकुचित होकर समा जाता है । अतः चित्त को संकोचविकासशाली होने से मध्यम परिमाण मानने में कोई दोष नहीं ।

इस सिद्धान्त को सहन न करते हुए स्वसिद्धान्त को कहते हैं—वृत्तिरेवेति । अस्य विभुनः चित्तस्य–इस विभु चित्त की, वृत्तिः एव–वृत्ति ही, संकोचविकासिनी–संकोचविकासवाली है, इति–इस प्रकार, आचार्यः-आचार्य महर्षि पतञ्जलि कहते हैं । अर्थात् चित्त के विभु होने पर भी उसकी वृत्ति सांख्य परिकल्पित चित्त के समान संकोचविकासवाली होने से मध्यम परिमाण अनित्य तथा सक्रिय है; अतः इस वृत्ति का प्रलय काल में लय रूप अन्तराभाव तथा गमनागमन रूप संसार का होना युक्त ही है । एवं चित्त विभु होने से नित्य तथा नित्य होने से उक्त अनादि वासना का आश्रय हो सकता है । और सांख्य के मत से मध्यम परिमाण चित्त अनित्य होने से अनादि वासना का आश्रय नहीं हो सकता है ।

भाव यह है कि, चित्त को विभु मानने में जो सांख्य ने दोष दिया है कि-चित्त को विभु मानने में वह नित्य तथा अक्रिय होगा और नित्य होने से प्रलयकाल में उसका लय और सृष्टिकाल में उसको संसार कैसे होगा ? इत्यादि, सो समीचीन नहीं । क्योंकि, चित्त के विभु होने से नित्य तथा अक्रिय होने पर भी उसकी वृत्ति संकोचविकासवाली होने से अनित्य तथा क्रियाशील है । अतः प्रलयकाल में उसका लय तथा सृष्टिकाल में संसरण हो सकता है । अतः कोई दोष नहीं । साथ ही चित्त के विभु होने से वह नित्य है; अतः अनादि वासना का आश्रय भी हो सकता है । अन्यथा, चित्त की वासना को जो सूत्रकार ने अनादि कहा है सो असंगत हो जायगा । क्योंकि, चित्त परिच्छिन्न होने से अनित्य होगा और अनित्य होने से वह अनादि वासना का आश्रय नहीं हो सकता है । एवञ्च आश्रय के अभाव से वासना को अनादि कहना सूत्रकार का अत्यन्त असंगत हो जायगा ।

तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम्। निमित्तं च द्विविधम्—बाह्यमाध्यात्मिकं च।

यहां पर चित्तपरिमाण की विप्रतिपत्ति में भाष्यकार ने दो मत प्रदर्शित किये हैं। एक अपर पद के प्रयोग से और दूसरा आचार्य पद के प्रयोग से। उनमें श्रीवाचस्पति मिश्र ने अपर पद के प्रयोग से सांख्य और आचार्य पद के प्रयोग से योगदर्शनकारों का ग्रहण किया है। अर्थात् सांख्यदर्शनकार चित्त को मध्यमपरिमाणवाला और योगदर्शनकार विभुपरिमाणवाला मानते हैं, ऐसा कहा है। इसको सहन न करते हुए स्वामी श्रीबालरामजी ने अपने 'पातञ्जलदर्शनप्रकाश' में विभुपक्ष मीमांसकों का है, ऐसा कहा है और विभुपरिमाण पक्ष के खण्डन में तथा मध्यमपरिमाणपक्ष के मण्डन में सांख्यसूत्रों को प्रमाण देते हुए समानतन्त्रसिद्धान्त होने से योगदर्शन का भी मध्यम परिमाणपक्ष ही सिद्धान्त है, ऐसा कहा है सो समीचीन नहीं। क्योंकि, भाष्यकार ने जो आचार्य पद का प्रयोग किया है उससे प्रकृत दर्शन के सूत्रकार भगवान् पतञ्जलि को ही लेना समुचित जान पड़ता है। सांख्य तो चित्त को मध्यमपरिमाणवाला मानते ही हैं। अतः उनके सूत्र विभुपरिमाण का खण्डन तथा मध्यमपरिमाण का मण्डन करे, यह स्वाभाविक ही है। समानतन्त्रसिद्धान्त सर्वत्र मानने से दर्शनभेद का उच्छेद हो जायगा। अन्यथा, सांख्यदर्शन निरीश्वर और योगदर्शन सेश्वर है, इस प्रवाद का भी विच्छेद हो जायगा। सूत्रकार ने प्रकृत सूत्र से वासना को अनादि कहा है, सो चित्त को मध्यमपरिमाणवाला मानने में असंगत हो जायगा। क्योंकि, जो पदार्थ मध्यमपरिमाणवाला होता है वह घटादि के समान अनित्य होता है, यह नियम है। चित्त को अनित्य होने पर वह नष्ट अवस्था में अनादि वासना का आश्रय नहीं हो सकता है। अर्थात् वासना के आश्रय चित्त का नाश होने से वासना का भी नाश होगा। अतः वासना का अनादित्व कथन सूत्रकार का असंगत हो जायगा। इसी लिये तो यहां चित्त परिमाण विप्रतिपत्ति प्रसंग को उपस्थित किया गया है। अन्यथा, इसकी आवश्यकता ही क्या थी ?। इस प्रसंग से चित्त को विभु मानना योगदर्शन का सिद्धान्त है, यह सिद्ध होता है। और जो "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इस श्रुति को प्रमाण रूप से उपस्थित करते हुए चित्त को जन्य होने से तत्प्रयुक्त मध्यमपरिमाणवाला सिद्ध करने का साहस किया गया है, सो भी समीचीन नहीं। क्योंकि, उक्त श्रुति में "मनः" पद का प्रयोग है और मन चित्त नहीं, किन्तु चित्त की वृत्ति है और वृत्ति को तो जन्य होने से प्रलय काल में उसका लय और सृष्टिकाल में संसरण कहा ही है। अतः इस श्रुति से भी चित्त को मध्यम परिमाण सिद्ध करना साहसमात्र ही प्रतीत होता है। अतः योगमत में चित्त विभु और उसकी वृत्ति मध्यम

शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि । चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम् । तथा चोक्तम्—ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति । तयोर्मानसं बलीयः ।

परिमाणवाली होने से उक्त लय-संसरण आदि सर्व व्यवहार का निर्वाहक है, यह सिद्ध हुआ ।

शङ्का होती है कि-चित्तमात्र के अधीन वृत्ति का संकोचविकास कदाचित् ही क्यों होता है ? । इसका उत्तर देते हैं—तच्चेति । च-और, तत्-वह चित्त, धर्मादिनिमित्तापेक्षम्-धर्म तथा अधर्म आदि निमित्त की अपेक्षा करनेवाला है । अर्थात् वह चित्त वृत्तिद्वारा संकोचविकास होने में स्वतन्त्र नहीं; किन्तु धर्म-अधर्म रूप निमित्त के अधीन है । अतः चित्तवृत्ति का सर्वदा संकोचविकास नहीं होता है; किन्तु जब धर्मादि फल देने के लिये उन्मुख होते हैं तभी होता है । उक्त निमित्त का विभाग करते हैं—निमित्तञ्चेति । च—और वह; निमित्तम्—निमित्त, द्विविधम्—दो प्रकार का है—बाह्यम्-एक बाह्य, च—और दूसरा, आध्यात्मिकम्-आध्यात्मिक, शरीरादिसाधनापेक्षम्-शरीर, इन्द्रिय तथा धन आदि साधन से साध्य जो, स्तुतिदानाभिवादनादि—स्तुति, दान, अभिवादन आदि वह, बाह्यम्-बाह्य धर्मादि निमित्त है । और, चित्तमात्राधीनम्—केवल चित्तद्वारा साध्य जो, श्रद्धादि—श्रद्धा, मैत्री तथा रागादि वह, आध्यात्मिकम्-आध्यात्मिक धर्मादि निमित्त है ।

श्रद्धा, मैत्री, करुणा तथा मुदिता आदि आध्यात्मिक धर्म हैं । इस कथन में पञ्चशिखाचार्य मुनि के वचन प्रमाण देते हैं-तथेति । तथाच उक्तम्-इसी प्रकार पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है-च ये एते—और जो ये, ध्यायिनाम् मैत्र्यादयः विहाराः-ध्यायी योगियों के मैत्री, मुदिता आदि अयत्नसाध्य व्यापार हैं, ते-वे, बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः-बाह्य साधन-निरनुग्रहरूप अर्थात् बाह्य साधन की अपेक्षा न करते हुए, प्रकृष्टम् धर्मम्-शुक्ल धर्म को, अभिनिर्वर्त्तयन्ति-उत्पन्न करते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि मैत्र्यादि योगियों के सहज धर्म हैं, बाह्य साधनजन्य नहीं । और वे वृत्ति के संकोच विकास में निमित्त हैं ।

उक्त दोनों निमित्तों में बलाबल का विचार करते है—तयोरिति । तयोर्मानसं बलीयः । तयोः—उन बाह्य तथा आध्यात्मिक धर्मरूप निमित्तों में, मानसं-अर्थात् आध्यात्मिक जो मैत्र्यादि धर्मरूप निमित्त हैं वे, बलीयः-शारीरिक बल की अपेक्षा अधिक बलवान् हैं । कथमिति । कथम्-क्योंकि, ज्ञानेति । ज्ञानवैराग्ये-ज्ञान तथा वैराग्य आदि जो मानस धर्म हैं वे, केन अतिशय्येते—किससे अतिशयित अर्थात्

कथम् । ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते । दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत् ॥ १० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

अभिभूत हो सकते हैं ? अर्थात् शरीर-इन्द्रियादि साध्य स्तुति नमस्कारादि में से कौन ऐसा धर्म है जो मन से साध्य ज्ञानवैराग्यादि को अभिभूत कर सकता है ? । इस विषय में सुप्रसिद्ध उदाहरण देते हैं-दण्डकारण्यञ्चेति । दण्डकारण्यम् च-दण्डकारण्य को, चित्तबलव्यतिरेकेण-चित्तबल के बिना. शारीरेण कर्मणा-शारीरिक कर्म से, शून्यम् कर्त्तुम्-शून्य अर्थात् निर्जन करने के लिये, कः-कौन, उत्सहेत -उत्साह कर सकता है, वा-और, अगस्त्यवत्-महर्षि अगस्त्य के समान, समुद्रम्-समुद्र को, कः पिबेत्-कौन पान कर सकता है ? अर्थात् किसी योगी ने अपने योग-बल से घोर अपराध के कारण दण्डक वन के राज्य पर कोप करते हुए सात दिन तक सतत वृष्टि के द्वारा दण्डकारण्य को निर्जन कर दिया था और महर्षि अगस्त्य ने योगबल से समुद्र का पान किया था । ये सब कर्य मानस बल के बिना शरीरबल से कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं, अतः शारीरिक बल की अपेक्षा मानसिक बल प्रबल है, यह सिद्ध हुआ । इति ॥ १० ॥

इस प्रकार वासना का अनादित्व सिद्ध हुआ । उस पर सन्देह होता है कि, जो वस्तु अनादि होती है, वह पुरुष के समान नित्य भी होती है और जो नित्य होती है, उसका उच्छेद कभी नहीं होता है । वासना अनादि होगी तो नित्य भी होगी । अतः उसका भी उच्छेद कभी नहीं होगा, तो तत्प्रयुक्त जन्ममरणादि संसार का उच्छेद कैसे होगा ? । इस सन्देह का निराकरण सूत्रकार करते हैं—हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभाव इति । हेतुफलाऽऽश्रयाऽऽलम्बनैः-हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन इन चारों करके, संगृहीतत्वात्-वासनाओं को संगृहीत होने से अर्थात् इन चारों के अधीन होने से, एषाम्-इन चारों के, अभावे-नाश होने पर, तदभावः-उन वासनाओं का भी नाश हो जाता है । अर्थात् वासना का हेतु संसार और तत्कारण अविद्या है । वासना का फल जाति, आयु तथा भोग है । वासना का आश्रय चित्त है और वासना का आलम्बन शब्दादि विषय है । ये चारों जब तक विद्यमान रहते हैं तब तक वासना भी विद्यमान रहती है और तत्प्रयुक्त जन्ममरणादि संसार भी विद्यमान हो रहता है और जब विवेक ख्याति उत्पन्न

हेतुर्धर्मात्सुखमधर्मात् दुःखं सुखाद्रागो दुःखात् द्वेषस्ततश्च प्रयत्न-स्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा। ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसा-रचक्रम्।

होती है तब उक्त अविद्यादि का नाश होने से वासना का भी नाश हो जाता है और तत्प्रयुक्त संसार का भी नाश हो जाता है।

भाव यह है कि, अनादि दो प्रकार से माना जाता है—एक स्वरूप से और दूसरा प्रवाह रूप से। उनमें जो स्वरूप से अनादि होता है उसका तो नाश कभी नहीं होता है और जो प्रवाह रूप से अनादि होता है उसका कारणनाश से नाश होता है। चितिशक्ति जो पुरुष है वह स्वरूप से अनादि है; अतः नाश का कारण न होने से उसका नाश कभी नहीं होता है और वासना प्रवाहरूप से अनादि है, अतः इसका उक्त हेत्वादि कारण के नाश होने से नाश होता है और वासना के नाश होने से तत्प्रयुक्त संसार का भी नाश होने में कोई आपत्ति नहीं, यह उक्त शङ्का का समाधान हुआ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—हेतुरिति। हेतुः-हेतु अर्थात् वासना के हेतु का वर्णन इस प्रकार का है कि-सर्वप्रथम पुरुष को, धर्मात् सुखम् अधर्मात् दुःखम्-धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है। तत्पश्चात्, सुखात् रागः दुःखात् द्वेषः-सुख से सुख तथा सुखसाधनों में राग और दुःख से दुःख तथा दुःखसाधनों में द्वेष होता है। ततश्च प्रयत्नः-उसके पश्चात् प्रयत्न होता है। तेन मनसा वाचा कायेन वा-उस प्रयत्न से मन, वचन तथा काय से, परिस्पन्दमानः-चेष्टा करते हुए, परम् अनुगृह्णाति उपहन्ति वा-दूसरे पर अनुग्रह करता है अथवा पीड़ा करता है। ततः पुनः धर्माधर्मौ-इस अनुग्रह और पीड़ा करने से फिर क्रम से धर्म और अधर्म होता है। उससे फिर, सुखदुःखे-सुख और दुःख होता है और उससे फिर, रागद्वेषौ-राग और द्वेष होता है, इति-इस प्रकार अनादिकाल से, इदम्-यह यथोक्त धर्म-अधर्म, सुख- दुःख, राग-द्वेष रूप, षडरम्-षट् अरावाला, प्रवृत्तम्-प्रवर्तमान, संसारचक्रम्-संसारचक्र रथचक्र के समान सदा फिरता रहता है। अर्थात् जैसे रथचक्र में षट् अरा होते हैं और उनसे वह चक्र फिरता है, वैसे ही इस संसार में भी उक्त धर्मादि षट् अरा हैं और इनसे ही यह भी सदा फिरता रहता है। च-और, अस्य प्रतिक्षणम् आवर्त्तमानस्य-इस प्रतिक्षण आवर्तमान संसारचक्र का सर्वक्लेशानाम् मूलम् अविद्या नेत्री-सर्व क्लेशों का मूल जो अविद्या वह अधिनेत्री अर्थात् प्रेरक है। अर्थात् यह षडर संसारचक्र स्वतंत्र नहीं किन्तु अविद्या के अधीन

अस्य च प्रतिक्षणमावर्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः। फलं तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः। न ह्यपूर्वोपजनः।

मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्। न ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते। यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम्।

है, इति एषः हेतुः–इससे अविद्या रूप कारण सहित यह षट्चक संसार वासना का हेतु है।

इस प्रकार वासना के हेतु का निरूपण करके संप्रति उसके फल का निरूपण करते हैं—फलमिति। यम् आश्रित्य–जिस कर्म को आश्रय करके, यस्य धर्मादेः–जिस धर्मादि की, प्रत्युत्पन्नता–प्रत्युत्पन्नता होती है वह केवल कर्म का ही नहीं किन्तु वासना का भी, फलम्–फल है। अर्थात् जिस जाति-आयु-भोग के उद्देश्य से धर्मादि का अनुष्ठान किया जाता है वह जाति-आयु-भोग वासना का फल है। प्रसंगवश सत्कार्यवाद का स्मरण कराते हैं—हीति। हि–क्योंकि, अपूर्वोपजनः न–अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती है अर्थात् यहां पर प्रत्युत्पन्नता शब्द से असत् धर्मादि की उत्पत्ति नहीं; किन्तु वर्त्तमानता अर्थात् अतीत अवस्था का त्यागपूर्वक वर्तमान अवस्था की प्राप्ति समझना चाहिये। क्योंकि, सिद्धान्त में सत्कार्यवाद का स्वीकार होने से किसी पदार्थ की उत्पत्ति और नाश नहीं; किन्तु आविर्भाव और तिरोभाव माना जाता है।

वासना के आश्रय का निरूपण करते हैं—मन इति। साधिकारम् मनस्तु–साधिकार जो मन है वह, वासनानाम्–वासनाओं का, आश्रयः–आश्रय है। हि–क्योंकि, अवसिताधिकारे मनसि–समाप्ताधिकार मन में, निराश्रयाः वासनाः–निराश्रय वासना, स्थातुम् न उत्सहन्ते–रह नहीं सकती हैं। अर्थात् विवेकख्याति की उत्पत्ति से प्रथम कार्य करते रहने से मन साधिकार कहा जाता है और जब विवेकख्याति की उत्पत्ति हो जाती है तब उसका कार्य समाप्त हो जाने से वह अवसिताधिकार तथा समाप्ताधिकार आदि शब्दों से व्यवहृत होता है। उनमें से जो मन साधिकार है वही वासना का आश्रय है, समाप्ताधिकार नहीं। क्योंकि, समाप्ताधिकार मन में वासनाओं की स्थिति का होना असम्भव है।

संप्रति क्रमप्राप्त वासना के आलम्बन का निरूपण करते हैं—यदिति। यद् वस्तु–जो वस्तु, अभिमुखीभूतम्–सम्मुख होती हुई, याम् वासनाम्–जिस वासना

एवं हेतु फलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा वासनाः । एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः ॥ ११ ॥

नास्त्यसतः संभवः, न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन संभवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

को, व्यनक्ति–अभिव्यक्त करती है, तस्याः–उस वासना का, तत्–वह वस्तु, आलम्बनम्–आलम्बन है। अर्थात् जो शब्दादि तथा कामिनीसंपर्कादि विषय अभिमुख होता हुआ स्वविषयक वासना का अभिव्यञ्जक होता है वह विषय वासना का आलम्बन है। क्योंकि, जिस विषयक वासना होती है वही विषय उस वासना का आलम्बन होता है, यह अनुभवसिद्ध बात है।

इस प्रकार वासना के हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन इन चारों का व्याख्यान करके संप्रति सूत्र का व्याख्यान करते हैं—एवमिति। एवम्–इस प्रकार, एतैः हेतुफलाश्रयालम्बनैः–इन हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन करके, सर्वाः वासनाः–सर्व-वासना, संगृहीताः–संगृहीत हैं। अर्थात् इन चारों के अधीन वासना हैं। इनके सद्भाव में वासना का सद्भाव और इनके अभाव में वासना का भी अभाव होता है। इसी को स्पष्ट करते हैं—एषामिति। एषाम् अभावे–इन हेत्वादि चारों के अभाव होने पर, तत्संश्रयाणाम् वासनानाम् अपि अभावः–इनके अधीन वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। इति ॥ ११ ॥

भाष्यकार शङ्कापूर्वक उत्तर सूत्र का अवतरण करते हैं—नास्तीति। असतः सम्भवः न अस्ति–असत्पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है, च–और, सतः विनाशः न अस्ति–सत्पदार्थ का विनाश नहीं होता है, इति–यह योग का सिद्धान्त है तो, द्रव्यत्वेन संभवन्त्यः वासनाः–सद्रूप से रहनेवाली वासना, कथम् निवर्तिष्यन्ते–कैसे निवृत्त होंगी ? इति–ऐसी आशङ्का होने पर सूत्रकार इसका समाधान करते हैं—अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणामिति। अतीतानागतम्–अतीत-भूत, अनागत- भविष्यत् वस्तु भी, स्वरूपतः–स्वरूप-अपने रूप से, अस्ति–है अर्थात् विद्यमान ही है। यदि कहें कि, अतीतता-अनागतता तथा वर्त्तमानता रूप विरुद्ध धर्मों की एक धर्मी में विद्यमानता कैसी ? तो इस पर कहते हैं—धर्माणाम् अध्वभेदात्–धर्मों के काल का भेद होने से विरोध नहीं। अर्थात् कालभेद से विरुद्ध धर्मों की भी विद्यमानता एक धर्मी में हो सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं।

भविष्यद्व्यक्तिकमनागतम् । अनुभूतव्यक्तिकमतीतम् ।

स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानम् । त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम् । यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत । तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति ।

भाव यह है कि–यदि अतीतता, अनागतता तथा वर्त्तमानता रूप विरुद्ध धर्मों का एक काल में समान अस्तित्व माना जाय तब विरोध हो सकता है, सो तो मानते हैं नहीं; किन्तु जिस काल में घटादि वस्तु वर्त्तमान होतीं हुईं वर्तमानता रूप धर्मवाली होती है, उस काल में वर्तमानता रूप धर्म तो वर्तमानकालवाला है; परन्तु अतीतता रूप धर्म वर्तमानकालवाला नहीं; किन्तु अनागतकालवाला अर्थात् अतीतता रूप धर्म आगे होनेवाला है और अनागतता रूप धर्म भी वर्तमानकालवाला नहीं; किन्तु अतीतकालवाला अर्थात् अनागतता रूप धर्म पीछे हो चुका है, इस प्रकार मानते हैं तो विरोध कैसे ? । क्योंकि, उक्त तीनों धर्म भिन्न भिन्न कालवाले होने से एक धर्मी में उनके रहने में कोई विरोध नहीं ।

भाष्यकार अतीत-अनागत के स्वरूप का अभाव न होने में प्रमाण देते हैं— भविष्यदिति । भविष्यद् व्यक्तिकम्–भविष्यद्व्यक्तिक अर्थात् जिस पदार्थ की अभिव्यक्ति आगे होनेवाली है वह, अनागतम्–अनागत कहा जाता है । अनुभूतव्यक्तिकम्–अनुभूत व्यक्तिक अर्थात् जिस पदार्थ की अभिव्यक्ति पूर्व हो चुकी है वह, अतीतम्–अतीत कहा जाता है । एवं, स्वव्यापारोपारूढम्–अपना व्यापार करने में उपारूढ अर्थात् जो पदार्थ अपने कार्य करने में आरूढ होता हुआ अभिव्यक्त हो रहा है वह, वर्तमानम्–वर्तमान कहा जाता है ।

तीनों काल में पदार्थ विद्यमान हैं, इसमें कारण दिखाते हैं—त्रयमिति । च एतत् त्रयम् वस्तु–और ये तीनों प्रकार के पदार्थ अर्थात् यथोक्त अनागत, अतीत तथा वर्तमान पदार्थ, ज्ञानस्य ज्ञेयम्–ज्ञान के ज्ञेय हैं अर्थात् योगी के योगज प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं । यदि, च एतत् स्वरूपतः न अभविष्यत्–और यदि ये पदार्थ स्वरूप अर्थात् सामान्य रूप से न होते तो, इदम् निर्विषयम् ज्ञानम् न उदपत्स्यत–यह योगी का निर्विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न न होता और उत्पन्न तो होता है, तस्मात् अतीतानागतम् स्वरूपतः अस्ति–अतः अतीत अनागत पदार्थ स्वरूप से हैं, इति–यह सिद्ध हुआ ।

भाव यह है कि, "विषय विना ज्ञान नहीं होता है" यह नियम है । यदि यह नियम न माना जाय तो निर्विषय आकाशकुसुमादि का भी ज्ञान होना चाहिये, सो

किं च भोगभागीयस्य वापवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत।

सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वोपजनने।

होता तो नहीं है। अतः "विषय विना ज्ञान नहीं होता है" यह नियम अवश्य स्वीकार करना चाहिये। आकाशकुसुमादि किसी ज्ञान का विषय नहीं; अतः वह कोई पदार्थ ही नहीं। घटादि अपने अपने ज्ञान के विषय हैं; अतः वे पदार्थ हैं। अर्थात् जिसका ज्ञान होता है वह पदार्थ है और जिसका ज्ञान नहीं होता है, वह कोई पदार्थ ही नहीं, यह सिद्ध हुआ। योगी को योग से त्रैकालिक पदार्थ का ज्ञान होता है, सो यदि त्रैकालिक पदार्थ न हो तो उसका ज्ञान न होना चाहिये और होता तो है; अतः त्रैकालिक पदार्थ अवश्य मानना चाहिये। सारांश यह कि, यदि अतीत, अनागत पदार्थ का स्वरूप से अस्तित्व न माना जाय किन्तु केवल वर्तमान पदार्थ का ही अस्तित्व माना जाय तो योगी को जो अतीत, अनागत पदार्थ का भी ज्ञान होता है सो नहीं होना चाहिये और होता तो है ? । अतः अतीत, अनागत पदार्थ स्वरूप से हैं। इसमें उसका ज्ञान प्रमाण है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार ज्ञान के विषय होने से अतीत, अनागत पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध करते हैं—किञ्चेति। किञ्च-केवल ज्ञान के विषय होने से ही नहीं किन्तु वक्ष्यमाण हेतु से भी अनागत रूप से पदार्थ की विद्यमानता सिद्ध होती है और वह यह है कि-भोगभागीयस्य वा अपवर्गभागीयस्य वा कर्मणः-भोगभागीय अर्थात् स्वर्गादि भोग के साधन तथा अपवर्गभागीय अर्थात् मोक्ष के साधन कर्म का, उत्पित्सुफलम् निरुपाख्यम्-उत्पन्न होनेवाला फल यदि असत् हो, इति-तो, तदुद्देशेन तेन निमित्तेन-उस उद्देश्य से अर्थात् उस निमित्त से जो, कुशलानुष्ठानम्-बुद्धिमान् पुरुषों का साधनानुष्ठान वह, न युज्येत-योग्य न होगा ?। अर्थात् यदि स्वर्गादि फल अनागत अवस्था में सत् रूप से विद्यमान न माना जायगा तो उस असत् के लिये कर्मानुष्ठान व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि, असत् की उत्पत्ति नहीं होती है, यह पूर्व कहा जा चुका है।

यदि कहें कि-कारण में प्रथम से ही घटादि कार्य विद्यमान हैं तो उसके लिये कुलालादि का व्यापार व्यर्थ है ? तो इस पर कहते हैं-सतश्च फलस्य-उपादान कारण में सत् रूप से विद्यमान घटादि कार्य का, निमित्तम्-कुलालादि निमित्त, वर्तमानीकरणे समर्थम्-वर्तमानीकरणे अर्थात् वर्तमान अवस्था में लाने के लिये समर्थ है, अपूर्वोपजनने न-अपूर्व उपजनन में नहीं अर्थात् असत् की उत्पत्ति

सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति ।
धर्मी चानेकधर्मस्वभावः । तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः ।

करने में कारण समर्थ नहीं । सारांश यह है कि–यदि कुलालादि कारण न हो तो अनागत अवस्थाक पदार्थ को वर्तमान अवस्थाक कौन करेगा ? अर्थात् कोई नहीं । अतः कारण व्यापार वर्तमानीकरण में सार्थक होने से व्यर्थ नहीं । और यदि कहें कि–सत्कार्यवाद में सर्व पदार्थ का अस्तित्व सर्वदा रहने से मृत कुलाल अर्थात् अतीत कारण से भी कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये ? । इस पर कहते हैं—सिद्धम् निमित्तम्–सिद्ध अर्थात् वर्तमान अवस्थावाला जो निमित्त वही, नैमित्तिकस्य–कार्य के ऊपर, विशेषानुग्रहम् कुरुते–विशेष अनुग्रह करता है । अर्थात् वर्तमान अवस्थावाला जो कारण वही कार्य को वर्त्तमान अवस्थावाला करता है, अतीत अवस्थावाला नहीं । अतः, अपूर्वम्–अतीत अवस्थावाला कारण कार्य को, न उत्पादयति—उत्पन्न नहीं करता है ।

यथोक्त सर्व का भाव यह है कि—तिल में तैल अनभिव्यक्तरूप से प्रथम से ही विद्यमान है । तैलक (यंत्र) उसकी अभिव्यक्ति मात्र करता है, अपूर्व की उत्पत्ति नहीं, यह सर्वानुभव सिद्ध है । अन्यथा, सिकता अर्थात् बालुका में से भी तैल की उत्पत्ति होनी चाहिये, सो तो होती नहीं ?। अतः अनभिव्यक्त कार्य की अभिव्यक्ति करना ही कारण का काम है । असत् की उत्पत्ति करना नहीं । एवं वर्त्तमान कारण ही कार्य को अभिव्यक्त कर सकता है, अतीत-अनागत नहीं । अतः अनागत स्वर्ग तथा अपवर्ग यदि न माना जाय तो उसके लिये साधन व्यर्थ हैं । अतः सत्रूप अनागत पदार्थ हैं, यह सिद्ध हुआ ।

सूत्र के "अध्वभेदात्" इस अंश का व्याख्यान करते हैं—धर्मीति । धर्मी च–और वह घटादि धर्मी, अनेकधर्मस्वभावः–अतीतादि अनेक धर्म स्वभाववाला अर्थात् एक ही घटादि धर्मी अतीतता, अनागतता तथा वर्तमानता रूप तीन धर्मवाला है । तस्य च–और उस घटादि धर्मी के, धर्माः–उक्त अतीतादि तीनों धर्म, अध्वभेदेन–कालभेद से, प्रत्यवस्थिताः–उसमें अवस्थित हैं । अर्थात् यद्यपि अतीतादि तीनों धर्म परस्पर विरोधी हैं; अतः एक धर्मी में एक ही काल में नहीं रह सकते हैं तथापि कालभेद से अर्थात् भिन्न भिन्न काल में एक ही धर्मी में रह सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं ।

यहां पर इतनी विशेषता और भी समझ लेनी चाहिये कि–न चेति । यथा–जैसे, वर्तमानम्–वर्तमान पदार्थ, व्यक्तिविशेषापन्नम्–व्यक्तिविशेषापन्न होता हुआ अर्थात् अभिव्यक्ति को प्राप्त होता हुआ, द्रव्यतः अस्ति–स्वरूप से दिखाई देता है, एवम्–वैसा, अतीतम् अनागतम् च–अतीत और अनागत भी स्वरूप से दिखाई

न च यथा वर्तमानं व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोस्त्येवमतीतमनागतं च। कथं तर्हि, स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति। स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति। वर्तमानस्यैवाऽध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोः। एकस्य चाऽध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वनामिति ॥ १२ ॥

देता है ऐसा, न च-नहीं। कथम् तर्हि-किन्तु, स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेण-अपने ही व्यङ्ग्य स्वरूप से अर्थात भविष्यत् व्यक्तिरूप से, अनागतम् अस्ति-अनागत पदार्थ है, च-और, स्वेन अनुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेण—अपने अनुभूतव्यक्तिक स्वरूप से, अतीतम्—अतीत पदार्थ है, इति—इतना विशेष है।

उपसंहार करते हैं—वर्तमानस्येति। इससे-वर्तमानस्य अध्वनः एव-वर्तमान-काल की ही, स्वरूपव्यक्तिः—स्वरूप व्यक्ति होती है, अतीतानागतयोः अध्वनोः—अतीत और अनागत काल की, सा न भवति—वह स्वरूप-व्यक्ति नहीं होती है अर्थात् वर्तमानकाल में ही पदार्थ के स्वरूप की प्रतीति होती है, अतीत और अनागत काल में नहीं, इति—यह सिद्ध हुआ। यदि कहैं कि—इस प्रकार एक अध्व के वर्तमान समय में अपर दो अध्वाओं की प्रतीति न मानने पर उन का अभाव होने से सत्कार्यवाद का उच्छेद हो जायगा ? तो इस पर कहते हैं—एकस्येति। एकस्य च अध्वनः समये—एक अध्व के वर्तमान समय में, द्वौ अध्वानौ—अन्य दो अध्व, धर्मिसमन्वागतौ भवतः एव—धर्मी में समनुगत रहते ही हैं, इति—ऐसा मानते हैं। अतः, त्रयाणाम् अध्वनाम—तीनों अध्वाओं का, अभूत्वा भावः न—पूर्व न होकर होना नहीं है, इति—यह सिद्धान्त है। अतः सत्कार्यवाद का उच्छेद नहीं। वाद दो हैं—एक असत्कार्यवाद और दूसरा सत्कार्यवाद। उनमें असत्कार्यवाद में मृत्तिकादि उपादान कारण में घटादि कार्य उत्पत्ति से प्रथम नहीं हैं। कुलालादि के व्यापार से अपूर्व उत्पन्न होते हैं। यदि कहैं कि—असत् घट की उत्पत्ति मानने में जैसे मृत्तिका में असत् घट की उत्पत्ति होती है, वैसे ही तन्तु में भी असत् घट की उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि, असत्ता दोनों स्थान में समान है। इसका समाधान यह है कि—कार्यमात्र के प्रति प्रागभाव कारण है। जहां जिसका प्रागभाव होता है, वहीं से उसकी उत्पत्ति होती है। मृत्तिका में घट का प्रागभाव है; अतः मृत्तिका से घट की उत्पत्ति होती है। तन्तु में घट का प्रागभाव नहीं; अतः तन्तु से घट की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि कहैं कि—यह कैसे जाना जाय कि—मृत्तिका में

घट का प्रागभाव है और तन्तु में नहीं है ? तो यह फलबलकल्प्य है। अर्थात् घट की उत्पत्ति से देखी जाती है, तन्तु से नहीं; अतः मृत्तिका में घट के प्रागभाव की कल्पना होती है और घट की उत्पत्ति तन्तु से नहीं देखी जाती है; अतः तन्तु में घट के प्रागभाव की कल्पना नहीं होती है।

सत्कार्यवाद में मृत्तिकादि उपादान कारण में घटादि कार्य प्रथम से ही विद्यमान हैं। कुलालादि के व्यापार से उनका केवल आविर्भावमात्र होता है। मृत्तिका में घट प्रथम से ही विद्यमान है; अतः वहां से उसका आविर्भावमात्र होता है। तन्तु में घट प्रथम से विद्यमान नहीं; अतः वहां से उसका आविर्भाव नहीं होता है। एवं मुद्गरादि के आघात से जब घट का नाश होता है, तब उसका अत्यन्त अभाव नहीं; किन्तु उसका तिरोभावमात्र होता है। इसी प्रकार सभी कार्य कारण में तीनों काल में विद्यमान हैं। कारण के व्यापार से केवल उनका आविर्भाव तथा तिरोभावमात्र होता रहता है। यदि कहें कि-घट तीनों काल में यदि विद्यमान है तो यह घट अतीत है, यह अनागत है, यह वर्तमान है; इत्यादि व्यवहार किंप्रयुक्त है ?। यदि कहें कि. अतीततादि धर्मप्रयुक्त हैं तो एक ही घट रूप धर्मी में अतीतता, अनागतता तथा वर्तमानता रूप विरोधी धर्म कैसे रहता है ? तो इसका समाधान यह है कि–यद्यपि एक ही घटरूप धर्मी में उक्त अतीततादि तीनों धर्म विरोधी होते हुए भी रहते हैं तथापि कालभेद से रहने में विरोधी नहीं। किन्तु एक धर्मी में तीनों धर्म रह सकते हैं। अर्थात् सत्कार्यवाद में यद्यपि जो घट अतीत काल में था वही अनागत-काल में तथा वर्तमान-काल में है; अतः उस एक ही घट में अतीतता, अनागतता तथा वर्तमानता रूप विरोधी धर्म हैं तथापि एक काल में नहीं; किन्तु कालभेद से है। अर्थात् जिस काल में घट उत्पन्न (विद्यमान) होता हुआ वर्तमानता रूप धर्मवाला होता है। उस काल में अतीतता तथा अनागतता रूप धर्मवाला नहीं। क्योंकि, अतीतता अभी नहीं है; किन्तु आगे होनेवाली है एवं अनागतता भी अभी नहीं; किन्तु हो चुकी है। अतीत काल में अतीतता रूप धर्मवाला तो घट है परन्तु अनागतता तथा वर्तमानता रूप धर्मवाला नहीं। क्योंकि, अनागतता तथा वर्तमानता ये दोनों हो चुकी हैं। एवं अनागतकाल में अनागतता रूप धर्मवाला तो घट है परन्तु अतीतता तथा वर्तमानता रूप धर्मवाला नहीं। क्योंकि, अतीतता तथा वर्तमानता ये दोनों आगे होनेवाली हैं। अतः कालभेद से विरोधी धर्म भी एक धर्मी में रह सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार सत्कार्यवाद में तीनों काल में सत् रूप एक ही धर्मी में अतीततादि विरोधी धर्मों के रहने की व्यवस्था हो जाने से असत्कार्यवाद स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्मा वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः षडविशेषरूपाः ।

पूर्व सूत्र में जो वासना का उच्छेद कहा गया है वह उसका अत्यन्त अभाव नहीं; किन्तु अतीत अवस्था समझनी चाहिये । अतः वासना का उच्छेद होने से जन्ममरण-संसार का भी उच्छेद हो जाता है । इति ॥ १२ ॥

इस प्रकार सत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए संसार का आविर्भावतिरोभाव होता है यह कहा गया । उस पर आशङ्का होती है कि एक ही प्रधान से धर्मी-धर्म अवस्था परिणाम रूप अनेक प्रकार के विचित्र संसार का आविर्भाव कैसे होता है । क्योंकि, कारणविलक्षणता के विना कार्य में विलक्षणता होना असम्भव है ? इसका समाधान सूत्रकार करते हैं—ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मान इति । इस सूत्र में व्यक्त शब्द का अर्थ वर्तमान और सूक्ष्म शब्द का अर्थ अतीत, अनागत है । तथाच—व्यक्त-सूक्ष्माः—वर्तमान तथा अतीत, अनागत रूप जो पदार्थ हैं, ते—वे सब, गुणात्मानः—सत्त्वरजस्तमोरूप त्रिगुणात्मक हैं । अर्थात् पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत-पञ्चतन्मात्र स्वरूप, पञ्चतन्मात्र तथा एकादश इन्द्रिय-अहंकार स्वरूप, अहंकार-महत्तत्त्व स्वरूप, महत्तत्त्व-प्रकृति स्वरूप और प्रकृति त्रिगुणस्वरूप है । इस प्रकार साक्षात् अथवा परम्परा से सब पदार्थ कारणस्वरूप त्रिगुणात्मक हैं । अतः यथोक्त अनादि वासना से युक्त तीन गुण अनेक प्रकार के विचित्र होने से उन अनेक प्रकार के विचित्र त्रिगुण से अनेक प्रकार के विचित्र संसार का आविर्भाव हो सकता है । इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं, यह उक्त आशङ्का का उत्तर हुआ ।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—ते खल्वमीति । ते खलु अमी त्र्य-ध्वानः धर्माः—वे ही ये त्रैकालिक पदार्थ जो, वर्तमानाः व्यक्तात्मानः—वर्तमान कालिक वे व्यक्त रूप और जो, अतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः—अतीत-अनागत हैं वे सूक्ष्मरूप हैं । और, षडविशेषाः—अविशेष रूप से छः प्रकार के हैं । अर्थात् त्रिगुण-प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, एकादश इन्द्रिय सहित पञ्चतन्मात्र और पञ्चमहाभूत; ये सब अविशेष रूप से छः प्रकार के त्रिगुण पदार्थ हैं । इसके अतिरिक्त जो घटादि गुणविकार हैं वे पञ्चभूत से तत्त्वान्तर न होने से पञ्चभूत के अन्तर्गत हैं ।

यहां पर विज्ञानभिक्षु ने "षडविशेषाः" इतना पाठ को प्रामादिक कहते हुए यह कहा है कि- घटादि पर्यन्त सर्व विकार त्रिगुणात्मक होने से उक्त छः ही पदार्थ को त्रिगुणात्मक कहना भाष्यकार का असंगत हो जायगा, सो समीचीन नहीं ।

सर्वमिदं गुणानां संनिवेशविशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः।
तथा च शास्त्रानुशासनम्—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥ इति॥ १३॥
यदा तु सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति—

क्योंकि, यद्यपि घटपटादि सर्व विकार त्रिगुणात्मक हैं तथापि वे पञ्चभूत के अन्तर्गत होने से उक्त घट पदार्थ के अन्तर्भूत हैं। अतः "षडविशेषाः" यह भाष्यकार का कहना असंगत नहीं। सर्वमिदमिति। इदम् सर्वम्-यह सब दृश्यमान जगत् का पदार्थजात, गुणानाम्-सत्त्वरजस्तमरूप त्रिगुणों का, संनिवेशविशेषमात्रम्-संयोग विशेषमात्र है, इति-इसलिये, परमार्थतः-वास्तविक रूप से, गुणात्मानः-त्रिगुणरूप ही है। अर्थात् संपूर्ण जगत् त्रिगुणरूप ही है।

उक्त अर्थ में 'षष्टितन्त्रनामकशास्त्र' का प्रमाण देते हैं—तथा च शास्त्रानुशासनमिति।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्। इति॥ १३॥

तथा च-वैसा ही, शास्त्रानुशासनम्-शास्त्र का अनुशासन भी है-गुणानाम् परमम् रूपम्-सत्त्वादि गुणों का जो परम रूप प्रधान है वह अतीन्द्रिय होने से, दृष्टिपथम् न ऋच्छति-दृष्टिपथ को प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् इन्द्रिय का विषय नहीं है। यत् तु दृष्टिपथम् प्राप्तम्-और जो जो दृष्टिपथ को प्राप्त हो रहा है अर्थात् जो यह अनेक प्रकार का विचित्र संसार दृष्टिगोचर हो रहा है, तत्-वह, सुतुच्छकम् माया इव-अत्यन्त तुच्छ ऐन्द्रजालिक माया के समान है। अर्थात् समस्त प्रपञ्च परमार्थ से गुणत्रयात्मक प्रधान स्वरूप ही है। सारांश यह कि, "सर्वमिदम्" इस पंक्ति से जो यह कहा गया है कि-संपूर्ण प्रपञ्च गुणों के संनिवेशविशेषमात्र होने से वस्तुतः त्रिगुणात्मक ही है, इस अर्थ में यह शास्त्र प्रमाण हुआ।

भाव यह है कि, गुणों की विचित्रता से संसार में विचित्रता दिखाई देती है। वस्तुतः प्रधान का कार्य होने से निखिल प्रपञ्च प्रधानस्वरूप ही है, यह सिद्ध हुआ। इति॥ १३॥

भाष्यकार सूत्र का अवतरण करते हैं—यदेति। यदा तु सर्वे गुणाः-जब सर्व पदार्थ त्रिगुण स्वरूप नाना हैं तो, एकः शब्दः-एकम् इन्द्रियम्-इति कथम्-एक शब्द रूप विषय है और एक इन्द्रिय रूप उसके ज्ञान का करण है, इस प्रकार का नाना गुणों से एकत्व व्यवहार कैसे? क्योंकि, नानात्व का एकत्व से विरोध है!

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं, ग्राह्यात्मकानां शब्दतन्मात्रभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति, शब्दादीनां मूर्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथिवीपरमाणुस्तन्मात्रावयवः ।

इस आशंका का उत्तर सूत्रकार देते हैं— परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वमिति । परिणामैकत्वात्-परिणाम के एक होने से, वस्तुतत्त्वम्-वस्तुभूत गुणों का तत्त्व भी एक होता है । अर्थात् परमार्थरूप से नाना होने पर भी व्यावहारिक परिणाम रूप से उक्त शब्द, इन्द्रियादि परिणाम को एक होने से वस्तु रूप गुणों में एकत्व व्यवहार होता है । इस प्रकार नाना पदार्थों का एक परिणाम लोक में देखा गया है । जैसे, रुमा अर्थात् लवण की खान में डाले हुए गो, अश्व, महिष तथा हस्ती आदि नाना पदार्थों का एक लवण रूप परिणाम होता है, एवं जैसे तैल-वर्त्तिका तथा अग्निरूप नाना पदार्थों का एक दीपक रूप परिणाम होता है, वैसे ही नाना सत्त्वादि गुणरूप पदार्थों का एक शब्द तथा इन्द्रियादि रूप परिणाम होता है ।

इसी परिणाम-एकत्व को भाष्यकार दिखाते हैं—द्रव्येति । प्रख्याक्रियास्थिति-शीलानाम्-ज्ञान, क्रिया तथा स्थिति स्वभाववाले, ग्रहणात्मकानाम् गुणानाम्-ग्रहणात्मक सत्त्वादि अनेक गुणों का, करणभावेन-करणरूप से, एकः परिणामः श्रोत्रम् इन्द्रियम्-एक परिणाम श्रोत्रादि इन्द्रिय हैं । अर्थात् सत्त्वप्रधान अनेक गुणों से प्रकाशरूप एक श्रोत्रादि इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं । और, ग्राह्येति । ग्राह्यात्मकानाम्-ग्राह्य स्वरूप उक्त अनेक गुणों का, शब्दतन्मात्रभावेन-शब्दतन्मात्र रूप से, एकः परिणामः शब्दः विषयः-एक परिणाम शब्दादि रूप विषय है । अर्थात् तमः-प्रधान उक्त अनेक गुणों से एक एक रूप शब्दादि विषय उत्पन्न हुआ है । एवं, शब्दादी-नामिति । मूर्तिसमानजातीयानाम् शब्दादीनाम्-काठिन्य स्वरूप शब्दादि तन्मात्रों का, तन्मात्रावयवः पृथिवीपरमाणुः-तन्मात्रावयव पृथिवीपरमाणु अर्थात् सूक्ष्म तथा स्थूल रूप, एकः परिणामः-एक पृथिवी रूप परिणाम हैं अर्थात् काठिन्य धर्म-प्रधान पञ्चतन्मात्र से सूक्ष्म तथा स्थूलरूप एक पृथिवी उत्पन्न हुई है ।

महाभूत तथा गोवृक्षादि रूप परिणामों में भी अनेक गुणों की एक रूप से परिणा-मता दिखाते हैं—तेषामिति । च-और, तेषाम्-उन अनेक गुणों का, एकः परि-णामः-एक परिणाम, पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वतः-पृथिवी, गो, वृक्ष तथा पर्वत, इति एवम् आदिः-इत्यादि अर्थात् इस प्रकार अनेक कारण से एक कार्य उत्पन्न होता

तेषां चैकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः । नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः ।

अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थतोऽस्तीति ये आहुस्ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः ॥ १४ ॥

देखा गया है । पञ्चतन्मात्र रूप अनेक का पृथिवीरूप एक परिणाम दिखा कर जलादि रूप एक परिणाम को भी दिखाते हैं--भूतान्तरेष्विति । भूतान्तरेषु अपि–पृथिवीरूप भूत से अन्य जलादि भूतों में भी, स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानानि–स्नेह, औष्ण्य, प्रणामित्व तथा अवकाशदान को, उपादाय–ग्रहण करके, सामान्यम्–सजातीय, एकविकारारम्भः–एक विकार का आरम्भ होता है ऐसा, समाधेयः–समाधान कर लेना चाहिये । अर्थात् स्नेहत्वधर्मप्रधान रसरूपस्पर्शशब्दात्मक चार तन्मात्रों का एक सूक्ष्म तथा स्थूल रूप जलपरिणाम, उष्णत्वधर्मप्रधान रूपस्पर्शशब्दात्मक तीन तन्मात्रों का एक सूक्ष्म तथा स्थूल रूप अग्निपरिणाम, वहनत्वधर्मप्रधान स्पर्शशब्दात्मक दो तन्मात्रों का एक सूक्ष्म तथा स्थूल रूप वायुपरिणाम और अवकाशप्रदानत्वरूप धर्मप्रधान शब्दात्मक एक तन्मात्र का एक सूक्ष्म तथा स्थूलरूप आकाशपरिणाम होता है, ऐसा समझना चाहिये ।

संप्रति प्रसंगवश बाह्यार्थ का अपलाप करनेवाले विज्ञानवादी बौद्धमत की उत्थापना करके उसमें दोष दिखाते हैं—नास्तीति । विज्ञानविसहचरः अर्थः न अस्ति–विज्ञान के अभाव काल में पदार्थ नहीं है । अर्थविसहचरम् स्वप्नादौ कल्पितम् तु अस्ति–अर्थ के अभाव काल में अर्थात् स्वप्नादि में विज्ञान तो है, इति अनया दिशा ये वस्तुस्वरूपम् अपह्नुवते–इस दिशा से अर्थात् इस युक्तिरूप मार्ग से जो पदार्थ के अस्तित्व का अपलाप करते हैं । अर्थात्, ज्ञानपरिकल्पनामात्रम् स्वप्नविषयोपमम् वस्तु परमार्थतः न अस्ति–विज्ञान परिकल्पनामात्र स्वप्न के विषय के समान परमार्थ रूप से नहीं है, इति ये आहुः–ऐसा जो विज्ञानवादी कहते हैं, ते पदार्थ तथा इति स्वमाहात्म्येन प्रत्युपस्थितम् इदम् वस्तु–वे दोषादि से नहीं किन्तु जिस रूप से है उस रूप से एवं इन्द्रिय-संनिकर्ष से उपस्थित जो यह पदार्थ उसको, अप्रमाणात्मकेन विकल्पबलेन वस्तुस्वरूपम् उत्सृज्य–अप्रामाणिक स्वप्नज्ञान रूप दृष्टांत के बल से

कुतश्चैतदन्याय्यम्—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

वस्तुस्वरूप को त्याग करके, तदेव अपलपन्तः श्रद्धेयवचनाः कथम् स्युः—उसी बाह्य पदार्थ का अपलाप करते हुए श्रद्धास्पद कैसे होंगे ? अर्थात् इनके वचन पर श्रद्धा लोग कैसे करेंगे ?

भाव यह है कि-जैसे स्वप्न-अवस्था में बाह्य पदार्थ न होते हुए भी भासते हैं। अर्थात् विज्ञान वहां पदार्थाकार होकर भासता है, बाह्यार्थ नहीं है। वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी बाह्य पदार्थ न होते हुए भी विज्ञान ही पदार्थाकार होकर भासता है, बाह्यार्थ नहीं है; ऐसा क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार वैनाशिक का कहना है, सो समीचीन नहीं। क्योंकि, स्वप्न-अवस्था में जो पदार्थ भासते हैं वे तो सब निद्रादि दोष से भासते हैं एवं उनका ज्ञान विषय और इन्द्रिय के संनिकर्ष से जन्य नहीं; अतः उनका ज्ञान का विषय परमार्थ से नहीं है; परन्तु जाग्रत् अवस्था में जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे सब दोषजन्य नहीं एवं पदार्थ के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होकर उत्पन्न होते हैं। अतः उनके विषय असत् नहीं किन्तु परमार्थ से हैं। अर्थात् स्वप्नज्ञान और जाग्रत्-ज्ञान में उक्त वैषम्य होने से स्वप्नज्ञान के विषय के समान जाग्रत् ज्ञान के विषय भी असत् हैं, ऐसा कहने वाले बौद्धों के वचन पर कौन विश्वास करेगा ? अर्थात् कोई नहीं। अतः जाग्रत् के बाह्य पदार्थ स्वप्न पदार्थ के समान असत् नहीं; किन्तु सत् हैं, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ १४ ॥

इस प्रकार भाष्यकार ने अपनी युक्ति से विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य पदार्थ का स्थापन किया। संप्रति सूत्रकार की युक्ति से बाह्य पदार्थ के स्थापन करने के लिये शङ्का-पूर्वक सूत्र का अवतरण करते हैं—कुत इति। कुतश्च—किस कारण से, एतत्—यह विज्ञानवादी का मत, अन्याय्यम्—अन्यायपूर्ण है ? इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्था इति। वस्तुसाम्ये—वस्तु के एक होने पर भी, चित्तभेदात्—चित्त अर्थात् ज्ञान का भेद होने से, तयोः—उन चित्त और वस्तु का, पन्थाः—मार्ग, विभक्तः—विभक्त है। अर्थात् अनेक चित्त के विषयीभूत स्त्री आदि पदार्थ के एक होने पर भी नाना पुरुषों के चित्त सुखदुःख मोह रूप से भिन्न भिन्न देखे जाने से चित्त तथा उसके विषयीभूत पदार्थ का मार्ग भिन्न भिन्न है। अर्थात् विज्ञान से पदार्थ पृथक् है, एक नहीं।

भाव यह है कि—यदि विज्ञान का विषय विज्ञान कल्पित होने से विज्ञान स्वरूप ही हो, पृथक् न हो तो जहां अनेक विज्ञान का विषय एक है वहां वह न तो एक के

बहुचित्तालम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणं, तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम्। कथं, वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्।

धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवत्यधर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानमविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानं सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति।

विज्ञान से और न अनेक के विज्ञान से कल्पित मानना होगा; किन्तु स्वरूप-प्रतिष्ठ ही मानना होगा? अन्यथा, एक ही स्त्री पति, सपत्नी तथा कामी आदि अनेक के विज्ञान से कल्पित मानने पर उस स्त्री को भी अनेक ही मानना होगा? और वह अनेक है नहीं; अतः विज्ञान के अनेक होने पर भी उनका विषय एक ही देखे जाने से विज्ञान से अतिरिक्त विज्ञान का विषय है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकरण में चित्त, ज्ञान, विज्ञान तथा बुद्धि आदि शब्द एक ही अर्थ के वाचक समझना चाहिये।

भाष्यकार इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं—बहुचित्तेति। बहुचित्तालम्बनीभूतम्-अनेक चित्त के विषयीभूत, एकम् वस्तु साधारणम्-एक ही वस्तु सर्वसाधारण है। तत् खलु-और वह सर्वसाधारण वस्तु, न एकचित्तपरिकल्पितम्-न तो एक के चित्त से परिकल्पित है, नापि अनेकचित्तपरिकल्पितम्-और न अनेक के चित्त से परिकल्पित है; किन्तु स्वप्रतिष्ठम्-किन्तु स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। कथम्-क्योंकि, वस्तुसाम्ये-विषय रूप वस्तु के एक होने पर भी, चित्तभेदात्-चित्त के भेद अर्थात् अनेक होने से।

सारांश यह है कि-जहां पर अनेक विज्ञान के विषय पदार्थ एक हैं, वहां पर वह न तो एक के विज्ञान से और न अनेक के विज्ञान से कल्पित मानना होगा। किन्तु स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित ही मानना होगा। क्योंकि, वहां विषय के एक होने पर भी विज्ञान अनेक हैं। यदि विज्ञान का स्वरूप ही विषय होता तो विज्ञान के अनेक होने से विषय को भी अनेक ही होना चाहिये, सो तो है नहीं? अतः विज्ञान से विज्ञान का विषय पृथक् है।

इसी अर्थ को और भी स्पष्ट करते हैं—धर्मापेक्षमिति। धर्मापेक्षम्-धर्म रूप निमित्त की अपेक्षा से, चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि-चित्त के विषय एक होने पर भी, सुखज्ञानम् भवति-सुख का ज्ञान होता है। अधर्मापेक्षम्-अधर्म रूप निमित्त की अपेक्षा से, ततः एव-उसी विषय से, दुःखज्ञानम्-दुःख का ज्ञान होता है, अविद्यापेक्षम्-अविद्या रूप निमित्त की अपेक्षा से, ततः एव-उसी विषय से, मूढज्ञानम्-

कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम् ।

न चान्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः । तस्माद्वस्तुज्ञानयोर्ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः । नानयोः संकरगन्धोऽप्यस्तीति ।

मूढ ज्ञान होता है और, सम्यग्दर्शनापेक्षम्–तत्त्वज्ञान रूप निमित्त की अपेक्षा से, ततः एव–उसी विषय से, माध्यस्थ्यज्ञानम्–मध्यस्थत्व ज्ञान होता है । अर्थात् एक ही स्त्री को देखनेवाले चार पुरुष होते हैं–रक्त, द्विष्ट, विमूढ और मध्यस्थ । उनमें रक्त अर्थात् राग-वाला पति को धर्म रूप निमित्त की अपेक्षा से उसे स्त्रीविषयक सुखज्ञान होता है । द्विष्ट अर्थात् द्वेष करने वाली सपत्नी को अधर्मरूप निमित्त की अपेक्षा से दुःख ज्ञान होता है । विमूढ अर्थात् वह स्त्री प्राप्त न होने से मोहवाला अन्य कामी पुरुष को मोह ज्ञान होता है । और मध्यस्थ अर्थात् रागादि से रहित उदासीन पुरुष को माध्यस्थ्य ज्ञान होता है । तत्–वह स्त्री रूप वस्तु, कस्य चित्तेन कल्पितम्–उन चार प्रकार के पुरुषों में से किसके चित्त से कल्पित है ? अर्थात् किसी के चित्त से नहीं क्योंकि, उनमें से किसी एक के चित्त से कल्पित मानने पर उक्त चार प्रकार का ज्ञान न होना चाहिये और होता तो है ? अतः उन चारों के चित्त से कल्पित मानना पडेगा और चारों के चित्त से कल्पित मानने पर चार स्त्री होनी चाहिये, और है वह एक ही; अतः वह स्त्री किसी के चित्त से कल्पित नहीं, किन्तु विषयीरूप चित्त से विषय रूप स्त्री पृथक् है । एवं "जिस स्त्री को आप देख रहे हो उसीको मैं भी देख रहा हूं" इस प्रकार का प्रतिसन्धान होता है । यहां दो पुरुषनिष्ठ ज्ञान दो हैं । और दोनों ज्ञान का स्त्री रूप विषय एक प्रतीत होता है । यदि ज्ञान से विषय अतिरिक्त न हो तो दो स्त्री रूप विषय प्रतीत होना चाहिये, सो होता तो नहीं है ? अतः ज्ञान से विषय भिन्न है, यह सिद्ध हुआ ।

एक स्त्रीरूप पदार्थ अनेक पुरुष के चित्त से कल्पित मानने पर अनेक होना चाहिये और एक पुरुष के चित्त से कल्पित मानने पर जिस पुरुष के चित्त से कल्पित माना जायगा उसी को वह भासना चाहिये, अन्यको नहीं, सो तो ऐसा है नहीं; किन्तु सभी को भासता है; अतः वह किसी के चित्त से कल्पित नहीं; किन्तु अकल्पित पदार्थ विज्ञान से व्यतिरिक्त है, यह कहा गया । उस पर विज्ञानवादी यदि यह कहें कि, वह स्त्रीरूप पदार्थ उक्त चार प्रकार के पुरुषों में से किसी एक के चित्त से कल्पित होता हुआ चारों को भासता है, तो उस पर कहते हैं—न चेति । अन्यचित्तपरिकल्पितेन अर्थेन–अन्य पुरुष के चित्त से परिकल्पित पदार्थ से, अन्यस्य–अन्य पुरुष के, चित्तोपरागः–चित्त में उपराग रूप प्रतीति, नच युक्तः–युक्त नहीं है । अर्थात् जिस

सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणं चलं च गुणवृत्तमिति धर्मादिनिमित्तापेक्षं चित्तैरभिसंबध्यते। निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेनाऽऽत्मना हेतुर्भवति।

पुरुष के चित्त से परिकल्पित पदार्थ होता है उसी पुरुष को वह भासता है अन्य को नहीं, यह नियम है। अन्यथा, अन्य चित्त परिकल्पित स्वप्न के पदार्थ अन्य को भी भासना चाहिये, सो भासता तो नहीं है? अतः जिस एक पुरुष के चित्त से कल्पित उक्त स्त्रीरूप पदार्थ माना जायगा उसी को भासना चाहिये, अन्य को नहीं। अतः वह विज्ञान कल्पित होने से विज्ञान स्वरूप ही है, यह कहना समुचित नहीं; किन्तु अकल्पित पदार्थ विज्ञान से अतिरिक्त ही है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार तर्क से बाह्यार्थ को सिद्ध करके उसमें सूत्र के अर्थ को घटाते हैं—तस्मादिति। तस्मात्-इस कारण से, ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोः वस्तुज्ञानयोः-ग्राह्य तथा ग्रहण के भेद से भिन्न बाह्यार्थ और उसके ज्ञान का विभक्तः पन्थाः-भिन्न मार्ग है। अर्थात् ग्राह्य पदार्थ और ग्रहण उसका ज्ञान एक दूसरे से भिन्न है। अनयोः-इन दोनों में, संकरगन्धः अपि-संकर का गन्ध भी, न अस्ति-नहीं है, इति-यह सिद्ध हुआ।

एक ही पदार्थ स्वकल्पक विज्ञान स्वरूप होने पर भिन्न भिन्न पुरुष के भिन्न भिन्न ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है, यह विज्ञानवाद में दोष दिया गया है। उस पर विज्ञानवादी शङ्का करते हैं कि यह दोष तो बाह्यार्थवादी सांख्य अनुसारी योग मत में भी तदवस्थ हैं। क्योंकि, इस मत में भी एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न पुरुष के भिन्न भिन्न ज्ञान का विषय कैसे? कारण कि-अविलक्षण कारण से कार्य का भेद होना युक्तिसंगत नहीं। इसका उत्तर देते हैं—सांख्यपक्षे पुनरिति। सांख्यपक्षे-सांख्य अनुसारी योगमत में, वस्तु त्रिगुणम्—सत्त्वरजस्तमोरूप पदार्थ त्रिगुण अर्थात् सुखदुःखमोहात्मक है,पुनः-और वह, "चलञ्चगुणवृत्तम्" अर्थात् गुणों का स्वभाव चल है, इति-इस न्याय से चल है एवं, धर्मादिनिमित्तापेक्षम्-उक्त धर्म आदि निमित्त की अपेक्षा से ही वह पदार्थ, तैः अभिसंबध्यते-उन पुरुषों के साथ संबन्ध करता है, च—और, निमित्तानुरूपस्य—उत्पद्यमानस्य प्रत्ययस्य—उक्त धर्मादि निमित्त के अनुसार ही उत्पन्न होने वाले ज्ञान के प्रति, तेन तेन आत्मना-तत्तत् रूप से, हेतुः भवति—कारण होता है। अर्थात् एक ही पदार्थ हमारे मत में सुख-दुःख-मोहात्मक तथा चल होने से तत्तत् पुरुष के साथ संबन्ध करते हुए तत्तत् ज्ञान के प्रति हेतु होता है। अतः कारणीभूत विषय पदार्थ के एक होने पर भी कार्यका भेद होना युक्तिसंगत ही है, असंगत नहीं।

केचिदाहुः—ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात्सुखादिवदिति ।

ते एतया द्वारा साधारणत्वं बाध्यमानाः पूर्वोत्तरक्षणेषु स्वरूपमेवापह्नुवते ॥१५॥

भाव यह है कि रजोगुण सहित सत्त्वगुण जो स्त्रीरूप पदार्थ है वह धर्मसापेक्ष होता हुआ पति को सुखज्ञान का हेतु है, रजोगुण सहित तमोगुण जो स्त्रीरूप पदार्थ है वह अधर्म सापेक्ष होता हुआ सपत्नी को दुःखज्ञान का हेतु है, के तमोगुण जो स्त्रीरूप पदार्थ है वह अज्ञान सापेक्ष होता हुआ अन्य कामी पुरुष को मोहज्ञान का हेतु है और विशुद्ध सत्त्वगुण जो स्त्रीरूप पदार्थ है वह तत्त्वज्ञान सापेक्ष होता हुआ उदासीन पुरुष को सामान्यज्ञान का हेतु है। अतः एक पदार्थ होते हुए भी भिन्न भिन्न रूप से भिन्न भिन्न पुरुष को भिन्न भिन्न ज्ञान का हेतु होने में कोई आपत्ति नहीं।

इस प्रकार बाह्यार्थ का अपलाप करनेवाले मुख्य विज्ञानवादी बौद्धमत का निरास किया गया। संप्रति उसके एकदेशी के मत का उपन्यास करके उसमें दोष देते हैं—केचिदिति। केचित्–कोई विज्ञानवादी एकदेशी ऐसा, आहुः–कहते हैं कि–अर्थः–बाह्य पदार्थ, विज्ञानसहभूः एव—विज्ञान के साथ ही रहनेवाले हैं, भोग्यत्वात्–भोग्य होने से, सुखादिवत्–सुख दुःख के समान। अर्थात् जैसे सुखदुःख भोग्य हैं और विज्ञान के साथ ही उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं, वैसे ही बाह्यार्थ भी भोग्य हैं; अतः विज्ञान के साथ ही उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं।

भाव यह है कि–पूर्वोक्त युक्ति से बाह्यार्थ है तो सही; परन्तु वह विज्ञान के आगे पीछे नहीं; किन्तु जैसे सुख-दुःख ज्ञायमान पदार्थ होने से जब सुखदुःख का ज्ञान उत्पन्न होता है तब सुखदुःख भी साथ ही उत्पन्न होते हैं और जब उनका ज्ञान नष्ट होता है, तब उसके साथ ही सुखदुःख भी नष्ट हो जाते हैं। वैसे ही जब बाह्यार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है तब बाह्यार्थ भी उसके साथ ही उत्पन्न होता है और जब उसका ज्ञान नष्ट होता है तब उसके साथ ही बाह्यार्थ भी नष्ट हो जाता है। ते-ज्ञानकाल में ही पदार्थ की सत्ता स्वीकार करनेवाले बौद्ध, एतया द्वारा–इस उक्त युक्ति के द्वारा, साधारणत्वम् बाध्यमानाः–सर्व साधारण पुरुष के ज्ञान के विषयीभूत बाह्यार्थ का अभाव करते हुए, पूर्वोत्तरक्षणेषु–ज्ञान के उत्पत्ति से पूर्व और नाश से उत्तर क्षणों में, वस्तुस्वरूपम् एव–बाह्य पदार्थ के स्वरूप का ही, अपह्नुवते–अपलाप करते हैं। इस मत का खण्डन स्वयं सूत्रकार करेंगे। अतः यहां इतना ही कहना समुचित है।

किसी किसी व्याख्याकार ने "केचित्" से लेकर "अपह्नुवते" तक जो पंक्ति है, उसको उत्तर सूत्र का अवतरण माना है; परन्तु श्रीवाचस्पति मिश्र ने प्रकृत सूत्र का

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वा स्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्यस्याविषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतस्वभावकं केनचित्तदानीं

ही भाष्य मानकर इसका व्याख्यान किया है। अतः मैंने भी यहीं इसका उल्लेख करके व्याख्यान किया है। इति ॥ १५ ॥

ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व और नाश से उत्तर बाह्य पदार्थ की सत्ता सूत्रकार सिद्ध करते हैं—नचैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यादिति। वस्तु–बाह्य पदार्थ. एकचित्ततन्त्रम्–किसी एक ज्ञान के अधीन अस्तित्ववाला, नच–नहीं है। क्योंकि, यदि ज्ञानकाल से अतिरिक्त काल में बाह्य-पदार्थ का अस्तित्व न माना जायग तो जिस काल में, तत्-वह, अप्रमाणकम्–ज्ञान रूप प्रमाण का विषय न होगा अर्थात् अज्ञात रहेगा, तदा–उस काल में वह, किम् स्यात्–क्या होगा ? अर्थात् क्या वह उत्पन्न ही नहीं हुआ है अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गया है? इन दो बातों में से उसे क्या कहोगे ?

भाव यह है कि---यदि बाह्य पदार्थ की सत्ता चित्त अर्थात् विज्ञान काल में ही स्वीकार की जायगी तो जिस काल में चित्त घट को विषय करके पट को विषय करने जायगा उस काल में घट क्या हो जायगा ?। यदि कहैं कि उस काल में घट नष्ट हो जायगा, तो फिर दूसरी बार जब वही चित्त उसी घट को विषय करने आवेगा तब वह घट फिर क्या हो जायगा ?। यदि कहैं कि, उस काल में वह घट पुनः उत्पन्न हो जायगा तो इस प्रकार क्षण क्षण में उस घट की उत्पत्ति तथा नाश में कारण कौन है ?। यदि कहैं कि, विज्ञान ही उसकी उत्पत्ति तथा नाश में कारण है, तो आज्ञामोदक के समान यह कथन अकिञ्चित्कर ही होगा। अर्थात् जैसे आज्ञामोदक उदरपूर्त्ति तथा तृप्ति का हेतु नहीं; किन्तु उपार्जित मोदक ही उदरपूर्त्ति तथा तृप्ति का हेतु है। वैसे ही चित्त अर्थात् विज्ञान उक्त घट की उत्पत्ति तथा नाश का हेतु मानना उचित नहीं; किन्तु दण्डमुद्गरादि ही उसकी उत्पत्ति तथा नाश का हेतु मानना उचित है। अतः बाह्य पदार्थ की सत्ता विज्ञानकाल में ही नहीं; किन्तु तीनों काल में स्थायी है यह सिद्ध हुआ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—एकेति। एकचित्ततन्त्रम् चेत् वस्तु स्यात्–किसी एक चित्त के अधीन सत्तावाली यदि वस्तु होगी, तदा–तो, चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वा–उस चित्त के व्यग्र अथवा निरुद्ध होने पर, तेन स्वरूपम् एव अपरामृष्टम्–

किं तत्स्यात् । संबध्यमानं च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत । ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत ।

तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते । तयोः संबन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥१६॥

उस चित्त से उस वस्तु का स्वरूप ही अविषय हुआ और, अन्यस्य अविषयीभूतम्-अन्य किसी चित्त का भी उसका स्वरूप अविषय ही हुआ तो, तदानीम् केनचित् अगृहीतस्वभावकम् तत्-उस समय किसी भी चित्त से अगृहीत स्वभाववाली होती हुई वह वस्तु, किं स्यात्-क्या हो गई अर्थात् वह कहां चली गई ? पुनश्च चित्तेन सम्बध्यमानम्-और फिर जब उसी चित्त से वही वस्तु सम्बध्यमान होती है तब वह, कुतः उत्पद्येत-कहां से उत्पन्न हुई ? अन्य दोष देते हैं—ये चेति च-और, ये-जो, अस्य-इस गृह्यमाण शरीरादि वस्तु के, अनुपस्थिताः भागाः-अज्ञात पृष्ठ आदि भाग हैं, ते च-वे भी, अस्य न स्युः-इसके न सिद्ध होंगे । एवम्-इसी प्रकार, पृष्ठम् नास्ति-पृष्ठ नहीं है, इति-तो, उदरम् अपि-उदर भी, न गृह्येत-गृहीत न होगा । क्योंकि, पृष्ठ का उदर व्याप्य होने से पृष्ठ के अभाव होने पर उदर का भी अभाव सिद्ध हो जायगा ।

भाव यह है कि यदि ज्ञानकाल में ही पदार्थ की सत्ता मानी जायगी तो ज्ञान का विषय नेत्र-सम्मुख जो शरीर का उदरभाग है उसीकी सत्ता माननी होगी और पीछे पृष्ठभाग जो अज्ञात है उसकी सत्ता सिद्ध न होगी । ऐसी स्थिति में जैसे "यत्र धूमस्तत्र वह्निः" इस व्याप्ति के अनुसार धूम वह्नि का व्याप्य है, वैसे ही "यत्रोदरं तत्र पृष्ठम्" इस व्याप्ति के अनुसार भी उदर पृष्ठ का व्याप्य होने से जैसे वह्नि का अभाव होने पर धूम का भी अभाव सिद्ध होता है, वैसे ही अज्ञात पृष्ठ के अभाव होने पर उदर का भी अभाव सिद्ध हो जायगा, तो किसी भी अवयव की सिद्धि न होने से अवयवी रूप पदार्थ की भी सिद्धि न होगी ?

इस प्रकार परमत का निराकरण करके संप्रति स्वमतस्थापन करते हुए प्रकृत विषय का उपसंहार करते हैं—तस्मादिति । तस्मात्-इस उक्त हेतु से, सर्वपुरुषसाधारणः-प्रत्येक पुरुष के प्रति साधारण, अर्थः-पदार्थ, स्वतन्त्र है, च-और, प्रतिपुरुषम् चित्तानि स्वतन्त्राणि प्रवर्त्तन्ते-प्रत्येक पुरुष में रहनेवाले असंख्य चित्त भी स्वतन्त्र हैं । अर्थात् एक पुरुष के ज्ञान के अधीन सत्तावाले पदार्थ नहीं; किन्तु सर्व पुरुष साधारण स्वतन्त्र सत्तावाले बाह्य पदार्थ हैं एवं प्रत्येक पुरुष में भिन्न भिन्न रूप से रहनेवाले चित्त भी किसी के अधीन सत्तावाले नहीं; किन्तु स्वतन्त्र सत्तावाले हैं,

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

अयस्कान्तमणिकल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमभिसंबन्ध्योपरञ्जयन्ति । येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः पुनरज्ञातः । वस्तुनो ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात्परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

यह सिद्ध हुआ । तयोः-पदार्थ और चित्त के, सम्बन्धात्-सम्बन्ध होने से जो, उपलब्धिः-ज्ञान उत्पन्न होता है वही, पुरुषस्य भोगः—पुरुष का भोग कहा जाता है । इति ॥ १६ ॥

इस प्रकार बाह्य पदार्थ विज्ञान से पृथक् एवं स्वतन्त्र सिद्ध किया गया । इस पर पुनः विज्ञानाधीन बाह्यार्थ को सिद्ध करने के लिये विज्ञानवादी शङ्का करते हैं कि-यदि बाह्यार्थ स्वतन्त्र है तो वह जडस्वभाव है अथवा प्रकाशस्वभाव ? यदि जडस्वभाव है तो वह कभी भी ज्ञात न होना चाहिये और यदि प्रकाशस्वभाव है तो सर्वदा ही ज्ञात रहना चाहिये ? क्योंकि, स्वभाव किसी का कादाचित्क नहीं होता है ? । इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातमिति । चित्तस्य-चित्त को, तदुपरागापेक्षित्वात्-उस बाह्य विषय के उपराग की अपेक्षावाला होने से, वस्तु-वह बाह्य विषय, ज्ञाताज्ञातम्-चित्त के द्वारा कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होता है । भाव यह है कि इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा बाह्य विषय का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ना उपराग कहा जाता है और चित्त में उपरक्त विषय ही ज्ञात कहा जाता है । जिस समय बाह्य विषय का चित्त के साथ इन्द्रिय द्वारा सम्बन्ध होता है उस समय वह बाह्य विषय ज्ञात और उक्त सम्बन्ध के अभाव काल में अज्ञात होता है । अतः बाह्य विषय जडस्वभाववाला होने पर भी सदा अज्ञात नहीं; किन्तु जब उक्त सम्बन्ध होता है तब ज्ञात और सम्बन्ध नहीं होता है तब अज्ञात होता है, यह उक्त शङ्का का उत्तर हुआ ।

उसी उपराग के कारण को दिखाते हुए भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—अयस्कान्तेति । अयस्कान्तमणिकल्पाः विषयाः-अयस्कान्त मणि अर्थात् लोहचुम्बक के समान जो विषय हैं वे, अयःसधर्मकम् चित्तम्-अयःसधर्मक अर्थात् लोह समान चित्त को, अभिसंबध्य-अपने साथ संबन्ध करके, उपरञ्जयन्ति-उपरञ्जन कर देते हैं । अर्थात् विषय चित्त को अपने समान आकारवाला करके चित्रित कर देते हैं । येन च विषयेण-और जिस विषय के साथ, चित्तम् उपरक्तम्-चित्त उपरक्त होता है, सः विषयः-वह विषय, ज्ञातः-ज्ञात, पुनः-और, ततः अन्यः-उससे अन्य विषय, अज्ञातः-अज्ञात होता है अर्थात् विषय चित्त को आकृष्ट कर अपने समान

यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य —

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत्ततस्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः

आकारवाला करते हुए चित्रित कर देता है। जो विषय चित्त में चित्रित होता है वह ज्ञात और जो चित्त में चित्रित नहीं होता है वह अज्ञात होता है, यह नियम है। पुरुष की अपेक्षा चित्त का वैलक्षण्य प्रतिपादन करते हुए विषय का उपसंहार करते हैं-वस्तुन इति। इस प्रकार, वस्तुनः-विषय रूप वस्तु से, ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात्-ज्ञात तथा अज्ञात स्वरूपवाला होने से, चित्तम्-चित्त, परिणामि-परिणामी है। अर्थात् चित्त कभी विषयाकार और कभी अविषयाकार होने से परिणामी और पुरुष सदा एक स्वरूप रहने से अपरिणामी है। इति ॥ १७ ॥

इस प्रकार चित्त से भिन्न बाह्य विषय की स्थापना करते हुए चित्त को परिणामी कहा गया संप्रति उससे भिन्न अपरिणामी आत्मा की स्थापना करने के लिये भाष्यकार "यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य" इतने अंश को सूत्र के साथ संमिलित करते हैं— यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य–सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वादिति। यस्य तु–जिस चेतन पुरुष का, तत् चित्तम् एव–वह विषयाकार चित्त ही, विषयः–विषय होता है, तस्य–उस चेतन पुरुष को, सदा–सर्व समय में, चित्तवृत्तयः–चित्त की वृत्तियाँ ज्ञाताः–ज्ञात रहती हैं। क्योंकि, तत्प्रभोः पुरुषस्य–उस चित्त के स्वामी पुरुष को, अपरिणामित्वात्–अपरिणामी होने से।

भाव यह है कि-सांख्य अनुसारी योग मत में इन्द्रियादि प्रमाण नहीं; किन्तु इन्द्रियादि द्वारा जो विषयाकार वृत्ति उत्पन्न होती है वह प्रमाण मानी जाती है। वह वृत्ति यदि स्वयं अप्रकाशित हो तो वह विषय का प्रकाश नहीं कर सकती है; अतः वह चेतन का विषय होकर अर्थात् चेतन के प्रकाश से प्रकाशित होकर विषय का प्रकाश करती है और वह चेतन अपरिणामी होने से सदा विद्यमान रहता है। अतः वृति भी सदा ज्ञात ही रहती है, अज्ञात नहीं, और घटादि बाह्यार्थ का प्रकाशक चित्त परिणामी होने से वह सदा विद्यमान नहीं। अतः बाह्यार्थ सदा ज्ञात नहीं, किन्तु ज्ञाताज्ञात है।

आपाततः देखने से यह सूत्र वृत्तियों को सदा ज्ञात सिद्ध करता है; परन्तु विचार दृष्टि से देखने पर सदा ज्ञात वृत्तियों का प्रकाशक पुरुष को अपरिणामी सिद्ध करता है क्योंकि, वृत्तियां सदा ज्ञात तभी हो सकती हैं जबकि उसका प्रकाशक पुरुष अपरिणामी

शब्दादिविषयवज्ज्ञाताज्ञाताः स्युः। सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति ॥ १८ ॥

स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं च वैनाशिकानां चित्तात्मवादिनां भविष्यतीत्यग्निवत्।

हों। क्योंकि, यदि चित्त के समान पुरुष भी परिणामी हो तो चित्त के विषय बाह्यार्थ के समान पुरुष का विषय वृत्तियां भी ज्ञाताज्ञात होंगी; सदा ज्ञात नहीं और सूत्र तो उसको सदा ज्ञात कहता है, सो सिद्ध तभी हो सकता है जब पुरुष अपरिणामी सिद्ध हो। अतः इस युक्ति से पुरुष को यह सूत्र अपरिणामी सिद्ध करता है। इस प्रकार उक्त दोनों सूत्रों से चित्त परिणामी और पुरुष अपरिणामी सिद्ध हुआ।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं—यदीति। यदि चित्तवत्–यदि चित्त के समान, प्रभुः पुरुषः अपि–उसका स्वामी पुरुष भी, परिणमेत्–परिणाम को प्राप्त होगा अर्थात् सदा एकरस नहीं रहेगा, ततः–तो, तद्विषयाः चित्तवृत्तयः–उस पुरुष के विषयीभूत चित्तवृत्तियां, शब्दादि विषयवत्—शब्दादि विषय के समान, ज्ञाताज्ञाताः—कभी ज्ञात और कभी अज्ञात, स्युः—हो जायंगी। मनसः—और चित्तवृत्तियों को; तु–तो, सदाज्ञातत्वम्—सदा ज्ञातत्व ही है अर्थात् पुरुष की विषयीभूत चित्तवृत्तियां तो सदा ज्ञात ही होती हैं; अतः ये चित्तवृत्तियां, तत्प्रभोः पुरुषस्य–उसके स्वामी पुरुष के, अपरिणामित्वम्–अपरिणामित्व का, अनुमापयति–अनुमापन अर्थात् कल्पना कराती हैं। यथा–"पुरुषः अपरिणामी, सदाज्ञातविषयत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा चक्षुरादि"। अर्थात् पुरुष, अपरिणामी है, सदा ज्ञातविषयक होने से, जो सदा ज्ञातविषयक नहीं होता है वह अपरिणामी भी नहीं होता है, जैसे चक्षु आदि। इस अनुमान से पुरुष अपरिणामी सिद्ध होता है।

भाव यह है कि–यदि पुरुष अपरिणामी नहीं माना जायगा तो जिस समय वह अव्यग्र रहेगा उस समय तो उसका विषय रूप चित्तवृत्ति ज्ञात होगी और जिस समय वह व्यग्र हो जायगा उस समय चित्तवृत्ति अज्ञात होगी?। ऐसी स्थिति में पुरुष को ऐसा निश्चय नहीं होगा कि, "मैं सुखी ही हूँ"! किन्तु "मैं सुखी हूँ या नहीं" ऐसा संशय हुआ करेगा और ऐसा संशय होता भी है नहीं। अतः सदा एकरस अपरिणामी पुरुष है, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ १८ ॥

भाष्यकार वैनाशिकों की शंका का उत्थान करते हैं—स्यादिति। चित्तात्मवादिनाम् वैनाशिकानाम्–चित्तात्मवादी वैनाशिकों की, इति–इस प्रकार की, आशङ्का स्यात्–आशङ्का हो सकती है कि, चित्तम् एव–चित्त ही, स्वाभासम्–अपना प्रकाशक,

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम्।

न चाग्निरत्र दृष्टान्तः। न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति

च-और, विषयाभासम्-विषय का भी प्रकाशक, अग्निवत्-दीपकादि रूप अग्नि के समान, भविष्यति-हो जायगा तो पुरुष को मानने की क्या आवश्यकता है?

भाव यह है कि, पूर्व सूत्र में यह कहा गया है, पुरुषप्रकाश के द्वारा चित्तवृत्तियां सदा ज्ञात रहती हैं। इस पर वैनाशिकों का यह कहना है कि, जैसे दीपक अपना और घटादि विषय दोनों का प्रकाशक है, वैसे ही चित्त भी अपना और विषय दोनों का प्रकाशक हो जायगा तो चित्त का प्रकाशक पुरुष को मानने की क्या आवश्यकता है?। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं-न तत्स्वाभासं दृश्यत्वादिति। तत्-वह चित्त, दृश्यत्वात्-दृश्य होने से, स्वाभासम्-अपना प्रकाशक, न-नहीं हो सकता है।

भाव यह है कि, सिद्धान्त में चित्त पुरुष-प्रकाश के द्वारा प्रकाशित होने से दृश्य है। अतः चित्त दृश्य है, यह बात उभयवादी सिद्ध है। जो दृश्य होता है वह स्वाभास अर्थात् अपना प्रकाशक आप नहीं होता है; किन्तु घटादि के समान उसका प्रकाशक कोई अन्य देखा गया है। ऐसी स्थिति में दृश्यरूप चित्त का प्रकाशक कोई अन्य कहना होगा और जो उसका प्रकाशक होगा वही पुरुष है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार चित्त का प्रकाशक पुरुष अपरिणामी रूप से सदा विद्यमान रहने से चित्त सदा ज्ञात है, यह सिद्ध हुआ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं-यथेति। यथा-जैसे, इतराणि इन्द्रियाणि-अन्य चक्षु आदि इन्द्रियां, च-और, शब्दादयः—शब्दादि विषय, दृश्यत्वात्-दृश्य होने से, स्वाभासानि न-स्वप्रकाश नहीं हैं, तथा-वैसे ही, मनः अपि प्रत्येतव्यम्-चित्त भी स्वप्रकाश नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् जैसे इन्द्रियां चक्षुरादि और उनके विषय शब्दादि दृश्य होने से स्वप्रकाश नहीं हैं यह बात उभयवादीसिद्ध है। वैसे ही मन अर्थात् चित्त भी उभयवादिसिद्ध दृश्य होने से स्वप्रकाश नहीं है, यह बात भी अवश्य स्वीकार करनी चाहिये।

वैनाशिक ने जो अग्नि का दृष्टान्त दिया है कि- जैसे अग्नि दृश्य होने पर भी स्वप्रकाश है। क्योंकि, दीपक रूप अग्नि को प्रकाश करने के लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं होती है, वैसे ही चित्त दृश्य होने पर भी स्वप्रकाश है। चित्त को प्रकाश करने के लिये पुरुष-प्रकाश की आवश्यकता नहीं। इसका समाधान करते हैं-

प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टः । न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः ।

किंच स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः ।

न चेति । अत्र-चित्त के स्वप्रकाश होने में, अग्निः दृष्टान्तः न च-अग्नि दृष्टान्त नहीं हो सकती है । नहीति । हि-क्योंकि, अग्निः-अग्नि, अप्रकाशम् आत्मस्वरूपम्—अप्रकाश रूप अपने स्वरूप को, न प्रकाशयति-प्रकाश नहीं करती है। इसमें युक्ति देते हैं—प्रकाश इति । अयम् प्रकाशः—यह जो विषय का प्रकाश होता है वह, प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे—प्रकाश्य और प्रकाशक के संयोग होने पर, दृष्टः—देखा गया है । न चेति । स्वरूपमात्रे—स्वरूपमात्र में अर्थात् एक पदार्थ में, संयोगः न च अस्ति—संयोग नहीं देखा गया है । अर्थात् संयोग द्विष्ठ पदार्थ है । अतः दो में रहता है अपने ही स्वरूप में अपने ही का संयोग होना संभव नहीं, तो फिर अपने ही को आप अग्नि प्रकाश कैसे करेगी ? ।

भाव यह है कि–अग्नि स्वप्रकाश नहीं; किन्तु ज्ञानरूप प्रकाश से प्रकाशित है । अतः चित्त के स्वप्रकाश में वह दृष्टान्त नहीं हो सकती है । यदि अग्नि को स्वप्रकाश माने अर्थात् अग्नि से ही अग्नि का ज्ञान होता है, ऐसा माने तो चित्तचैत्य संयोग के जैसा अग्नि के साथ अग्नि का ही संयोग कहना होगा और एक में संयोग होता नहीं; किन्तु दो में होता है । अतः अग्नि स्वप्रकाश नहीं अर्थात् अपना प्रकाशक आप नहीं है । एवं चित्त का अपने साथ संयोग नहीं; अतः चित्त अपना प्रकाशक नहीं है ।

जितनी क्रिया होती हैं, वे सब कर्त्ता, करण तथा कर्म रूप अनेक कारक से जन्य होती हैं; एक से नहीं । जैसे पाकक्रिया देवदत्तादि कर्त्ता, अग्नि करण तथा तण्डुलादि कर्म रूप अनेक कारक से जन्य है, एक से नहीं । ज्ञानक्रिया भी क्रिया है; अतः यह भी अनेककारक से जन्य है । अग्नि यदि स्वप्रकाश अर्थात् अपना प्रकाशक आप ही होगा तो प्रकाश रूप क्रिया का कर्त्ता और कर्म भी अग्नि हो होगी । ऐसी स्थिति में कर्म-कर्तृ-भाव विरोध होगा अर्थात् आत्माश्रय दोष लागू पड़ेगा ? । अतः अग्नि स्वप्रकाश नहीं । किन्तु ज्ञानरूप प्रकाश से प्रकाशित है । (आगे चल कर अग्नि को स्वयंप्रकाश मानकर दूसरा उत्तर देंगे) अतः यह चित्त के स्वप्रकाश में दृष्टान्त न होने से चित्त स्वप्रकाश नहीं; किन्तु यह भी पुरुष–प्रकाश से प्रकाशित है । और पुरुष को अपरिणामी एक रस एवं सदा विद्यमान रहने से उससे प्रकाश्य चित्त सदा ज्ञात है, यह सिद्ध हुआ ।

वैनाशिक आत्माश्रय दोष का परिहार करने के लिये स्वाभास शब्द का अन्य अर्थ करते हैं—किञ्चेति । किञ्च—वैनाशिक मत में अन्य भी दोष है और वह यह

तद्यथा—स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं न परप्रतिष्ठमित्यर्थः। स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात्सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते—क्रुद्धोऽहं भीतोऽहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इति। एतत्स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति ॥ १९ ॥

है कि—यदि वैनाशिक लोग यह कहें कि, स्वाभासम् चित्तम्–स्वाभास चित्त है। इस शब्द का यह अर्थ नहीं कि–चित्त अपना विषय आप ही है; किन्तु वह चित्त, अग्राह्यम् एव कस्यचित्—किसी अन्य से अग्राह्य ही है, इति शब्दार्थः—यह स्वाभास शब्द का अर्थ है। तद् यथा—और वह जैसे, स्वात्मप्रतिष्ठम् आकाशम्—स्वात्म-प्रतिष्ठ आकाश है, यह कहने पर इसका अर्थ यह नहीं कि, आकाश अपना आश्रय आप ही है किन्तु, न परप्रतिष्ठम्—किसी अन्य में आश्रित नहीं है, इति अर्थः—यह अर्थ है। अर्थात् जैसे–आकाश स्वात्मप्रतिष्ठ है, यह कहने से आकाश अन्य आश्रित नहीं है, इतना ही अर्थ होता है। वैसे ही "स्वाभास चित्त है' यह कहने से "चित्त अन्य का विषय नहीं है" इतना ही अर्थ है। ऐसा अर्थ करने पर कर्म-कर्तृभाव अर्थात् आत्माश्रय दोष कैसे ?। इस अर्थ में भी दोष प्रदर्शित करते हैं–स्वबुद्धेति। स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात्—अपने चित्त के व्यापार के ज्ञान से, सत्त्वानाम्—प्राणियों की, प्रवृत्तिः दृश्यते—प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे, अहम् क्रुद्धः–मैं क्रोधयुक्त हूँ, अहम् भीतः—मैं भययुक्त हूँ, अमुत्र मे रागः—अमुक विषय में मेरा राग है, अमुत्र मे क्रोधः—अमुक विषय में मेरा क्रोध है, इति—इस प्रकार की चित्तविषयक ज्ञानपूर्वक प्राणी की जो प्रवृत्ति देखी जाती है, एतत्—यह प्रवृत्ति, स्वबुद्धेः अग्रहणे–अपने चित्त का ज्ञान न होने पर, न युक्तम्—युक्तियुक्त न होगा ? अर्थात् यदि चित्त सर्व अग्राह्य अर्थात् किसी का भी विषय न होगा तो इसका ज्ञान किसी से न होने से चित्त विषयक ज्ञानपूर्वक जो प्राणियों की उक्त प्रवृत्ति देखी जाती है सो नहीं देखी जानी चाहिये और देखी तो जाती है ? अतः चित्त अज्ञात नहीं, किन्तु ज्ञात है। और अन्य किसी से तो ज्ञात है नहीं किन्तु पुरुष से ही ज्ञात कहना होगा और पुरुष अपरिणामी होने से सदा विद्यमान है। अतः चित्त तथा उसकी वृत्तियां सदा ज्ञात ही हैं, यह सिद्ध हुआ।

यदि कहें कि, चित्त का प्रकाशक जो पुरुष है वह परप्रकाश है अथवा स्वप्रकाश है ? यदि परप्रकाश है तो जो स्वयं परप्रकाश है वह चित्त का प्रकाशक कैसे ?। और यदि स्वप्रकाश है तो जो दोष चित्त के स्वप्रकाश मानने में कहे गए हैं वे सब प्राप्त होंगे ?। इसका उत्तर यह है कि—जैसे दीपक न तो परप्रकाश का विषय है और न स्वप्रकाश का; किन्तु स्वयंप्रकाशरूप है। वैसे ही चेतन पुरुष भी न तो पर-

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

न चैकस्मिन्क्षणे स्वपररूपावधारणं युक्तं, क्षणिकवादिनो यद्भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः ॥ २० ॥

प्रकाश का विषय है और न स्वप्रकाश का किन्तु स्वयंप्रकाशरूप है। अतः चित्तस्वप्रकाश पक्ष में जो दोष कहे हैं वे प्राप्त नहीं होते हैं। इति ॥ १९ ॥

इस प्रकार चित्त को विषयाभास और स्वाभास मानने में जो दोष दिए गए वे सर्वसंमत हैं। संप्रति सूत्रकार उनको स्वमत विरोध रूप दोष देते हैं—एकसमये चोभयानवधारणमिति। एकसमये च—और एक ही समय में, उभयानवधारणम्—उभय अर्थात् विषय और अपना स्वरूप दोनों का ग्रहण करना असंभव है। अर्थात् यदि चित्त विषयाभास और स्वाभास होगा तो जैसे एक ही समय घटाकार और घटाकारवृत्ति का होना असंभव है। वैसेही एक ही समय में विषयाकार और स्वाकार वृत्ति का होना भी असंभव है ?।

भाष्यकार सूत्र का अभिप्राय व्यक्त करते हैं—न चेति। एकस्मिन् क्षणे—एक ही क्षण में, स्वपररुपावधारणम्—अपना और विषय के स्वरूप का ग्रहण करना, न च युक्तम्—युक्तियुक्त नहीं है अर्थात् संभव नहीं है। क्षणिकवादिन इति। क्षणिकवादिनः—क्षणिकवादी के मत में, यद् भवनम्—जो पदार्थ की उत्पत्ति है, सा एव क्रिया—वही क्रिया है, च—और, तद् एव कारकम्—वही कारक है, इति—यह, अभ्युपगमः—स्वीकार है।

भाव यह है कि, तार्किक आदि के मत में यह नियम है कि, प्रथम क्षण में द्रव्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है, द्वितीय क्षण में वह क्रियावाला होता है और तृतीय क्षण में किसी कार्य को करने से वह कारक बनता है। परन्तु बौद्ध मत में यह नियम नहीं। क्योंकि, उनके मत में पदार्थ क्षणिक होने के कारण भिन्न भिन्न क्षण में उनका अस्तित्व असंगत है। अतः पदार्थ की जो उत्पत्ति है वही क्रिया है और वही कारक है। चित्त भी एक प्रकार का पदार्थ होने से क्षणिक है। अतः इसकी भी जो उत्पत्ति वही क्रिया और वही कारक है तो विषय और अपना प्रकाशक अन्य क्रिया न होने के कारण उसको विषयाभास और स्वाभास मानना स्पष्ट ही विरुद्ध है। अतः चित्त का प्रकाशक चित्त से भिन्न आत्मा को अवश्य मानना चाहिये, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ २० ॥

भाष्यकार प्रकारान्तर से वैनाशिक मत का उत्थान करते हुए सूत्र का अवतरण करते हैं—स्यादिति। इति मतिः स्यात्—ऐसी बुद्धि किसी की हो सकती है कि,

स्यान्मतिः स्वरसविरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृति-संकरश्च ॥ २१ ॥

स्वरसविरुद्धम् चित्तम्–विनाश स्वभाववाला होने से स्वतः नष्ट हुआ चित्त, समनन्तरेण चित्तान्तरेण–अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पन्न अन्य चित्त के द्वारा, गृह्यते–गृहीत होता है। अर्थात् यद्यपि चित्त क्षणिक होने से अपना प्रकाशक आप नहीं हो सकता है, तथापि उससे अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पन्न अन्य चित्त से उसका प्रकाश हो जायगा तो उसके लिये आत्मा को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है?। इस मत में भी दोष का उद्भावन सूत्रकार करते हैं—चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्चेति। चित्तान्तरदृश्ये—यदि अन्य चित्त के द्वारा चित्त को ग्राह्य माना जायगा तो, बुद्धिबुद्धेः–उस चित्त का अन्य चित्त के द्वारा ग्रहण होने से, अतिप्रसङ्गः—अतिप्रसङ्ग अर्थात् अनवस्था आदि अनेक दोष का प्रसङ्ग हो जायगा?।

भाव यह है कि—चित्त अपना प्रकाशक आप होने पर तो आत्माश्रय दोष दिया ही गया है। यदि प्रथम चित्त का प्रकाशक द्वितीय और द्वितीय चित्त का प्रकाशक प्रथम माना जायगा तो अन्योन्याश्रय दोष का प्रसङ्ग होगा। प्रथम चित्त का प्रकाशक द्वितीय, द्वितीय का प्रकाशक तृतीय और तृतीय का प्रकाशक प्रथम माना जायगा तो चक्रकापत्ति दोष का प्रसङ्ग होगा। एवं प्रथम का द्वितीय, द्वितीय का तृतीय, तृतीय का चतुर्थ, चतुर्थ का पञ्चम इस प्रकार की धारा मानी जायगी तो इस धारा की कहीं विश्रान्ति न होने पर अनवस्था रूप दोष का प्रसंग होगा। आगे चल कर कहीं पर विश्रान्ति मानने पर अर्थात् बीसवां अथवा पचीसवां को स्वाभास मानने पर पूर्व-उक्त आत्माश्रय दोष पुनः लागू पडेगा। और बीसवें अथवा पचीसवें को स्वाभास मानने पर प्रथम को ही स्वाभास मानने से निर्वाह हो सकता था, फिर अग्रिम कक्षायें व्यर्थ होने से प्राग् लोपरूप दोष का प्रसंग होगा। एवं प्रथम चित्त को स्वाभास माननेवाले के मत में तथा बीसवें चित्त को स्वाभास माननेवाले, के मत में कोई प्रमाण अर्थात् एकतर-पक्षपातिनी युक्ति का अभाव होने से विनिगमनाविरहरूप दोष का प्रसंग होगा। इस प्रकार आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रकापत्ति, अनवस्था प्राग्लोप तथा विनिगमनाविरह रूप षड् दोष का प्रसंग होने से प्रथम चित्त का प्रकाशक द्वितीय चित्त नहीं, किन्तु स्वयंप्रकाशक आत्मा ही चित्त का प्रकाशक है, यह सिद्ध हुआ।

अथ चित्तं चेच्चित्तान्तरेण गृह्येत बुद्धिबुद्धिः केन गृह्यते, साऽप्यन्यया साऽप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः ।

स्मृतिसंकरश्च यावन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवास्तावत्यः स्मृतयः

स्मृति-संकर रूप दोष का स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि—विषय के अनुभव काल में जब अनुभवात्मक "घटमहमनुभवामि" इस प्रकार का एक ही ज्ञान माना जाता है तब उस ज्ञानजन्य संस्कार द्वारा "घटमहं स्मरामि" इस प्रकार की एक ही स्मृति उत्पन्न होती है। क्योंकि, अनुभव अनुसार स्मृति का होना सर्वमत सम्मत है और पूर्वोक्त रीति से जब एक ज्ञान (चित्त) का प्रकाशक दूसरा ज्ञान और दूसरे का प्रकाशक तीसरा इत्यादि ज्ञानधारा मानेंगे तब "घटमहमनुभवामि" "घटज्ञानमहमनुभवामि" "घटज्ञानज्ञानमहमनुभवामि" अर्थात् "मैं घट को अनुभव करता हूँ" मैं घट के ज्ञान को अनुभव करता हूँ" "मैं घट के ज्ञान के ज्ञान को अनुभव करता हूँ" इस प्रकार के अनुभव की धारा चालू होने पर इस अनुभव ज्ञानजन्य संस्कारद्वारा "घटं स्मरामि" घटज्ञानं स्मरामि" "घटज्ञानज्ञानं स्मरामि" अर्थात् "मैं घट को स्मरण करता हूँ" "मैं घट के ज्ञान को स्मरण करता हूँ" "मैं घट के ज्ञान के ज्ञान को स्मरण करता हूँ" इस प्रकार के असंख्य स्मृति ज्ञान की धारा चालू होगी और इस प्रकार की असंख्य स्मृतियों की धारा प्रवाहित होने पर यह विवेक होने नहीं पायेगा कि, किस अनुभवजन्य कौन स्मृति है ? अतः अन्य स्मृति के स्थान में अन्य स्मृति समझी जायगी। इस प्रकार की स्मृतियों का विवेक न होना ही स्मृतिसंकररूप दोष कहा जाता है, जो सर्व-अनुभव विरुद्ध है। अतः ज्ञान का प्रकाशक ज्ञान नहीं; किन्तु साक्षी रूप आत्मा ही ज्ञान का प्रकाशक है, यह सिद्ध हुआ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—अथेति। अथ चेत्-यदि, चित्तम् चित्तान्तरेण गृह्येत—एक चित्त दूसरे चित्त से गृहीत होगा अर्थात् यदि एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशित होगा तो प्रश्न होगा कि, बुद्धिबुद्धिः केन गृह्यते—एक बुद्धि विषयक दूसरी बुद्धि किससे गृहीत होगी। यदि कहें कि—सा अपि अन्यया, सा अपि अन्यया—वह बुद्धि अन्य बुद्धि से और अन्य बुद्धि अन्य बुद्धि से गृहीत होती है। अर्थात् एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से और दूसरा तीसरे से एवं तीसरा चौथे से गृहीत होता है, इत्यादि तो, इति—इस प्रकार की ज्ञानधारा मानने पर, अतिप्रसंगः अतिप्रसंग होगा अर्थात् पूर्वोक्त आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रकापत्ति तथा अनवस्था आदि षड् दोष का प्रसंग होगा।

अतिप्रसंग दोष का व्याख्यान करके सम्प्रति स्मृतिसंकर दोष का व्याख्यान करते हैं—स्मृतीति। च-और, स्मृतिसंकरः—स्मृतिसंकर रूप दोष भी है। अर्थात् चित्त

प्राप्नुवन्ति । तत्संकराश्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादित्येवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाऽऽकुलीकृतम् ।

ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन संगच्छन्ते । केचित्तु सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्यास्ति स सत्त्वो य एतान्पञ्च स्कन्धान्निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसंदधातीत्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यन्ति ।

का प्रकाशक चित्तान्तर मानने पर केवल अतिप्रसंग ही नहीं; किन्तु स्मृतिसंकर रूप दूसरा दोष भी है। क्योंकि—यावन्त इति। यावन्तः—जितने, बुद्धिबुद्धीनाम्—ज्ञानविषयक ज्ञान के, अनुभवाः—अनुभव होंगे, तावत्यः स्मृतयः—उतनी ही स्मृतियां भी, प्राप्नुवन्तिः—प्राप्त अर्थात् उत्पन्न होंगी। तदिति। च—और, तत्संकराः—जितनी स्मृतियां उत्पन्न होंगी उतने का संकर अर्थात्, अनवधारणम् च स्यात्—निश्चय का अभाव भी होगा। अर्थात् जितने अनुभव हुए उतने सब की स्मृतियां एक काल में उत्पन्न होने पर कौन सी स्मृति किस अनुभव-जन्य है, इसका विवेक होना असम्भव हो जायगा। इतीति। इति एवम्—इस प्रकार, बुद्धिप्रतिसंवेदिनम् पुरुषम्—बुद्धि के प्रतिसंवेदी अर्थात् साक्षी पुरुष का, अपलपद्भिः वैनाशिकैः—अपलाप करनेवाले वैनाशिकों ने, सर्वम् एव—सब ही धर्म-अधम, बन्ध-मोक्ष आदि व्यवस्था को, आकुलीकृतम्—व्याकुल कर दिया है। अर्थात् सर्वानुभव सिद्ध बुद्धि के साक्षी आत्मा को न मान कर उन्होंने बन्धमोक्षादि व्यवस्था को असंगत कर दिया है। क्योंकि, यदि आत्मा ही नहीं है तो धर्म, अधर्म, बन्ध, मोक्षादि किस के लिये रहेंगा। अर्थात् सबका उच्छेद हो जायगा ?

इस प्रकार वैनाशिक मत में सर्व-अभिमत आत्मा का स्वीकार न करने पर बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था की असंगति दिखा कर सम्प्रति न्याय की भी असंगति दिखाते हैं—ते त्विति। ते तु—वे वैनाशिक लोग, भोक्तृस्वरूपम्—भोक्ता रूप आत्मा के स्वरूप को, यत्र क्वचन—जहां कहीं, कल्पयन्तः—कल्पना करते हैं वहीं, न्यायेन न संगच्छन्ते—न्याय संगत नहीं होते हैं। अर्थात् इसके अतिरिक्त अन्य जिन जिन विज्ञानवादी तथा शून्यवादी आदि वैनाशिकों ने जो जो आत्मा के स्वरूप की अपनी तर्कना से कल्पना की है वे सब न्यायसंगत नहीं हैं, ऐसा समझना चाहिये। उनमें सर्वप्रथम विज्ञानवाद में स्वाभ्युपगम विरोध तथा न्याय विरोध होने से भय दिखाते हैं—केचिदिति। केचित्तु—कोई क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार-मतावलम्बी बौद्ध लोग, "सत्त्वमात्रम् परिकल्प्य अपि—सत्त्वमात्र अर्थात् क्षणिक विज्ञान रूप चित्तमात्र को आत्मतत्त्व की कल्पना करके भी अर्थात् क्षणिक मान कर भी, सः सत्त्वः अस्ति—वह सत्त्वमात्र आत्मतत्त्व स्थिर है, यः—जो, एतान् पञ्चस्कन्धान्—इन निम्न लिखित

तथा स्कन्धानां महन्निर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवापह्नु-

---

सांसारिक तथा मलिन पञ्चस्कन्धों को, निक्षिप्य—त्याग कर मुक्त अवस्था में; अन्यान्-अन्य शुद्ध पञ्चस्कन्धों को, प्रतिसंदधाति-प्रतिसन्धान अर्थात् अनुभव करता है," इति उक्त्वा-ऐसा कह कर, ततः एव पुनः-उसी से फिर, त्रस्यन्ति—भयभीत होते हैं। अर्थात् प्रथम संसार काल में क्षणिक-विज्ञान रूप बुद्धिस्वरूप आत्मा को क्षणिक मान कर मोक्षकाल में उसीको स्थायी मानने से स्वमत-विरोध तथा न्याय विरोध होने से वे त्रास को प्राप्त होते हैं। न्यायविरोध का अर्थ युक्तिविरोध है और वह यह है कि—जिस आत्मा ने साधन किया था वह क्षणिक होने से नष्ट हो गया और आत्मा के न रहने से उसका किया हुआ साधन फल दिये विना ही नष्ट हुआ। अतः कृतविप्रणाश और जो आत्मा उत्पन्न हुआ उसने साधन किया था नहीं, फिर भी उसको फल मिला; अतः अकृत-अभ्यागम इस प्रकार क्षणिक विज्ञानवाद अकृताभ्यागम तथा कृतविप्रणाश रूप दोषग्रस्त होने से न्यायविरुद्ध है।

पञ्चस्कन्धों के नाम-विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, रूपस्कन्ध तथा संस्कारस्कन्ध। अहम्-अहम् इत्याकारक जो आलयविज्ञान की धारा वह विज्ञानस्कन्ध, सुखदुःख का जो साक्षात्कार वह वेदनास्कन्ध, 'यह घट है' 'तू ब्राह्मण है' 'मैं गौर हूँ' इत्याकारक जो सविकल्प ज्ञान वह संज्ञास्कन्ध, विषय सहित जो इन्द्रिय वह रूपस्कन्ध और रागद्वेषादि जो द्वन्द्व धर्म वह संस्कारस्कन्ध कहा जाता है। ये पञ्चस्कन्ध मलिन और शुद्ध के भेद से दो दो प्रकार के हैं। जब तक यह बुद्धि रूप आत्मा उक्त सांसारिक मलिन पञ्चस्कन्धों को अनुभव करता रहता है तब तक बद्ध है और जब इन सांसारिक मलिन पञ्चस्कन्धों को त्याग कर शुद्ध पञ्चस्कन्धों को अनुभव करता है तब मुक्त हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध लोगों की कल्पना है।

शून्यवाद में भी उक्त दोष दिखाते हैं—तथेति। तथा-वैसे ही शून्यवादी बौद्ध के मत में भी उक्त न्यायविरोध समझना चाहिये। क्योंकि, वे लोग भी-स्कन्धानाम् महन्निर्वेदाय विरागाय-उक्त पञ्चस्कन्ध विषयक महानिर्वेद रूप वैराग्य के लिये तथा तज्जन्य, अनुत्पादाय प्रशान्तये-पुनर्जन्माभाव रूप प्रशान्ति के लिये, गुरोः अन्तिके-जीवन्मुक्त गुरु के पास में, ब्रह्मचर्यम् चरिष्यामि-साक्षात्कार पर्यन्त ब्रह्माभ्यास करूंगा, इति उक्त्वा-ऐसा कह कर अर्थात् स्कन्ध तद्विषयक वैराग्य, बन्ध, मोक्ष, गुरूपसत्ति तथा ब्रह्माभ्यास आदि सर्व पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हुए भी, पुनः सत्त्वस्य सत्त्वम् एव- फिर अहं शब्दार्थ आत्मा की सत्ता का ही, अपह्नु-

वते। सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिनं चित्तस्य भोक्तारमुपयन्तीति ॥ २१ ॥

कथम्—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

वते—अपलाप करते हैं। अर्थात् "शून्य ही तत्त्व है" ऐसा मानते हैं। अतः इनका मत भी प्रत्यक्ष न्याय विरुद्ध ही समझना चाहिये।

जो न्यायविरुद्धादि दोष बौद्ध मत में दिये गए हैं वे सांख्यादि अन्य दर्शनकारों के मत में नहीं हैं। इस बात को कहते हैं—सांख्येति। सांख्ययोगादयः—सांख्य, योग तथा वेदान्त आदि जो, तु-तो, प्रवादाः-प्रवाद हैं वे, स्वशब्देन—स्वशब्द से, पुरुषम् स्वामिनम् एव-पुरुषरूप स्वामी को ही, चित्तस्य भोक्तारम्-चित्त के भोक्ता, उपयन्ति-स्वीकार करते हैं, इति-अतः इनके मत में उक्त दोष का अवकाश नहीं। अर्थात् सांख्य आदि आस्तिक दर्शनकारों के मत में चित्त आत्मा नहीं एवं आत्मा क्षणिक तथा शून्य रूप नहीं; अतः इनके मत में वैनाशिक मत उक्त दोष का अवकाश नहीं।

यहां पर विज्ञानभिक्षु ने—शून्यवादी के मत में जो स्वमत विरोध तथा न्यायविरोधरूप दोष भाष्यकार ने दिये हैं वे वेदान्त मत में भी लागू पड़ते हैं। क्योंकि, वेदान्ती भी गुरु वेदादि सकल संसार को मिथ्या कहते हुए गुरूपसत्ति तथा ब्रह्माभ्यास आदि मोक्षसाधनों का उपदेश करते हैं, ऐसा कहा है सो समीचीन नहीं। क्योंकि, वेदान्त मत में मिथ्या शब्द का अर्थ शून्य नहीं, किन्तु व्यावहारिक है और व्यवहार काल में संसार तथा गुरु वेदादि सर्व साधन सत्य हैं। अतः उक्त दोष का अवकाश नहीं, यह जो भाष्यकार ने कहा है सो ठीक ही है। इति ॥ २१ ॥

भाष्यकार आशंकापूर्वक सूत्र का अवतरण करते हैं—कथमिति। कथम्—यदि चित्त न स्वग्राह्य और न चित्तान्तरग्राह्य है; किन्तु आत्मग्राह्य है, ऐसा मानेंगे तो असंग स्वयंप्रकाश तथा निष्क्रिय आत्मा में चित्त का भोक्तृत्व-रूप दर्शनकर्तृत्व कैसे। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनमिति। अप्रतिसंक्रमायाः चितेः—प्रतिसंक्रमरूप क्रिया रहित पुरुष को, तदाकारापत्तौ—चित्त के आकार की प्राप्ति होने पर, स्वबुद्धिसंवेदनम्—अपने विषयभूत बुद्धि का ज्ञान होता है। अर्थात् सर्वत्र इन्द्रियों के सदृश विषयों में प्रचार से रहित चेतन आत्मा को स्वप्रतिबिम्बित चित्त के आकार के सदृश आकार की

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद् वृत्तिमनुपतति । तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते ।

प्राप्ति होने पर अपने विषयभूत बुद्धि का ज्ञान होता है। अतः आत्मा में स्वाभाविक नहीं; किन्तु औपाधिक दर्शनकर्तृत्व हो सकता है, यह उक्त आशंका का उत्तर हुआ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—अपरिणामिनीति। हि–क्योंकि, चितिशक्तिः–चेतन रूप चितिशक्ति, अपरिणामिनी–निर्विकार रूप अपरिणामिनी, च–और, अप्रतिसंक्रमा–अप्रतिसंक्रमा अर्थात् विषय की तरफ संचार रहित है वो भी, जब बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित होती है तब, परिणामिनि अर्थे-परिणामी बुद्धिवृत्ति रूप अर्थ में, प्रतिसंक्रान्ता इव–प्रतिसंक्रान्त की जैसी होती हुई, तद्वृत्तिम्–उस बुद्धिवृत्ति में, अनुपतति–अनुपतित होती है। अर्थात् प्रतिबिम्ब द्वारा उसमें पड़ती है। च–और इस प्रकार, तस्याः प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपायाः बुद्धिवृत्तेः–उस प्राप्त चैतन्य प्रतिबिम्ब स्वरूप बुद्धिवृत्ति के, अनुकारमात्रतया–अनुकारमात्र होने से, बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि–बुद्धिवृत्ति से अभिन्न होती हुई ही, ज्ञानवृत्तिः आख्यायते–ज्ञानरूप वृत्ति कही जाती है।

अर्थात् चित्त सात्त्विक होने से स्वच्छ है, जब वह विषयाकार से परिणत होता है तब उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है। यही विषयाकार वृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ना तदाकारापत्ति कही जाती है। यद्यपि अपरिणामी भोक्तृशक्ति रूप आत्मा किसी विषय के साथ संबद्ध न होने से निर्लेप है तथापि विषयाकार से परिणत बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ तदाकार होने से वह बुद्धिवृत्ति के अनुपाती हो जाता है। इस प्रकार चैतन्य प्रतिबिम्बग्राहिणी बुद्धिवृत्ति के अनुसारी होने से बुद्धिवृत्ति से अभिन्न होता हुआ वह चेतन ज्ञानवृत्ति, द्रष्टा, ज्ञाता तथा भोक्ता आदि नामों से व्यवहृत होता है, वस्तुतः वह ज्ञाता नहीं है।

तदाकारापत्ति का दूसरा अर्थ यह है कि जिस समय चित्त विषयाकार परिणाम को प्राप्त होता है, उस समय उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतः चेतन के प्रतिबिम्ब का आधार होने से जो चित्त का चेतनाकार होना है वही तदाकारापत्ति कही जाती है और इस तदाकारापत्ति के होने से जो चित्त में दर्शनकर्तृत्व है उसको लेकर ही चेतन ज्ञानवृत्ति ज्ञाता, द्रष्टा एवं भोक्ता आदि कहा जाता है, परमार्थ से नहीं।

भाव यह है कि जैसे स्वच्छ जल में पड़ा हुआ चन्द्र का प्रतिबिम्ब स्वयं किसी प्रकार की क्रिया करे बिना ही केवल प्रतिबिम्ब के आधार जल में क्रिया होने से वह

तथा चोक्तम्—

न पातालं न च विवरं गिरीणां,
नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं,
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥ इति ॥ २२ ॥

अतश्चैतदभ्युपगम्यते—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

(चन्द्र का प्रतिबिम्ब) क्रियावान् प्रतीत होता है। वैसे ही स्वच्छ चित्त में पड़ा हुआ चेतन का प्रतिबिम्ब स्वयं किसी प्रकार की क्रिया करे बिना ही केवल प्रतिबिम्ब के आधार चित्त के विषयाकार होने से चेतन भी विषयाकार प्रतीत होता है। अतः चेतनप्रतिबिम्बित चित्त ही चिदाकार होता हुआ अपने को दृश्य और चेतन को द्रष्टा कर देता है; वस्तुतः चेतन द्रष्टा नहीं, यह सिद्ध हुआ।

चेतन की बुद्धिवृत्ति की अभिन्नता में आगम प्रमाण देते हैं—तथेति। तथा च-इसी प्रकार आगम शास्त्र में भी, उक्तम्-कहा है—

न पातालं न च विवरं गिरीणां,
नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं,
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥ इति ॥

"गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" इत्यादि श्रुतियों में जो गुहा शब्द उपलब्ध है, यस्याम् शाश्वतम् ब्रह्म निहितम्-जिसमें नित्य ब्रह्म स्थित है वह, गुहा-गुफा, न पातालम्-न पाताल है, न च गिरीणाम् विवरम्-न गिरि का कुहर है, नैव अन्धकारम्-न अन्धकार है, न उदधीनाम् कुक्षयः-और न समुद्र का उदर ही है किन्तु, अविशिष्टाम् बुद्धिवृत्तिम्-स्वप्रतिबिम्बित चेतन से अभिन्न सी जो बुद्धिवृत्ति है वही गुहा है ऐसा, कवयः वेदयन्ते-क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ विद्वज्जन जानते हैं। इति ॥ २२ ॥

इस प्रकार दृश्य रूप होने से चित्त को परिणामी और उससे भिन्न पुरुष को अपरिणामी सिद्ध किया गया। संप्रति भाष्यकार इसी अर्थ में (आत्मा अस्तित्वरूप अर्थ में) लौकिक प्रत्यक्ष रूप प्रमाण प्रदर्शक आगामी सूत्र का अवतरण करते हैं— अतश्चेति। अतश्च-इस निम्नलिखित कारण से भी, एतत्-यह आत्मास्तित्व, अभ्युपगम्यते-स्वीकार किया जाता है-द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थमिति। चित्तम्-जिस

मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तम्।

तत्स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणाऽऽत्मीयया वृत्याऽभिसंबद्धम्। तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते।

कारण से चित्त, दृष्टृदृश्योपरक्तम्-द्रष्टा-चेतन पुरुष औय दृश्य-शब्दादि विषय इन दोनों से संबद्ध है इसी कारण से यह, सर्वार्थम्-सर्वार्थ अर्थात ग्रहीतृग्रहणग्राह्य स्वरूप सर्व विषय का ग्रहण करनेवाला है। अर्थात् त्रिपुटी विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान में चित्त के द्वारा द्रष्टारूप आत्मा भी प्रकाशित होता है। अतः आत्मा के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रमाण होने से इसको अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

भाव यह है कि-जैसे स्वच्छ स्फटिक मणि के एक भाग में रक्तपुष्प और दूसरे भाग में नीलपुष्प होने से वह दोनों पुष्पों के प्रतिबिम्ब रूप से और अपना निज रूप से तीन स्वरूपवाला प्रतीत होता है। वैसे ही स्वच्छ चित्त के एक भाग में विषय और दूसरे भाग में चेतन होनेसे यह भी विषय और चेतन दोनों के प्रतिबिम्ब रूप से और अपना निज रूप से तीन रूपवाला प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, "घटमहमनुभवामि" इसी ज्ञान को ले सकते हैं। यहां पर घटपद से विषय, अहम् पद से चेतन और अनुभवामि पद से चित्तवृत्ति-रूप अनुभवात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान इन तीनों का ग्रहण है। अतः उक्त तीनों रूपोंवाला चित्त प्रतीत होता है। अत एव इन तीनों पदार्थ के ग्रहण करने में चित्त समर्थ होने से सर्वार्थ है और इस लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञानरूप चित्त ग्रहीतृरूप से चेतन भी प्रतिभासित होने से इसकी सत्ता अवश्य स्वीकार करनी चाहिये, यह सिद्ध हुआ।

इसी अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—मनो हीति। हि—जिस कारण से, मनः—चित्त, मन्तव्येन अर्थेन—चेतव्य विषय पदार्थ के साथ, उपरक्तम्—संबद्ध है। तदिति। तत् स्वयञ्च—और वह स्वयं भी, विषयत्वात्—विषय होने से, विषयिणा पुरुषेण—विषयी पुरुष के साथ, आत्मीयया वृत्त्या—अपनी वृत्ति द्वारा, अभिसंबद्धम्—संबद्ध है। तदेतदिति। तत् एतत्—इस प्रकार वह यह, चित्तम् एव—चित्त ही, दृष्टृदृश्योपरक्तम्—द्रष्टा और दृश्य के साथ संबन्धवाला, विषयविषयिनिर्भासम्—विषय और विषयीरूप से भासनेवाला तथा, चेतनाचेतनस्वरूपापन्नम्—चेतनाचेतन स्वरूपवाला, विषयात्मकम् अपि अविषयात्मकम् इव—विषयरूप होता हुआ भी अविषय रूप के जैसा तथा, अचेतनम् चेतनम् इव—अचेतन होता हुआ भी चेतन के जैसा, स्फटिकमणिकल्पम्—पूर्वोक्त स्फटिक मणि के सदृश, सर्वार्थम्—सर्वार्थ है, इति—ऐसा, उच्यते—कहा जाता है।

तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति । अनुकम्पनीयास्ते ।

कस्मात् । अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं

भाव यह है कि, चित्त सर्वार्थ है । अर्थात् द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य रूप त्रिपुटी का ग्राहक है; अतः "घटमहं जानामि" इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान में चित्त से पृथक् द्रष्टा रूप से चेतन भी भासता है । यदि चित्त से अतिरिक्त चेतन न माना जाय तो उक्त त्रिपुटी ज्ञान में द्रष्टा न भासना चाहिये; किन्तु दर्शन और दृश्य दो ही पदार्थ भासना चाहिये और भासता तो है ? अतः दर्शन और दृश्य के समान द्रष्टा के अस्तित्व में उक्त प्रत्यक्ष प्रमाण होने से परवश होकर वैनाशिकों को भी द्रष्टा रूप आत्मा का स्वीकार अवश्य करना चाहिये, यह सिद्ध हुआ ।

यह यथोक्त चैतन्यछायापत्ति वैनाशिकों को भी अवश्य स्वीकार करना चाहिये । अन्यथा, चित्त में चैतन्य का आरोप जो उन्होंने किया है वह युक्तिसंगत कैसे हो सकता है ? इस अर्थ को स्पष्ट करते हैं—तदनेनेति । तत् अनेन चित्तसारूप्येण—वह इस चित्तसारूप्य के होने से ही, भ्रान्ताः-भ्रान्त होते हुए, केचित्-कोई कोई वैनाशिक लोग, तदेव चेतनम्-उसी चित्त को चेतन आत्मा है, इति-ऐसा, आहुः-कहते हैं । अर्थात् सर्वार्थ होने से चित्त का और चेतन का जो स्वारूप्य हो गया है, उसी से भ्रान्त होकर वैनाशिक लोग चित्त को ही आत्मा मानते हैं । यदि चित्त सर्वार्थ न होता तो उनको ऐसी भ्रान्ति न होती। अपर इति । अपरे-उससे अन्य योगाचार-मतावलम्बी क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध लोग ऐसा कहते हैं कि—चित्तमात्रम् एव इदम् सर्वम्-चित्तमात्र ही यह संपूर्ण प्रपञ्च है, अयम् गवादिः घटादिश्च सकारणः लोकः-यह गवादि और घटादि जो सकारण लोक दीखता है वह, नास्ति खलु-नहीं है-इति-इस प्रकार चित्त से अतिरिक्त बाह्य प्रपञ्च का अभाव मानते हैं । अर्थात् ग्रहीतृ स्वरूप होने से आत्मा और ग्राह्य स्वरूप होने से बाह्य प्रपञ्च रूप चित्त ही है। चित्त से अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ ही नहीं है, ऐसा मानते हैं । अनुकम्पनीयास्ते । ते-वे उक्त बौद्ध लोग, अनुकम्पनीयाः-अनुकम्पनीय हैं । अर्थात् उन पर कृपा ही करनी चाहिये, उपेक्षा आदि नहीं ।

प्रश्न होता है—कस्मादिति । कस्मात्-क्यों उन पर कृपा करनी चाहिये ? । उत्तर देते हैं—अस्तीति । हि-क्योंकि, सर्वरूपाकारनिर्भासम् चित्तम्-द्रष्टा तथा दृश्य आदि सर्वरूपाकार से भासनेवाला जो चित्त है वही, तेषाम्-उन उक्त

चित्तमिति । समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्याऽऽलम्बनीभूतत्वादन्यः ।

स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत । तस्मात्प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति । एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात्त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभज्यन्ते ते सम्यग्दर्शिनस्तैरधिगतः पुरुषः ॥ २३ ॥

बौद्धों को, भ्रान्तिबीजम्–भ्रान्ति का कारण, अस्ति–है, इति–इसलिये उन पर कृपा करनी चाहिये । प्रश्न होता है कि–किस प्रकार की अनुकम्पा उन पर करनी चाहिये ? । उत्तर देते हैं—समाधिप्रज्ञायामिति । समाधिप्रज्ञायाम्–सविकल्प समाधिप्रज्ञा में, प्रतिबिम्बीभूतः प्रज्ञेयः अर्थः अन्यः–प्रतिबिम्बित रूप से जो विशिष्ट ज्ञेय रूप अर्थ भासता है वह चित्त से भिन्न आत्मा अन्य है । इसमें हेतु देते हैं—तस्य आलम्बनीभूतत्वात्–उस आत्मा को आलम्बनीभूत होने से । अर्थात् समाधि-काल में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसमें तीन पदार्थ भासते हैं–ध्येय, ध्यान और ध्याता । उक्त प्रज्ञा में जो प्रतिबिम्बित होकर भासता है वह ध्येय रूप अर्थ, ध्यान और ध्याता से भिन्न है और जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वह ध्यान रूप प्रज्ञा, ध्येय और ध्याता से भिन्न है; एवं प्रतिबिम्ब सहित प्रज्ञा का जो आधार है वह ध्याता रूप आत्मा, ध्येय और ध्यान से भिन्न है । इस प्रकार विवेक करने पर चित्त से भिन्न आत्मा सिद्ध होता है । ऐसा उनको समझाना चाहिये ।

इस प्रकार समझाने पर भी यदि वैनाशिक दुराग्रह करें कि उक्त प्रज्ञा का आधार आत्मा नहीं; किन्तु चित्त ही क्यों न माना जाय ? तो इस पर कहते हैं—स चेदिति । सः अर्थः–वह उक्त प्रज्ञा का आधार रूप अर्थ, चेत्–यदि, चित्त मात्रम् स्यात्–आत्मा नहीं किन्तु चित्तमात्र ही होगा तो, प्रज्ञया एव–प्रज्ञा से ही, प्रज्ञारूपम् प्रज्ञा रूप को, कथम–किस प्रकार, अवधार्येत–अवधारण किया जायगा ? अर्थात् आत्माश्रय होने से अपना आधार आप ही वह प्रज्ञा कैसे होगी ? । उपसंहार करते हैं—तस्मादिति । तस्मात्–इसलिये, प्रज्ञायाम्–पूर्वोक्त समाधिप्रज्ञा में, प्रतिबिम्बीभूतः अर्थः–प्रतिबिम्बीभूत जो ध्येय रूप अर्थ है वह, येन–जिस आत्मा के द्वारा, अवधार्यते–निश्चित होता है, सः पुरुषः–वही चित्त से भिन्न पुरुष है, इति–यह सिद्ध हुआ ।

इस प्रकार चित्तात्मवाद का निराकरण करके यथार्थ आत्मज्ञान का स्वरूप दिखाते हैं—एवमिति । एवम्–इस प्रकार, ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात्–ग्रहीतृस्वरूप, ग्रहणस्वरूप और ग्राह्यस्वरूप चित्त के भेद से, एतत् त्रयम् अपि–ये तीनों पदार्थ भी, जातितः–स्वभाव से ही जिनके ज्ञान से, प्रविभज्यन्ते–भिन्न भिन्न रूप से भासते

कुतश्च—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

तदेतच्चित्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरेव चित्रीकृतमपि परार्थं परस्य

हैं, ते सम्यक् दर्शिनः—वे ही यथार्थ दर्शी हैं और, तैः पुरुषः अधिगतः—उन्हीं से आत्मा यथार्थ रूप से अधिगत हुआ है। अर्थात् यथोक्त ग्रहीतृ, ग्रहण तथा ग्राह्य रूप पदार्थ जैसे पृथक् पृथक् हैं, वैसे ही सांख्य, योग तथा वेदान्त आदि दर्शनकारों ने समझा है। अतः ये ही आस्तिक दर्शनकार यथार्थदर्शी हैं और वैनाशिक आदि अन्य नास्तिक दर्शनकार चित्त आदि को आत्मा माननेवाले भ्रान्त हैं, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ २३ ॥

चित्त से अतिरिक्त आत्मा के सद्भाव में अन्य हेतु प्रतिपादक सूत्र का अवतरण भाष्यकार करते हैं—कुतश्चैतदिति। च—और अन्य, कुतः—किस हेतु से, एतत्—इस चित्त से अतिरिक्त चेतन का स्वीकार करना उचित है ?। इस आशङ्का का समाधान सूत्रकार करते हैं—तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वादिति। तत्—वह चित्त, असंख्येयवासनाभिः—असंख्य वासनाओं के द्वारा, चित्रम् अपि—चित्रित है तो भी, संहत्यकारित्वात्—संहत्य अर्थात् विषय तथा इन्द्रियादि के साथ मिल कर कार्य करनेवाला होने से, परार्थम्—परार्थ अर्थात् अपने से अन्य जो पुरुष है उसके लिये भोग तथा मोक्ष का सम्पादन करनेवाला है। अतः जिसके भोग तथा अपवर्ग का सम्पादक चित्त है वह चित्त से अतिरिक्त आत्मा अवश्य स्वीकार करने योग्य है। यह उक्त प्रश्न का उत्तर हुआ।

भाष्यकार सूत्र का व्याख्यान करते हैं-तदेतदिति। तत् एतत् चित्तम्-उक्त प्रकार का यह चित्त, असंख्येयाभिः वासनाभिः एव—असंख्येय वासनाओं से ही, चित्रीकृतम् अपि—चित्रीकृत है तो भी, परार्थम्—परार्थ है अर्थात्, परस्य भोगापवर्गार्थम्—अपने से अन्य जो पुरुष उसके लिये भोग और मोक्ष सम्पादन करने के लिये है, न स्वार्थम्—स्वार्थ नहीं है। अर्थात् चित्त जो भोगमोक्ष का सम्पादन करता है वह अपने लिये नहीं; किन्तु अपने से अन्य जो चेतन आत्मा है उसके लिये है। इस प्रतिज्ञा में हेतु देते हैं—संहत्यकारित्वात्—संहत्यकारी होने से अर्थात् अकेला नहीं; किन्तु विषय तथा इन्द्रियादि के साथ मिल कर कार्य करनेवाला होने से। इसमें दृष्टान्त देते हैं—गृहवत्—गृह के जैसा संहत्यकारी होने से। अर्थात् जैसे शयन, आसन तथा गृहादि पदार्थ संहत्यकारी होने से स्वार्थ नहीं; किन्तु असंहत्यकारी जो

भोगापवर्गार्थं न स्वार्थं संहत्यकारित्वात् गृहवत् । संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यम् ।

न सुखचित्तं सुखार्थं न ज्ञानं ज्ञानार्थमुभयमप्येतत्परार्थम् । यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान्पुरुषः स एव परो न परः सामान्यमात्रम् ।

गृहपति पुरुष है उसके लिये है । वैसे ही चित्त भी संहत्यकारी होने से स्वार्थं नहीं; किन्तु असंहत्यकारी चेतन आत्मा के लिये है । इस कथन से यह अनुमान सिद्ध हुआ– "चित्तं, परार्थं संहत्यकारित्वात्, गृहादिवत्" । अर्थात् चित्त परार्थ है, संहत्यकारी होने से, गृहादि के जैसा । इस अनुमान से यह सिद्ध हुआ कि-जिसके लिये चित्त भोग और अपवर्ग सम्पादन करता है वह चेतन आत्मा चित्त से अन्य है ।

इस पर चित्तात्मवादी वैनाशिक शङ्का करते हैं कि-चित्त संहत्यकारी होने पर भी स्वार्थ को ही सम्पादन करेगा । अर्थात् भोग और अपवर्ग अपने ही लिये सम्पादन करेगा । इसके लिये चित्त से भिन्न आत्मा का स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? । इसका उत्तर देते हैं—संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यम्– संहत्यकारी चित्त स्वार्थ होने योग्य नहीं है । अर्थात् चित्त अपने लिये भोगमोक्ष सम्पादन करने योग्य नहीं है ।

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं—नेति । सुख शब्द से सुख दुःख और ज्ञान शब्द से अपवर्ग अभिप्रेत है । तथाच–सुखचितम्–सुख-दुःख रूप भोगात्मक चित्त, सुखार्थम् न–सुखदुःखरूप भोगात्मक चित्त के लिये नहीं है । अर्थात् चित्त अपने ही लिये भोगमोक्ष का सम्पादन नहीं कर सकता है । क्योंकि, आत्माश्रय होने से अपने में अपनी वृत्ति का विरोध होता है । एवं, ज्ञानम्–अपवर्ग, ज्ञानार्थम् न–अपवर्ग के लिये नहीं है । अर्थात् चित्त अपने लिये मोक्ष का सम्पादन नहीं कर सकता है । क्योंकि, आत्माश्रय होने से अपने में अपनी वृत्ति का विरोध होता है । भाव यह है कि, प्रवृत्तिशील चित्त भोग कहा जाता है और निवृत्तिशील चित्त मोक्ष कहा जाता है । अतः भोगमोक्ष चित्तस्वरूप होने से चित्त का भोगमोक्ष सम्पादन करना अपनी उत्पत्ति आप करना है । अतः आत्माश्रय दोष लागू पडता है । अत एव, उभयम् अपि एतत्–भोग और अपवर्ग ये दोनों भी, परार्थम्–परार्थ है अर्थात् भोगापवर्गरूप चित्त से अन्य आत्मा के लिये है, अपने लिये नहीं ।

इसीका और स्पष्टीकरण करते हैं—यश्चेति । यश्च पुरुषः–और जो चेतन पुरुष, भोगेन अपवर्गेण च अर्थेन–भोग और मोक्ष रूप प्रयोजन से, अर्थवान्–प्रयोजनवाला है, सः एव परः–वही पर है, सामान्यमात्रम् परः न–कोई सामान्यमात्र चित्त पदार्थ पर नहीं हो सकता है ।

यत्तु किञ्चित्परं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद्वैनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात्परार्थमेव स्यात् ।

यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥ २४ ॥

भाव यह है कि, "जो जो असंहत्यकारी होता है सो सो पर होता है" इस व्याप्ति से जो चित्त से पर पदार्थ सिद्ध होता है वह भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजनवाला असंहत चेतन पुरुष ही स्वीकार करने योग्य है । अन्यथा, यदि चित्त से पर कोई संहत पदार्थ ही (चित्त ही) स्वीकार किया जायगा तो जैसे चित्त संहत होने से उससे पर भोगापवर्ग रूप प्रयोजनवाला कोई अन्य पदार्थ स्वीकार करना पड़ता है । वैसे ही वह अन्य पदार्थ भी संहत होने से उससे भी पर किसी अन्य पदार्थ को स्वीकार करना पड़ेगा । इस प्रकार पर पदार्थ की धारा की विश्रान्ति न होने पर अनवस्था रूप दोष प्राप्त होगा । अतः चित्त से पर जो पदार्थ स्वीकार किया जाय वह असंहत पदार्थ ही होना चाहिये, संहत नहीं और वह असंहत पदार्थ चेतन पुरुष ही हो सकता है, अन्य नहीं । अत एव चित्त से भिन्न चेतन की सिद्धि होती है, जिसके लिये चित्त है ।

पूर्वोक्त अनवस्था दोष को ही स्पष्ट करते हैं—यदिति । यत् तु-जो तो, किञ्चित् परम् सामान्यमात्रम्-कुछ पर सामान्यमात्र रूप चित्त को, वैनाशिकः-वैनाशिक अर्थात् क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध, स्वरूपेण-स्वरूप से, उदाहरेत्-उदाहरण देवे तो, तत् सर्वम्-वह सब अर्थात् उत्तरोत्तर सर्व चित्त, संहत्यकारित्वात्-संहत्यकारी होने से, परार्थम् एव स्यात्-परार्थ ही होगा ।

भाव यह है कि-क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध चित्त को ही आत्मा मानते हैं और वह चित्त क्षणिक होने से उत्पन्न-विनष्ट है । प्रथम चित्त द्वितीय चित्त को उत्पन्न करके आप नष्ट होता है । प्रथम चित्त में जो संस्कारादि रहते हैं वे सब द्वितीय चित्त में साथ ही उत्पन्न होते हैं । अत एव "स एवाहम्" इत्यादि प्रत्यभिज्ञा की तथा "सा मे माता" इत्यादि स्मृति की सिद्धि होती है । अन्यथा, अन्य चित्त अनुभूत पदार्थ विषयक अन्य चित्त को प्रत्यभिज्ञा तथा स्मृति होनी असम्भव है । प्रकृत में "जो जो संहत्यकारी होता है सो सो परार्थ होता है" इस पूर्वोक्त व्याप्ति से जो चित्त को संहत्यकारी होने से परार्थ सिद्ध किया गया है वह आत्मार्थ नहीं; किन्तु उत्तर चित्तार्थ है, ऐसा यदि वैनाशिक कहें तो उस पर भाष्यकार कहते हैं कि-जो उत्तर चित्तार्थ पूर्व चित्त को मानेंगे तो वह उत्तर चित्त भी तो संहत्यकारी है । अतः वह भी परार्थ ही होगा एवं तृतीय, चतुर्थ इत्यादि । इस प्रकार परार्थ की धारा की विश्रान्ति न होने से अनवस्था होगी ? । चित्त से भिन्न पुरुष को मानने पर अनवस्था का अभाव दिखाते हैं—यस्त्विति । यः तु असौ-और जो वह, परः पुरुषः विशेषः-चित्त से पर पुरुष

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २५ ॥

विशेष इप लोग मानते हैं सो, न संहत्यकारी–संहत्यकारी नहीं है; अतः वह परार्थ न होने से अनवस्था नहीं। अत एव चित्त से भिन्न चेतन पुरुष को स्वीकार करना आवश्यक है।

पूर्वोक्त सर्व का भाव यह है कि-यद्यपि चित्त असंख्य वासनारूप चित्र से चित्रित है। अतः उसको भोक्तारूप से स्वीकार करना उचित है। क्योंकि, जो वासना का आश्रय होता है, वही भोग का भी आश्रय होता है, यह नियम है। तथापि वह चित्त स्वार्थ नहीं; किन्तु पुरुष के लिये भोगमोक्ष का सम्पादक होने से पुरुषार्थ है। क्योंकि, लोक में जो जो पदार्थ परस्पर मिल कर किसी एक कार्य को सम्पादन करते हैं, वे सब परार्थ ही देखे जाते हैं, स्वार्थ नहीं। जैसे शयन, आसन, गृहादि पदार्थ परस्पर मिल कर गृहपति रूप पुरुष के भोगसाधन होनेसे पुरुषार्थ कहे जाते हैं। वैसे ही चित्त भी क्लेश, कर्म, वासना एवं विषय इन्द्रियादि के साथ परस्पर मिल कर आत्मा रूप पुरुष का अर्थ सम्पादन करने से पुरुषार्थ ही है, स्वार्थ नहीं। क्योंकि, सुखाकार, दुःखाकार जो चित्त है वह चित्त के भोगार्थ नहीं; किन्तु परार्थ है। एवं तत्त्वज्ञानाकार जो चित्त है वह चित्त के अपवर्गार्थ नहीं, किन्तु परार्थ है और जो भोगापवर्ग रूप अर्थवाला है वही पुरुष है, यह सिद्ध हुआ। इति ॥ २४ ॥

इस प्रकार अनेक युक्तियों से कैवल्य का मूल कारण चित्त से अतिरिक्त आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करके सम्प्रति सूत्रकार उस आत्मा के उपदेश द्वारा साक्षात्कार करने की योग्यतावाला जो अधिकारी है उसको अनधिकारी की अपेक्षा विशेषरूप से प्रतिपादन करते हैं—विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिरिति। विशेषदर्शिनः–विशेषदर्शी उपदेश के अधिकारी पुरुष की अर्थात् चित्त से अतिरिक्त आत्मा के साक्षात्कार करनेवाले योगी पुरुष की जो, आत्मभावभावनानिवृत्तिः–आत्मभाव-भावना है वह निवृत्त हो जाती है। अर्थात् पूर्व जन्म में "मैं कौन था, कहां था, किस प्रकार से स्थित था, तथा वर्तमान में मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है और यह जो मेरा शरीर है वह भूतों का कार्य है अथवा भूतों का समूह है वा भूतों से भिन्न है एवं भविष्य में मैं क्या होऊंगा, कौन होऊंगा और किस प्रकार होऊंगा," इस प्रकार का जो विचार वह आत्मभावभावना कहा जाता है और यह भावना जीवात्मा में अनादि काल से होती चली आती है। परन्तु जब यह आत्मा विशेषदर्शी हो जाती है तब निवृत्त हो जाती है।

जिसको आत्मभाव में भावना है वह आस्तिक है। अष्टाङ्गयोग के उपदेश को श्रवण करता है और श्रवण करने के पश्चात् योगानुष्ठान करता है। जब उसका साधन

यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भवेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्रापि अस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते। तस्याऽऽत्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते। यस्याभावादिदमुक्तं स्वभावं मुक्त्वा दोषाद्येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवत्यरुचिश्च निर्णये भवति।

परिपक्व हो जाता है तब चित्तसत्त्व तथा पुरुष का विशेषदर्शन होने से वह युञ्जान योगी हो जाता है। अतः उसकी आत्मभावभावना की निवृत्ति हो जाती है और जिसको आत्मभाव में भावना नहीं है वह नास्तिक है। अष्टाङ्गयोग के उपदेश का अनधिकारी है और आत्मा तथा परलोकादि विषय में अनिश्चयी है। अतः चित्तसत्त्व तथा पुरुष का विशेषदर्शन न होने से उसकी आत्मभावभावना की निवृत्ति नहीं होती है। इतना अधिकारी तथा अनधिकारी में भेद है। इस प्रकार का सूत्रार्थ निष्पन्न हुआ।

अब भाष्यकार इसका विवरण करते हैं—यथेति। यथा–जैसे, प्रावृषि-वर्षाऋतु में, तृणाङ्कुरस्य उद्भवेन–तृण के अङ्कुर का उद्भव होने से, तद् बीजसत्ता अनुमीयते–उसके बीज की सत्ता का अनुमान होता है, तथा–वैसे ही, मोक्षमार्गश्रवणेन–मोक्षमार्ग का श्रवण करने से, यस्य–जिसके शरीर तथा नेत्र में, रोमहर्षाश्रुपातौ–रोमहर्ष तथा अश्रुपात, दृश्येते–देखे जाते हैं तत्र अपि–उस पुरुष में भी, विशेषदर्शनबीजम्–सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप तत्त्वज्ञान का कारण, अपवर्गभागीयम्–मोक्ष का भागी, कर्माभिनिर्वर्तितम्–कर्म से सम्पादित, अस्ति–है, इति–इस प्रकार का, अनुमीयते–अनुमान होता है। अर्थात् जैसे वर्षा ऋतु में अङ्कुर की उत्पत्ति को देखने से उसके बीज का अनुमान होता है। वैसे ही मोक्षमार्ग की कथा को सुनने से जिसका शरीर रोमाञ्चित तथा नेत्र अश्रुपूर्ण देखा जाता है उसके पूर्व जन्म के कर्म से सम्पादित मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान के साधन का अनुमान होता है कि, इसने पूर्व जन्म में आत्मकल्याण का साधन किया है। तस्येति। तस्य–उस साधन निष्ठ पुरुष की, स्वाभाविकी आत्मभावभावना–स्वाभाविक जो यथोक्त आत्मभावभावना है वह, प्रवर्तते-प्रवृत्त होती है। यस्येति। यस्य अभावात्–जिस पूर्वजन्मकृत सुकृत कर्म के अभाव होने से, इदम् उक्तम् स्वभावम् मुक्त्वा–इस पूर्वोक्त स्वभाव को छोड कर, दोषात्–अविद्यादि दोष से येषाम–जिनकी, पूर्वपक्षे–कर्म का फल नहीं मिलता है, आत्मा के अभाव होनेसे परलोक भी नहीं है, इस प्रकार के पूर्वपक्ष में ही, रुचिः–रुचि, च और, निर्णये–पञ्चविंशति तत्त्वनिर्णय में, अरुचिः–अरुचि, भवति–होती है, वे अधिकारी नहीं हैं, ऐसा अनुमान होता है। अर्थात् यथोक्त लक्षणों से अधिकारी अनधिकारी का पता लगा कर अधिकारी को ही योगतत्त्व का उप-

तत्राऽऽत्मभावभावना कोऽहमासं कथमहमासं किंस्विदिदं कथंस्विदिदं के भविष्यामः कथं वा भविष्याम इति। सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तते कुतः चित्तस्यैवैष विचित्रः परिणामः, पुरुषस्त्वसत्यामविद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति।

ततोऽस्याऽऽत्मभावभावना कुशलस्य विनिवर्तत इति ॥ २ ॥

देश करना चाहिये।

आत्मभावभावना का स्वरूप दिखाते हैं—तत्रेति । तत्र आत्मभावभावना-प्रकृत सूत्र में जो आत्मभावभावना कही गयी है उसका स्वरूप यह है—"कः अहम् आसम्-पूर्व जन्म में मैं कौन था और, कथम् अहम् आसम्-किस प्रकार से मैं स्थित था, तथा वर्तमान जन्म में, किंस्वित् इदम्-यह मेरा शरीर क्या है अर्थात् पाञ्चभौतिक है अथवा पाञ्चभौतिक से भिन्न है और, कथंस्वित् इदम्-यह शरीर कैसा है अर्थात् किस प्रकार से स्थित है एवं भविष्य में, के भविष्यामः-कौन होऊंगा, वा और, कथं भविष्यामः-कैसा होऊंगा"। इति-इस प्रकार। अर्थात् प्रथम अवस्था का वैराग्य का हेतुभूत विवेकज्ञान 'आत्मभावभावना' कहा जाता है। यहां पर "भविष्यामः" यह बहुवचन प्रयोग एकत्व अर्थ में समझना चाहिये। इस प्रकार आत्मभावभावना का स्वरूप दिखा कर संप्रति सूत्रार्थ करते हैं—सेति। सा तु-वह आत्मभावभावना तो, विशेषदर्शिनः-विशेषदर्शी पुरुष की, निवर्तते-निवृत्त हो जाती है। इसमें हेतु पूछते हैं—कुत इति। कुतः-किस कारण से ?। उत्तर देते हैं—चित्तस्येति। एषः विचित्रः परिणामः-यह आत्मभावभावना रूप विचित्र परिणाम, चित्तस्य एव-चित्त का ही धर्म है, और, पुरुषः तु-पुरुष तो, अविद्यायाम् असत्याम्-अविद्या के न रहने पर, शुद्धः चित्तधर्मैः अपरामृष्टः इति-शुद्ध तथा उक्त आत्मभावभावनादि सकल चित्त के धर्मों से असंबद्ध है। तत इति। ततः-पुरुष का धर्म नहीं होने से, अस्य कुशलस्य—इस विवेकख्यातिमान् योगी पुरुष की, आत्मभावभावना-पूर्वोक्त चित्त के धर्मरूप जो आत्मभावभावना है वह, विनिवर्तते-विशेषरूप से निवृत्त हो जाती है।

भाव यह है कि, जो जिसका आत्मधर्म नहीं होता है; किन्तु अविद्यादि दोष से अपने स्वरूप में प्रतीत होता है वह विद्या प्राप्त होने पर निवृत्त होता है। जैसे रङ्कता राजा का आत्मधर्म नहीं है; किन्तु स्वप्न में निद्रादोष से उनके स्वरूप में प्रतीत होती है। वह जाग्रत् अवस्था प्राप्त होने पर निद्रादोष की निवृत्तिद्वारा निवृत्त हो जाती है। वैसे ही यथोक्त आत्मभावभावना आत्मा का आत्मधर्म नहीं है; किन्तु अविद्या रूप दोष से इसके स्वरूप में मिथ्या प्रतीत होती है। अतः विद्या प्राप्त होने पर अविद्या-

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारमज्ञाननिम्नमासीत्तदस्यान्यथा भवति कैवल्यप्राग्भारं विवेकजज्ञाननिम्नमिति ॥ २६ ॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

निवृत्ति द्वारा निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार यह सूत्र अधिकारिपरीक्षापूर्वक ज्ञान का फल उक्त भावना की निवृत्ति प्रतिपादन करता है।

किसी किसी पुस्तक में सूत्रगत 'निवृत्तिः' के स्थान में "विनिवृत्तिः" पाठ मिलता है और भाष्यकार भी कहीं "निवर्तते" और कहीं "विनिवर्तते" पद से उसका विवरण करते हैं। अतः यह निश्चय नहीं होता है कि, 'निवर्तते' पाठ है अथवा 'विनिवर्तते' है। अर्थ में कुछ अधिक विशेष नहीं होने से मैंने "निवृत्तिः" इसी वि उपसर्ग रहित पाठ का उल्लेख किया है। इति ॥ २५ ॥

संप्रति सूत्रकार विशेषदर्शी विवेकी पुरुष के चित्त की अवस्था दिखाते हैं—तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तमिति। तदा—विशेषदर्शन अवस्था में अर्थात् विवेकख्याति के उदय काल में, चित्तम्—विवेकज्ञाननिष्ठ योगी का चित्त, विवेकनिम्नम्—विवेक मार्ग में सञ्चार करनेवाला तथा, कैवल्यप्राग्भारम्-कैवल्य के अभिमुख हो जाता है। अर्थात् विवेकज्ञान से पूर्व जिस चित्त का प्रवाह अज्ञान-मार्ग-सञ्चारी तथा विषयभोग पर्यन्त विश्रान्तिवाला था, उसका प्रवाह विवेकज्ञान के उदय होने पर ऐहिक तथा पारलौकिक विषयों के प्रति वैराग्य होने से आत्मानात्म-विवेक रूप मार्ग की ओर प्रवाहित होता हुआ कैवल्य पर्यन्त विश्रान्तिवाला हो जाता है।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—तदानीमिति। तदानीम्—विवेकज्ञान के उदय काल में, यत् अस्य चित्तम्-विवेकज्ञान से पूर्व जो इस योगी का चित्त, विषयप्राग्भारम्-विषयाभिमुख अर्थात् बहिर्मुख तथा, अज्ञाननिम्नम्-अज्ञान की तरफ संचार करनेवाला, आसीत्-था, तत् अस्य-वह चित्त इस योगी का, अन्यथा भवति-दूसरे प्रकार का हो जाता है। अर्थात्, कैवल्यप्राग्भारम्-मोक्ष पर्यन्त विश्रान्तिवाला तथा, विवेकजज्ञाननिम्नम्-विवेकज्ञान मार्ग में संचार करनेवाला हो जाता है। भाव यह है कि-अज्ञान काल में विक्षिप्त चित्त ज्ञान काल में स्थिर होकर मोक्ष की तरफ प्रवाहित हो जाता है। इति ॥ २६ ॥

"विवेकज्ञान के उदय काल में चित्त समाहित हो जाता है" यह कहा गया। उस पर प्रश्न होता है कि, यदि तत्काल में योगी का चित्त समाहित हो जाता है तो

प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहारोहिणश्चित्तस्य तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराण्यस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा न जानामीति वा ।

कुतः । क्षीयमाणबीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति ॥ २७ ॥

भिक्षाटन, स्नान तथा शौच आदि व्यवहार कैसे होगा। क्योंकि, व्युत्थान के बिना समाहित चित्त से उक्त व्यवहार का होना असम्भव है ?। इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार देते हैं—तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्य इति। तच्छिद्रेषु—उस विवेकनिष्ठ समाहित चित्त के अन्तरालों में, संस्कारेभ्यः—पूर्व व्युत्थान काल के संस्कारों से, प्रत्ययान्तराणि—अन्य प्रत्यय भी उत्पन्न होते रहते हैं। अर्थात् जब तक मोक्ष नहीं होता है तब तक समाधि से व्युत्थित व्यवस्था में अनात्माकार चित्तवृत्तियां पूर्व के व्युत्थान काल के संस्कारों से उत्पन्न होती रहती है, जिससे भिक्षाटन, स्नान तथा शौचादि व्यवहार की सिद्धि होती रहती है।

इसी अभिप्राय को भाष्यकार व्यक्त करते हैं—प्रत्ययेति। प्रत्ययविवेकनिम्नस्य—विवेकज्ञानाभिमुख अर्थात् सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहारोहिणः—बुद्धिसत्त्व और पुरुष के भेदज्ञानमात्र की तरफ प्रवाहित जो, चित्तस्य—चित्त उसके, तत् छिद्रेषु—उन छिद्रों में, प्रत्ययान्तराणि—अन्य प्रत्यय भी उदय होते रहते हैं। जैसे, अस्मि इति वा—"मैं हूँ" इस प्रकार का अथवा, मम इति वा—"मेरा है" इस प्रकार का अथवा, जानामि इति वा—"जानता हूँ" इस प्रकार का अथवा, न जानामि इति वा—"नहीं जानता हूँ" इस प्रकार का। इसमें हेतु पूछते हैं—कुत इति—कुतः—किस कारण से अन्य प्रत्यय उत्पन्न होते रहते हैं ?। उत्तर देते हैं—क्षीणमाणेति—आगे क्षीण होनेवाले पूर्व के संस्कारों से कभी कभी बीच में विवेकज्ञान शिथिल होने पर अनेक प्रकार के प्रत्यय चित्त में उत्पन्न होते रहते हैं। क्योंकि, अनादि काल से प्रवृत्त व्युत्थान-संस्कार प्रबल है और तात्कालिक विवेक ज्ञान दुर्बल है। भाव यह है कि, यद्यपि विवेक ज्ञान व्युत्थान संस्कार का विरोधी है तथापि "बलवता दुर्बलो बाध्यते" अर्थात् "बलवान् से दुर्बल बाधा जाता है" इस न्याय से अनादि काल से प्रवृत्त; अत एव प्रबल व्युत्थान-संस्कार से तत्काल उत्पन्न, अत एव दुर्बल विवेकज्ञान बाधा जाता है। अतः दुर्बल विवेकज्ञान रूपी अग्नि से व्युत्थान संस्कार का दाह नहीं हो सकने के कारण बीच बीच में व्युत्थान संस्कारजन्य अन्य प्रत्यय की उत्पत्ति होती रहती है और तत्प्रयुक्त भिक्षाटन, स्नान-शौचादि व्यवहार योगी का होता रहता है। यह उक्त प्रश्न का उत्तर हुआ। इति ॥ २७ ॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोहसमर्था भवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति ।

आशङ्का होती है कि–यदि विवेक विज्ञान के उत्पन्न होने पर भी व्युत्थानसंस्कार अन्य प्रत्यय को उत्पन्न करते ही रहते हैं, तो ऐसा कौन उपाय है कि, जिसके करने से व्युत्थानसंस्कार नष्ट होते हुए फिर से अन्य प्रत्यय को उत्पन्न न कर सकें ? । इसका समाधान सूत्रकार करते हैं—हानमेषां क्लेशवदुक्तमिति । एषाम्–इन व्युत्थानसंस्कारों का, हानम्–हान अर्थात् नाश होना, क्लेशवत्–अविद्यादि क्लेशों के नाश के समान समझना चाहिये, यह बात, उक्तम्–साधनपाद के "ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः" "ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः" इन दोनों सूत्रों से कही गई है ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—यथेति । यथा–जैसे, क्लेशाः–अविद्यादि क्लेश, दग्धबीजभावाः–दग्धबीजभाव होते हुए, प्ररोहसमर्थाः न भवन्ति–अङ्कुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते हैं, तथा–वैसे ही, ज्ञानाग्निना–ज्ञान रूपी अग्नि से, दग्धबीजभावः– दग्धबीजभाव को प्राप्त हुआ जो, पूर्वसंस्कारः–पूर्व का व्युत्थानसंस्कार वह, प्रत्ययप्रसूः न भवति–अन्य प्रत्यय को उत्पन्न करनेवाला नहीं होता है ।

भाव यह है कि, जब तक विवेकज्ञान परिपक्व नहीं होता है तब तक व्युत्थानसंस्कार नष्ट न होने से वह अन्य प्रत्यय को उत्पन्न करता रहता है और जब दृढ़ अभ्यास के बल से विवेकज्ञान परिपक्व हो जाताहै तब व्युत्थानसंस्कार का नाश होने से वह अन्य प्रत्यय को उत्पन्न नहीं कर सकता है । जैसे विवेकज्ञान से दग्ध अविद्यादि क्लेश विवेकज्ञान के बीच में उत्पन्न होते हुए भी वे अन्य संस्कार को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं । वैसे ही विवेकज्ञान से दग्ध व्युत्थानसंस्कार विवेकज्ञान के बीच में उद्बुद्ध होता हुआ भी वह अन्य प्रत्यय को उत्पन्न नहीं कर सकता है ।

प्रश्न होता है कि-जैसे विवेकज्ञान संस्कार से व्युत्थानसंस्कार का नाश होता है, वैसे ही विवेकज्ञानसंस्कार का भी नाश होता है या नहीं ? । इसका उत्तर देते हैं–ज्ञानेति । ज्ञानसंस्काराः तु–विवेकज्ञान के संस्कार तो, चित्ताधिकारसमाप्तिम्–चित्त के अधिकार की समाप्ति पर्यन्त ही अर्थात् चित्त में जब तक कार्य करने का सामर्थ्य है तभी तक, शनुशेरते–विद्यमान रहते हैं, इति–इसीलिये, न चिन्त्यन्ते–उनका विचार नहीं किया जाता है ।

भाव यह है कि–व्युत्थानसंस्कार समाधि के विरोधी होने से उनका विवेकज्ञान से नाश होता है और विवेकज्ञानसंस्कार समाधि के विरोधी नहीं होने से उनका

ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्तिमनुशेरत इति न चिन्त्यन्ते ॥ २८ ॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

नाश नहीं होता है; किन्तु चित्ताधिकार समाप्ति पर्यन्त वे विद्यमान रहते हैं और जब चित्ताधिकार समाप्त हो जाता है तब अपने आप वे नष्ट हो जाते हैं। अतः उनके नाश के लिये यत्न करने की आवश्यकता नहीं है।

साधनक्रम इस प्रकार है—प्रथम योगाभ्यास से परवैराग्य को प्राप्त करे, पश्चात् परवैराग्य के अभ्यास से विवेकज्ञान को प्राप्त करे, उसके बाद विवेकज्ञान के अभ्यास से विवेकज्ञान के संस्कारों का सम्पादन करके विवेकज्ञान के संस्कारों से व्युत्थान संस्कारों का निरोध करे, तदनन्तर निरोधसंस्कारों से विवेकज्ञान के संस्कारों का क्षय करे, तत्पश्चात् असंप्रज्ञातसमाधि से निरोध संस्कारों का लय करे। विवेकज्ञान ही से अपने को कृतकृत्य मान कर योगी उसी पर आसन लगा कर बैठ न रहे, यह सारांश है। इति ॥ २८ ॥

इस प्रकार सूत्रकार व्युत्थान के निरोध का उपाय विवेकज्ञानाभ्यासरूप प्रसंख्यान का प्रतिपादन करके संप्रति उक्त प्रसंख्यान के निरोध का उपाय प्रतिपादन करते हुए जीवन्मुक्ति की परमकाष्ठा रूप धर्ममेघ समाधि का प्रतिपादन करते हैं—प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिरिति। प्रसंख्याने अपि—विवेकज्ञानाभ्यासरूप प्रसंख्यान में भी, अकुसीदस्य—सर्वभावाधिष्ठातृत्वादि सिद्धि रूप फल की इच्छा के अभाववाले योगी को, सर्वथा—निरन्तर, विवेकख्यातेः—विवेकज्ञान की प्राप्ति होने से, धर्ममेघः समाधिः—धर्ममेघ नामक समाधि का लाभ होता है।

भाव यह है कि—किसीको ऋण देकर उससे प्रतिमास जो वृद्धि ली जाती है, उस वृद्धि को कुसीद कहते हैं, जिसको लोक में सूद अथवा व्याज कहते हैं। जैसे कुसीद की लिप्सावाले को कुसीद कहते हैं, वैसे ही यहां भी जो योगी विवेकख्याति से प्राप्त सिद्धि रूपी कुसीद की लिप्सावाला होता है उसको भी कुसीद कहते हैं। उस कुसीद नामक योगी को धर्ममेघ-समाधि की प्राप्ति नहीं होती है। अतः धर्ममेघ—समाधि के इच्छुक योगी को अकुसीद होना चाहिये। जिस समय समाधिनिष्ठ योगी प्रसंख्यान के फल सर्वज्ञत्वादि सिद्धि में भी परवैराग्य द्वारा अकुसीद अर्थात् लिप्सा रहित हो जाता है, उस समय उस परवैराग्यशील योगी को निरन्तर विवेकख्याति

यदाऽयं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्ततोऽपि न किंचित्प्रार्थयते। तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवति इति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते। तदाऽस्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति ॥ २९ ॥

का लाभ होने से तथा तद् द्वारा व्युत्थानसंस्कार के क्षय होने से एवं प्रत्ययान्तर उत्पत्ति का अभाव होने से धर्ममेघ-समाधि की उपलब्धि होती है।

'मिह सेचने' धातु से मेघ शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ होता है 'सिञ्चन करनेवाला'। आकाशगत मेघ जल का सिञ्चन करता है; अतः मेघ कहा जाता है। प्रकृत में समाधि भी क्लेशकर्मादि के नाशक विवेकख्याति रूप धर्म का सिञ्चन करता है; अतः यह (समाधि) भी मेघ कहा जाता है। 'धृञ् धारणे' धातु से धर्म शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ होता है 'धारण करनेवाला।' दुःखनिवृत्तिपूर्वक सुख प्रदान करना धारण कहा जाता है। यागादि कर्म दुःखनिवृत्तिपूर्वक स्वर्गादि सुखप्रद होने से धर्म कहे जाते हैं। प्रकृत में विवेकज्ञान भी दुःखनिवृत्तिपूर्वक सुखप्रद होने से धर्म कहा जाता है। जैसे बादल जलवृष्टि करने से जलमेघ कहा जाता है। वैसे ही प्रकृत समाधि भी उक्त धर्म रूप जल की वृष्टि (सिञ्चन) करनेवाला होने से धर्ममेघ कहा जाता है। इसी धर्ममेघ–समाधि का लाभ उक्त योगी को होता है।

भाष्यकार संक्षेप में सूत्रार्थ करते हैं—यदेति। यदा–जिस समय, अयम् ब्राह्मणः–यह ब्राह्मण योगी, प्रसंख्याने अपि ततोऽपि–विवेकज्ञानाभ्यास तथा उससे अन्य अणिमादि ऐश्वर्य में भी, अकुसीदः–लिप्सारहित हो जाता है उस समय, न किञ्चित् प्रार्थयते–किसी पदार्थ की प्रार्थना नहीं करता है। अर्थात् सम्पूर्ण विरक्त हो जाता है। इसी अर्थ को और स्पष्ट करते हैं—तत्रेति। तत्र अपि–उस विवेकख्याति तथा तत्फल विषय में भी, विरक्तस्य–विरक्त योगी को, सर्वथा–निरन्तर, विवेकख्यातिः एव–विवेकख्याति ही, भवति–उत्पन्न होती है, इति–अतः, संस्कारबीजक्षयात्–व्युत्थानसंस्कार के बीज अविद्यादि के क्षय होने से, अस्य–इस योगी को, प्रत्ययान्तराणि न उत्पद्यन्ते–अन्य प्रत्यय उत्पन्न नहीं होते हैं।

भाव यह है कि, जिस समय योगी प्रसंख्यान से अतिरिक्त सर्वभावाधिष्ठातृत्वादि ऐश्वर्य में से कुछ भी नहीं चाहता है। प्रत्युत उनमें परिणामित्वादि दोष देखने से विरक्त होता हुआ क्लेश ही मानता है, उस समय निरन्तर विवेकख्याति ही प्रवाहित होती है। किसी प्रत्ययान्तर का उद्भव नहीं होता है। तदेति तदा–उस समय अर्थात् विजातीय प्रत्यय के व्यवधान से रहित सजातीय प्रत्यय के प्रवाह काल में, अस्य–इस

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति । कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति । क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान्विमुक्तो भवति । कस्मात् ?

योगी को, धर्ममेघो नाम समाधिः भवति-धर्ममेघ नामक समाधि की प्राप्ति होती है, जो सम्प्रज्ञातयोग की परमा काष्ठा है ।

सारांश यह है कि, यथोक्त प्रसंख्यान में विरक्त योगी उसके निरोध की इच्छा करते हुए धर्ममेघ-समाधि का अभ्यास करे । धर्ममेघ समाधि का अभ्यास पूर्ण होने पर निरवच्छिन्न विवेकख्याति का प्रवाह गतिमान् होता है । तत् पश्चात् ही पूर्वोक्त प्रसंख्यान का निरोध कर सकता है, अन्यथा नहीं । "अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्" । अर्थात् यही परम धर्म कहा जाता है जो योग द्वारा आत्मदर्शन होता है । इस योगी याज्ञवल्क्य के कथन से आत्मसाक्षात्कार रूप विवेकख्याति का नाम धर्म है । और "धर्मं विवेकख्यातिं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः" इस व्युत्पत्ति से उक्त धर्म की जो वृष्टि करनेवाला हो वह धर्ममेघ-समाधि कहा जाता है । अर्थात् यह जो समाधि का दृढ अभ्यास और परवैराग्य द्वारा व्युत्थानसंस्कारों का क्षय तथा निरन्तर विवेकख्यातिमात्र रूप से चित्त का अवस्थान वह धर्ममेघ-समाधि कहा जाता है और यही सम्प्रज्ञातयोग की परमा काष्ठा है । इति ॥ २९ ॥

संप्रति सूत्रकार यथोक्त धर्ममेघ-समाधि की सिद्धि से जो फल प्राप्त होता है उसका वर्णन करते हैं—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिरिति । ततः—धर्ममेघ समाधि के लाभ से, क्लेशकर्मनिवृत्तिः—अविद्यादि क्लेश तथा शुक्लादि कर्म की निवृत्ति होती है ।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—तल्लाभादिति । तल्लाभात्—धर्ममेघ-समाधि के लाभ से, अविद्यादयाः क्लेशाः—अविद्या, अस्मितादि पञ्च क्लेश, समूलकाषम्—वासना रूप मूल सहित, कषिताः भवन्ति—कषित अर्थात् नष्ट हो जाते हैं । कुशलेति । च—और, कुशलाकुशलाः कर्माशयाः—पुण्यपापात्मक कर्माशय, समूलघातम् हताः भवन्ति—वासनारूप मूलसहित नष्ट हो जाते हैं । क्लेशेति । क्लेशकर्मनिवृत्तौ-क्लेश तथा कर्म की निवृत्ति होने पर, विद्वान्—यह विद्वान्, जीवन् एव—जीवित रहता हुआ ही, विमुक्तः भवति—विमुक्त हो जाता है । इसमें कारण पूछते हैं—कस्मादिति । कस्मात्—किस कारण से विद्वान् जीते जी मुक्त हो जाता है ? । उत्तर देते हैं—यस्मादिति । यस्मात्—जिस कारण से, विपर्ययः—जन्म-मरण का हेतु जो विपर्यय (मिथ्या) ज्ञान है वही, भवस्य—संसार का कारण है । नहीति । क्षीण-

यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्। नहि क्षीणविपर्ययः कश्चित्केनचित्कचिज्जातो दृश्यत इति ॥ ३० ॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

क्लेशविपर्ययः-क्षीण हो गया है क्लेश सहित मिथ्या ज्ञान जिसका ऐसा, कश्चित्-कोई विद्वान्, क्वचित् जातः-कहीं उत्पन्न हुआ, केनचित्-किसी से, नहि दृश्यते-देखा नहीं गया है।

भाव यह है कि-क्लेशकर्मवासना से युक्त जो कर्माशय वही जाति; आयु और भोग का हेतु है। जब पूर्वोक्त धर्ममेघ-समाधि के लाभ से क्लेशकर्मवासना का क्षय हो जाता है तब कारण का अभाव होने से जात्यादि का भी अभाव होना स्वाभाविक है। अतः जन्ममरण के कारण क्लेशकर्मवासना का अभाव होने से विद्वान् जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी बात को भगवान् अक्षपाद ने भी कहा है—"वीतरागजन्मादर्शनात्"। गौतमसूत्र, अ. ३, आ. १, सूत्र २५। वीतराग पुरुष का जन्म नहीं देखनेसे आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है, यह सूत्रार्थ है। भाव यह है कि-महर्षि गौतम भी उक्त सूत्र से वीतराग पुरुष का जन्माभाव प्रतिपादन करते हैं। अतः उक्त धर्ममेघ-समाधि से क्लेशकर्मवासना का क्षय होने पर विद्वान् जीवन्मुक्त हो जाता है, यह सिद्ध हुआ। इति ॥३०॥

सम्प्रति सूत्रकार अन्य चित्तों की अपेक्षा धर्ममेघसमाधिनिष्ठ जीवन्मुक्त योगी के चित्त में वैलक्षण्य दिखाते हैं—तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पमिति। तदा-जिस काल में धर्ममेघ समाधि के अनुष्ठान से क्लेशकर्मादि का क्षय तथा जीवन्मुक्ति का लाभ होता है उस काल में, सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य-चित्तनिष्ठ सत्त्वगुण के आच्छादक क्लेशकर्मादि रूप सर्व आवरण मल से रहित चित्त के, आनन्त्यात्-अपरिमेयात्मक अपरिच्छिन्न होने से, ज्ञेयम् अल्पम्-ज्ञेय रूप बाह्य विषय अल्प अर्थात् परिमेयात्मक परिच्छिन्न हो जाता है।

भाव यह है कि-अयोगी का चित्त उक्त क्लेशादि सर्व आवरण मल से युक्त होने से अल्प और उसके विषय बाह्य पदार्थ अनन्त होते हैं। और योगी का चित्त उक्त आवरण मल से वियुक्त होने से अनन्त और उसके विषय बाह्य पदार्थ अल्प हो जाते हैं। इतना ही एतद् अवस्थाक योगी के चित्त में अन्य चित्तों से वैलक्षण्य है। इसमें कारण केवल इतना ही है कि-जैसे शरद् ऋतु में मेघवियुक्त सर्वत्र प्रकाशमान सूर्य के प्रकाश का आनन्त्य होने से घटपटादि प्रकाश्य अल्प हो जाते हैं। वैसे ही उक्त आवरण वियुक्त चित्त के प्रकाश का आनन्त्य होने से विषय पदार्थ भी अल्प हो जाते हैं।

सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्यं भवति।

आवरकेण तमसाऽभिभूतमावृतमनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति। तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतं भवति तदा भवत्यस्याऽऽनन्त्यम्। ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पं संपद्यते। यथाऽऽकाशे खद्योतः।

सूत्र का विवरण भाष्यकार करते हैं—सर्वैरिति। सर्वैः क्लेशकर्मावरणैः–सकल क्लेशकर्मादि आवरणों से, विमुक्तस्य ज्ञानस्य–रहित चित्त का, आनन्त्यम् भवति–आनन्त्य होता है। अर्थात् जब स्वगत सत्त्व के आच्छादक क्लेशकर्मादि मल से चित्त रहित हो जाता है तब वह अनन्त हो जाता है। आवरकेणेति। आवरकेण तमसा–आवरक अर्थात् आच्छादक तमोगुण से, आवृतम् अनन्तम् ज्ञानसत्त्वम्–आच्छादित जो अनन्त चित्तसत्त्व है वह, रजसा उद्घाटितम् प्रवर्तितम्–क्रियाशील रजोगुण से अनावृत एवं प्रवर्तित होता हुआ, क्वचित् एव–किसी किसी विषय को ही, ग्रहणसमर्थम् भवति–ग्रहण करने में समर्थ होता है। तत्रेति। तत्र–उस अवस्था में, यदा–जब, उक्त धर्ममेघ समाधि के अनुष्ठान द्वारा, सर्वैः आवरणमलैः–सर्व तामस क्लेशकर्मादि आवरण मल से, अपगतम् भवति–रहित हो जाता है, तदा–तब, अस्य–इस चित्तसत्त्व का, आनन्त्यम् भवति–आनन्त्य हो जाता है। अर्थात् इस अवस्था में चित्तसत्त्व अनन्त विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होने से अनन्त हो जाता है। और–ज्ञानस्येति। ज्ञानस्य आनन्त्यात्–ज्ञान के आनन्त्य होने से, ज्ञेयम्–ज्ञेय भी, अल्पम् सम्पद्यते–अल्प हो जाता है। इसमें दृष्टान्त देते हैं–यथेति। यथा–जैसे, आकाशे–आकाश में, खद्योतः–खद्योत अल्प होता है। वैसे ही ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है।

यथोक्त सम्पूर्ण भाष्य का भाव यह है कि यद्यपि चित्तसत्त्व सत्त्वगुण प्रधान होने से स्वभाव से ही सर्व पदार्थ को ग्रहण करने में समर्थ है तथापि वह तमोगुण से आवृत होने से मुग्ध होता हुआ किसी पदार्थ को ग्रहण करने में समर्थ नहीं रहता है। जब चालक रजोगुण से चालित होता है तब किसी किसी पदार्थ को ग्रहण करता है; अतः समाधि से पूर्वकाल में चित्त के प्रचार अल्प होने से चित्त तो अल्प और चैत्य विषय पदार्थ अनन्त प्रतीत होते हैं और जिस समय उक्त धर्ममेघ-समाधि के अनुष्ठान से वह चित्त रजोगुण तमोगुणमूलक क्लेशकर्मादि रूप आवरण से रहित हो जाता है उस समय स्वभाव से ही सर्व पदार्थ को ग्रहण करने में समर्थ होने से ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं रह जाता है कि, जिसको चित्त ग्रहण न कर सके। अतः उस समय चित्त अनन्त-

यत्रेदमुक्तम्—

अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत् ।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ इति ॥ ३१ ॥

अपरिमेय, अपरिच्छिन्न हो जाता है और ज्ञेय जो विषय पदार्थ वह आकाश में खद्योत के समान अल्पपरिमेय, परिच्छिन्न हो जाता है । अतः इस काल में योगी सर्वज्ञ हो जाता है ।

योगमत में षड्विंशति (२६) पदार्थ माने जाते हैं—प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार पञ्चतन्मात्र (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध), एकादश इन्द्रिय (पञ्च ज्ञान-इन्द्रिय-श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसन घ्राण, पञ्च कर्म-इन्द्रिय-वाक् पाणि-पाद-पायु-उपस्थ, एक अन्तरिन्द्रिय मन), पञ्चमहाभूत, पुरुष, जीवात्मा और पुरुषविशेष ईश्वर । इस धर्ममेघ समाधि के लाभकाल में योगी इन सब पदार्थों को साक्षात्कार करता है । यदि यथोक्त षड्विंशति पदार्थ से अधिक अन्य कोई पदार्थ होता तो उसका ज्ञान सर्वज्ञ योगियों को अवश्य होता और होता तो नहीं है ? अतः षड्विंशति ही पदार्थ हैं, अधिक नहीं, यह अर्थात् सिद्ध हुआ । योगी का चित्त यथोक्त सकल ज्ञेय पदार्थ को यथार्थ रूप से विषय करता है । अतः ज्ञेय पदार्थ ही अल्प है, योगी का चित्त अल्प नहीं; किन्तु अनन्त है । इसी चित्त को कैवल्य चित्त कहते हैं । इसी वासना रहित निर्मल चित्त के प्रभाव से ही धर्ममेघसमाधिनिष्ठ योगी का पुनः जन्म नहीं होता है ।

यहां पर यह आशङ्का होती है कि–यह धर्ममेघ समाधि वासना तथा क्लेशकर्मादि का नाशक भले हो; परन्तु जन्म का नाशक कैसे ? अर्थात् इस समाधि को प्राप्ति होने पर योगी को फिर जन्म क्यों नहीं होता है ? । इसका समाधान करते हैं—

यत्रेदमुक्तम्–

अन्धो मणिमविध्यत् तमनङ्गुलिरावयत् ।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत् तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ इति ॥

यत्र इदम् उक्तम्—जिस विषय में इस प्रकार का लौकिक आभाणक कहा गया है–अन्धः मणिम् अविध्यत्–अन्ध पुरुष ने वज्र से मणि को छेद दिया, तम् अनङ्गुलिः आवयत्–उस मणि को अङ्गुलि रहित पुरुष ने सूत्र से गूंथ दिया, तम् अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्–उस मणि को ग्रीवा रहित पुरुष ने गले में पहिर लिया और, तम् अजिह्वः अभ्यपूजयत्—उस मणि के पहिरनेवाले पुरुष का जिह्वा रहित पुरुष ने स्तवन किया । अर्थात् जैसे अन्ध का मणिवेध करना, अनगुंलि का पोना, अग्रीव का परिधान

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

करना और अजिह्व का उसकी स्तुति करना असम्भव है वैसे ही जन्म के कारण क्लेशादि का अभाव होने पर जन्म का होना भी असम्भव है।

भाव यह है कि–यदि कारण के समुच्छेद होने पर भी कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो असम्भव अर्थ का प्रतिपादक जो यह लौकिक आभाणक है वह भी युक्ति-युक्त माना जायगा और ऐसा तो माना जाता है नहीं ? । अतः जन्म के कारण क्लेशादि का अभाव होने पर जीवन्मुक्त योगी का जन्म नहीं होता है, यह उक्त आशङ्का का समाधान हुआ।

असम्भव अर्थ का प्रतिपादक एवं हास्यजनक लौकिक वाक्य आभाणक कहा जाता है। ऐसा ही पूर्वोक्त श्लोक वाक्य है; अतः यह भी लौकिक आभाणक वाक्य कहा जाता है। स्वामी श्रीविद्यारण्य ने 'सर्वदर्शन–संग्रह' में इस श्लोक को श्रुतिवाक्य कहा है।

योगवार्त्तिककार श्रीविज्ञानभिक्षु ने यह श्लोक किसी नास्तिक ग्रन्थ का है और योग तथा तत्फल मोक्ष विषय में आक्षेप करता है। अर्थात् जैसे अन्ध आदि का मणिवेध आदि करना असम्भव है, वैसे ही ज्ञानहीन अन्ध का सांख्यादि सूत्रार्थ का अवधारण करना तथा अविरत वृत्तिसन्तान सूत्र का सन्धान करना असम्भव है, ऐसा कहा है सो समीचीन नहीं। क्योंकि, यदि यह श्लोक आक्षेप परक होता तो इसका उत्तर भाष्यकार अवश्य करते। केवल आक्षेप करके छोड़ नहीं देते, सो तो किया नहीं। अतः आक्षेप परक यह श्लोक नहीं, प्रत्युत पूर्वोक्त रीति से यह आक्षेप का समाधान रूप है। संभव है, अपना मतलब सिद्ध करने के लिये किसी नास्तिक ने इस श्लोक को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया हो, जहां श्रीविज्ञानभिक्षु ने इसको देखा हो। स्वामी श्रीविद्यारण्य ने चारों वेदों के मंत्रभाग तथा ब्राह्मण भाग दोनों पर भाष्य किया है। उनको कहीं भी वेद में यह मन्त्र अवश्य मिला होगा ? अत एव उन्होंने इसको श्रुतिवाक्य कहा है। अतः श्रीवाचस्पति मिश्र का व्याख्यान ही समीचीन है, श्रीविज्ञानभिक्षु का नहीं। इति ॥ ३१ ॥

धर्ममेघ समाधि द्वारा क्लेशादि का क्षय तथा जीवन्मुक्ति का लाभ होने से क्लेश-कर्मादि रूप आवरण मल से रहित चित्त अनंत और ज्ञेय अल्प हो जाता है, यह कहा गया। उस पर शङ्का होती है कि–उक्त धर्ममेघ समाधि से क्लेशादि के क्षय होने पर भी स्वतः विकार–करणशील सत्त्वादि गुणों के विद्यमान रहने पर वे पुनः योगी के शरीर के आरम्भक क्यों नहीं होते हैं ? । इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं— ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानामिति। ततः—उस धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होने पर, कृतार्थानाम्–पुरुष के लिये भोगमोक्ष सम्पादन करके कृतप्रयोजन

तस्य धर्ममेघस्योदयात्कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते । न हि कृतभोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते ॥ ३२ ॥

अथ कोऽयं क्रमो नामेति—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

हुए सत्त्वादि गुणों के, परिणामक्रमसमाप्तिः—कार्य उत्पादनरूप परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है।

भाष्यकार संक्षेप में सूत्रार्थ करते हैं—तस्येति। तस्य धर्ममेघस्य-उस धर्ममेघ समाधि के, उदयात्—उदय होने से, कृतार्थानाम् गुणानाम्—पुरुष के लिये भोग-मोक्ष सम्पादन करके कृतप्रयोजन सत्त्वादि गुणों के, परिणामक्रमः—कार्य उत्पादनरूप परिणाम का क्रम, परिसमाप्यते—समाप्त हो जाता है। नहीति। कृतभोगापवर्गाः—पुरुष के लिये भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजन कर लिया है जिनने एवं, परिसमाप्तक्रमाः—परिसमाप्त हो गया है कार्य उत्पादन रूप परिणाम के क्रम जिनका ऐसे जो सत्त्वादि गुण वे, क्षणम् अपि—एक क्षण भी, अवस्थातुम् नहि उत्सहन्ते—अवस्थित नहीं रह सकते हैं।

भाव यह है कि, सत्त्व आदि तीनों गुण तभी तक शरीर आरम्भादि रूप परिणामक्रमवाले रहते हैं जब तक पुरुष के लिये भोग तथा अपवर्गरूप प्रयोजन सम्पादन करके समाप्ताधिकार न हो जाते हैं और जब उक्त प्रयोजन सम्पादन करके कृतकार्य हो जाते हैं तब क्षणभर भी स्थिर नहीं रह सकते हैं। क्योंकि, गुणों का यह स्वभाव ही है कि जिसके प्रति कृतार्थ हो जाते हैं उसके प्रति फिर प्रवृत्त नहीं होते हैं। अतः सत्त्वादि गुण कृतकार्य होने से एवं पुनः प्रवृत्त न होने के कारण योगी के पुनः शरीरारम्भक नहीं होते हैं। यह उक्त शङ्का का उत्तर हुआ। इति ॥ ३२ ॥

धर्ममेघ समाधि के उदय होने पर कृतार्थ गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति होती है, यह कहा गया। उस पर भाष्यकार परिणामक्रम विषयक शङ्कापूर्वक उत्तर सूत्र का अवतरण करते हैं—अथेति। अथ—धर्ममेघ समाधि के उदय होने पर कृतार्थ गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति होती है। इस कथन के श्रवण करने के अनन्तर, अयम् क्रमो नाम कः—यह क्रम नामक पदार्थ क्या है? अर्थात् क्रम किसको कहते हैं? । सूत्रकार इसका उत्तर देते हैं—क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रम इति। क्षणप्रतियोगी—अनेक क्षण सम्बन्धी तथा, परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः—

क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः। न ह्यननुभूतक्रमक्षणा पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति। नित्येषु च क्रमो दृष्टः।

परिणाम के अवसान से ज्ञायमान जो सत्त्वादि गुणों के परिणामों के अन्वयरूप पूर्वापरीभावरूप अवस्थाविशेष वह, क्रमः—क्रम कहा जाता है। अर्थात् एक क्षण की नहीं, किन्तु अनेक क्षणों की अव्यवहित धारा को आश्रय करनेवाली जो परिणामधारा है वह परिणामक्रम कही जाती है। यह क्रम अनेक क्षणों के आश्रित रहता है। इसका कारण यह है कि- स्वल्प काल को क्षण कहते हैं और क्रमवाले क्षणों के निरूपण बिना क्रम का निरूपण होना अशक्य है। साथ ही एक क्षण का क्रम होता नहीं है; अतः अनेक क्षणों के आश्रित क्रम रहा करता है। इस प्रकार का विलक्षण क्रम का परिज्ञान किस प्रमाण से होता है? ऐसी आकांक्षा होने पर कहा गया है "परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः" अर्थात् परिणाम के अवसान से इस क्रम का परिज्ञान होता है। सूत्रगत "क्षणप्रतियोगी" इतना अंश क्रम का लक्षणपरक और "परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः" इतना अंश क्रम में प्रमाण प्रदर्शक है। अर्थात् अनेक क्षण सम्बन्धी अनेक क्षणों में रहनेवाला जो पदार्थ वह क्रम कहा जाता है और परिणाम के अवसान से अर्थात् कार्य के अन्त से इसका ज्ञान होता है।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—क्षणेति। क्षणानन्तर्यात्मा—क्षण के व्यवधान से रहित और, परिणामस्य—परिणाम के, अपरान्तेन अवसानेन—अपरान्त रूप अवसान से जो, गृह्यते—जाना जाय वह, क्रमः—क्रम कहा जाता है। अर्थात् बहुत यत्न से रक्षण करने पर भी वर्षों के बाद जो वस्त्र में जीर्णता देखने में आती है वही परिणाम का अवसान कही जाती है। अन्त, अपरान्त तथा अवसान ये सर्व पर्याय शब्द हैं। इसी परिणाम के अवसान से यथोक्त क्रम ज्ञात होता है। क्योंकि यह जो वस्त्र में प्रशिथिल अवयव रूप जीर्णता देखी जाती है, वह एक दिन में तो हुई नहीं? किन्तु प्रथम सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम एवं स्थूल, स्थूलतर तथा स्थूलतम इस प्रकार के क्रम से हुई है। अतः यही जीर्णता रूप परिणाम का अवसान है और यही सत्त्वादि गुणों के परिणाम के क्रम में प्रमाण है।

जो बात अन्वय-मुख से कही गई है उसीको व्यतिरेक मुख से कहते हैं—नहीति। हि—क्योंकि, अन्ते—अन्त में अर्थात् वर्षों के बाद जो, वस्त्रस्य पुराणता—वस्त्र की पुराणता अर्थात् जीर्णता देखी जाती है वह, अननुभूतक्रमक्षणा न भवति—अज्ञात क्रमक्षण तो हो नहीं सकती है किन्तु ज्ञात क्रमक्षण से ही हो सकती है और उसके ज्ञान में अन्य कोई प्रमाण तो है नहीं; अतः परिणाम का अवसान ही उसके ज्ञान में प्रमाण (साधन) है, यह सिद्ध हुआ।

द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य। परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन्परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्। उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्।

यहां पर शङ्का होती है कि-त्रिगुणसाम्य-अवस्था प्रकृति कही जाती है, जिसको प्रधान भी कहते हैं। प्रधान के परिणाम का पूर्वापरीभाव रूप क्रम है, यह बात कही गई, सो समीचीन नहीं। क्योंकि, सांख्ययोगमत में प्रधान नित्य माना गया है। उस नित्य प्रधान के क्रम कैसे? इसका समाधान करते हैं—नित्येषु चेति। नित्येषु च-नित्य पदार्थों में भी, क्रमः दृष्टः-क्रम देखा गया है। यहां पर "नित्येषु" इस बहुवचन निर्देश से जितने नित्य पदार्थ हैं सबमें क्रम रहता है, यह सूचित किया गया है।

दो प्रकार के नित्य पदार्थ हैं। उन दोनों में क्रम रहता है, इस अर्थ का उपपादन करते हैं—द्वयीति। इयम् नित्यता-यह नित्यता, द्वयो च-दो प्रकार की है, कूटस्थनित्यता च परिणामिनित्यता-एक कूटस्थनित्यता और दूसरी परिणामिनित्यता। तत्रेति। तत्र-उनमें, पुरुषस्य-पुरुष की जो नित्यता है वह, कूटस्थनित्यता-कूटस्थनित्यता कही जाती है, और परिणामिनित्यता गुणानामिति। गुणानाम्-सत्त्वादि गुणों की जो नित्यता है वह, परिणामिनित्यता-परिणामिनित्यता कही जाती है।

शङ्का होती है कि, सत्त्वादि गुण सदा प्रच्युत स्वभाववाले हैं तो वे नित्य कैसे? इसका उत्तर देते हैं—यस्मिन्निति। यस्मिन् परिणम्यमाने-जिसके परिणम्यमान होने पर भी, तत्त्वं न विहन्यते-स्वरूप का विघात न होता हो, तत् वह, नित्यम्-नित्य कहा जाता है। दो प्रकार के नित्य पदार्थों में उक्त नित्य के लक्षण को दिखाते हैं—उभयस्येति। उभयस्य-पुरुष और गुण इन दोनों के, तत्त्वानभिघातात्-अपने स्वरूप से अनभिघात होने से, नित्यत्वम्-नित्यत्व है।

भाव यह है कि-यद्यपि स्वस्वरूप से प्रच्युत न होने से एकमात्र अपरिणामी कूटस्थरूप पुरुष ही नित्य हो सकता है, सत्त्वादि गुण नहीं। क्योंकि, वे स्वस्वरूप से प्रच्युत होने से परिणामी हैं तथापि यथोक्त नित्य के लक्षण का पुरुष तथा सत्त्वादि गुण दोनों में समन्वय होने से दोनों नित्य कहलाते हैं और दोनों में उक्त क्रम रहता है। क्रम के रहने से भी उन दोनों की नित्यता में कोई हानि नहीं। क्योंकि, अतीत अवस्था से शून्य होना मात्र ही नित्य का सामान्य लक्षण है। उसमें परिणामी, अपरिणामी का निवेश नहीं है। अतीत अवस्था से शून्य जैसे पुरुष है वैसे ही सत्त्वादि

तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानः। कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयते इति तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति।

गुण भी हैं। क्योंकि, धर्म, लक्षण, अवस्था का ही उत्पत्ति-नाश होता है, धर्मी स्वरूप सत्त्वादि गुणों का नहीं। क्रम में जो परिणाम अपरान्त ग्राह्यता है वह सर्वत्र नहीं; किन्तु कहीं कहीं है। इस बात को कहते हैं—तत्रेति। तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु—बुद्ध्यादि प्रधान और पुरुष रूप तीन प्रकार के पदार्थों में सत्त्वादि गुण के कार्य बुद्ध्यादि अनित्य पदार्थों में जो, परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः—सत्त्वादि गुणपरिणामों के अवसान से ज्ञायमानक्रम है वह, लब्धपर्यवसानः—लब्धपर्यवसान अर्थात् प्राप्त अतीत अवस्थारूप धर्मवाला है और, नित्येषु धर्मिषु गुणेषु—नित्य धर्मीरूप सत्त्वादि गुणों में जो यथोक्त क्रम है वह, अलब्धपर्यवसानः—अलब्धपर्यवसान अर्थात् अप्राप्त अतीत अवस्थारूप धर्मवाला है और, कूटस्थेति। कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु—कूटस्थनित्य स्वरूपमात्रप्रतिष्ठ मुक्त पुरुषों में जो क्रम है वह, स्वरूपास्तिताक्रमेण एव—स्वरूप की अस्तितारूप क्रम से ही, अनुभूयते—अनुभूत होता है, इति—इसलिये, तत्र अपि—उस यथोक्त पुरुष में भी वह क्रम, अलब्धपर्यवसानः—अलब्धपर्यवसान अर्थात् अप्राप्त अतीत अवस्थारूप धर्मवाला है और, शब्दपृष्ठेन अस्तिक्रियाम् उपादाय—शब्द से पृष्ठ अर्थात् शब्दमात्र व्यवहार विषय होने से अस्ति क्रिया को लेकर, कल्पितः—कल्पित अर्थात् अवास्तविक वह क्रम है, इति—ऐसा समझना चाहिये।

भाव यह है कि-अनित्य और नित्य के भेद से दो प्रकार के पदार्थ हैं। अनित्य बुद्ध्यादि कार्यवर्ग है। नित्य पदार्थ भी दो प्रकार के हैं—एक परिणामिनित्य और दूसरा कूटस्थनित्य। सत्त्वादि गुण जो जड पदार्थ हैं, वे परिणामिनित्य हैं। क्योंकि, क्षण क्षण में उनका परिणाम होता रहता है और चेतन पुरुष कूटस्थनित्य है। क्योंकि, सदा एकरूप से रहने से इसका परिणाम नहीं होता है। यद्यपि इन नित्यानित्य सर्व पदार्थों में क्रम रहता है तथापि वह कहीं लब्धपर्यवसान और कहीं अलब्धपर्यवसान है। अनित्य बुद्ध्यादि पदार्थों में क्रम लब्धपर्यवसान है। परिणामिनित्य सत्त्वादि गुण पदार्थों में तथा कूटस्थनित्य पुरुष में अलब्धपर्यवसान है। अनित्य बुद्ध्यादि की तीन अवस्था हैं—भविष्यत्, वर्तमान और अतीत। अतीत होना ही उनका अवसान है; अतः उनमें जो पूर्वापरीभाव रूप क्रम रहता है वह लब्धपर्यवसान कहा जाता है।

अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वेति ।

अवचनीयमेतत् । कथम् । अस्तिप्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो

क्योंकि उनके नाश होने से अवसान लब्ध है और सत्त्वादि गुण पदार्थ तथा पुरुष के नित्य होने से अर्थात् नाश न होने से उनका अतीत रूप अवसान नहीं; अतः उनमें जो क्रम रहता है वह अलब्धपर्यवसान कहा जाता है। यदि कहें कि, सदा एक रूप से स्थित रहनेवाले कूटस्थनित्य आत्मा में क्रम कैसे ? तो यद्यपि उसमें वास्तविक क्रम का रहना असंभव है, तथापि अस्ति क्रिया को लेकर अर्थात् भूतकाल में आत्मा था, वर्तमान में है और भविष्यत् में रहेगा, इस प्रकार सर्वकालसम्बन्ध रूप जो आत्मा में अस्तिता है; इसी अस्तिरूप क्रिया को लेकर मोहकल्पित अर्थात् अवास्तविक-शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्य क्रम आत्मा में रहता है, यह सिद्ध हुआ।

यहां पर इतना विशेष और भी समझना चाहिये कि-बद्ध पुरुष को चित्त के साथ अविवेक होने से अर्थात् चित्त ही को अपना स्वरूप मान लेने से उसमें जो क्रम है वह चित्तगत परिणामक्रम का अध्यास समझना चाहिये। और मुक्तपुरुष में अस्ति क्रिया को लेकर कल्पित क्रम का सम्बन्ध समझना चाहिये। "गुणों में अलब्धपर्यवसान परिणामक्रम है" इस बात को सहन न करते हुए वादी प्रश्न करता है—अथास्येति। अथ-इसके अनन्तर प्रश्न होता है कि; अस्य संसारस्य-इस संसार की, स्थित्या गत्या च-स्थिति और गति से अर्थात् प्रलय सृष्टिकाल के प्रवाह रूप से गुणेषु वर्तमानस्य-सत्त्वादि गुणों में विद्यमान जो संसारक्रम है, क्रमसमाप्तिः-उस क्रम की समाप्ति, अस्ति न वा-है अथवा नहीं ?।

प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यह है कि-प्रलयसृष्टि उभयकालिक गुणों में स्थिति-गति उभय रूप से प्रवाहित जो संसारक्रम उसकी कभी समाप्ति होती है या नहीं ? यदि होती है तो उसका अवसान होने से गुणों में जो क्रम का अलब्धपर्यवसान कहा गया है सो कैसे ? और यदि नहीं होती है तो पूर्व सूत्र में जो परिणामक्रम की समाप्ति कही गई है सो कैसे ?। उत्तर देते हैं—अवचनीयमेतदिति। एतत्-यह जो प्रश्न किया गया है उसका उत्तर, अवचनीयम्—अवचनीय है। अर्थात् "हां या नहीं" रूप से शीघ्र उत्तर देने योग्य नहीं है, किन्तु विभाग करके उत्तर देने योग्य है। इसमें हेतु पूछते हैं—कथमिति। कथम्-इसका उत्तर अवचनीय क्यों है ?। विभाग करके उत्तर देते हैं—अस्तीति। सर्वः जातः मरिष्यति-सभी प्राणी उत्पन्न होकर मरेगा और, मृत्वा जनिष्यते-मर कर जन्मेगा, इति-इस प्रकार का जो, प्रश्नः-प्रश्न होता है वह, एकान्तवचनीयः अस्ति-एकान्तवचनीय है। अर्थात् दो प्रकार का प्रश्न होता है,

जातो मरिष्यति । मृत्वा जनिष्यत इति । ॐ भो इति ।

अथ सर्वो जातो मरिष्यतीति मृत्वा जनिष्यत इति । विभज्य-वचनीयमेतत् । प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत इत-रस्तु जनिष्यते । तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परि-पृष्टे विभज्यवचनीयः प्रश्नः पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति । अयं त्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति ।

एक एकान्तवचनीय अर्थात् अविभज्यवचनीय और दूसरा विभज्यवचनीय। उनमें जो नियम से एक ही समाधान द्वारा उत्तर देने योग्य प्रश्न वह एकान्तवचनीय कहा जाता है और जो विभाग करके उत्तर देने योग्य प्रश्न हो वह विभज्यवचनीय कहा जाता है।

दोनों प्रकार के प्रश्नों को वादी स्वीकार करते हैं—ॐ भो इतीति । भो-हे सिद्धान्तिन् ! आपने जो कहा वह, ॐ इति-सत्य है। अर्थात् "सर्व प्राणी जन्मते हैं और मरते हैं" इन दोनों प्रश्नों का ॐ भो-अर्थात "हां" इस प्रकार एक ही समा-धान से दोनों का उत्तर हो जाता है। अतः यह प्रश्न एकान्तवचनीय कहा जाता है।

अविभज्यवचनीय प्रश्न को कह कर प्रविभज्यवचनीय प्रश्न को कहते हैं—अथेति । अथ—सर्वप्रथम, सर्वः जातः मरिष्यति इति- सर्व जन्तु उत्पन्न होकर मरेंगे, एक यह प्रश्न और, मृत्वा जनिष्यते इति-मर कर फिर जन्मेंगे, यह दूसरा प्रश्न है। एतत्-इन दोनों प्रश्नों का, विभज्यवचनीयम्-विभाग करके उत्तर करने योग्य है। विभाग को दिखाते हैं— प्रत्युदितेति । प्रत्युदितख्यातिः-प्राप्तविवेकज्ञान, क्षीणतृष्णः-नष्ट विषय तृष्ण, कुशलः-कुशल अर्थात् धर्ममेघ समाधिनिष्ठ पुरुष, न जनिष्यते-जन्मेगा नहीं और, इतरः तु-दूसरा तो, जनिष्यते-जन्मेगा। तथेति । तथा-उसी प्रकार, मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसी-मनुष्य जाति श्रेष्ठ है अथवा नहीं ?, इति एवम् परिपृष्टे-इस प्रकार का प्रश्न पूछने पर, विभज्य-वचनीयः प्रश्नः-विभाग करके उत्तर करने योग्य यह प्रश्न है कि-पशून् अधिकृत्य श्रेयसी-पशुओं की अपेक्षा मनुष्य-जाति श्रेष्ठ है और देवान् च ऋषीन् अधिकृत्य न इति-देव तथा ऋषियों की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं है। अयमिति । अयम् संसारः-यह जो संसार है, वह अन्तवान् अथ अनन्तः-अन्तवाला है अथवा अनन्त है, इति-इस प्रकार का जो, अयम् तु प्रश्नः-यह प्रश्न है सो तो, अवचनीयः-अवच-नीय है। अर्थात् नियम करके अवचनीय होने से विभाग करके इसका उत्तर करने

कुशलस्यास्ति संसारक्रमसमाप्तिर्नेतरस्येत्यन्यतरावधारणे दोषः। तस्माद्व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति ॥ ३३ ॥

गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तं तत्स्वरूपमवधार्यते—

योग्य है। उसी विभाग को दिखाते हैं—कुशलस्येति। कुशलस्य—पूर्वोक्त धर्ममेघ समाधिनिष्ठ योगी पुरुष की, संसारक्रमपरिसमाप्तिः अस्ति—संसार क्रम की परिसमाप्ति है और, इतरस्य न—इतर अर्थात् उक्त समाधि हीन अयोगी पुरुष की नहीं, इति—इसके अतिरिक्त, अन्यतरावधारणे—दो में से किसी एक का अवधारण (निश्चय) करने में, दोषः—दोष होगा। अर्थात् किसी को भी संसार क्रम की समाप्ति नहीं होती है अथवा सब को होती है, इस प्रकार का किसी एक का निश्चय करने पर प्रधान-अनित्यता, योगशास्त्रव्यर्थता आदि दोष होगा। अतः इस प्रश्न का यथोक्त प्रकार से विभाग करके उत्तर करने पर कोई दोष नहीं। उपसंहार करते हैं—तस्मादिति। तस्मात्—इस कारण से, व्याकरणीयः एव अयम् प्रश्नः—विभाग करने योग्य ही यह प्रश्न है। अर्थात् योगी का संसार निवृत्त होता है, अन्य का नहीं। इस प्रकार का विभाग करके इस प्रश्न का उत्तर करने योग्य है।

शङ्का होती है कि—यदि मुक्त पुरुषों के लिये भोगमोक्ष सम्पादन करके प्रधान के परिणामक्रम की परिसमाप्ति मानी जायगी तो क्रमशः प्रत्येक जीवों को मुक्त होते होते एक दिन सर्व पुरुषों के लिये भोगमोक्ष सम्पादन करके प्रधान के क्रम की परिसमाप्ति हो जाने से संसार का उच्छेद हो जायगा और कार्य समाप्त करके नष्ट हो जाने से प्रधान अनित्य हो जायगा?। इस शङ्का का समाधान यह है कि—जीव असंख्य हैं, अतः सर्व का एक समय मुक्त होना असम्भव है। अत एव संसार—उच्छेदत्वापत्ति दोष नहीं। साथ ही पशु, पक्षी, कृमि, कीट, मशक, यूक, लिक्ष, सर्प, वृश्चिक, कृकलास, लता, तरु, गुल्म, वनस्पति, औषधि तथा वृहद् वृक्षादि के भेद से अनन्त चराचर प्राणी को अनेक जन्मपरम्परासाध्य उक्त धर्ममेघ समाधि तथा तत्प्रयुक्त विवेकख्याति की प्राप्ति का अभाव होने से सर्व प्राणी का मुक्त होना असम्भव है। अतः संसारोच्छेदत्वापत्ति और प्रधानानित्यत्वापत्तिरूप उक्त दोष नहीं। इति ॥ ३३ ॥

इस प्रकार संसारक्रम की समाप्ति रूप कैवल्य का निरूपण करके सम्प्रति भाष्यकार कैवल्य स्वरूप के अवधारणपरक अन्तिम सूत्र का अवतरण करते हैं—गुणाधिकारेति। गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ—गुणों के अधिकारक्रम की समाप्ति होने पर, कैवल्यम् उक्तम्—कैवल्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है, यह कहा गया। संप्रति अन्तिम सूत्र के द्वारा, तत्स्वरूपम् अवधार्यते—उस कैवल्य के स्वरूप का अवधारण किया

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणा-

---

जाता है—पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। पुरुषार्थशून्यानाम् गुणानाम्—समाप्त हो गया है भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ जिनका ऐसे कृतकार्यरूप से पुरुषार्थशून्य एवं बुद्ध्यादि रूप से परिणत गुणों का जो, प्रतिप्रसवः—प्रतिप्रसव अर्थात् प्रतिलोम रूप से अपने अपने कारणों में क्रमद्वारा प्रधान में लय होना यह प्रधान का, कैवल्यम्-कैवल्य कहा जाता है, वा-अथवा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिः-वृत्तिसारूप्य की निवृत्ति होने पर शुद्ध स्वरूपमात्र अवस्थित चितिशक्ति रूप पुरुष का होना यह पुरुष का कैवल्य कहा जाता है। इति शब्द योगशास्त्र की समाप्ति का सूचक है।

इस सूत्र में दो प्रकार का कैवल्य अर्थात् मोक्ष कहा गया है—एक गुणों का प्रधान में लय होना और दूसरा पुरुष का स्वस्वरूप में अवस्थित होना। उनमें प्रथम मोक्ष प्रधान को होता है। क्योंकि, उस समय प्रधान पुरुषार्थ से मुक्त हो जाता है और द्वितीय मोक्ष पुरुष को होता है। क्योंकि, उस समय पुरुष भी जपाकुसुम के अपाय से स्फटिक के समान उपाधि से मुक्त हो जाता है। पुरुष की इस अवस्था का वर्णन "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इस सूत्र पर हो चुका है।

प्रतिप्रसव शब्द का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—कृतकार्यरूप से पुरुषार्थशून्य गुणों का अपने कारण प्रधान में लय, उन कार्यकारणात्मक-गुणों के जो व्युत्थान समाधि निरोध संस्कार हैं, उन तीनों संस्कारों का मन में लय, मन का अस्मिता (अहङ्कार) में लय, अस्मिता का लिङ्ग (बुद्धि) में लय और लिङ्ग का त्रिगुण अलिङ्ग स्वरूप प्रधान में लय होना प्रतिप्रसव कहा जाता है। बुद्धि को महत्तत्त्व तथा लिङ्ग कहते हैं। क्योंकि, इसका प्रधान में लय होता है और प्रधान को अलिङ्ग इसलिये कहते हैं कि, इसका किसी में लय नहीं होता है। किसी किसी विवेकख्यातिमान् पुरुष के प्रति प्रधान का मोक्ष और स्वरूप-प्रतिष्ठा रूप पुरुष का मोक्ष समझना चाहिये।

भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं—कृतेति। कृतभोगापवर्गाणाम् पुरुषार्थशून्यानाम् कार्यकारणात्मकानाम् गुणानाम्—पुरुष के भोग तथा अपवर्ग रूप पुरुषार्थ को सम्पादन कर चुकने से कृतभोगापवर्ग अत एव पुरुषार्थ शून्य कार्यकारणात्मक सत्त्वादि गुणों का, यः-जो, प्रतिप्रसवः—पूर्वोक्त प्रकार से अपने अपने कारणों

त्मकानां गुणानां तत्कैवल्यं, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसंबन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति ॥ ३४ ॥

इति व्यासभाष्यसमेतं पातञ्जलयोगदर्शनं समाप्तम् ।

में लय होना, तत्—वह प्रधान का, कैवल्यम्—कैवल्य अर्थात् मोक्ष कहा जाता है। और, पुनः बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्—फिर से बुद्धिसत्त्व के साथ सम्बन्ध न होने से, स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिः एव केवला—स्वस्वरूप में स्थित्यात्मक स्वरूपप्रतिष्ठ चितिशक्ति रूप पुरुष ही केवल रह जाना तथा, तस्याः सदा तथैव अवस्थानम्—उस चितिशक्तिरूप पुरुष का सर्वदा उसी प्रकार से अवस्थित रहना, पुरुषस्य कैवल्यम्—पुरुष का कैवल्य कहा जाता है। इति ॥ ३४ ॥

योगभाष्यविवृतौ सरलायां ब्रह्मलीनमुनिना रचितायाम् ।
केवलत्वसुविचारससारः पाद एषः परिपूर्त्तिमुपेतः ॥

इति स्वामिश्रीब्रह्मलीनमुनिविरचितायां पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यदेवनागरीभाषाविवृत्यां चतुर्थः कैवल्यपादः ॥ ४ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

विं...
शङ्का हो
के परिणामक्रम
होते एक दिन
परिसमाप्ति
हो जाते
असंख्य
उच्छे
बुद्धि

हिन्दी खण्डनखण्डखाद्य

('शाङ्करी' व्याख्या सहित)

व्याख्याकार—स्वामी हनुमानदासजी षट्शास्त्री

इस ग्रन्थ की उपयोगिता और कठिनता दोनों जगद्विख्यात हैं। दार्शनिक जटिलता होते हुए भी व्याख्या स्पष्ट एवं सरल है। कोई पद अव्याख्यात नहीं रह पाया है। ग्रन्थ लगाने तथा आशय समझने के लिये भी इस व्याख्या का क्रम एवं प्रवाह प्रशंसनीय है। पाण्डित्यपूर्ण विचारों से ओतप्रोत समालोचनात्मक भूमिकादिसहित सर्वोत्तम संस्करण। २५-००

हिन्दी ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य

व्याख्याकार—स्वामी हनुमानदास जी षट्शास्त्री

प्राचीन विद्वत्ता तथा कठोर तपस्या के साधिकार योग से प्रसूत प्रस्तुत व्याख्या बड़ी सहज तथा सरल है। ऐसा कोई पद नहीं छूटा है जिसकी स्पष्ट व्याख्या न हुई हो। ग्रन्थ लगाने के लिये यह सर्वश्रेष्ठ व्याख्या है। छात्र, अध्यापक, जिज्ञासु, मुमुक्षु सभ वर्ग के व्यक्तियों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। विश्वविद्यालयीय परीक्षार्थियों के लिए डॉ० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय विरचित प्राच्य-पाश्चात्य-उभयमत-समन्वयात्मक सुविशद इसकी भूमिका मात्र ही पर्याप्त है।

प्रथम भाग १-२ अध्याय १५-००
द्वितीय भाग ३-४ अध्याय १५-००
संपूर्ण १ २ भाग ३०-००

हिन्दी वेदान्त-परिभाषा

व्याख्याकार—डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ की अत्यन्त सरल तथा सरस हिन्दी व्याख्या इतनी उत्तम शैली में प्रस्तु की है कि सम्प्रदाय-पुरस्सर अध्ययन करने का ही लाभ आप प्राप्त कर सकेंगे। व्याख्या में पहले मूल ग्रन्थ को लगाकर बाद में शंका-समाधान के रूप में वेदान्त के मार्मिक सिद्धान्तों, क्लिष्ट अंशों तथा मत-मतान्तरों पर सरल शब्दों में व्यापक प्रकाश डाला गया है। पाण्डित्यपूर्ण विशद भूमिका भी छात्रों के लिए परम उपादेय है। १५-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१